संयम स्वर्ण महोत्सव (२०१७-१८) की विनम्र प्रस्तुति क्र० ४३

आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज द्वारा प्रदत्त प्रवचन का संग्रह

विद्या वाणी

(भाग-२)

प्रकाशक

जैन विद्यापीठ

सागर (म० प्र०)

विद्या वाणी भाग-२

(आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज द्वारा प्रदत्त प्रवचन का संग्रह)

संस्करण : २८ जून, २०१७ (आषाढ़ सुदी पंचमी, वीर निर्वाण संवत् २५४३)

आवृत्ति : ११००

वेबसाइट : www.vidyasagar.guru

प्रकाशक एवं प्राप्तिस्थान

जैन विद्यापीठ

भाग्योदय तीर्थ, सागर (म० प्र०) चलित दूरभाष ७५८२-९८६-२२२

ईमेल : jainvidyapeeth@gmail.com

मुद्रक

विकास ऑफसेट प्रिंटर्स एण्ड पब्लिसर्स

प्लाट नं. ४५, सेक्टर एफ, इन्डस्ट्रियल एरिया गोविन्दपुरा, भोपाल (म० प्र०) ९४२५००५६२४

आद्य वक्तव्य

युग बीतते हैं, सृष्टियाँ बदलती हैं, दृष्टियों में भी परिवर्तन आता है। कई युगदृष्टा जन्म लेते हैं। अनेकों की सिर्फ स्मृतियाँ शेष रहती हैं, लेकिन कुछ व्यक्तित्व अपनी अमर गाथाओं को चिरस्थाई बना देते हैं। उन्हीं महापुरुषों का जीवन स्वर्णिम अक्षरों में लिखा जाता है, जो असंख्य जनमानस के जीवन को घने तिमिर से निकालकर उज्ज्वल प्रकाश से प्रकाशित कर देते हैं। ऐसे ही निरीह, निर्लिप्त, निरपेक्ष, अनियत विहारी एवं स्वावलम्बी जीवन जीने वाले युगपुरुषों की सर्वोच्च श्रेणी में नाम आता है दिगम्बर जैनाचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज का, जिन्होंने स्वेच्छा से अपने जीवन को पूर्ण वीतरागमय बनाया। त्याग और तपस्या से स्वयं को श्रृंगारित किया। स्वयं के रूप को संयम के ढाँचे में ढाला। अनुशासन को अपनी ढाल बनाया और तैयार कर दी हजारों संयमी युवाओं की सुगठित धर्मसेना। सैकड़ों मुनिराज, आर्यिकाएँ, ब्रह्मचारी भाई-बहिनें। जो उनकी छवि मात्र को निहार-निहार कर चल पड़े घर-द्वार छोड़ उनके जैसा बनने के लिए। स्वयं चिद्रूप, चिन्मय स्वरूप बने और अनेक चैतन्य कृतियों का सृजन करते चले गए जो आज भी अनवरत जारी है। इतना ही नहीं अनेक भव्य श्रावकों की सल्लेखना कराकर हमेशा-हमेशा के लिए भव-भ्रमण से मुक्ति का सोपान भी प्रदान किया है।

महामनीषी, प्रज्ञासम्पन्न गुरुवर की कलम से मूकमाटी जैसे क्रान्तिकारी-आध्यात्मिक-महाकाव्य का सृजन हुआ। जो अनेक भाषाओं में अनुदित हुआ साथ ही अनेक साहित्यकारों ने अपनी कलम चलायी परिणामतः मूकमाटी मीमांसा के तीन खण्ड प्रकाशित हुए। आपके व्यक्तित्व और कर्तृत्व पर लगभग ५० शोधार्थियों ने डी॰ लिट्॰, पी-एच॰ डी॰ की उपाधि प्राप्त की।

अनेक भाषाओं के ज्ञाता आचार्य भगवन् की कलम से जहाँ अनेक ग्रन्थों के पद्यानुवाद किए गए तो वहीं नवीन संस्कृत और हिन्दी भाषा में छन्दोबद्ध रचनायें भी सृजित की गई। सम्पूर्ण विद्वत्जगत् आपके साहित्य का वाचन कर अचंभित हो जाता है। एक ओर अत्यन्त निस्पृही, वीतरागी छवि तो दूसरी ओर मुख से निर्झरित होती अमृतध्वनि को शब्दों की बजाय हृदय से ही समझना श्रेयस्कर होता है।

प्राचीन जीर्ण-शीर्ण पड़े उपेक्षित तीर्थक्षेत्रों पर वर्षायोग, शीतकाल एवं ग्रीष्मकाल में प्रवास करने से समस्त तीर्थक्षेत्र पुनर्जागृत हो गए। श्रावकवृन्द अब आये दिन तीर्थों की वंदनार्थ घरों से निकलने लगे और प्रारम्भ हो गई जीर्णोद्धार की महती परम्परा। प्रतिभास्थलियों जैसे शैक्षणिक संस्थान, भाग्योदय तीर्थ जैसा चिकित्सा सेवा संस्थान, मूकप्राणियों के संरक्षणार्थ सैकड़ों गौशालाएँ, भारत को इण्डिया नहीं 'भारत' ही कहो का नारा, स्वरोजगार के तहत 'पूरी मैत्री' और 'हथकरघा' जैसे वस्त्रोद्योग की प्रेरणा देने वाले सम्पूर्ण जगत् के आप इकलौते और अलबेले संत हैं।

कितना लिखा जाये आपके बारे में शब्द बौने और कलम पंगु हो जाती है, लेकिन भाव

विश्राम लेने का नाम ही नहीं लेते। यह वर्ष आपका मुनि दीक्षा का स्वर्णिम पचासवाँ वर्ष है। भारतीय समुदाय का स्वर्णिम काल है यह। आपके स्वर्णिम आभामण्डल तले यह वसुधा भी स्वयं को स्वर्णमयी बना लेना चाहती है। आपकी एक-एक पदचाप उसे धन्य कर रही है। आपका एक-एक शब्द कृतकृत्य कर रहा है। एक नई रोशनी और ऊर्जा से भर गया है हर वह व्यक्ति जिसने क्षणभर को भी आपकी पावन निश्रा में श्वांसें ली हैं।

आपकी प्रज्ञा से प्रस्फुटित साहित्य आचार्य परम्परा की महान् धरोहर है। आचार्य धरसेनस्वामी, समन्तभद्र स्वामी, आचार्य अकलंकदेव, स्वामी विद्यानंदीजी, आचार्य पूज्यपाद महाराज जैसे श्रुतपारगी मुनियों की शृंखला को ही गुरुनाम गुरु आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज, तदुपरांत आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज ने यथावत् प्रतिपादित करते हुए श्रमण संस्कृति की इस पावन धरोहर को चिरस्थायी बना दिया है।

यही कारण है कि आज भारतवर्षीय विद्वतवर्ग, श्रेष्ठीवर्ग एवं श्रावकसमूह आचार्यप्रवर की साहित्यिक कृतियों को प्रकाशित कर श्रावकों के हाथों में पहुँचाने का संकल्प ले चुका है। केवल आचार्य भगवन् द्वारा सृजित कृतियाँ ही नहीं बल्कि संयम स्वर्ण महोत्सव २०१७-१८ के इस पावन निमित्त को पाकर प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रणीत अनेक ग्रन्थों का भी प्रकाशन जैन विद्यापीठ द्वारा किया जा रहा है।

आचार्य गुरुदेव की तपःसाधना के साथ जिनवाणी के चिंतन-मनन से प्रस्फुटित हुई शब्द-संयोजना जब उनके मृदु अधरों से निःसृत होती है तो प्रत्येक भव्य जीव का हृदय कमल एक अद्‌भुत ज्ञान प्रकाश से भरकर प्रफुल्लित होता है। उन्हीं दिव्य वचनों का संचयन जिन सुधी श्रोताओं में पूर्व में एक अनुपम निधि के रूप में संग्रहीत कर रखा था और अपने नगर में आचार्य गुरुदेव के प्रवास की मधुर स्मृति के रूप में अपने पास समेट रखा था, उन सब दिव्य प्रवचन आपूरित वचनामृतों को एक साथ संयोजित करके इस विद्या-वाणी कृति में निबद्ध करने का जटिल किन्तु भक्तिपूरित प्रयास किया गया है। एतदर्थ इस परिश्रम के महान् कार्य में अपनी भक्ति से स्वतः स्फूर्जित होते हुए जिन श्रमण संतों, आर्यिका वृन्दों एवं श्रावक-श्राविकाओं ने अपनी भावाञ्जलि हम तक पहुँचाई है, हम उनके हृदय से आभारी हैं।

समस्त ग्रन्थों का शुद्ध रीति से प्रकाशन अत्यन्त दुरूह कार्य है। इस संशोधन आदि के कार्य को पूर्ण करने में संघस्थ मुनिराज, आर्यिका माताजी, ब्रह्मचारी भाई-बहिनों ने अपना अमूल्य सहयोग दिया। उन्हें जिनवाणी माँ की सेवा का अपूर्व अवसर मिला, जो सातिशय पुण्यार्जन तथा कर्मनिर्जरा का साधन बना।

जैन विद्यापीठ आप सभी के प्रति कृतज्ञता से ओतप्रोत है और आभार व्यक्त करने के लिए उपयुक्त शब्द खोजने में असमर्थ है।

गुरुचरणचंचरीक

अनुक्रमणिका

पावन प्रवचन

धर्म : आत्म-उत्थान का विज्ञान १
आदर्श कौन.... ७
न धर्मों धार्मिकैर्बिना २०
मानसिक सफलता : एक अनुचिंतन ३२
डबडबाती आँखें ५०
धीवर की धी ६०
संस्था या परम्परा ७१
कर विवेक से काम ७६
ब्रह्मचर्य : चेतन का भोग ८७
आत्मानुभूति ही समयसार है ९८
चलती चक्की देखकर ११३
गहन गहराइयाँ १२५
उपकार या परोपकार..... १३६

प्रवचन पर्व

पर्व : पूर्व भूमिका १५१
उत्तम क्षमा १५५
उत्तम मार्दव १६१
उत्तम आर्जव १६९
उत्तम शौच १७९
उत्तम सत्य १९१
उत्तम संयम १९८
उत्तम-तप २०९
उत्तम त्याग २१६
उत्तम आकिञ्चन्य २२३
उत्तम ब्रह्मचर्य २३०

प्रवचनिका

प्रारम्भ २४२
श्रेष्ठ संस्कार २४८
जन्म-मरण से परे २५४
समत्व की साधना २५७
धर्म-देशना २५९
निष्ठा से प्रतिष्ठा २६२
सत्य की छाँव में २६५

प्रवचन प्रमेय

गर्भकल्याणक (पूर्वार्द्ध) २८५
गर्भकल्याणक (उत्तरार्द्ध) ३००
जन्मकल्याणक (पूर्वार्द्ध) ३१६
जन्मकल्याणक (उत्तरार्द्ध) ३३२
दीक्षाकल्याणक (पूर्वार्द्ध) ३४४
दीक्षाकल्याणक (उत्तरार्द्ध) ३४९
ज्ञानकल्याणक (पूर्वार्द्ध) ३६९
ज्ञानकल्याणक (उत्तरार्द्ध) ३८४
निर्वाणकल्याणक (पूर्वार्द्ध) ४००
निर्वाणकल्याणक (उत्तरार्द्ध) ४०६

तेरा सो एक

जीवन का लक्ष्य ४१८
मानवता की शुरूआत ४१९
विरक्ति की ओर ४२३
दृष्टि बदलिये ४२६
मरे अकेला होय ४३०
देव-दर्शन ४३५
गुरु-गरिमा ४३८
शास्त्र-आराधना ४४०
तृष्णा-नागिन ४४३
तेरा सो एक ४४७

विद्या-वाणी

- अच्छे से अपने-अपने योग्य करते चलो अपने आप बिना उपदेश के ही समाज को व्रतों का वातावरण मिलता चला जाता है। उपदेश देना आवश्यक नहीं है।
- उपदेश को भी आदेश मान लेना चाहिए। आदेश का महत्त्व ज्यादा रहता है। जो व्यक्ति उपदेश को मानकर चलता है उसे आदेश की आवश्यकता नहीं रहती।
- उपदेश स्वाध्याय का अंग मानकर करते हैं तो ठीक है इसमें दीनता भी नहीं, अभिमान भी नहीं। कर्तव्य जहाँ पर है वहाँ पर ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध है।
- सांसारिक लोभ लिप्सा से रहित होकर उपदेश देना चाहिए तभी उत्तम माना जायेगा। मोक्षमार्ग में जो भी प्रवचन करते हैं वे परमार्थ के लिए करें अपने (स्वार्थ के) लिए नहीं।
- टिमटिमाते दीपक में यदि थोड़ा सा तेल डाल देते हैं तो दीपक पुनः जलने लगता है, उसी प्रकार यह धर्मोपदेश भी उस तेल की भाँति है जो बुझे हुए उत्साह को पुनः उत्साहित कर देता है।
- जिस किसी को भी उपदेश नहीं दिया जाता। जैसे-रसोई घर में ऐसे बच्चों को प्रवेश देना चाहिए जिन्हें अच्छी भूख लगी हो।
- प्रज्ञावान को उपदेश देना। प्रज्ञावान का अर्थ विद्वान् नहीं है वरन् प्रज्ञा के द्वारा जो धारण करे या प्रज्ञा के द्वारा जो भिन्न-भिन्न जाने।
- जिसके द्वारा धर्म की प्रभावना हो उस बात का उपदेश देना चाहिए।
- दूसरों को उपदेश न देकर उपदेश का पालन स्वयं करना प्रारंभ कर दें तो वह उपदेश अपने आप प्रचार को प्राप्त हो जायेगा।

धर्म : आत्म-उत्थान का विज्ञान

पवित्र संस्कारों के द्वारा ही पतित से पावन बना जा सकता है। जो व्यक्ति पापों से अपनी आत्मा को छुड़ाकर केवल विशुद्ध भावों के द्वारा अपनी आत्मा को संस्कारित करता है, वही संसार से ऊपर उठकर मोक्षसुख को पा पाता है। धर्म इसी आत्म-उत्थान का विज्ञान है।

विश्व में अनेक धर्म प्रचलित हैं, इन सभी धर्मों में एक धर्म वह भी है जो प्राणिमात्र के लिए पतित से पावन बनने का मार्ग बताता है, उस धर्म का नाम है-जैनधर्म।

जैनधर्म प्राणिमात्र के कल्याण की भावना रखने वाला धर्म है, आज इस धर्म की उपासना करने वाले और इसके अनुरूप अपना जीवन बनाने वाले साधक बहुत विरले हैं। धर्म के प्रचारक और प्रसारक बहुत हैं, जो अपनी सारी शक्ति प्रचार-प्रसार में लगा देते हैं, स्वयं को पतित से पावन बनाने का प्रयास नहीं करते। हमारा प्रथम कर्त्तव्य यही है कि हम स्वयं पाप से ऊपर उठें, स्वयं पतित से पावन होने का प्रयास करें।

इस कलियुग में पुण्यात्माओं का सान्निध्य दुर्लभ है। तीर्थंकर जैसे महापुरुषों का साक्षात् उपदेश सुन पाना दुर्लभ है, अब वे यहाँ हमें उपदेश देने नहीं आयेंगे, उनका दर्शन और समागम अब यहाँ होना असंभव है, इसके उपरान्त भी अभी धर्म टिका हुआ है, पंचम काल के अंत तक रहेगा, बीच-बीच में उत्थान-पतन होते रहेंगे, पतित से पावन बनाने वाले इस धर्म के उपासक संख्या में भले ही अल्प हों, लेकिन गुणों की उपासना होती रहेगी, यही इस धर्म की उपलब्धि है।

कोई व्यक्ति पतित से पावन कैसे बने? यह बात विचारणीय है, हमें ध्यान रखना चाहिए कि जो व्यक्ति अपने आपको प्रारंभ से ही पावन मानता है, उसमें पावन बनने की कोई गुंजाइश ही नहीं है, पावन से पावन बनने का प्रयास भी कौन करेगा? पेट भरने का प्रयास वही करता है जो भूखा है, जो तृप्त है, जिसका पेट भर गया है, उसे प्रयास करने की आवश्यकता ही क्या है? तो पहले हमें जानना होगा कि हम पतित हैं और पतित होने का कारण हमारे स्वयं के बुरे कर्म हैं। संसार में भटकाने वाले भी यही कर्म हैं।

जैनधर्म के प्रथम तीर्थंकर वृषभदेव से लेकर अंतिम तीर्थंकर महावीर तक सभी ने इन कर्मों से विमुख होकर अपनी आत्मा को परमात्मा बनाया है। हमें भी इन कर्मों से बचने का उपदेश दिया हैं।

उन्होंने कहा कि पापी से नहीं बल्कि पाप से बचो, यही उच्च बनने का रास्ता है, यदि पापी से घृणा करोगे तो वह कभी पुण्यात्मा नहीं बन सकेगा और घृणा करने वाला स्वयं ही पतित हो जाएगा। इसलिए संसार की अनादिकालीन परम्परा के मूल कारण-भूत कर्म को नष्ट करना ही हमारा ध्येय होना चाहिए। जब तक बीज बना रहेगा, वृक्ष की उत्पत्ति भी होती रहेगी। धर्म के माध्यम से कर्मरूपी बीज को जला दिया जाए तो संसार-वृक्ष की उत्पत्ति संभव नहीं है।

अब आप कहेंगे कि कर्म-बीज को जलाने के लिए क्या करें? इसकी साधना कैसे करें? तो बंधुओ! रत्नत्रय के माध्यम से यह कार्य संभव है। रत्नत्रय अर्थात् सम्यग्दर्शन, ज्ञान और आचरण के माध्यम से हम अपनी आत्मा के अनादिकालीन कर्म संस्कारों को समाप्त कर सकते हैं। रत्नत्रय के पवित्र संस्कारों के द्वारा पाप के संस्कारों से मुक्त होकर आत्मा शुद्ध बन सकती है। पवित्र संस्कारों के द्वारा ही पतित से पावन बना जा सकता है। जो व्यक्ति पापों से अपनी आत्मा को छुड़ाकर केवल विशुद्ध भावों के द्वारा अपनी आत्मा को संस्कारित करता है, वही संसार से ऊपर उठ पाता है। यह मात्र कल्पना नहीं है, यह सत्य है, यही सच्चा विज्ञान है।

जैसे मिट्टी ऊपर उठना चाहती है, अपना उद्धार करना चाहती है-तो एक दिन धरती माँ से पूछती है कि माँ मुझे लोग पददलित करते हैं, मुझे खोदते, रौंदते और तरह-तरह की यातनाएँ देते हैं, क्या मेरे जीवन में कभी ऐसा अवसर आएगा कि मैं भी सभी की प्रेम-भाजन बनूँगी? क्या ऐसा विकास मेरा भी संभव है? तब धरती माँ समझाती है कि हाँ, संभव है? लेकिन इसमें बड़ी साधना और सहनशीलता की आवश्यकता है, त्याग, तपस्या और विश्वास की आवश्यकता है, जो प्रक्रिया बतायी जायेगी उस प्रक्रिया को अपनाना होगा, तब एक समय ऐसा आयेगा जब सभी तुझे प्यार से संभालकर ऊपर रखेंगे।

यदि पतित से पावन बनने का विचार तेरे मन में आया है, तो जब भी कोई कुम्हार यहाँ पर आये, उसके हाथों में अपने को समर्पित कर देना, रोना चिल्लाना नहीं, उसके प्रति द्वेषभाव भी मत करना, वह जो प्रक्रिया बताये उसे ग्रहण करना, वह जैसा करे, करने देना, कुछ भी प्रतिक्रिया मत करना, यही पतित से पावन बनने का सूत्रपात होगा।

अच्छी बात है, मिट्टी प्रतीक्षा करती है, एक दिन कुम्हार आता है और फावड़े से मिट्टी को खोदने लगता है, अब मिट्टी क्या कहे? सब सहन करती है। उसे माँ की वाणी पर विश्वास है, वह अपने भविष्य को विकसित देखना चाहती है, इसलिए अपने को कुम्हार के हाथों में सौंप देती है। फिर कुम्हार उसे ले जाकर पानी डाल-डालकर रौंदता है और लौंदा बनाकर चाक पर चढ़ा देता है, मिट्टी घबराती है, सोचती है, अब क्या करूँ? ऐसा कब तक सहन करूँ? चाक पर घूमते-घूमते चक्कर आने लगा, पर उसे माँ की बात ध्यान में आ जाती है कि विकास के रास्ते में सब सहन करना ही श्रेयस्कर है, वह सब सहन करेगी उसे माँ पर विश्वास है, जो संतान अपनी माँ के बताये हुए सत्यमार्ग पर विश्वास नहीं रखती, उसका विकास अभी और आगे कभी भी संभव नहीं है।

आप लोगों ने शिखर जी की वंदना की होगी। एक-एक कदम ऊँचाई पर चढ़ना होता है। जितनी ऊँचाई बढ़ती जाती है, पैर उतने ही लड़खड़ाने लगते हैं, पसीना आ जाता है, कमजोर व्यक्ति हो तो सीने में दर्द होने लगता है, लेकिन ध्यान रखो, उन्नति का रास्ता यही है, परिश्रम के बिना हम कुछ प्राप्त नहीं कर सकते।

जो एक-एक कदम उठाता हुआ आगे रखता चलता है विकास की ओर, वही सफल होता है। लक्ष्यवान साधक सभी बाधाओं को पार करता हुआ आगे बढ़ता है।

मिट्टी विकास की ओर अग्रसर है, सब कुछ समता भाव से सहन कर रही है। तब एक दिन वह कुंभकार के योग और उपयोग के माध्यम से कुंभ का रूप धारण कर लेती है। सोचती है कि यह तो एक नयापन मेरे अंदर आ गया है, ऐसा प्रयोग तो कभी नहीं हुआ था, अब वह सारे कष्टों को भूल गयी, सारी यातनाएँ विस्मृत हो गयीं, चाक के ऊपर घड़े के रूप में मिट्टी बैठी है।

फिर उसे वहाँ से भी उठाकर कुंभकार धूप में रख देता है, मानो उष्ण परिषह प्रारंभ हो गया, घड़ा धीरे-धीरे थोड़ा सूखने लगा, एक दिन जब कुंभकार ने उसे हाथ में लेकर पानी सींचकर चोट मारना प्रारंभ किया, तब कुंभ सोचने लगा कि अरे! यह एक नयी मुसीबत और आ गयी, अब पिटाई हो रही है, पर धरती माँ ने पहले ही समझा दिया था कि यह पिटाई नहीं है, यह तो अंदर सोई हुईं शक्तियों को उद्घाटित किया जा रहा है।

अभी तो यह Previous है, पूर्वार्द्ध है, अभी कुंभ कच्चा है, Final Examination (अंतिम परीक्षा) भी होगा, अवे में तपना होगा। अंतिम अग्नि परीक्षा होगी, जैसे ही कुंभ को अवे की अग्नि में रखा जाता है। वह सोचता है कि यह तो हमारा विकास नहीं, लगता है विनाश हो रहा है, यह कौन-सी पद्धति है। इतना अवश्य है कि माँ की बात अहितकारी नहीं हो सकती, विकास की ओर जाने के लिए जलना भी होगा, यह सोचकर कुंभ कोई प्रतिक्रिया नहीं करता और अग्निपरीक्षा में उत्तीर्ण होकर आ जाता है।

उसे बाहर निकालकर कुंभकार धीरे से बजाकर देखता है, सब ठीक है, अब कुंभ में जलधारण करने की शक्ति आ चुकी है, अब कोई क्रिया शेष नहीं रही, इसी जल धारण की क्षमता पाने के लिए मिट्टी से कुंभ का निर्माण हुआ है, फिर ज्येष्ठ के महीने में बड़े-बड़े सेठ साहूकार भी सोने-चाँदी के बर्तन नहीं चाहते, उस समय तो शांति और शीतलता देने वाला मिट्टी का घड़ा ही अच्छा लगता है, सभी उसे फूल के समान हाथ में लिए रहना पसंद करते हैं, कोई उसे नीचे रखना नहीं चाहता, ऊँचे स्टूल आदि पर रखते हैं, प्यार के साथ, संभाल करके। अब पटक नहीं सकते। अपना अहंकार गलाकर, मान-अपमान सहन कर यह मिट्टी का विकास संभव हुआ है, पतित से पावन ऐसे ही बना जाता है।

प्रत्येक आत्मा इसी प्रकार संस्कारों के माध्यम से अपना उत्थान कर सकती है। सभी संस्कार जन्म से नहीं आते। संस्कार पूर्व कर्मों पर आधारित नहीं है। वह तो धर्म पर आधारित हैं। संस्कारित होने वाली आत्मा तो चेतना है। चेतन के माध्यम से ही चेतन पर संस्कार डाले जाते हैं। जो अनंतकालीन संसार के संस्कारों को छिन्न-भिन्न कर देते हैं। ऐसे उत्थान की ओर, संसार से मोक्ष की ओर ले जाने वाले संस्कार ही वास्तविक संस्कार है।

मिट्टी अपनी घड़े बनने की निजी क्षमता को नहीं पहचान पाने के कारण अनादिकाल से पददलित होती आ रही थी। कुंभकार के माध्यम से अपनी क्षमता को पहचानकर, अपने को संस्कारों के द्वारा संस्कारित करके, उसे प्रकट कर लेती है। वृषभनाथ जैसे, पार्श्वनाथ जैसे, बाहुबली जैसे और भगवान् महावीर जैसे अनंत जो सिद्ध हुए हैं, वे भी अपनी क्षमता को पहचान कर रत्नत्रय के संस्कारों से संस्कारित होकर सिद्ध हुए हैं। पहले से ही सिद्ध भगवान् नहीं थे।

सिद्ध होने की क्षमता मिट्टी में कुंभ के समान अव्यक्त शक्ति के रूप में हर प्राणी में हुआ करती है। जिसे सुसंस्कारों के माध्यम से प्रकट किया जा सकता है। सिद्धत्व की प्राप्ति तभी संभव होती है। यही जैनधर्म का मूलभूत सिद्धान्त है। प्रत्येक आत्मा अपने पुरुषार्थ के द्वारा परमात्मा बन सकता है। बहुत कम आत्माएँ संस्कारों की महत्ता को जान पाती हैं। उसमें भी बहुत कम आत्माएँ संस्कारों के माध्यम से जीवन को सफलता की ओर ले जाती हैं। आज बातें करने वाले बहुत सारे लोग मिल जाते हैं, पर ध्यान रखना, आत्म-स्वरूप की पहचान जब तक नहीं होती, तब तक मात्र बातें कर लेने से निर्वाण नहीं होता।

कर्म से संस्कारित यह आत्म-तत्त्व कैसे कर्म से मुक्त हो, कैसे इसका विकास हो, कैसे संस्कार डाले जायें? इन सब बातों के लिए आत्मपुरुषार्थ अपेक्षित है, शरीर से पृथक् आत्म-तत्त्व है, उस आत्म-तत्त्व का विकास करना हमारा लक्ष्य है तो सबसे पहले शरीर को अपने से पृथक् जानना होगा, उसे साधन मानकर उसका उपयोग करना होगा, शरीर साध्य नहीं है, वह तो साधन है।

आचार्य समन्तभद्र महाराज ने इस बात को बहुत अल्प शब्दों में कहा है कि-

स्वभावतोशुचौ काये, रत्नत्रय पवित्रिते।
निर्जुगुप्सा गुणप्रीति, र्मतानिर्विचिकित्सता॥

अर्थात् स्वभाव से तो यह शरीर अपवित्र है, गंदा है लेकिन जब कभी शरीराश्रित आत्मा में रत्नत्रय का आरोपण होता है तो रत्नत्रय के द्वारा पवित्र शरीर में पूज्यपना आ जाता है। ग्लानि नहीं होती, बल्कि गुणों के प्रति प्रीतिभाव होता है, यही समीचीन दृष्टि है।

जो इंद्रियों का दास बना हुआ है, विषय सामग्री की प्राप्ति में ही जीवन व्यतीत कर रहा है। शरीर को ही आत्म-तत्त्व मानकर उसकी सेवा में उलझा है। उसे अभी अपना वास्तविक स्वरूप समझना चाहिए, आत्म तत्त्व की ओर दृष्टिपात करके सोई हुई शक्ति को उद्घाटित करना चाहिए। जो व्यक्ति आत्मा का विकास करना चाहता है, उसे शरीरगत पर्यायों में नहीं उलझना चाहिए, शरीर तो स्वभाव से ही अशुचि रूप रहेगा, विकास आत्मा का करना है, इसलिए संस्कार शरीर का नहीं अपितु आत्मा का संस्कार करना है। मिट्टी के ऊपर मिट्टी का संस्कार नहीं किया जाता, मिट्टी के ऊपर जल और अग्नि के संस्कार कुंभकार द्वारा डाले जाते हैं, विकास का मार्ग यही है।

महापुराण में एक प्रसंग आता है, कर्मभूमि के प्रारंभ में आदिब्रह्मा वृषभनाथ भगवान ने अपने राज्यकाल में तीन वर्णों की स्थापना की, इसके बाद उन्हीं के पुत्र भरत चक्रवर्ती ने एक चौथे ब्राह्मण वर्ण की स्थापना और की, उसका आधार संस्कार था, जन्म से कोई सर्वथा उच्च नहीं होता। उच्चता कर्म से आती है, मात्र जनेऊ पहनने से कोई उच्च नहीं होता किन्तु जिनवाणी की आज्ञा पालन करने वाला रत्नत्रय के द्वारा आत्मा को संस्कारित करके उच्चता को प्राप्त करता है।

भरत चक्रवर्ती ने चौथा वर्ण बनाने से पहले परीक्षा ली, तीनों वर्णों को दरबार में बुलाया, चक्रवर्ती की आज्ञा थी, इसलिए सभी व्यक्ति भागकर आये, जीवरक्षा का थोड़ा भी विचार नहीं किया, पर कुछ व्यक्ति सीधे रास्ते से न आकर घूमकर आये और थोड़ा विलम्ब भी हुआ, चक्रवर्ती ने पूछा कि ऐसा क्या कारण है कि आप सीधे मार्ग से न आकर घूमकर आये। तब बताया गया कि पर्व के दिन हैं, सीधे रास्ते पर नये-नये कोमल अंकुर उग आये हैं, पैर रखने के लिए जगह नहीं है, भगवान् की वाणी में यह बात आयी है कि वनस्पति कायिक जीव अनंत हैं, यदि हम उस सीधे रास्ते से आते तो उन जीवों का विघात होता।

जीव हमें भले ही दिखाई न देते हों लेकिन जिनेन्द्र भगवान् की वाणी अन्यथा नहीं हो सकती।

सूक्ष्मं जिनोदितं तत्त्वं, हेतुभिर्नैव हन्यते।
आज्ञा सिद्धं तद्ग्राह्यं, नान्यथावादिनो जिनाः॥

अर्थात् जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहा गया तत्त्व सूक्ष्म है, उसे किसी हेतु या तर्क के द्वारा बाधित नहीं किया जा सकता। वह इन्द्रियों के द्वारा अग्राह्य होने पर भी भगवान् की आज्ञा से मानने योग्य है, इसलिए भले ही थोड़ा विलम्ब हो गया, अधिक चलना पड़ा, लेकिन जीवरक्षा के लिए लम्बे रास्ते से चलकर हम आये हैं।

भरत चक्रवर्ती ने कहा- बहुत अच्छा, परीक्षा हो गयी, तुम लोग पाप से विरत हो, व्रती हो, जीवदया रखते हो। त्रस जीवों के साथ-साथ स्थावर जीवों की भी रक्षा का भाव रखने वाला व्रती होता है। इसलिए उनका एक अलग ब्राह्मण-वर्ण बना दिया। महापुराण में जिनसेनाचार्य महाराज ने उल्लेख किया है कि समाज की व्यवस्था के लिए, उसके उत्थान के लिए ही सभी वर्ण बनाये गये हैं लेकिन अब सब कथन मात्र रह गया है। दया का पालन नहीं होता, संयम भी नहीं रहा, मात्र विषय कषायों के बहाव में सभी बहते जा रहे हैं, इसे ही विकास मान रहे हैं।

बंधुओ! ग्रन्थों के प्रकाशन या प्रचार-प्रसार अकेले से हमारा प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा। जिनवाणी के अनुरूप आचरण भी करना होगा, ग्रन्थ तो हमें निर्ग्रन्थ होने के लिए प्रेरित करते हैं। वीतरागता की उपासना करने वाला, रत्नत्रय की आराधना करने वाला ही संस्कारवान है।

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने समयसार के निर्जरा अधिकार में आत्मा को शुद्ध बनाने के लिए तीन गाथाओं में बहुत सुंदर ढंग से उल्लेख किया है, प्रक्रिया बतायी है, आत्मा के साथ लगे हुए रागद्वेष रूपी कर्म कालिमा को दूर करने के लिए यदि कोई रसायन है, कोई औषधि है तो वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप रत्नत्रय ही है, इस औषधि से भावित करके आत्मा को तप रूपी अग्नि में तपाया या संस्कारित किया जाता है, तब आत्मा परमात्मा बनती है, जिसे भी परमात्मा बनना है, उसे एक न एक दिन इसी प्रक्रिया को अपनाना होगा।

अपनी पुत्रवधू से सासुजी ने कहा कि बेटा, दही जमाना है। शाम होने से पहले एक भगौनी को साफ-सुथरा करके माँजकर के उसमें दूध को जामन डालकर रख देना। सुबह-सुबह घी तैयार करना है, पुत्रवधू ने हाँ कह दिया, सुबह उठकर जब सासु ने देखा दंग रह गयी, दूध जमा नहीं था, फट गया था, बात क्या हुई? दूध कैसे फट गया? बहू से पूछा कि क्या किया था? बर्तन ठीक से माँजा था कि नहीं? बहू ने कहा- माँ ठीक से माँजा था, देखो चमक रहा है। बर्तन ऊपर से चमक रहा था लेकिन भीतर ज्यों का त्यों था, अंदर से नहीं माँजा गया, यही चूक रह गयी।

बंधुओ! संस्कार डालना आवश्यक है, माँजना आवश्यक है, लेकिन संस्कार मात्र ऊपर-ऊपर से न डाले जायें, अन्यथा दूध भी चला गया, दही भी नहीं मिला, घी भी नहीं बन पाया, भीतरी संस्कार आवश्यक है, जिनवाणी के माध्यम से पढ़कर, समझकर अपनी आत्मा को जो बाहर-भीतर सब तरह से रत्नत्रय के द्वारा संस्कारित करता है, माँजता है, वही अपने शुद्ध परमात्म-स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। बाह्य शरीर को माँजने वाला कभी भी आत्म-स्वरूप को उपलब्ध नहीं कर सकता।

अंत में इतना ही कहना चाहूँगा कि जिनवाणी माँ ही ऐसी माँ है जो अपने बेटे को हमेशा जगाती रहती है, मोहरूपी निद्रा में सोया हुआ यह जीव जिनवाणी माँ पर विश्वास करे तो आत्म-विकास कर सकता है।

सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की उपासना, धर्म की उपासना का एक मात्र लक्ष्य आत्म-कल्याण होना चाहिए। आत्म-उत्थान होना चाहिए।

वही अधिष्ठान है/सुख का मृदु नवनीत/जिसका पुनः मंथन नहीं है/वही विज्ञान है ज्ञान है निज रीत/जिसका पुनः कथन नहीं है/ और वही उत्थान है/ प्रिय संगीत जिसका पुनः पतन नहीं है।

❑ ❑ ❑

आदर्श कौन....

रत्नत्रय वह अमूल्य निधि है जिसकी तुलना संसार की समस्त सम्पदा से भी नहीं की जा सकती।

धर्म का सम्बन्ध देहाश्रित कम हुआ करता है आत्माश्रित ज्यादा।

मैं तुम्हारे अण्डर में रहने वाला प्राणी जरूर हूँ, लेकिन मेरा प्रण है कि अन्याय करने वाले को कभी नहीं छोड़ूँगा, चाहे भले ही मेरे प्राण चले जायें।

आचार्य समन्तभद्र कहते हैं कि वह गृहस्थ उस मोही मुनि से भी श्रेष्ठ है जो मोक्षमार्ग पर आरुढ़ है। उलझे हुए मुनि से सुलझे हुए गृहस्थ आदर्शमय हैं तो उलझे हुए गृहस्थों से सुलझे हुए पशु श्रेष्ठ हैं।

आचार्य श्री समन्तभद्र स्वामी द्वारा विरचित 'रत्नकरण्डक श्रावकाचार' है, जो कि श्रावकों के लिए एक संजीवनी वटी है, जिसके द्वारा श्रावकों की सब बीमारियाँ समाप्त हो जाती हैं, कहने को तो कह देते हैं कि श्रावकाचार है, किन्तु समन्तभद्र स्वामी ने इसे 'रत्नकरण्डक' माना है। आप लोगों के यहाँ, शक्ति अनुसार बहुमूल्य पदार्थों का संग्रह हुआ करता है। किसी के पास हीरे, माणिक्य, सोना रह सकता है, किन्तु उनको आप कहाँ पर रखते हैं, दो मिनट में मैं इस प्रसंग को समाप्त करना चाहूँगा, आप उन बहुमूल्य पदार्थों को Treasury में रखते हैं और उसमें अलीगढ़ कम्पनी वाला, एक अच्छा बड़ा सा ताला लगाते हैं और चाबी अपने पास रखते हैं, ताकि उन्हें कोई निकाल न सके।

Treasury में रखकर भी क्या आप उन्हें ऐसे ही रख देते हैं ? नहीं Treasury के अन्दर एक अण्डर ग्राउण्ड रहता है, उसमें भी एक और पेटी रहती है, उस पेटी में भी एक छोटी सी पेटी और रहती है। इन सब पेटियों के ऊपर पुनः छोटे-छोटे ताले लगे रहते हैं, और ध्यान रखिये अन्तिम जो पेटी है, उस पेटी में एक डिब्बा रहता है, उस डिब्बे में एक और डिबिया रहती है, उस डिबिया में पुड़िया रहती है और अनेक प्रकार के कागजों की अन्दर-अन्दर और भी पुड़िया हैं। अन्तिम जो पुड़िया है उसमें जिस वर्ण के रंग का नग है, हीरा है, उससे विपरीत रंग का कागज रहता है। मान लीजिए नीलम का एक नग है तो उसको अच्छे लाल-लाल कागज में रखते हैं।

जब पुड़िया खोलते चले जाते हैं, तब कहीं जाकर वह नग दिखाई देता है, उस नग को आप अपने हाथ भी नहीं लगाते दूर से ही ग्राहक को दिखाते हैं, इस प्रकार आप अपने नग की सुरक्षा करते हैं, एक की सुरक्षा के लिए और शोभा के लिए इतना प्रबन्ध हुआ करता है। आचार्य श्री समन्तभद्र स्वामी ने इस ग्रन्थ में तीन वस्तुओं का वर्णन किया है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र

इन तीन वस्तुओं की तुलना संसार की समस्त सम्पदा से भी नहीं कर सकते। दो वस्तुओं को तो रहने दीजिए, लेकिन मात्र सम्यग्दर्शन की तुलना भी हम अन्य सम्पदा से नहीं कर सकते, त्रैलोक्य में, तीन काल में सम्यग्दर्शन के अलावा हितकारी अन्य कोई वस्तु नहीं है, ये वस्तुएँ एक से बढ़कर एक हैं जिन्हें आप दुनियाँ में कहीं भी चले जाओ, किसी भी दुकान में चले जाओ, आप खरीद नहीं सकते। सुनना तो दूर रहा, ऐसी ये मौलिक वस्तुएँ हैं, रत्न हैं जिनकी प्राप्ति के लिए उन्होंने १५० श्लोकों की रचना की है।

'रत्नकरण्डक श्रावकाचार' का अर्थ केवल चारित्र पर, आचार संहिता या मात्र क्रियाकाण्ड वाली बात नहीं है। इस युग में समन्तभद्र एक ऐसे आचार्य हुए हैं, जो भगवान् की परीक्षा करने वाले थे, ऐसे आचार्य भिन्न-भिन्न महान् ग्रन्थों की रचना करते-करते क्रियाकाण्ड की बात कह कर के चले जाएं, यह सम्भव नहीं है। बल्कि उन्होंने इस ग्रन्थ में जो अपना अनुभव दिया है, वह अलौकिक है।

यदि आप मुनि नहीं बन सकते हो, तो कोई बात नहीं, किन्तु 'रत्नकरण्डक श्रावकाचार' के अनुरूप अपनी चर्या तो बना लीजिए। यदि आपने वैसी चर्या बना ली तो 'समन्तभद्राचार्य' डंके की चोट कहते हैं, कि कौन कह सकता है, कि प्राणी संसार में दीर्घकाल तक रुकेगा और कौन कह सकता है कि वह संसारी रहेगा, किन्तु वह अग्रगण्य रहेगा, प्रतिभा स्थानों में उसकी उन्नति होगी, शरीर की सुडौलता की अपेक्षा भी उन्नति होगी। हुकूमत (सत्ता) की प्राप्ति, मन्त्री, राजा, महाराजा आदि उच्च पदों की उपलब्धि ऐसे हुआ करती है, जैसे किसी को अस्पताल में, या बाजार में चश्मा खरीदने के उपरान्त उसके साथ-साथ क्या मिल जाता है, चश्मा रखने का Cover और यदि यह भी नहीं तो काँच को पोंछने के लिए मुलायम मखमल का कपड़ा तो मिल ही जाता है। यह अपने आप नहीं मिलता किन्तु उसके साथ जुड़ी हुई जो वस्तु है उसके साथ मिलता है। उसी प्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र जिसके पास है, वह फिर कभी संसार में भिखमंगा नहीं रह सकता, वह किमिच्छक दान देने की क्षमता रखता है, किमिच्छक दान किसे कहते हैं ? चक्रवर्ती जब दिग्विजय करके आता है तो सारी की सारी प्रजा यह इच्छा रखती है कि प्रभु आ रहे हैं बहुत कुछ दान हमें देंगे।

चक्रवर्ती के पास लोग हाथ जोड़ कर चले जाते हैं और जाते ही चक्रवर्ती सबकी झोली भर देता है। जो जिस वस्तु को चाहता है वह उसे मिल जाती है, इसको कहते हैं किमिच्छक दान। तो केवल क्रियाकाण्ड की रचना समन्तभद्राचार्य जी ने नहीं की किन्तु रत्नत्रय की स्तुति की है। रत्नकरण्डक श्रावकाचार में इन तीनों रत्नों को उन्होंने किस प्रकार रखा यह मैं कह रहा हूँ। आपने इन लौकिक रत्नों को जिनकी लाख दो लाख रुपये, जो भी कीमत है, उन्हें हजार, दो हजार रुपये वाली Treasury में रख दिया, किन्तु सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूपी रत्नों को किसमें रखा

है। तो समन्तभद्राचार्य' कहते हैं, कि भैया! तीन लोक में यह सरलता से नहीं मिलते, तो फिर उन्हें रखने के लिए कौन सी डिबिया चाहिए? बढ़िया से बढ़िया आत्मा रूपी करण्डक चाहिए, मतलब ? मतलब यह है कि आप लोगों ने रत्न ही नहीं देखे हैं, तो करण्डक की खोज कहाँ से करोगे। रत्नत्रय का बहुमान कितना है ? ये रत्न कितनी कठिनता से प्राप्त होते हैं, इस बात को सोचे बिना आजकल हवा ऐसी चल रही है कि कोई चारित्र की चर्चा करता जा रहा है, तो कोई मात्र सम्यग्दर्शन अथवा सम्यग्ज्ञान की चर्चा कर रहा है। 'समन्तभद्राचार्य' कहते हैं कि मोक्ष मार्ग इन तीनों की एकता में ही होगा, मात्र एक में ही नहीं। मोक्ष मार्ग वही है जो मुक्ति तक पहुँचा दे, इसलिए उन्होंने इसका नाम धर्म कहा है। ऐसे धर्म रूपी रत्नत्रय को नीचे नहीं रखना चाहिए। इस जगत में रत्नत्रय के बिना कोई साधन नहीं है, भगवान् के पास भी चले जाओ, तो भगवान् भी रक्षा नहीं कर सकेंगे, हमारी रक्षा इन तीन रत्नों के द्वारा ही होने वाली है, वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र का वर्णन करने वाला 'रत्नकरण्डक श्रावकाचार' मात्र क्रिया काण्ड वाला नहीं है किन्तु वास्तव में जो क्रियाकाण्ड है उनसे छुड़ाने वाला यह ग्रन्थ है। कौन सी क्रिया समीचीन है, और कौन सी क्रिया असमीचीन है, इन सब बातों का ज्ञान हम इस 'रत्नकरण्डक श्रावकाचार' के माध्यम से कर सकते हैं।

श्रावकों का यह परम कर्त्तव्य होता है यह जो १५० श्लोक प्रमाण 'रत्नकरण्डक श्रावकाचार' है, इसका पठन-पाठन हमेशा करें। हमें यह भी ज्ञान नहीं है कि हमारा ज्ञान कहाँ तक बढ़ सकता है? हमें यह भी बोध नहीं है कि हमारे पास कितना चारित्र होना चाहिए? हमें यह भी ख्याल नहीं है कि दूसरे के प्रति हमारा कैसा व्यवहार हो? यह सब सिखाता है रत्नकरण्डक श्रावकाचार। जो व्यक्ति स्वयं नहीं चल सकता, वह जो गिरा हुआ है उसको कैसे उठा सकेगा? और यदि उठाता भी है तो उसका कोई महत्त्व नहीं है। आचार्य कहते हैं कि जो स्वयं बलिष्ठ है, स्थिर है, लेकिन! जिनके पास ज्ञान बल नहीं है, ज्ञान की अपेक्षा चारित्र में दृढ़ता नहीं है, उन्हें वह उस स्थान तक ले आए जहाँ पर वह है। सम्यक्त्व के आठ अंगों में, प्रभावना अंग के बारे में उन्होंने कहा है -

अज्ञान तिमिर-व्याप्ति,-मपाकृत्य यथायथम्।
जिनशासन-माहात्म्य,-प्रकाशः स्यात्प्रभावना॥ १८॥र. श्रा.

अज्ञानरूपी अन्धकार के विस्तार को हटाकर जिनशासन का माहात्म्य यथाशक्ति प्रकट करना प्रभावना अंग है। अज्ञान एक घने अन्धकार के समान है, जिस किसी व्यक्ति के जीवन में ऐसा अन्धकार आ जाए तो उसे हटाने में समर्थ कौन है, जिसका ज्ञान हमें आज तक नहीं रहा है, पथ क्या है ? पाथेय क्या है ? इसकी हमें पहचान नहीं है। जिस वस्तु की कमी है, उसकी पूर्ति करा देना, यही तात्कालिक प्रभावना मानी जाती है, उसको न करके यदि हम बातें मात्र करते चले जायें, तो कुछ भी नहीं होने वाला।

इस दिशा में जैन समाज का बहुत ही शिथिलाचार चल रहा है, लेकिन! विशेष रूप से यह

बात खटकती रहती है, कि हमारे आचारों में-विचारों में भी इतनी शिथिलता आती जा रही है, उसे शब्दों में नहीं कहा जा सकता। यदि इस समय समन्तभद्राचार्य होते तो वे यही कहते कि अब श्रावकों के लिए कोई दूसरा श्रावकाचार लिखने की जरूरत है, ताकि! वह वर्तमान के नामधारी श्रावकों के लिए एक नया बोध दें, गृहस्थ श्रावक की महिमा बताते हुए वे कहते हैं -

गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो, निर्मोहो नैव मोहवान्।
अनगारो गृही श्रेयान्, निर्मोहो मोहिनो मुनेः॥३३॥र. श्रा.

सम्यग्दर्शन के प्रकरण में यह श्लोक आया है इसमें मुनि को ऐसा गिरा दिया, ऐसा गिरा दिया कि कुछ पूछो मत! यह समझ में नहीं आता कि ऐसा क्यों किया? बिल्कुल ठीक है, जो व्यक्ति अपनी भूमिका का निर्वाह नहीं करता तो वह व्यक्ति स्वयं गिर जाएगा, उठने का कोई उपाय ही नहीं। चौपात पर आप साईकिल पर जा रहे हैं जाते-जाते साईकिल Slip हो गई और आप धड़ाम से नीचे गिर गए और चौपात की बात है, चौपात है कितने लोग देखेंगे, सभी लोग देखेंगे वहाँ पर आप यह नहीं देखते कि पैर में लग गया है कि नहीं लगा, खून बह रहा है कि नहीं बह रहा और बिना देखे ही, किसी ने देखा तो नहीं, यहाँ-वहाँ देखकर जल्दी से साईकिल उठाकर भाग जाते हैं, मान लो कोई कहता भी है कि अरे! भैया लग गई वह कहता है कि नहीं नहीं।

ऐसा क्यों होता है ? यह मर्यादा है, गिरना अच्छा नहीं माना जाता, वह भीतर से गिरना अच्छा नहीं समझता इसलिए लगी हुई चोट पर ध्यान नहीं देता हैं, उसी प्रकार आचार्य कहते हैं, यदि कोई मुनि लिंग धारण कर ले और मोही बन जाए, तो यहाँ पर कहने का मतलब यह है कि निर्मोह-अवस्था को प्राप्त करने के लिए यह साधना थी लेकिन! निर्मोह अवस्था तो प्राप्त नहीं हुई, किन्तु उलझ गया मोह में, मायाजाल में, फँस गया, तब उसके सामने उस गृहस्थ को लाकर रख देते हैं जो निर्मोही है और कह देते हैं कि अरे! तेरे से तो अच्छा यह गृहस्थ है जो कर्त्तव्य पर डटा है, लेकिन 'समन्तभद्र महाराज ने ऐसा कहीं भी नहीं लिखा कि फिर तुम उस गृहस्थ की पूजा करो, यहाँ तक कहा है, कि यदि गृहस्थ है, श्रुत में पारंगत भी है, तो भी उसकी छाया मत पड़ने दीजिए अपने ऊपर, ऐसा क्यों कहा? गृहस्थ है, क्षायिकसम्यग्दृष्टि भी हो सकता है, ज्ञान भी है, तब फिर वह मुनि जाए उस गृहस्थ के पास और उसकी पूजा करे, नहीं फिर आपने तो कह दिया कि मोक्षमार्ग पर आरुढ़ की पूजा करनी चाहिए। वह गृहस्थ मोक्षमार्ग पर आरुढ़ हैं किन्तु साधु तो मोक्षमार्ग पर आरुढ़ नहीं रहा, इसलिए गृहस्थ की तो पूजा करनी चाहिए। किन्तु नहीं...नहीं, मेरा कहना तो यह है कि अरे! निर्मोहपने को प्राप्त कर ले, फिर उस मोही गृहस्थ के पास तीन काल में नहीं जाना। अभी तो आप गृहस्थ को मोक्षमार्ग पर आरुढ़ कह रहे थे और अब मोही कहने लगे हाँ...हाँ गृहस्थ जैसा मोही भी कोई नहीं। विषय कषायों में आमूलचूल रचा-पचा वह कैसे निर्मोही हो सकता? अपेक्षा की बात

लेकर के चलना चाहिए। मोक्षमार्ग पर आरूढ़ होना अत्यन्त आवश्यक है उस मुनि के लिए उसके बिना लक्ष्य की पूर्ति, मंजिल की प्राप्ति नहीं हो सकती।

एक बात और कहना चाहूँगा कि इस संसार में जितने भी स्कूल कॉलेज हैं, उन सब स्कूलों में, कॉलेजों में ३३ या ३६ नम्बर मिलने पर विद्यार्थी पास माना जाता है, ४४ अंक से ऊपर बढ़ गये तो Second Division मानी जाती है या ५६ नम्बर मिलने पर God Second यानि Near about first class मानी जाती है और यदि ६० नम्बर मिल जाते हैं तो कहना ही क्या? बड़े-बड़े प्रोफेसरों के द्वारा पुरुस्कृत हो जाते हैं और उसमें भी यदि ७० प्रतिशत के ऊपर चले जाते हैं तो फिर कहना ही क्या? फिर वह कुलपतियों के द्वारा भी सम्मानित हो जाता है और वे कहते हैं कि भैया! मैंने भी जीवन में इस कक्षा में इतने नम्बर नहीं पाए जो तुमने पा लिए, इसलिए हम कम से कम तुम्हारा सम्मान करके ही खुशियाँ मना लेते हैं। यह तो रही लौकिक क्षेत्र की बात।

हमारे कुन्दकुन्द महाराज, समन्तभद्र महाराज, तब तक टोकते रहते हैं, तब तक कान पकड़ते हैं, जब तक १०० नम्बर में से एक भी नम्बर कम रहता है। कितना कठिन हो गया, सौ बाई सौ नम्बर लेने वाला कोई है यहाँ और जब तक उसे सौ बाई सौ नम्बर नहीं मिल जाते तब तक वह पास नहीं माना जाता। Supplementry से घिसते-घिसते पास होना बात अलग है। आप कहेंगे महाराज Fail का अर्थ फेल होता है, Supplementry का अर्थ फेल नहीं होता...हाँ भैया! यह परिभाषा बना दी गई है। जब हम पढ़ते थे, उस समय Supplementry नहीं थी और आज तो तीन-तीन विषयों में Supplementry आती है, यह सब लौकिक क्षेत्र में पास करने की बात है, कैसे भी उठा दो, घसीटते-घसीटते ले जाओ! लेकिन ऐसा यहाँ पर बिल्कुल भी नहीं होगा।

जैनधर्म का अर्थ एक प्रकार से चलना है, चलने के लिए, विचारों के लिए और अधिगम के लिए इस प्रकार के प्रतिशत रखे गए हैं, इसमें एक भी नम्बर की कमी नहीं हो सकती। आप सुनो सोचो और चलो तो मालूम होगा कि कितना कठिन काम है यह। बिल्कुल ध्यान रखना, यदि थोड़ी भी कमी रह गई, तो फिर मंजिल नहीं मिल सकती। मंजिल की प्राप्ति के लिए पूरी की पूरी तैयारी करनी पड़ेगी किन्तु बच्चे बहुत होशियार होते हैं, ज्यों ही अप्रैल, मई आने लगती है, त्यों ही वे कहने लगते हैं कि हम इस साल परीक्षा में नहीं बैठेंगे। क्यों नहीं बैठेंगे भैया! हम तो Division बनाना चाहते हैं, क्योंकि फेल होने की संभावना रहती है और Division आ रही हो तो कह देते हैं कि हम तो Merit में आना चाहते हैं, यह सारी की सारी कमजोरियाँ यहाँ नहीं चलेंगी। जिस रत्नत्रय को महावीर भगवान् ने प्राप्त किया था, कुन्दकुन्दाचार्य ने प्राप्त किया था, उसी रत्नत्रय को हम लोगों ने प्राप्त किया है। वह काल...वह संहनन आज नहीं है फिर भी कोर्स वही है। कोई भी अन्तर नहीं है। आज कल के कैसे बच्चे हैं कोर्स के लिए हड़ताल करते हैं हम भी भगवान् के सामने हड़ताल

कर लें...नहीं...नहीं यह संभव नहीं है। आठ अंग वाला सम्यग्दर्शन है इतना काल व्यतीत हो गया इसलिए कम से कम कुछ अंगों में तो कमी कर दो, किन्तु ऐसा नहीं चलेगा और ज्ञान और चारित्र में भी किसी प्रकार की कमी नहीं चलेगी। जब भगवान महावीर जैसा सुख प्राप्त करना तुम्हारे लिए इष्ट है, तो भगवान महावीर बनकर ही काम करना पड़ेगा, जो मोक्षमार्ग महावीर के समय में था, वही मोक्षमार्ग आज है और आगे भी रहेगा, किन्तु आप लोगों की प्रवृत्तियाँ कितनी बिगड़ चुकीं हैं और वे प्रवृत्तियाँ इतनी अधिक मात्रा में बिगड़ चुकी हैं कि क्या बताऊँ ? बच्चे भी स्कूल से हमेशा छुट्टियाँ ही छुट्टियाँ चाहते हैं, छुट्टी के नाम से विद्यार्थी ऐसे फूल जाते हैं, जैसे बसन्त में टेसू के फूल फूलते हैं। किन्तु! परिश्रम देखते ही मुरझा जाते हैं। आज इस कलिकाल में भी रत्नत्रय की प्ररूपणा ही नहीं बल्कि उसका पालन और अनुभव भी किया जा रहा है।

आचार्य समन्तभद्र कहते हैं कि वह गृहस्थ उस मोही मुनि से भी श्रेष्ठ है, जो गृहस्थ निर्मोही है। आचार्य देव ने उलझे हुए मुनियों को सुलझे हुए गृहस्थों के उदाहरण दिये हैं और ऐसा कथन सुनकर गृहस्थ फूल न जाए इसलिए उलझे हुए गृहस्थों को सुलझे हुए पशुओं के भी उदाहरण दिये हैं। तथापि उलझे हुए मुनि का भी कितना महत्त्व है, इस बात को बताते हुए आचार्य कहते हैं कि जब उलझा हुआ मुनि सुलझे हुए गृहस्थ के द्वार पर आहारार्थ पहुँचता है और यदि वह गृहस्थ तीन बार नमोऽस्तु कहकर विधिपूर्वक पड़गाहन करता है तब कहीं उसके यहाँ जाकर महाराज आहार करते हैं, अन्यथा नहीं। यह ध्यान रखना कि गृहस्थ की दुकान उन्हीं के माध्यम से चलने वाली है, इस प्रकार कहने का मतलब यह है कि जब तक तुलना नहीं की जाती तब तक व्यक्ति ऊपर नहीं उठता। अतः इस प्रकार की तुलना आवश्यक है। समयसार में आचार्य कुन्दकुन्द देव एक स्थल पर कहते हैं–

जह कणयमग्गितवियं पि कणयसहावं ण तं परिच्चयदि।
तह कम्मोदयतविदो ण जहदि णाणी दु णाणित्तं॥१९१॥

(समयसार, संवराधिकार)

जिस प्रकार अग्नि से तपाने के उपरान्त भी कनक अपने कनकत्व अर्थात् स्वर्णपने को नहीं छोड़ता है, उसी प्रकार कर्मरूपी महान् अग्नि के द्वारा तपने के उपरान्त भी ज्ञानी लोग अपने ज्ञानीपने को नहीं छोड़ते हैं, जैसे पांडव, कितने थे ? पाँच थे (धर्म, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव) जिसमें से धर्म, भीम और अर्जुन ये तीन तो मुक्त हो गए और शेष दो को मुक्ति का लाभ नहीं मिला। किन्तु सर्वार्थसिद्धि गए, यह सर्वार्थसिद्धि क्या वस्तु है ? तो आप जानते ही हैं षट्खण्डागम जैसे महान् ग्रन्थों की वाचना सुन रहे हैं। यह सबसे ज्यादा सुखमय और पुण्य के फल स्वरूप तैंतीस सागर वाली आयु है, वहाँ पर दोनों तैंतीस सागर के लिए अटक गए। यहाँ पर यह बात सोचनीय है कि जो नकुल और सहदेव सर्वार्थसिद्धि को गए हैं वे बिना रत्नत्रय के नहीं गए हैं और वे दोनों एक ही भवावतारी हैं।

वहाँ से आकर नियम से मुक्त हो जायेंगे, रत्नत्रय का फल मुक्ति होता है, सो वह उन्हें मिला नहीं। क्या कमी रह गई उनके अन्दर; तो हमने पहले जो उदाहरण दिया था कि ९९ नम्बर तो मिल गए लेकिन! एक नम्बर कम रह गया, यह कमी क्यों रह गई? वे उलझ गये, अब हम गृहस्थों का उदाहरण तो उन्हें दे नहीं सकते। गृहस्थ कैसा भी मोक्षमार्ग पर बने रहे, कदाचित् दर्शन मोह का क्षय भी किसी प्रकार कर ले, तो भी सर्वार्थसिद्धि तीन काल में नहीं जा सकता.....नहीं जा सकता......नहीं जा सकता। अभी-अभी पाँचवीं पुस्तक में पंडित जी कह रहे थे कि वह गृहस्थ-श्रावक कितना भी प्रयास करे, तो भी सोलहवें स्वर्ग से ऊपर नहीं जा सकता, फिर ऐसा कथन क्यों? तो वस्तुतः भूमिका का वर्णन है, उन दो मुनियों की तुलना अब गृहस्थों के साथ की जाय क्या? नहीं....नहीं उनकी तुलना अब उन मुक्त हुए पाण्डवों के साथ करेंगे, कहना यह होगा कि देखो, उन्होंने अपने संकल्प को छोड़ा नहीं वह अपने संकल्प से डिगे नहीं, ज्ञानी लोग अपने संकल्प से डिगते नहीं हैं, किसी भी प्रकार की कमी उन्होंने नहीं रखी और मोह का क्षय करके वे मोक्ष चले गए। उन जैसा शुभ कार्य तुमने किया नहीं। जिससे यह परिणाम निकला कि संसार का काल और बढ़ गया। संसार का एक अर्थ और समझना।

संसार में चार गतियाँ हैं। गति से गत्यान्तर ले जाने में कारण है नामकर्म, और नामकर्म के साथ आयुकर्म का गठबन्धन रहता है, आयुकर्म ही संसार का कारण माना जाता है, इस आयुकर्म को ही आचार्यों ने संसार की संज्ञा दी है, अन्य कर्मों को नहीं, आयु है तो वह नियम से नाम कर्म का प्रबन्ध करेगा। इस प्रकार वह भव विपाकी प्रत्यय संसार में अटकाने वाली सामग्री बाद में देता जाएगा संसार में जो भी प्राणी अटके हुए हैं वे मात्र आयुकर्म की वजह से अटके हुए हैं। केवल ज्ञान होने के उपरान्त भी उस अनन्त शक्ति को आयुकर्म कह देता है कि चुप! बैठ जाओ, मेरे सामने कुछ नहीं चलेगा, जैसा हमने आपको अपने बन्धन में डाल दिया वैसा तुम्हें स्वीकार करना होगा। अनन्त चतुष्टय ले लो सब कुछ ले लो! अपने भी चतुष्टय चल रहे हैं, तुम अपने पास चतुष्टय रखो, किन्तु रहना पड़ेगा यही पर और इस आयु कर्म का जो बंध होता है, वह शुभ परिणामों के साथ ही होता है, शुद्धोपयोग को निरास्रव कहा है और शुभोपयोग को सास्रव कहा है। शुभोपयोग केवल संसार का ही कारण है ऐसी एकान्त धारणा नहीं बनाना चाहिए किन्तु वह परम्परा से मोक्ष का भी कारण है। शुभोपयोग के साथ आयुकर्म का बन्ध होने से उन्हें सर्वार्थसिद्धि जाना पड़ा और वह मोह के साथ ही चलता है।

मोह भाव सो शुद्धोपयोग नहीं है, मोह सो पुण्य नहीं है, मोह सो शुभभाव नहीं है। किन्तु शुभभाव की भी क्या महिमा है ? तो आचार्य वीरसेन स्वामी जयधवला की प्रथम पुस्तक में कहते हैं-

सुद्ध परिणामेहिं कम्मक्खयाभावे तत्थयागुववत्तीदो। (सूत्र ६)

यदि शुभ और शुद्ध परिणामों में से कर्मों का क्षय न माना जाये फिर कर्मों का क्षय ही नहीं हो सकता। इन दोनों भावों के अलावा इस दुनियाँ में अन्य साधन नहीं है, जिससे कर्मों का क्षय कर सकें। इसलिए क्या करना चाहिए? तो शुद्धोपयोग की भूमिका हो तो शुद्धोपयोग लिया जाये और यदि नहीं है तो शुभोपयोग अपना लिया जाये। किंतु ध्यान रखना! रात के बारह बजे भूलकर भी शुद्धोपयोगी, अशुभोपयोग के पास नहीं जाता जिसको बोलते हैं, विषय कषाय में रचने रूप प्रवृत्ति, सहारा लेने योग्य नहीं है। पुण्य का आस्रव केवल संसार के लिए कारण है, ऐसी मान्यता अर्थों से मेल नहीं खाती। यदि इस प्रकार की धारणा किसी ने बना ली हो, तो उस धारणा को बदलना चाहिए, क्योंकि! यह भूमिका उनके लिए भी नहीं बन पाई, जो नकुल और सहदेव एक ही भवावतारी थे, शुद्धोपयोग की भूमिका से च्युत होकर उन्हें आयुकर्म का बंध हुआ। आयुकर्म बंधने के उपरान्त भले ही कोई उपशम श्रेणी चढ़ जाए लेकिन नीचे ही आना पड़ता है और जिस गति की आयु का बंध हुआ है, वहाँ जाना ही पड़ता है, इन्होंने शुद्धोपयोग की भूमिका में तैंतीस सागर की आयु का बंध किया परिणाम स्वरूप इन्हें सर्वार्थसिद्धि में इतने काल तक रहना पड़ रहा है। फिर भी बालब्रह्मचारी रहते हैं। तत्त्वार्थसूत्र में एक सूत्र आया है –

"**परे प्रवीचारा:**" (तत्त्वार्थसूत्र, अ. ४, सूत्र ६) अप्रवीचारा: परे, कौन? कल्पों से ऊपर जो विमान हैं, नव ग्रैवेयक, नव अनुदिश, पाँच अनुत्तर विमानों में प्रवीचार नहीं होता, प्रवीचार का अर्थ है, मैथुन काम वासना का वहाँ पर कोई ठिकाना नहीं। ऐसा कहने के उपरान्त भी यह ध्यान रखना है कि वहाँ पर पुरुष वेद का अभाव नहीं है ऐसा क्यों हुआ? क्या कारण है ?

यह बात अलग है कि पुरुष वेद का उदय तो रहेगा, क्योंकि वेदों का अभाव नवमें गुणस्थान के उपरान्त ही होता है और वह तो चतुर्थ गुणस्थान में है। अत: वेद तो रहेंगे लेकिन वेद का जो कार्य है वह कार्य नहीं होगा, फिर भी मैथुन संज्ञा मौजूद रहेगी। उस संज्ञा के प्रतिकार करने की कोई आवश्यकता नहीं होती है। उनको वेद के उदय में जैसे नीचे के स्वर्गों अथवा मनुष्यों में प्रवृत्ति होती है, वैसी उन लोगों में नहीं होती इसलिए वे बालब्रह्मचारी माने जाते हैं। इतने में ही आप समझ लो कि ब्रह्मचारी रह गये तो कितने कार्य से छुट्टी मिल गई, एक हाथ का उज्ज्वल शरीर रहता है और तत्त्व चर्चा में ही अपना सम्पूर्ण काल व्यतीत करते हैं, फिर भी वह ऊपर से नीचे की ओर देख रहे होंगे,' इस पपौराजी क्षेत्र में भीड़ क्यों हो रही है? वहाँ पर हम सभी चले जायें तो जल्दी हमारा कल्याण हो जाएगा।

नरकाया को सुरपति तरसै, सो दुर्लभ प्राणी (बारह भावना)

ऐसा क्यों हो रहा? इसलिए हो रहा कि वहाँ पर संयम नहीं है और यहाँ पर संयम है। स्वर्गों में मात्र चतुर्थ गुणस्थान तक ही उन्नति सम्भव है, लेकिन मनुष्य गति में तो चौदह गुणस्थान तक

प्राप्त किये जाते हैं। आज वर्तमान में यहाँ पर चौदह गुणस्थान तो नहीं, किंतु ७ गुणस्थान अवश्य ही प्राप्त किए जा सकते हैं। यदि आप छोटा सा भी संकल्प कर लोगे तो चतुर्थ गुणस्थान से पंचम गुणस्थान हो सकता है लेकिन वहाँ पर ऐसा नहीं है फिर भी उसे आप मौलिक पद दुर्लभ वस्तु समझते हैं जो कि श्रावक से भी गया बीता जीवन है, जहाँ पर जीवनपर्यन्त रत्नत्रय का पालन करने वाले मुनि भी पहुँच गये हैं और अब उन्हें वहाँ पर संयम की गंध भी नहीं आ रही है। तब आचार्य कुन्दकुन्द देव कहते हैं कि तुमने अपने ज्ञानीपने में बट्टा लगा लिया।

आदिनाथ, भरत और बाहुबली इन तीनों ने पूर्व जन्म में मुनिव्रत धारण कर कठोर तपश्चरण किया था, फलस्वरूप तीनों सर्वार्थसिद्धि गए थे, वहाँ से चयकर, मुनि बनकर एक ही भव में मुक्त हो गए। यह जो उलझन है, इसका बड़ा कमाल है, मतलब यह कि सर्वार्थसिद्धि से सिद्धशिला की दूरी मात्र बारह योजन ही है, कोई देव चाहे कि वहीं से चला जाएं, जैसे आजकल अंतरिक्ष में चले जाते हैं। उसके साथ एक Machine और Shuttle रहती है, उसे नीचे उतार दिया जाता है किन्तु ऐसा यहाँ नहीं होता। इतना ही नहीं मेरु पर्वत की चोटी और सौधर्म स्वर्ग का जो पटल है उसमें एक बाल का ही अन्तर है, कोई चींटी पहुँच जाए, कोई भी व्यक्ति वहाँ से खिसक जाए, स्वर्ग में पहुँच जाए, कोई भी व्यक्ति वहाँ से बाल मात्र अन्तर का भी उल्लंघन नहीं कर सकता, क्योंकि वहाँ तक मध्य लोक की सीमा है और उसके उपरान्त ऊर्ध्वलोक की सीमा है।

ऊर्ध्वलोक की सीमा में हवा अलग है वहाँ पर भी हवा है। वहाँ पर भी पानी है। वहाँ पर भी सब कुछ है। लेकिन व्यवस्था अलग है, वहाँ का वातावरण आप लोगों को हजम नहीं होने वाला। वहाँ पर जाने के लिए पासपोर्ट जो है, वह यहीं से बनाने पड़ते हैं। उस सर्वार्थसिद्धि को जाने के लिए रत्नत्रय का पासपोर्ट होना जरूरी है। सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र की बात फिर भी समझ में आ जाती है लेकिन ज्ञान के बारे में बड़ी सूक्ष्मता है, ज्ञान को मिथ्या होने में देर नहीं लगती। जो क्रोध के वशीभूत होकर, मान के वशीभूत होकर, लोभ के वशीभूत होकर कषाय कर देता है, तो उसका सम्यक् धन कलंकित हो जाता है। उसका ज्ञान निर्मल नहीं माना जा सकता, वह भले ही चाहे अपने आप को सम्यग्ज्ञानी कहता रहे। आचार्य कहते हैं उसका ज्ञान समीचीन नहीं रहा, क्योंकि डर के मारे, वह बदलता ही जा रहा है। यह **बदलाहट, यह दल-बदलूपन व्यक्ति के अंदर विद्यमान गुणों को समाप्त** कर देता है। सम्यग्ज्ञानी ही एक मात्र निष्पक्ष-निर्दलीय होता है, उसे दल पक्षपात से कोई मतलब नहीं रहता। आगमिक चर्या, आगम की बातें और आगम का यथार्थ श्रद्धान ही उसका पक्ष रहता है। जैसा वह रहता है, वैसा ही कहता है। उसकी कथनी और करनी में कोई अन्तर नहीं रहता। तीन लोक की सम्पत्ति का भी उसे लोभ दिया जाय तो भी वह आगम के अर्थ में एक अक्षर का भी परिवर्तन नहीं कर सकता, इसी को आगम ग्रन्थों में सम्यग्ज्ञान कहा गया है।

यह बात और विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि जिस प्रकार उलझे हुए मुनियों के लिए सुलझे हुए गृहस्थों के उदाहरण दिये हैं। उसी प्रकार उलझे हुए गृहस्थों के लिए सुलझे हुए पशुओं के भी उदाहरण दिए गए हैं। सुन रहे हो कि नहीं? रत्नकरण्डक-श्रावकाचार में उदाहरण के लिए मेंढ़क आया है, कुत्ता आया है, शूकर आया है, मातंग आया है। मातंग किसे बोलते हैं ? चाण्डाल को। आज वह वर्ण नहीं है, जो इस प्रकार का हीन कार्य करता है, जिसे मात्र हिंसात्मक (फाँसी पर चढ़ाना) हीन कार्य करने के लिए नियुक्त किया जाता था। वे भी अहिंसात्मक के सिरमौर बन सकते हैं, और बने हैं। पूजन के लिए कोई सेठ साहूकार पुजारी का उदाहरण उन्हें नहीं मिला, जो मेंढ़क का नाम रखना पड़ा। स्वामी समन्तभद्र बहुत आगे के परीक्षक थे, इसलिए मोक्षमार्गस्थो कहकर उठा भी देते हैं, लेकिन कोई घमण्ड करे तो उसको पशुओं के सामने लाकर रख देते हैं। रत्नकरण्डक श्रावकाचार में आचार्य समन्तभद्र कहते हैं कि-

अर्हच्चरणसपर्या, महानुभावं महात्मनामवदत्।
भेकः प्रमोदमत्तः, कुसुमेनैकेन राजगृहे॥१२०॥

एक भक्त भगवान् के चरणों की पूजन का इच्छुक एक छोटी सी पाँखुड़ी अपनी दाँतों तले दबाकर जा रहा है, फुदक-फुदक कर मुँह में लेकर वह मेंढ़क राजगृह नगर में पूजन की महिमा बतलाने वाला उत्तम श्रावक माना जाता है, अब यदि मेंढ़क के साथ आपकी तुलना की जाए तो क्या होगा भैया? यह बिल्कुल ठीक है कि भावों की बात है लेकिन आप लोग तो यही कहेंगे कि महाराज जमाना पलट गया है, इसलिए कुछ-कुछ चल जाता है। नहीं, बिल्कुल नहीं! अब ऐसा चलने वाला नहीं है। जब जैन कुल है तो मद्य, मांस, मधु की बात नहीं करनी चाहिए।

किसी ने कहा, महाराज! सम्यग्दर्शन के साथ इनके त्याग का कोई सम्बन्ध नहीं, तो वह व्यक्ति ऐसा कहकर शिथिलाचार पनपायेगा और एक दिन भार बनकर सम्पूर्ण समाज को डुबोने में कारण बन जाएगा। सप्त व्यसन, रात्रि भोजन, अभक्ष्य भक्षण और अनुपसेव्य चीजों का तो जैनी को हमेशा के लिए त्याग करना ही चाहिए।

यदि कोई ऐसा उपदेश देता है कि मात्र सम्यग्दर्शन को सुरक्षित रखो, त्याग अलग वस्तु है, सम्यग्दर्शन अलग वस्तु है, बाह्य दुश्चरित्र से सम्यग्दर्शन का कोई सम्बन्ध नहीं तो नियम से उसका गुणस्थान बदल जाएगा। उसमें कारण यह है कि उसकी उस प्रवृत्ति से उस उपदेश से सारी की सारी समाज उसका समर्थन करने लग जाएगी। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र आत्मा की वह भीतरी परिणति है, जिसका अन्दाज हम इन चर्म चक्षुओं से नहीं लगा सकते। जाति कुल और परम्परा से बंधकर के धर्म नहीं चलता है। मैं जैन हूँ इसलिए मेरे पास चारित्र हो गया ऐसी कोई बात

नहीं है। **धर्म का सम्बन्ध देहाश्रित कम हुआ करता है बल्कि आत्माश्रित ज्यादा।** एक मुनिराज आत्मा में लीन हैं, शान्ति के साथ गुफा में बैठे हुए हैं, तत्त्व चिन्तन चल रहा है, कहाँ पर क्या होने वाला है, कोई पता नहीं किसी को और किसी प्रकार की कोई चिन्ता नहीं। यह गाथा उनके मानस पटल पर तैर रही है-

अहमिक्को खलु सुद्धो, दंसणणाणमइओ सदा रूवी।
णवि अत्थि मज्झ किंचिवि, अण्णं परमाणुमित्तंपि॥४३॥

मैं शुद्ध बुद्ध एक आत्म तत्त्व हूँ। निष्कलंक निरंजन ज्ञान दर्शन रूप उपयोग के अलावा अणु मात्र भी मेरा नहीं है। इस प्रकार शुद्धोपयोगमयी आकिंचन्य भावना भा रहे थे। इधर घटना दूसरी घटती है, कई दिनों का भूखा एक भयंकर सिंह दहाड़ता हुआ आ रहा है गुफा की ओर, उसने देखा कि अभी-अभी एक सुर्ख लाल व्यक्ति गुफा के अन्दर गया है, बहुत अच्छा शिकार है, मेरी सारी की सारी भूख मिट जाएगी मैं तृप्त हो जाऊँगा, सिंह दहाड़ता हुआ उस गुफा की ओर दौड़ा सिंह की दहाड़ एक शूकर ने सुनी, उस दहाड़ में सिंह का क्या उद्देश्य था यह भी वह समझ गया, किस ओर जाएगा और क्या करेगा इन सब बातों को शूकर तुरन्त समझ गया। शूकर शीघ्र ही सिंह के सामने आ धमका और कहता है-तुम उधर नहीं जा सकते, मैं जाऊँगा, सिंह ने दहाड़ते हुए कहा। कैसे जाओगे? मैं तो बीच में हूँ पहले मुझे अलग करो फिर बाद में ही गुफा में जा सकोगे, शूकर ने दृढ़ता से कहा, शेर गुस्से में बोला क्या कहता है ? जरा ध्यान से बोल, मैं वनराज हूँ। हाँ, तुम वनराज हो तो मैं भी वन में रहता हूँ, लेकिन आज राजा और प्रजा की बात है। राजा यदि अन्याय पर उतारू हो जाता है तो प्रजा उसे कभी नहीं छोड़ेगी। **मैं तुम्हारे Under में रहने वाला प्राणी जरूर हूँ लेकिन मेरा प्रण है कि अन्याय करने वाले को कभी नहीं छोडूँगा चाहे मेरे प्राण भले ही चले जायें।** शूकर ने नम्रतापूर्वक कहा-छोड़ दे रास्ता। शेर ने गर्वपूर्वक कहा। नहीं छोडूँगा, कदापि नहीं छोडूँगा। शूकर अपनी बात पर अड़ा रहा और कस्समकस्सा आरंभ हो गया। शूकर भी अधिक बलशाली था। एक दूसरे को उलट-पुलट करने लगे। कस्समकस्सा गुत्थम-गुत्था होते होते दोनों का अवसान हो जाता है, उसके बाद क्या हुआ तो आप कहेंगे -

अति संक्लेश भावतैं मर्‌यो घोर श्वभ्रसागर में पर्‌यो॥

(छहढाला, प्रथम ढाल)

दोनों ने लड़ाई लड़ी और ऐसी लड़ाई लड़ी कि अपने आपकी चिंता भी नहीं की। और अभी-अभी पंडितजी कह ही रहे थे कि जो अपनी आत्मा की हत्या करता है वह सबसे ज्यादा पापी माना जाता है। शूकर ने भी अपने आपको कस्समकस्सा में डाल दिया और सिंह ने भी, समझ में

यही आता है कि दोनों का रौद्रध्यान था और कृष्ण लेश्या भी थी, इसलिये दोनों नियम से उतर गये होंगे सीधे नरक में किन्तु आचार्य समन्तभद्र कहते हैं कि नहीं, एक ऊर्ध्वगामी हुआ और एक अधोगामी। शूकर स्वर्ग गया और सिंह नरक में। शूकर का अध: पतन क्यों नहीं हुआ? तो शूकर का परिणाम शुभ था, और सिंह का अशुभ था, सिंह का भाव मुनिराज के ऊपर प्रहार करने का था, क्या बात कह दी? बड़ी अद्भुत बात कह दी, वह हमला करने वाला शूकर स्वर्ग चला गया, इस प्रकरण से स्पष्ट हो गया बन्धुओ! परिणामों के द्वारा ही उन्नति और अवनति हुआ करती है, ऐसा कौन-सा दान था? जो उस शूकर ने दिया था, यह ध्यान रखना दान देना मात्र श्रावकों पर ही निर्धारित है, ऐसी बात नहीं है। यहाँ पर पशुओं के उदाहरण दिए जा रहे हैं, उसने आहार दान नहीं दिया, उपकरण दान नहीं दिया, औषध दान का तो प्रश्न ही नहीं उठता, ऐसा कौन-सा महान् दान दिया जिससे उसकी उन्नति हुई, उसने आवास-वसतिका दान दिया था, आवासदान का मतलब क्या है ? तो जहाँ पर धर्म ध्यान किया जाता है, उस क्षेत्र की और ध्यान की रक्षा करना है। **धर्म ध्यान करना या धर्म ध्यान करने वालों की सुरक्षा करना दोनों एक ही बात है।** इसका मतलब यह नहीं कि धर्मध्यानी यह कह देते हैं कि भैया! मेरी रक्षा करना मैं सामायिक में बैठ रहा हूँ। धर्मध्यान में लीन उन मुनि महाराज को जब शरीर की ही चिंता नहीं तो बाहर क्या हो रहा है ? इसका विकल्प भी कैसे हो सकता है और मेरी कोई रक्षा करे ऐसा सोच भी कैसे सकते हैं ? मेरी रक्षा संसारी प्राणी कैसे कर सकते हैं। मेरी रक्षा मेरे रत्नत्रय के द्वारा ही होगी और उस रत्नत्रय का पालन मैं कर ही रहा हूँ। वे मुनि शुभोपयोग की भूमिका से उठकर शुद्धोपयोग में ऐसे लीन हो गए,भीतर अपनी आत्मा की अनुभूति करने लगे और फिर उनका उपयोग डाँवाडोल नहीं हुआ निश्चिंत, निराकुल, एकदम शान्त भावों की विशुद्धता बढ़ती गई।

यह है आवास दान का माहात्म्य, शूकर सोच रहा था कि कहीं मुनिराज के ऊपर उपसर्ग न हो जाए, यदि उपसर्ग हो गया तो सम्भव है जिस प्रकार नकुल और सहदेव उलझ गए थे उसी प्रकार ये भी उलझ सकते हैं, इस प्रकार के दान देने वाले शूकर को उन्होंने कितने ऊपर उठाया। धन्य है शूकर का आदर्श! लेकिन पशुओं में महान् होने पर भी सिंह का नाम तक नहीं लिया, बिल्कुल नीचे कर दिया उसको, क्योंकि उसके परिणाम बिगड़े हुए थे। पापमयी थे, क्या खायें, क्या नहीं? इसका भी ज्ञान नहीं था। आज विद्वानों के द्वारा बड़े-बड़े गुणस्थानों की चर्चा तो की जाती है, आत्मा परमात्मा की चर्चा की जाती है, लेकिन खान-पीन के बारे में पूछा जाये तो आप कहते हैं कि हमारे यहाँ तो महावीर भगवान् ने समता रखने के लिए कहा है इसलिए हमें जो कुछ भी मिलता है, उसमें हम समता रखकर खा लेते हैं....। ध्यान रखना भक्ष्य-अभक्ष्य में समता नहीं किन्तु कर्मों के उदय में अपने लिए जो कष्ट, सुख-दुख आ जाते हैं उनमें हर्ष-विषाद नहीं करते हुए, नहीं उलझते हुए

आगे बढ़ना है। हमारे आराध्य प्रभु! महावीर ने यही कहा कि-

तुम भीतर जाओ

और........

तुम भी...... तर जाओ

भगवान् महावीर के समान वे मुनिराज ऐसे भीतर चले गए कि उन्हें न देह की चिन्ता, न सिंह व्याघ्र और शूकर की चिन्ता। एकमात्र आत्मा की सतत आराधना चल रही थी। आचार्य समन्तभद्र कहते हैं -

कश्चिदेव भवेत् गुरुः (आप्तमीमांसा/४) आत्मा का कोई भी वीतरागी साधन गुरु बन सकता है। लेकिन! आचार्य विद्यानन्दजी और भी आगे बढ़ गए और वे कहते हैं -

कः भवेत् गुरुः, चित् एव गुरुः। (आप्तपरीक्षा/४)

यानि कि आत्मा ही गुरु है। इस परम गुरुरूपी आत्मा के अलावा संसार में अन्य कोई शरण नहीं है। अन्दर से रत्नत्रयात्मक आत्मा ही शरण है और बाहर से पंचपरमेष्ठी और सच्चे देव, शास्त्र, गुरु की शरण है, इसके अलावा किसी की भी शरण नहीं है। आपका यदि कोई काम बिगाड़ता है तो आप पंचायत की शरण में चले जाते हैं, और कहते हैं कि मेरा यह काम निपटा दो। उसी प्रकार साधक का बाहर यदि काम बिगड़ रहा है तो पंच परमेष्ठी की शरण में जाओ और निवेदन करो कि महाराज! मेरा यह काम निपटा दो, क्योंकि! मैं तो अल्पज्ञ हूँ कुछ जानता नहीं हूँ। और यदि बाहर का काम निपट गया तो तुम भीतर चले जाओ। इस प्रकार भेद और अभेद रत्नत्रय आराधना की जाती है, इस प्रकार की आराधना करते हुए आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने रत्नकरण्डक श्रावकाचार जैसी अमरकृति की रचना करके हम लोगों पर बड़ा उपकार किया है। महाराज जी (आचार्य ज्ञानसागरजी) कहा करते थे, यह रत्नकरण्डक श्रावकाचार छोटी कृति जरूर है, किन्तु! वास्तव में इसमें रत्नत्रय की स्तुति की गई है। इस कृति में ४२ श्लोकों के द्वारा, सम्यग्दर्शन, उसके अंग और फल का वर्णन किया है। इस प्रकार का विशद वर्णन कहीं अन्यत्र देखने में नहीं मिला। सम्यग्ज्ञान की प्ररूपणा पाँच कारिकाओं के द्वारा की गई है, एक लाक्षणिक कारिका है और शेष चार कारिकाओं के द्वारा, चारों अनुयोगों का वर्णन किया है। वर्तमान में अनुयोगों के बारे में यदि प्रौढ़ और दार्शनिक प्ररूपणा मिलती है तो एकमात्र आचार्य समन्तभद्र की है। रत्नकरण्डक श्रावकाचार में सम्यग्ज्ञान के बारे में वे लिखते हैं -

अन्यूनमनतिरिक्तं, याथातथ्यं विना च विपरीतात्।
निःसंदेहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः ॥ ४२॥र.श्रा.

जो ज्ञान वस्तु के स्वरूप को न्यूनता से रहित, अधिकता से रहित और विपरीतता से रहित निस्सन्देह जानता है, उस ज्ञान को गणधर, श्रुतकेवली सम्यग्ज्ञान कहते हैं। इस प्रकार सम्यग्ज्ञान का कथन करने के उपरान्त सम्यक्चारित्र के लिए ४ कारिकायें लिखी । जिस मुमुक्षु भव्य प्राणी ने अज्ञान रूपी मोहान्धकार को समाप्त करके सम्यग्ज्ञान रूपी प्रकाश पा लिया है वह व्यक्ति फिर –

मोह तिमिरापहरेण, दर्शनलाभादवाप्त संज्ञानः।
रागद्वेष निवृत्यै, चरणं प्रतिपद्यते साधु :॥ र.श्रा.

सज्जन वही होता है, जो राग द्वेष की निवृत्ति के लिए चारित्र को अंगीकार करता है। बन्धुओ! मनुष्य जीवन की दुर्लभता आप जान ही रहे हैं, और अज्ञान को हटाने के लिए यदि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है तो राग द्वेष को दूर करने के लिए नियम से चारित्र की शरण लेनी चाहिए। यदि सकल चारित्र को आप नहीं अपना सकते तो कम से कम देश चारित्र को तो अपनाना ही चाहिए। यही एकमात्र भगवान् का उपदेश है, इसी से मुक्ति का लाभ होने वाला है। और अन्त में वही पंक्तियाँ पुनः दुहराता हूँ –

तुम भीतर जाओ
और........
तुम भी...... तर जाओ॥

❑ ❑ ❑

न धर्मो धार्मिकैर्बिना

समन्तभद्राचार्य की दिव्य घोषणा है कि धर्मी के अभाव में धर्म नहीं रह सकता और धर्म के अभाव में धर्मी नहीं रह सकता। आचार्यों, सन्तों ने हमारे ऊपर कितनी बड़ी कृपा की है उस कृपा का जो भार है उसे हम किसी भी प्रकार से उतार नहीं सकते। उनका हमारे ऊपर इतना बड़ा ऋण है उसे हम एक ही शर्त पर चुका सकते हैं कि हम उनकी बात को मानें, उनकी संस्कृति, परम्परा को निभायें। अन्यथा हम हमेशा ऋणी बने रहेंगे और हमारा यह दयनीय जीवन फिर सुधर नहीं सकेगा।

समन्तभद्राचार्य जी की दिव्य घोषणा है कि धर्मी के अभाव में धर्म नहीं रह सकता और धर्म के अभाव में धर्मी नहीं रह सकता **''न धर्मो धार्मिकैर्बिना। परस्परोपग्रहो जीवानां।''** यह सूत्र गुरु और शिष्य के बीच कैसे घटित होगा? तो आचार्य कहते हैं कि आज का मोक्षमार्गी भी गुरु की आज्ञानुसार चल कर गुरु के ऊपर उपकार कर सकता है।

सम्यग्दर्शन खरीदा नहीं जा सकता, वह बाहर से नहीं अन्दर से आता है। आचार्यों के उपदेशों से ग्रहण किया जाता है। सम्यग्दर्शन के चार अंग स्वोमुखी हैं और चार अंग परोमुखी हैं, पर की अपेक्षा रखते हैं।

आचार्यों ने करुणाभाव के साथ हमारे ऊपर कितनी बड़ी कृपा की है। उस कृपा का जो भार है, उसे हम किसी भी प्रकार से उतार नहीं सकते, आचार्यों का हमारे ऊपर इतना बड़ा ऋण है, उसे हम सिर्फ एक ही शर्त पर चुका सकते हैं कि हम उनकी बात को मानें, उनकी संस्कृति, परम्परा को निभायें अन्यथा हम उनके ऋणी ही बने रहेंगे और हमारा यह दयनीय जीवन तीन काल में भी सुधर नहीं सकेगा।

यदि आप लोग अपने पूर्वजों को संतुष्ट करना चाहते हो तो वे और कुछ नहीं चाहते हैं सिर्फ उनकी बात को मानकर, उनकी संस्कृति परम्परा को तुम्हें निभाना होगा। आज तक जिन्होंने उनकी परम्परा के माध्यम से मुक्ति का लाभ लिया है, उनका कहना यही है कि परम्परा छोड़ दोगे तो मुक्ति का मार्ग छूट जाएगा। जिस समय हम उस रास्ते से चलते हैं उस समय रास्ता हमारे साथ चलता है। समन्तभद्राचार्य जी की दिव्य घोषणा है कि धर्मी के अभाव में धर्म नहीं रह सकता और धर्म के अभाव में धर्मी नहीं रह सकता, **न धर्मो धार्मिकैर्बिना**। धर्म की सुरक्षा चाहते हो तो धर्मात्मा बनो। धर्म जड़ नहीं है जिसकी सुरक्षा की जा सके। धर्म कोई जाति सम्प्रदाय नहीं। धर्म को हम खरीद नहीं सकते,धर्म एक चैतन्य परिणति है जिसकी सुरक्षा हम उस चैतन्य परिणति के माध्यम से ही कर सकते हैं। इसके अलावा और कोई रास्ता नहीं है। कागजी घोड़े दौड़ा कर भले ही आप संतोष कर लें, कि हमने धर्म का बहुत प्रचार किया है।

आचार्य उमास्वामी जी द्रव्यों के उपकारों के बारे में विश्लेषण करते हुए जीव द्रव्य का वर्णन करते हुए कहते हैं ''**परस्परोपग्रहो जीवानां**'' जीव का जीव के ऊपर उपकार किस प्रकार है ? उपग्रह का अर्थ ''**दुखावसानकरणम्**'' दु :ख का अवसान करना ही उपग्रह है। दुख और सुख का संवेदन करने वाला सिर्फ जीव द्रव्य ही है। अब उपकार किसके ऊपर करें तो, वे कहते हैं कि उस व्यक्ति के ऊपर उपकार करो जो आपत्तिग्रस्त है, जिसके ऊपर संकट आया है। उसको जिसे किसी वस्तु की आवश्यकता है, उसे वह वस्तु देकर उसके ऊपर उपकार कर सकते हैं। अनादिकाल से जो भयभीत है, जिसे मोक्ष का मार्ग नहीं मिल रहा है, जो आत्मा का उद्धार नहीं कर पा रहा है। बहुत प्रयास करके वह अपने आप यहाँ तक आया है, किसी का आलम्बन लेकर नहीं आया है, एकमात्र अपना ही आलम्बन लेकर, चौरासी लाख योनियों को लाँघकर, यहाँ तक आया है, लेकिन अब उसकी गाड़ी रुक रही है और जिस अपेक्षा से रुक रही है, उसका दुख दूर कर देना ही सच्चा उपकार कहलाता है। एक प्रकार से छोटों के ऊपर बड़ों का उपकार है, वह उतारने का एक साधन है ''**परस्परोपग्रहो जीवानां**''। यह सूत्र आचार्य उमास्वामी जी का है, इसकी टीका आचार्य पूज्यपाद जी ने बड़ी उदारता के साथ की है। किस प्रकार जैनत्व की, अनेकान्त की सुरक्षा होती है, उस व्याख्या के माध्यम से हमें अनेकान्तात्मक जैन दर्शन का हृदय समझ में आ जाता है। ''**ऐसा**

विश्व में कोई भी पंथ नहीं है, ऐसा कोई भी दर्शन नहीं है, जिसने इतनी महान् उदारता का आलम्बन लिया हो, इस सूत्र में उन्होंने यह कहा है कि एक तरफ भगवान् हैं और एक तरफ पतित प्राणी है लेकिन उस पतित प्राणी का भी उपकार भगवान् के ऊपर हो सकता है। मेरे विचार से अनेकान्त के लिए इससे आगे गुंजाइश नहीं है।'' समकक्ष वाले तो आपस में लेन-देन कर सकते हैं, लेकिन यह ध्यान रखें कि विषम कक्ष वाले भी कर सकते हैं। पावनता का पूर्ण रूप से अनुभव करने वाले भगवान् होते हैं और पतित, जिसका जीवन अधूरा है वह भी उनके ऊपर उपकार कर सकता है, इसको कहते हैं भगवान् महावीर का दर्शन। जिसमें किसी प्रकार अभिमान के लिए गुंजाइश नहीं है। जिसमें प्रत्येक आत्मा के महान्-महानतम अस्तित्व का कथन है। कोई व्यक्ति उपकार करता है तो उसकी गर्दन ऊपर हो जाती है, वह फिर नीचे की ओर देखता ही नहीं है किन्तु भगवान् के ऊपर जो आज का मोक्षमार्गी है, वह भी उपकार कर सकता है और इस बात को भगवान् भी मंजूर कर रहे हैं। लेकिन आपको यह बात सुनने में बड़ी विचित्र लगती होगी। सेठ जी नौकर के ऊपर, मुनीम जी के ऊपर तो कुछ न कुछ उपकार कर सकते हैं लेकिन मुनीम जी का उपकार उन सेठ जी के ऊपर कैसे होगा? तो आचार्य कहते हैं कि वह उनका काम हिसाब-किताब सही करें यही मुनीम जी का सेठ जी के ऊपर उपकार है। और सेठ जी के द्वारा उसे वेतन प्राप्त हो रहा है इस प्रकार एक दूसरे के ऊपर उपकार कर सकते हैं।

''**परस्परोपग्रहो जीवानां**'' यह सूत्र गुरु और शिष्य के बीच में कैसे घटित होगा? तो आचार्य कहते हैं आज का मोक्षमार्गी भी गुरु के ऊपर उपकार कर सकता है क्योंकि उनकी आज्ञानुसार चलकर वह धर्म की प्रभावना करता है, इसी का नाम है ऋण से मुक्त होना। अन्यथा हम तब तक ऋणी बने रहेंगे जब तक कि आर्ष मार्ग को नहीं अपनायेंगे, तब तक हम मोक्षमार्ग के प्रचारक - प्रसारक नहीं कहला सकेंगे। केवल बातों-बातों से काम नहीं चलने वाला। **'न धर्मो धार्मिकैर्बिना'** धर्म का प्रचार धर्मात्मा के माध्यम से ही होता है, मात्र धर्म का नाम लेने से नहीं। धर्मात्मा जहाँ भी रहेगा वहाँ उसके माध्यम से अहिंसा धर्म की, सत्य धर्म की प्रभावना नियम से होगी इसमें कोई सन्देह नहीं है। इसे भले ही रागी द्वेषी न देखें पर भगवान् तो देख रहे हैं कि किसके द्वारा कितनी प्रभावना हुई है, शिष्य बिल्कुल ठीक-ठाक काम कर रहे हैं या नहीं।

''परस्परोपग्रहो जीवानाम्'' इस सूत्र का विश्लेषण मैं इसलिए बताना चाहूँगा कि निर्वाण महोत्सव के दौरान जैन-समाज में एक प्रतीक बना है। और उस समय उसका बहुत प्रचार-प्रसार किया गया था, उस प्रतीक के बीचों बीच में उन्होंने एक ऐसा हाथ दिखाया है कि जैसे बिल्कुल महावीर का हाथ उतार दिया हो, अभय का प्रतीक है वह हाथ, उस प्रतीक के नीचे लिखा है ''परस्परोपग्रहो जीवानाम्'', कि किसी को आप भयभीत नहीं करें अभय दान दें। यह ध्यान रखें

तीन दानों के लिए तो पैसों की आवश्यकता पड़ती है पर अभय दान के लिए धन-पैसे की जरूरत नहीं है और न ही शरीर की आवश्यकता है, बस! उज्ज्वल मन की आवश्यकता है और वह मन कहीं से खरीदना नहीं है अपने पास ही है, चाहें तो हम अभय दान कर सकते हैं, मारने वाले अपने अपकारक प्राणी का भी भला करना, उसके उद्धार की बात सोचना अभय दान है।

भगवान् महावीर स्वामी ने कहा है कि अभय दान के माध्यम से सबसे अधिक प्रभावना होती है। जिसके पास कुछ भी माया नहीं रहती, माया का अर्थ है अन्दर कुछ और बाहर कुछ और, तो जिसके मन में माया नहीं है वही व्यक्ति सबसे ज्यादा भगवान् महावीर स्वामी के मार्ग का प्रचारक है। आप अपनी दृष्टि में चोरी से बच रहे हैं, असत्य से बच सकते हैं, व्यभिचार से बच रहे हैं तो केवल बस इसी को धर्म समझने लगते हैं, कि हमने कभी झूठ नहीं बोला, कभी चोरी नहीं की, व्यभिचार नहीं किया पर मैं कहूँगा कि आपने सब कुछ किया है क्योंकि आपके पास परिग्रह है। इस परिग्रह के निमित्त से ही पाँचों पाप हुआ करते हैं और आप उसी को बढ़ाने में लगे हुए हैं। आप इतने पुण्यशाली नहीं हैं कि परिग्रह अपने आप आपके पास आ जाए। तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलभद्र नारायण आदि जो महापुरुष लोग होते हैं, उन्हें नियोग से पुण्य का लाभ मिलता है, भोग की सामग्री मिलती है। किन्तु आप लोगों को पाप करके परिग्रह एकत्रित करना पड़ता है। जितना परिग्रह आपके पास है, समझो उतना ही पाप एकत्रित है, आरम्भ के बिना परिग्रह का संकलन नहीं होता ऐसी स्थिति में आप भले ही समझते होंगे कि हम बहुत धर्मात्मा बनते चले जा रहे हैं, किन्तु ऐसा नहीं है। दान देने वाला व्यक्ति भी तब तक धर्मात्मा नहीं कहला सकता जब तक वह सही रूप से दान नहीं देता।

कोई चोर बीस हजार रुपया चुराकर दस हजार धर्म के कार्य दानादिक में दे देता है, तो क्या वह सही दानी है ? नहीं अब वह आधा डाकू रह गया, अभी तो वह पूरा डाकू था और आगे का संकल्प छोड़ा नहीं इसलिए वह पूरा डाकू ही बना रहा। क्योंकि आगे चोरी का संकल्प ज्यों का त्यों है। चोरी करके दान करना धर्म का दिखावटी पन है, प्रदर्शन है, आचार्य कहते हैं कि जो ज्यादा आरंभी, विलासी है वह व्यक्ति धार्मिक क्षेत्र में निम्न स्तर पर है। और वह व्यक्ति अगले जीवन में यहाँ तक नीचे जा सकता है कि अधोगति की ओर भी उतर सकता है, भले ही वह बाहर से धर्म कर रहा हो तो भी चला जाएगा। यदि उसकी पाप प्रवृत्ति हट गई तो वह समाज के लिए वरदान सिद्ध हो जाता है।

''**परस्परोपग्रहो जीवानां**'' का अर्थ यह हुआ कि हम दूसरे को तकलीफ दिये बिना, दूसरे की तकलीफ यथाशक्ति दूर करने का प्रयास करें। उसकी तकलीफ दूर करने में हमारे तन, मन, वचन तीनों लगें और इन पुण्यमयी शुभ भावों के माध्यम से हमें भी ऐसी प्रशस्त सामग्री मिल जाती

है। बन्धुओ! कहाँ से तो हम आये हैं और पुण्य के उदय से हमें ये दुर्लभताएँ प्राप्त हुई हैं, ये दुर्लभताएँ भी क्षण-भंगुर हैं, कर्म के ऊपर आश्रित हैं। अतः प्राप्त हुई इन दुर्लभताओं का सदुपयोग करें।

एक व्यक्ति के ऊपर बाँस गिर गया है, उसने गाली नहीं दी ध्यान रखना! और थोड़ा-सा कोई पीछे वाला यूं कर देता है तो आँखें लाल हो जाती हैं। ऊपर बाँस गिर गया तो भी उसकी आँखें लाल नहीं हुईं और आँखें लाल किसके ऊपर करें, बाँस के ऊपर तो कर नहीं सकते। यदि इस प्रकार का तत्त्व ज्ञान आपको हो जाये कि हमारा तो कर्म का उदय है, ठीक है, अपने को क्या मतलब है। सामने वाला यदि लट्ठ भी मार रहा हो तो उसके लिए भी रास्ता खुल जाएगा, वह कहेगा कि भैया! मैं तो मार रहा हूँ पर यह कुछ भी नहीं कह रहा है। अपने कर्म का उदय समझ रहा है। वास्तव में यह है धर्म का अनुशरण।

अब जड़ को क्या कहें? उसी प्रकार जो मारने के लिए आता है, उसे जड़ समझो, वह तो अज्ञानी है, स्वरूप का बोध भी उसे नहीं है, धर्म का आचरण भी उसे मालूम नहीं है। कोई गाली दे रहा है देने दो, कोई मारने आया है आने दो वह मेरा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता। इस प्रकार का भाव धर्मात्मा के मन में जाग्रत होता है। सामने जो व्यक्ति आया है उसके प्रति वह धर्मात्मा सोचता है कि हे भगवन्! इसे सद्बुद्धि दो, ये भी केवलज्ञान को प्राप्त कर सके, सच्चे मार्ग पर आरूढ़ हो। बड़ी लम्बी-चौड़ी बातें हम करते चले जाते हैं किन्तु अहिंसा क्या है ? सत्य क्या है ? हमारा धर्म क्या है? इतनी सी बातें आपके जीवन में क्या नहीं हो सकती? क्यों नहीं हो सकती, अवश्य हो सकती हैं।

हम लोगों को आचार्य कई प्रकार से समझाते हैं, बोध देते हैं कि यह हमारी बात किसी भी प्रकार से मान लें, ये एक बार मंजूर हो जाए। इस प्रकार कहने का तात्पर्य यह है कि वे हमारा उत्थान चाहते हैं। माँ एक बार कहती है कि बेटा! मान ले मेरी बात को जब वह नहीं मानता है, तब वह माँ कहती है कि तू मानता नहीं है, जोर से कहती है फिर भी नहीं मानता है, आपको तो सब मालूम ही है।

माँ यदि रोटी बना रही हो तो चूल्हे में से लाल-लाल अंगारा खींचना ही पड़ता है, तब वह मानता है, जब नहीं मानता है तब ही माँ को ऐसा करना पड़ता है। इस प्रकार आचार्य परमेष्ठी शब्दों के माध्यम से समझाते हैं, कभी प्रिय कभी अप्रिय, कभी भव्य कहते हैं तो कभी पागल कहते हैं कभी सुजान कहते हैं। सुजान कहने से तो आपका चेहरा फूल जाता है और मूर्ख कहने से आपको बुरा लगता है, आप कहते हैं कि देखो! हमें ये मूर्ख कह रहे हैं। आपको यह तो समझना चाहिए कि आचार्यों ने हमारे ऊपर कितना बड़ा उपकार किया है, अपना मौलिक समय निकाल कर बड़े-बड़े ग्रन्थों की रचना की। बन्धुओ! यदि आचार्यों ने ये ग्रन्थ लिखकर नहीं रखे होते तो पूर्व और पश्चिम

दिशा तक याद नहीं रहती। माता-पिता कुछ क्षण के लिए ही काम आते हैं, किन्तु पवित्र जिनवाणी माता ये वीतरागी गुरु भव-भव से काम आ रहे हैं। महावीर स्वामी को मोक्ष गए करीब ढाई हजार वर्ष हो चुके हैं, उस समय के लिखे हुए ग्रन्थ हमें आज भी प्राप्त हो रहे हैं। युग के आदि से यह परम्परा चल रही है इस परम्परा के माध्यम से हमें जो कुछ लाभ मिला है, हमारा कर्त्तव्य है कि आगे के लिए इस मार्ग को संकीर्ण न बनाकर विस्तृत ही बनाए रखें तो यह कार्य बहुत महान् होगा, जिसके माध्यम से असंख्यात जीव अपना कल्याण करेंगे।

काल का प्रभाव ऐसा बुरा पड़ता जा रहा है कि हम कुछ कह नहीं सकते, फिर भी धर्मात्मा से रहा नहीं जाता वह किसी भी प्रकार से उस मार्ग को जारी रखना चाहता है। वह अधर्मात्मा को ऊपर उठाने का प्रयास करता है। **धर्मात्मा वह होता है जो सामने वाले अधर्मात्मा को अपने समान बनाता है।** दाता भी ऐसा होना चाहिए जो सामने वाले को अपने समान देखे, अर्थात् तुम्हारे पास तो है ही नहीं, ले-ले यह मैं दे रहा हूँ , याद रख मैंने तेरे साथ उपकार किया है। बड़ा वह होता है जो छोटों को अपने समान बना लेता है, फिर छोटा यह न समझे कि आपने मुझे अपने समान तो बना लिया है, अब मैं आप से नीचे क्यों बैठूँ ? ऐसा समझना गलत है। उसका परम कर्त्तव्य है कि जो बड़ा है उसकी विनय करे किन्तु जो बड़ा है वह उससे विनय न चाहे, इसके माध्यम से प्रेम, वात्सल्य बढ़ता है। कई बातें हैं जिन्हें हम जीवन में उतारने का प्रयास नहीं कर रहे हैं। हम आगे इसको धारण कर लेंगे इस प्रकार की भावना ठीक नहीं है क्योंकि आगे क्या होने वाला है इसका कोई पता नहीं है, अतः इसी में हमारी भलाई है कि भगवान् ने जो मार्ग हमें बताया है, शीघ्र ही हम उसका अनुसरण कर लें। जब तक हमारी बुद्धि ठीक-ठीक काम कर रही है, तब तक हम धर्मधारण कर सकते हैं और अल्प समय में ऐसा यदि कार्य कर लेते हैं तो हमारी यह बुद्धिमानी मानी जायेगी।

यदि हम विषयों में लीन होकर अपनी शारीरिक शक्ति, मानसिक शक्ति खो देंगे तो अन्त में धर्म का आधार नहीं ले सकेंगे। जब से जीवन प्रारम्भ होता है तब से धर्म का पालन करना चाहिए, तब कहीं अंत में जाकर कुछ काम हो सकेगा। धर्म कोई हल्की-फुल्की चीज नहीं है जिसका पालन बुढ़ापे में हो सके। हम सभी संसारी लोगों की यह स्थिति हो रही है इसके उपरांत भी आचार्य देव करुणा करके कहते हैं कि बेटा! यह ठीक है अपनी बुद्धि के अनुसार तो तुमने ग्रहण कर लिया लेकिन थोड़ा विचार तो करो कि आगम में क्या लिखा है?

आगम में सम्यग्दर्शन के साथ-साथ आठ अंगों का निरूपण किया गया है, जिसमें चार अंग स्वाश्रित हैं और चार अंग पर की ओर दृष्टिपात करते हैं यानि पराश्रित हैं। निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा और अमूढ़दृष्टि, ये चार अपने लिए हैं, शेष चार भी अपने लिए ही हैं पर वे स्वोमुखी नहीं परोन्मुखी हैं। स्थितिकरण,उपगूहन वात्सल्य और प्रभावना, ये चारों अंग पर की अपेक्षा रखते

हैं यानि इनका पालन सामने वाले साधर्मी व्यक्ति के माध्यम से होता है। आचार्यों ने इन अंगों के माध्यम से धर्म के प्रचार-प्रसार की बात कही है। इन अंगों का पालन किसने कितना किया है? यह बात अलग है। हम लोगों की कुछ आदतें ऐसी हैं जिनके ऊपर हम विचार नहीं करते, जिस किसी के मुख से जो कुछ भी हम सुन लेते हैं, उसी को जिनवाणी का सच्चा स्वरूप समझ लेते हैं और समझ लेते हैं कि हमने धर्म श्रवण कर लिया। हमारे पास उपदेश और उपदेष्टा इन दोनों की परख होनी चाहिए। सच्चे देव कौन हैं ? शास्त्र और गुरु का स्वरूप क्या है ? धर्म का प्रचार-प्रसार करने वाला कैसा होना चाहिए? ध्यान रखना मात्र आप ही लोगों ने धर्म पालन करने का ठेका नहीं ले रखा है। असंज्ञी पंचेन्द्रिय भी धर्म श्रवण कर सकता है, जिसके पास मन नहीं है वह भी धर्म श्रवण करता है। श्रवण का अर्थ है कानों के माध्यम से सुन लेना और उसके लिए मन की कोई आवश्यकता नहीं है। यदि आप सम्यग्दर्शन की सुरक्षा और धर्म का आलम्बन लेना चाहते हो तो धर्म श्रवण के उपरान्त मन के माध्यम से सुनें और समझें। यह संसारी प्राणी मन का प्रयोग किए बिना ही धर्म का श्रवण कर रहा है और जिसने ग्रहण के बिना मात्र श्रवण किया है तो पूरा का पूरा धर्म नहीं कमा रहा है लेकिन सुनना ही छोड़ दो, ऐसा मैं नहीं कह रहा हूँ। छोड़ें नहीं, जितना प्रयास किया उतना तो अच्छा ही है। सम्यग्दर्शन किसी दुकान से नहीं खरीदा जा सकता,वह बाहर से नहीं आता किन्तु अन्दर से जागृत किया जाता है, आचार्यों के उपदेशों से ग्रहण किया जाता है। संत क्या कह रहे हैं, जब इसको समझोगे, तभी धर्म हासिल कर सकोगे नहीं तो नहीं।

मैं सोचता हूँ बार-बार विचार करता हूँ कि आचार्यों ने धर्म को श्रवण करके धर्म ग्रहण करने की दुर्लभता बताई है। धर्म श्रवण करना अलग है और उसके ऊपर श्रद्धान करके तदनुकूल आचरण करना अलग है, यह संसारी प्राणी धर्म सुनता तो है लेकिन उसको मुख्य नहीं बनाता। तिलोयपण्णत्तिकार ने कहा है कि कुछ जीव समवसरण में जाकर भी धर्म श्रवण नहीं करते, यदि करते भी हैं तो मुख्य दृष्टि उनकी कुछ और ही रहती है। वहाँ पर बहुत प्रकार की नाट्यशालाएँ रहती हैं, अच्छे-अच्छे गार्डन रहते हैं, ठंडी-ठंडी हवा भी चलती है, इन्हीं इन्द्रिय विषय पोषक स्थानों पर जाकर कुछ जीव बैठ जाते हैं, वे समवसरण में प्रभु के पास तक जाते ही नहीं है। यहाँ पर भी धर्मशाला में से ही सुनलें आवाज तो आ रही है और मुँह से चाय भी पीते जाएँ, कान से तो सुनना है, क्या बात हो गई? अर्थ यह कि धर्म को हमने इतना सस्ता बना लिया है। कान अपना काम करें मुँह अपना काम करे भिन्न-भिन्न तो है ही । लेकिन भैया! स्वाद लेने वाला तो एक ही है, जिस समय मुख से स्वाद लेगा उस समय वह अन्य इन्द्रियों से काम नहीं ले सकेगा। और धर्म श्रवण भी नहीं कर सकेगा। यह ध्यान रखो, आप यहाँ हैं और मन कहीं अन्यत्र हो तो वह मात्र श्रवण ही कहलायेगा, उसका ग्रहण नहीं हो सकेगा, इसलिए मनोयोग के साथ सुनना पड़ता है। धर्म ऊपर-ऊपर ही नहीं है वह तो आत्मा की

अतल गहराई में छिपा हुआ है, जिसे खोजने के लिए, जिसे निकालने के लिए बहुत परिश्रम की आवश्यकता होती है। और गहराई में पहुँची हुई वस्तु को निकालने के लिए पानी में डूबना पड़ता है। डूबने के लिए तैरना सीखना अनिवार्य है फिर डूबना होता है, उसके लिए बहुत शक्ति, बहुत परिश्रम की आवश्यकता होती है। धर्म क्या है यह समझ में तो आ रहा है, लेकिन उसको ग्रहण करने में, खोजने में बहुत परिश्रम की आवश्यकता होती है।

एक बार की बात है, जब मैं 9th क्लास में पढ़ता था। हाई स्कूल जाने के लिए तीन-चार मील जाना पड़ता था। दूसरे गाँव में वह स्कूल था। एक दिन की बात है, स्कूल लगने में सिर्फ पन्द्रह-बीस मिनट की देर थी, जल्दी ही स्कूल जाना चाहता था, लेकिन साइकिल में हवा नहीं थी। मैं साइकिल की दुकान पर पहुँचा और मैंने कहा कि भैया! थोड़ी साइकिल में हवा भरना है पंप लाओ, उनके पंप देने पर मैं साइकिल में हवा भरने लगा, दस-बीस बार पंप करने पर भी मैंने टायर दबाया तो हवा नहीं जा रही थी। मैंने सोचा कि क्या बात हो गई, कपड़े को लगाकर पुनः हवा भरने लगा लेकिन फिर वही बात हवा नहीं जा रही थी। वह दुकानदार मेरी स्थिति को देख रहा था, अपने आप यही कहेगा, मैं क्यों कहूँ? जब तीसरी बार देखा तो वही स्थिति, तो मैं इधर-उधर देखने लगा क्योंकि देर हो रही है और साइकिल में हवा नहीं है। तब दुकानदार बोला कि साइकिल पंचर तो नहीं है, मैंने कहा कि नहीं पंचर तो नहीं है। वह बोला, देखो तो सही, देखा तो पंचर नहीं मिला, जब पंचर नहीं है तो हवा क्यों नहीं जा रही है, तो उन्होंने कहा कि भैया! और कुछ नहीं है इसका वाल ट्यूब कटा है। जानते हो भैया वाल ट्यूब का अर्थ? वाल का अर्थ है छिद्र और उस छिद्र पर जब तक ट्यूब नहीं चढ़ाएंगे तब तक उसमें हवा नहीं भर सकते। टायर भी ठीक है हवा भरने वाला भी ठीक है, ट्यूब भी ठीक लेकिन मस्तिष्क ही ठीक नहीं है आपका बस! वाल ट्यूब खरीद लो। मैंने दस पैसे निकाल कर दे दिए और उन्होंने वाल ट्यूब दे दिया उसको लगाते ही, दस बार पंप से हवा पर्याप्त मात्रा में भर गई। हवा अंदर तो जाती लेकिन वाल ट्यूब कटी होने से वह पुनः बाहर आ जाती थी। उसी प्रकार आपके कानों में प्रवचन के शब्द अन्दर तो चले जाते हैं, किन्तु वाल ट्यूब नहीं होने के कारण बाहर आ जाते हैं बस, इतनी सी कमी है आपकी। मात्र दस पैसे खर्च करके एक वाल ट्यूब खरीद लो आपकी यात्रा बिल्कुल ठीक हो जायेगी।

जैन धर्म की प्रभावना इसलिए नहीं हो पा रही है, कि जहाँ पर जो कुछ आवश्यक है, वह तो आपने किया, लेकिन एक वाल ट्यूब आप नहीं खरीद पा रहे हैं। धर्म के प्रचार के लिए लाखों रुपये खर्च करने की आवश्यकता नहीं है। सहिष्णुता, प्रेम, दया एक दूसरे के प्रति वात्सल्य उमड़ आना,'' **गुणिषु प्रमोदं**'' वाली बात आज यहाँ नहीं है, और वह इसलिए नहीं है कि धर्म का यथार्थ स्वरूप हमें अभी समझ में नहीं आया उसी का यह फल है कि हम अपने जीवन को विषयों में,

कषायों में समर्पित कर रहे हैं और जीवन का लम्बा समय हम यों ही समाप्त कर रहे हैं। **''गंगा नहाए गंगादास, जमुना नहाए जमुनादास''** वाली कहावत आज यहाँ पर चरितार्थ हो रही है। मौलिक जीवन में क्या किया, क्या धर्म का प्रचार किया, कितनी सच्चाई से व्रतों को पाला? इसे देखो, जानो और फिर यथार्थता का अनुकरण करो।

आचार्य कुन्दकुन्द ने मुख्य रूप से साधु वर्ग को संबोधित करने के लिए अनेक प्रकार के साहित्य का समार्जन किया और आचार्य समन्तभद्र ने श्रावकों को सुधारने का प्रयास किया। सर्वप्रथम श्रावकों के लिए डेढ़ सौ श्लोक प्रमाण 'रत्नकरण्डक श्रावकाचार' नामक ग्रन्थ लिखा। संसार से भयभीत श्रावक कैसा आचरण करें? श्रावक का आचार, विचार और व्यवहार कैसा होना चाहिए उसका संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित अच्छे ढंग से वर्णन किया है। श्रावकों के लिए हेय क्या है? उपादेय क्या है? इन सब बातों का ज्ञान इस छोटी सी पुस्तक से होता है। ध्यान रखें कुछ प्रसंगों में साधु से अच्छा श्रावकों को माना है।

गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो, निर्मोहो नैव मोहवान् ।
अनगारो गृही श्रेयान्, निर्मोहो मोहिनो मुनेः ॥३३॥ र.श्रा.

मोही मुनि की अपेक्षा निर्मोही गृहस्थ अच्छा है, जिसने मोह को निकाल दिया है, मोह का वमन किया है, उदासीनता धारण की है वह गृहस्थ बहुत अच्छा है। लेकिन वह विषयी, कषायी मुनि गृहस्थ के समान जो परिग्रह लादता जा रहा है, वह मोक्षमार्गी नहीं है इतना कहने से गृहस्थ चार अंगुल ऊपर न चढ़े। यह लक्षण नहीं बाँधा है, यह अतिशयोक्ति भी नहीं हैं। जो विषयी, कषायी है, वह कैसा मुनि! यह कहा है। वह गृहस्थ अच्छा है उस मुनि से, अच्छा का अर्थ यह नहीं है कि वह घर पर बैठे-बैठे ही मुक्ति प्राप्त कर लेगा। यह तो गृहस्थ को आदर्श रख कर तुलना की है। इसके उपरान्त गृहस्थ को लथेड़ा है। उलझे हुए मुनियों के लिए सुलझे हुए गृहस्थों को आदर्श रूप में रखा है और उलझे हुए गृहस्थों के लिए सुलझे हुए पशुओं के उपदेश दिये हैं। स्वयंभूरमण द्वीप से स्वर्गों की पूर्ति हो जाती है, उन पंचम गुणस्थानवर्ती पशुओं के माध्यम से, यहाँ से तो बहुत कम जाते हैं। वहाँ से अगर मार्ग बंद हो जाए तो स्वर्ग खाली पड़ जाएगा।

जिस प्रकार कोई सेठजी हैं और उनके मरने के बाद मान लो घर में कोई नहीं है वह दस खण्ड का मकान खाली रह जाता है, उसी प्रकार स्वर्ग के भवन खाली रह जाएँगे। आचार्य समन्तभद्र की दृष्टि में आपका जीवन पशुओं से भी गया बीता है। आपसे अच्छे तो पशु हैं।

रामायण का उद्घाटक है जटायु पक्षी। वहीं से रामायण का प्रारम्भ होता है। सीता हरण के रहस्य को जानने वाला भी जटायु पक्षी था। रावण के विरोध में सर्व प्रथम आवाज उठाने वाला वह

जटायु था, जिसके लिए राम का आशीर्वाद था। राम ने अपने पास उस जटायु पक्षी को रख रखा था। जो मांस भक्षी था। मांस भक्षी को देखकर आप दूर भाग जायेंगे लेकिन राम नहीं भागे थे। उस जटायु पक्षी ने चारण ऋद्धिधारी मुनि महाराज के चरणों के गंधोदक को सिर पर चढ़ाया था और अपने जीवन को कृत-कृत्य किया था। सम्यग्दर्शन को धारण करके उसने व्रतों को भी धारण किया था। व्रती बनने के उपरान्त राम सीता ने अपने साथ रखकर उसका पालन पोषण किया था। सीता के ऊपर आई विपत्ति के समय उसने यथाशक्ति सीता की रक्षा की, और अन्त में अपने प्राणों को न्यौछावर कर दिया इसको कहते हैं-परस्परोपग्रहो जीवानाम्। उसने कहा नहीं कि कम से कम मेरा नाम तो लिख दो, लिखने की कोई आवश्यकता नहीं है। वीतरागता की दृष्टि में अपने आप नाम आ जाता है। अच्छाई कहीं छुपती नहीं और बुराई भी कहीं छुपती नहीं है। संसारी प्राणी को अपने आपको जटायु पक्षी के जीवन से ऊपर उठाना चाहिए।

अहिंसा धर्म का पक्ष लेकर जटायु पक्षी ने रावण के साथ युद्ध करना मंजूर किया था। अंत में वह भले ही रावण से हार गया था, क्योंकि हाथी के साथ मक्खी का झगड़ा नहीं होता, लेकिन हाथी के साथ लड़ने वाला भी कुछ दम रखता है इसको कहते हैं सत्य का पक्ष । असत्य की तरफ भले ही हाथी हो और सत्य की तरफ मच्छर हो, भले ही वह हार जाये, लेकिन लड़ने का प्रयास वह अवश्य करता है। धर्म का पक्ष लेना आवश्यक है, धन का पक्ष लेने से आज तक यह अनर्थ हुआ है। **जो सत्य है वही हमारा है, जो हमारा है वही सत्य है, ऐसा नहीं।** जिन्होंने आगम का अध्ययन किया है उनका कहना सही हो सकता है। 'रवीन्द्रनाथ टैगोर' कवित्व के क्षेत्र में अच्छे कवि हुए हैं, उन्होंने अपने कविता में लिखा है- **सत्य भले ही शूली पर टंगा हो फिर भी वह सत्य ही रहेगा और असत्य भले ही सिंहासन पर बैठा हो फिर भी वह असत्य ही रहेगा।** सत्य की तरफ मात्र एक व्यक्ति है, इसलिए वह असत्य की कोटि में-आ जाए, ऐसा नहीं है और असत्य की ओर बहुत भीड़ भी हो तो भी वह सत्य की कोटि में नहीं आ सकेगा। यह पंचम काल की बलिहारी है कि सत्य को शूली पर टंगता ही देखा जाएगा। मैं समझता हूँ कि वह उसके ऊपर उपसर्ग है, और सत्यवान् के ऊपर ही उपसर्ग होता है लेकिन उपसर्ग के होने पर भी वह असत्य को स्वीकार नहीं करेगा, सत्य का ही प्रतिपादन करेगा और सत्य क्या है ? असत्य क्या है ? इन सब बातों का रहस्य दुनियाँ को अपने आप ही मालूम पड़ जाता है। धर्म की सुरक्षा के लिए एक व्यक्ति भी पर्याप्त है और उसी के माध्यम से हमें धर्म का लाभ मिल सकता है। धर्म लाभ प्राप्त करने के लिए हम सभी को कमर कसनी होगी यदि आप लोग अधर्मात्मा भी बन जाएँ तो एक धर्मात्मा ही धर्म की सुरक्षा कर लेगा। यह बात ध्यान रखना! धर्म की सुरक्षा में पशुओं का भी योगदान है। श्रावकाचारों में श्रावकों को समझाने के लिए जितना आदर्श पशुओं का है, उतना किसी गृहस्थ का नहीं। मातंग का उदाहरण है,

उसमें उसकी अहिंसा के प्रति विश्वास को परिलक्षित किया गया है। धर्म पवित्र है, अनादि अनिधन है। धर्म शरीर के पीछे नहीं, धर्म आत्मा के पीछे है। धर्म में आत्मा है, आत्मा में धर्म है। शरीर में आत्मा होते हुए भी शरीर को कभी भी धर्म नहीं माना है। यह शरीर धर्म का साधन तब बन सकता है, जब वह विषय-कषाय से ऊपर उठ जाता है, तो धर्म के साथ-साथ उसकी भी पूजा हो जाती है, रत्नत्रय धारण करने पर शरीर भी पवित्र हो जाता है।

स्वभावतोऽशुचौ काये, रत्नत्रयपवित्रिते ।
निर्जुगुप्सा गुणप्रीतिर्मता निर्विचिकित्सिता॥ १३१॥र.श्रा.

स्वभाव से तो यह काया अशुचिमय है। अपवित्र है। भले आप इसको लाइफबॉय लगाओ, पियर्स सोप लगाओ, तना, हमाम आदि तमाम साबुनें लगाओ लेकिन एक घन्टे के बाद यह अपना गुण धर्म बता देगा और आपका जीवन इसी में बीत गया है।

देह परसते होय अपावन, निशदिन मल जारी (बारह भावना)

देह तो अपावन है, यदि पावन बनाने का लक्ष्य है तो धर्म को धारण करना आवश्यक है। आज तक ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं हुआ जिसने धर्म को धारण किए बगैर शरीर को पवित्र बनाया हो। तपस्या के माध्यम से मुनि महाराज के शरीर पर जो मल एकत्रित हो जाता है, वह औषधि का काम कर जाता है। अन्दर तप की सुगंधी के कारण वह **Divert** हो जाता है। आप रात दिन सुगंधित पदार्थों को अपने शरीर पर लगाकर गंदा कर रहे हैं। शरीर के कुछ अवयवों से निरंतर मल झरता रहता है, मल का पिटारा यह घिनावना शरीर है। यदि आप शरीर के पीछे, रूप के पीछे मद करेंगे, कषाय करेंगे तो ध्यान रखना अनंत शरीर आपको और मिलते चले जायेंगे। कुल का अभिमान, जाति का अभिमान, वंश का अभिमान जो व्यक्ति करता है। वह सम्यग्दर्शन को दूषित करता है।

मद धारे तो येही दोष वसु, समकित को मल ठाने॥ (छहढाला, तीसरी ढाल)

छहढाला की इन पंक्तियों का पाठ आप रोजाना करते हैं। उसमें कहा है कि आठ मदों को धारण करने वाला, सम्यग्दर्शन बढ़ा नहीं रहा, किन्तु घटा रहा है। यदि ये मद आ जाते हैं, तो सम्यग्दर्शन साफ हो जाता है, मात्र ऊपर की क्रिया रह जाएगी, इसमें कोई संदेह नहीं है। आप लोग जब तक अपने धर्म को नहीं पहचानोगे, रत्नत्रय अंगीकार नहीं करेंगे तब तक मद ही करते रहेंगे। मदवान व्यक्ति उन्मत्त कहलाता है। वह निज के स्वरूप को नहीं पहचान सकेगा। मद हमारे लिए खतरनाक है व्रतों में दोष लगाने वाला यह मद नरक में भी ले जाता है। अतः अन्त में मैं यही कहना चाहूँगा कि आज आप लोग दस पैसे खर्च करके धर्म रूपी वाल ट्यूब खरीद लीजिए, तो बहुत

अच्छा होगा। आपका समय हो रहा है, आप धर्म श्रवण कर रहे हैं, बहुत अच्छा है, अब अंदर उतर जाय तो ठीक है क्योंकि आपकी मोक्ष यात्रा, अंदर टिकने से ही होना संभव है। धर्म यदि अपने अंदर उतर जाए तभी कुछ काम हो सकता है, अन्यथा नहीं। इसलिए आठ मदों को छोड़ने का प्रयास आपको करना है। ध्यान रखें यदि सम्यग्दर्शन निर्मल रहेगा तभी वह चारित्र के कार्य का निष्पादन करेगा। आप लोगों का महान् पुण्य का उदय है, जो इस प्रकार की दुर्लभ पर्याय प्राप्त हुई है, क्योंकि बारह भावना में मंगतराय जी कहते हैं-

नरकाया को सुरपति तरसे सो दुर्लभ प्राणी॥ (बारह भावना)

इस पंक्ति को जब भी मैं स्मरण करता हूँ तो मुझे विलोमता नजर आती है सुरकाया को नरपति तरसे, सो दुर्लभ प्राणी? आप लोग, सुरकाया को तरस रहे हैं, जो व्यक्ति शरीर को ही सब कुछ समझता है, वही इस प्रकार सोच सकता है। क्योंकि वह तो दिव्य शरीर है और यह सड़ा-गला शरीर है। जो धर्म से विमुख होकर कार्य करेगा वह यही चाहेगा, इसलिए इस पंक्ति को थोड़ी होशियारी के साथ पढ़ा करो। इस काया को मिलने के उपरान्त कितना जीवन निकल गया है आपको मालूम तक नहीं है, कम से कम नरकाया की सार्थकता को समझो। विषय भोग के लिए यह काया नहीं मिली है। जो प्रमाद को छोड़कर जिस समय जाग्रत हुआ है, उसी समय उसने नरकाया की सार्थकता समझ ली।

जब राजा श्रेणिक मरणोन्मुख हो जाता है, तब उसको अपने किये हुए अनर्थ का फल ज्ञान होता है और रोंगटे खड़े हो जाते हैं, आँखों से अश्रुधारा बहने लगती है कि हे भगवन्! मैंने अनर्थ तो कर लिया है, अब कोई रास्ता है ही नहीं! भगवान् कहते हैं, बस प्रायश्चित कर ले, सब कुछ ठीक हो जाएगा। ३३ सागर की आयु प्रमाण सप्तम पृथ्वी का बंध किया था। और बाद में विशुद्ध परिणामों से वह कितना रह गया? मात्र ८४ हजार वर्ष। यह सब सम्यग्दर्शन की महिमा है आप लोग मद नहीं करें, जो मद नहीं करता है, वही सच्चा धर्मात्मा माना गया है। **"न धर्मो धार्मिकैर्बिना"** इस कारिका के तीन चरण और देखें तो मालूम चल जाएगा।

स्मयेन योऽन्यानत्येति, धर्मस्थान् गर्विताशयः।
सोऽत्येति धर्ममात्मीयं, न धर्मो धार्मिकैर्विना ॥२६॥

(रत्नकरण्डक श्रावकाचार)

मद के वशीभूत होकर के दूसरे धर्मात्मा को जो नीचा दिखाना चाहता है, वह धर्मात्मा नहीं है। इसलिए आप कभी भी मद को नहीं करें, जिसमें अपना और पर का कल्याण निहित है।

❑ ❑ ❑

मानसिक सफलता : एक अनुचिंतन

मनोविज्ञान सही-सही पूछा जाय तो, अध्यात्म तक पहुँचने के लिए, एक पृष्ठ भूमि का काम करता है लेकिन! ये ध्यान रखना, भौतिकवाद जहाँ विश्रान्त हो जाता है, जहाँ पर मनोविज्ञान का समापन होता है, वहाँ पर, अध्यात्मवाद नजर आने लगता है।

जिसका ज्ञान पंचेन्द्रिय विषयों से आकर्षित है, वह व्यक्ति मन के माध्यम से विकास के स्थान पर अपनी आत्मा को विनाश की ओर ले जा रहा है।

जिसको मनोविज्ञान प्राप्त हो गया वह नियम से कल्याण कर जाएगा इसमें कोई संदेह नहीं है। हमें वह ज्ञान प्राप्त करना है, जो हमारे जीवन में सुख-शांति ला सके।

... लोहशाला की बात है। लोहार प्रभात में उठकर अपने कार्यक्रमों से पूर्ण निवृत्त होकर अग्नि देवता को प्रज्ज्वलित करता है। (केवल यहाँ पर भाव लेना यह पहले कह देता हूँ) और वह लोहार अग्नि-देवता को नमस्कार करता है, इसके उपरान्त उस अग्नि में जिस लोहे को तपाना था, वह उस लोहे को तपाना प्रारम्भ कर देता है, धोंकनी के माध्यम से धोंकता है। कुछ समय के उपरान्त उस लोह पिण्ड को वह बाहर निकालता है, उसे निहाई पर रखकर, ऊपर से घन का प्रहार करना प्रारंभ करता है।

पसीना आना प्रारम्भ हुआ और श्वास लेने की गति तीव्र हुई। कोई बोले, तो वह सुनता नहीं है। किसी की तरफ वह देखता नहीं है। जहाँ पर मुड़न है वहाँ पर वह यह सीधा करने के लिए घन का प्रहार करता है। उन घनों के प्रहार करते समय एक आवाज उसके कानों में आती है, जैसे आकाशवाणी हो रही है, और वह वाणी प्रार्थना के रूप में लोहार के कानों में प्रवेश करती है। मेरे ऊपर दया कीजिए अन्यथा मैं जला दूँगी। जबकि मेरे ही सामने आकर सर्व-प्रथम मेरी वंदना/स्तुति की,और मेरे लिए अब पीट रहे हो, इतनी निर्दयता के साथ यह आपका व्यवहार मेरे प्रति ठीक नहीं है। मैं यदि कुपित हो जाऊँगी तो ध्यान रखना! लोहार को और लोहे के गोले को दोनों को जला दूँगी, राख-राख मिलेगी।

इस वाणी को सुनकर लोहार कहता है कि तेरे पास अब वह हिम्मत नहीं है कि तू मुझे जला सके, क्योंकि! अब तुम लोहे के अधीन हो, और लोहा मेरे अधीन है। यदि तुम स्वतन्त्र रह जाती तो मैं बार-बार नमस्कार कर लेता, लेकिन! अब तू परतंत्र हो गई है। तूने ऐसे व्यक्ति की संगति पाई है, जिसको केवल पीट-पीट कर ही सीधा किया जा सकता है। वह पूजा से कभी भी सीधा होने वाला नहीं है। अग्नि ने वाणी को सुना तब वह अपनी गलती महसूस करती है। वह लोहार कहता है, ये ही तो बात है। मैं तुझे उस समय नमस्कार करूँगा जिस समय तू अपने रंग-रोगन के साथ

विद्यमान रहेगी, तूने! लोहे की संगति की है इसलिए तेरी यह दशा हो रही है। लोहे को ही तूने जीवन बना लिया है। लोहार का कर्त्तव्य होता है उसको भी सही दिशा बता दी जाए। लोहा भी सुन रहा है- देखो मेरे विकास के लिए कारण अग्नि बनी, और मेरे अन्दर जो खोट थी, उसको निकालने में कारण यह लोहार बना लेकिन अग्नि की क्या स्थिति हो गई! बड़ी अजीब स्थिति है -

संत समागम प्रभु भजन, तुलसी दुर्लभ दोय ।
सुत दारा अरु लक्ष्मी पापी के भी होय॥

आज तक संसारी प्राणी ने इस दोहे के रहस्य को नहीं समझा। संतों की वाणी को हृदय से नहीं पकड़ा। उनका आशय क्या है ? आज तक समझने की कोशिश नहीं की। जीवन का लक्ष्य क्या होना चाहिए इस पर कभी विचार नहीं किया, विचार करने के उपरान्त वहाँ तक पहुँचे नहीं। ऐसी संगतियों का समागम बीच में हुआ, जैसे अग्नि ने लोहे की संगति की,और उसकी पिटाई शुरू हो गई। उसी प्रकार की स्थिति संसारी प्राणी की हो रही है। देह रूपी लोहे की संगति में यह आया है, आने के उपरान्त इस संगति को बहुत अच्छा समझ कर उसे छोड़ना नहीं चाहता। और जब देह छूटने लग जाती है, तो उस समय देह को अक्षुण्ण रूप से रखने के लिए आविष्कारों की खोज करना प्रारम्भ करता है। उस समय संत की वाणी काम करती है और कहती है कि ''हमारा यह कार्य गलत हो रहा है तुम अरिहंत हो..... सर्वज्ञ हो... पूज्य हो संसार में यदि कोई पूज्य है तो कौन-सी वस्तु पूज्य है''? भारतवासियों जागो! आँखें खोलो कौन-सी वस्तु पूज्य है ? बोलो! मौन क्यों हो? (श्रोता समुदाय से पूछते हुए) महाराज! इसमें पूछने की क्या आवश्यकता है ? जहाँ कहीं भी आप चले जाओ जिसका आदर अधिक हो रहा हो वही तो पूज्य है ? किसका आदर हो रहा है ? वह कौन सी वस्तु है जो तुम्हें पूज्य है ?

जिसकी सुरक्षा की जाती है, और जिसकी सुरक्षा के लिए जो खड़ा हो जाता है, उसकी पूजा! उस बीज की पूजा! हाँ-जिसके लिए जो नियुक्त किया जाता है नियुक्तवान व्यक्ति पूज्य नहीं है, किन्तु जिसके लिए नियुक्त किया जाता है, वह वस्तु पूज्य है। भारत में वह वस्तु पूज्य है, जिसके पास ज्ञान है, जिसके पास संवेदना शक्ति है। और हित की आकाँक्षा बनी रहती है, जिसने हित प्राप्त कर लिया, जिसके पास जानने-देखने की शक्ति है, वही पूज्य है। पूज्य बनने की योग्यता प्रत्येक आत्मा में विद्यमान है किन्तु ये ध्यान रखना वर्तमान में उसकी पिटाई हो रही है लोहे की संगति से लोहार के द्वारा। इस करुण दृश्य को देखकर इस अज्ञानता पर और इस मोह के प्रभाव पर संत लोग विचार करते हैं, करुणा करने से काम होगा या दण्ड देने से काम होगा, किस माध्यम से इस मूर्खता-अज्ञानता को, इस दयनीय स्थिति को हम ठीक कर दें, सब विचार करते हैं।

सन्त लोगों का काम और कुछ नहीं रहता। जीवन में जीते हुए वे अपने लक्ष्य की ओर बढ़ रहे हैं, किन्तु जो लक्ष्यहीन जनता है, सुख की चाह रखती है, उस जनता के लिए भी कोई रास्ता?पथ-दिशाबोध देते हैं, क्योंकि वे सोचते हैं कि हमारे पास जो प्रकाश है उस से सही रूप से लोगों का मार्ग प्रशस्त हो। इस प्रकार लोहार की वाणी को सुनकर अग्नि अपनी कमी पर विचार करती है। हाँ, वस्तुतः मुझे स्वतंत्र रहना था, और किसी भी प्रकार से मुझे स्वतंत्र जीवन-जीने की इच्छा रखनी चाहिए। लेकिन! मैंने उसका साथ दिया, तो मेरी पिटाई हो गई। अग्नि की पिटाई कब तक होती है? जब तक लोहे की संगति अग्नि करेगी तब तक पिटाई होगी। इसी प्रकार देह की संगति करने से आत्मा की पिटाई हो रही है, और जब तक आत्मा देह की संगति करेगी तब तक उसकी पिटाई होगी। आप कितना भी इलाज करिये! बचने की कोशिश करिये, और बहुत सारी सामग्री का निर्माण भी कर लीजिए तो भी संभव नहीं है। तो हमें यहाँ आकर ज्ञात हो जाता है कि मात्र ज्ञेय की कद्र नहीं है बल्कि! ज्ञान की कद्र है, दृश्य की नहीं दृष्टा की कद्र है, भोग की नहीं भोक्ता की कद्र है, वह पूजा करना सिखाता है।

भारतीय संस्कृति का एकमात्र यही लक्ष्य है, कि स्व को पहिचानो-उसको देखने की चेष्टा करो यद्यपि वह इस स्थिति में देखने के लिए मिलने वाला नहीं है। जानने के लिए भी मिलेगा नहीं, वह वर्तमान में संवेदन के लिए मिलने वाला नहीं है। इसके उपरान्त भी सन्तों की अनुभूति के माध्यम से जो कुछ भी वाणी खिरी है, उससे यह ज्ञात होता है कि ऐसी भी कोई अद्वितीय शक्ति है, जिसके द्वारा यह सारा का सारा संचालन हो रहा है। प्रातःकाल से लेकर शाम तक चौबीसों घण्टों तक सारा काम अक्षुण्ण रूप से चलता रहता है।

किसी भी मशीन का वर्तमान में आविष्कार हुआ है, तो वह आठ घंटे तक ड्यूटी दे सकती है। फिर उसके उपरान्त उसे विश्राम की आवश्यकता होती है। मशीन तप जाती है, और उसको ठंडा बनाने के लिए बहुत सारे प्रयास किये जाते हैं। इसके उपरान्त भी यदि थोड़ी असावधानी हो जाती है, तो मशीन फेल हो जाती है, नष्ट हो जाती है, बर्बाद हो जाती है। किन्तु यह कौन-सी मशीन है, जिसका कार्य रात - दिन चल रहा है? और ऐसा चल रहा है कि ऊपर का ढाँचा खिसक करके जीर्ण-शीर्ण हो जाता है। किन्तु वह कौन सी अद्वितीय शक्ति है, जिसका कभी नाश नहीं हुआ और न होगा। जिसमें कभी जीर्णोद्धार करने की आवश्यकता नहीं है।

भारतीय सभ्यता उसी शक्ति की उपासना सिखाती है। उसी की उपासना करना है, अन्य की नहीं। लेकिन! उपहास की बात तो ये है कि सारे लोग भारतीय संस्कृति को भूल कर किस ओर जा रहे हैं, पता भी नहीं है उन्हें । आज प्रत्येक पदार्थ के ऊपर कीमत-मूल्य लिखा हुआ है लेकिन! ज्ञान के ऊपर मूल्य आज तक नहीं लिखा गया। ज्ञान के द्वारा आविष्कृत किए ज्ञेय पदार्थ का मूल्य तो हम

जानते हैं, और हम उसकी कद्र करते हैं। जीर्ण-शीर्ण हो जाने पर वह पदार्थ निर्मूल्य हो जाता है। किन्तु इसके उपरान्त भी आज कूड़ा-कचरा (वेस्टेज सामग्री) का भी मूल्य होता चला जा रहा है। और मूल्य आँकने वाला ज्ञान भी वेस्ट होता चला जा रहा है। ज्ञान का मूल्य आज समाप्त हो गया है। पदार्थ की कीमत हो गई है। जीर्ण-शीर्ण पदार्थ की भी कीमत हो गई है। जंग खाया हुआ लोहा और टीन का टुकड़ा भी ऐसे एयर कन्डीशन में पहुँच रहा है, जो यह भिलाई स्टील प्लांट आपको बता रहा है। क्या है ये समझ में नहीं आ रहा? सब की कीमत हो गई आज! कोई भी नीचे रहने योग्य पदार्थ नहीं रहा। सारे के सारे पदार्थों को **Decoration** (सजावट) में रखा जा रहा है। लेकिन! रखने वालों की फजीहत हो रही हैं। उन्हें पसीना आ रहा है, वे भटक रहे हैं। आज निर्धन भी भटक रहा है, और धनवान भी भटक रहा है। सारा का सारा मानव समाज सही दिशा बोध नहीं मिलने से भटक रहा है, ज्ञान भटक रहा है। लेकिन ज्ञेय पदार्थ बढ़िया-बढ़िया शो-रूम में है, इसी को बोलते हैं भौतिकवाद-पाश्चात्य संस्कृति।

विज्ञानवाद का चमत्कार है कि वह ज्ञान को न पूज करके ज्ञान के द्वारा जो बनाया हुआ पदार्थ है, उस पदार्थ को पूज रहा है। किसकी सोबत में आ गए आप? जड़ की सोबत में! और आते ही जा रहे हैं। आज कोई विदेश रिटर्न होकर आता है, तो क्या बताएँ वह भारतीय संस्कृति वहाँ पर जायेगी? देहली के ऐरोड्रम पर मालाओं के द्वारा उसका स्वागत होगा। फूलों से लद जाएगा, लेकिन वह वहाँ से क्या लेकर के आ रहा है ? ज्ञेय की उपासना, यह ज्ञान की कीमत नहीं है। इसे महान् दुर्भाग्य कहना होगा कि जैसे-जैसे विज्ञानवाद बढ़ रहा है वैसे-वैसे अध्यात्मवाद मिटता जा रहा है। और ज्ञेय की कीमत इतनी हो रही है कि वह आसमान तक पहुँच रहा है, और इसके बहकावे में, इसकी चपेट में सारी की सारी भारतीय संस्कृति आ रही है। जब तक वह भारत में पड़ा रहेगा, तब तक उसकी कीमत कम और यहाँ से विदेश चला जायेगा तो उसकी कीमत बढ़ जायेगी। क्योंकि ज्ञेयों को पैदा करता चला जा रहा है। साथ में ऐसे-ऐसे पदार्थों को जिनके द्वारा ज्ञान और अध्यात्मवाद समाप्त होता चला जाएगा।

स्थिति बहुत विचित्र है, मैं बोलूँ और प्रशंसा करूँतो किसकी करूँ? मैं बोलूँगा, भले ही भौतिकवाद के ऊपर लेकिन पूर्ण रूपेण उसकी क्या करूँगा बुराई! भले ही आप लोगों को बुरा लग जाए। मैं कभी भी उसको मूल्य की दृष्टि से नहीं देख सकता! जो जड़ है उसको मूल्य नहीं दिया जाएगा। जो ज्ञान विकास की ओर जा सकता है उस ज्ञान को मूल्य दिया जाएगा और उसकी हम पूजा करने हमेशा तत्पर रहेंगे। वही ज्ञान जिसके द्वारा आत्मा को शांति मिलती है वही ज्ञान जो विश्व को शांति प्रदान कर सकता है, वही ज्ञान परतन्त्रता से छुड़ा कर स्वतन्त्रता प्रदान करने वाला है। वही ज्ञान हमें मुक्ति तक ले जाएगा, उसी ज्ञान की पूजा हमें करनी है।

वह अग्नि छटपटा रही है, कि लोहे की संगति मैंने क्यों की? छटपटाने का अर्थ यही है कि लोहार के द्वारा जो ज्ञात हुआ कि लोहा जो टेढ़ा हो गया, उसे सीधा करने के लिए अग्नि को बुलाया गया। उसी प्रकार आपके देह रूपी लोहे को सीधा करने के लिए, ध्यान रूपी अग्नि को बुलाना होगा, और तप-त्याग-तपस्या-संयम के घन से उसकी पिटाई करनी होगी तब उस आत्म तत्त्व की उपलब्धि होगी, अन्यथा तीन काल में संभव नहीं है। शरीर तो एक दिन अग्नि को समर्पित करना ही है, किन्तु शरीर के मिटते-मिटते, आत्मतत्त्व की उपलब्धि हो जाए, और अपने जीवन में निखार आ जाए, वहाँ कंचन पैदा हो जाए। काँच के पीछे दौड़ने वाला यह युग कंचन को भूल गया है। आज काँच के मंदिर बनते जा रहे हैं। आज काँच देखने में आ रहा है लेकिन हीरा देखने में नहीं आ रहा है जिसकी कीमत अनमोल है। एक इतना सा टुकड़ा (अँगुलियों को सिकोड़कर बताते हुए) और उसका मूल्य नहीं आंका जा सकता। वह खुद नहीं कह सकता कि मेरी कीमत इतनी है, उसकी चमक अपने आप कीमत का अंकन कर लेगी।

वह अजर-अमर-अविनाशी आत्म तत्त्व हीरे के समान है। आज उसकी रक्षा में कौन तत्पर है? और कौन उसका मूल्यांकन कर रहा है ? वे बहुत कम हैं ऊँगलियों में गिनती आएगी! विरले ही लोग आत्म तत्त्व की ओर अग्रसर हैं।

सन्तों की वाणी सुनने से सन्तों के समागम से हमें आत्म तत्त्व का मूल्य ज्ञात हो जाता है। बातों से कोई मतलब नहीं है, मतलब हमें बस यही है कि हमारी दिशा बदल जाये। हमारा ज्ञान जिस ओर भाग रहा है, उसे सही दिशा-बोध मिल जाए। ये भागना ठीक नहीं क्योंकि त्राहि-त्राहि मची हुई है कहीं भी किसी भी क्षण शान्ति नहीं है। इन भोग्य पदार्थों में यदि शांति होती तो हमें अवश्य मिलती, किन्तु है ही नहीं तो मिलेगी कैसे? वस्तुओं के संग्रह-संकलन करने से अशान्ति ही मिलती है।

बड़े-बड़े वैज्ञानिकों ने भी इस तथ्य को माना है, इस सत्य को माना है। क्योंकि उन्हें सत्य की ओर जाना था, लेकिन! असत्य की ओर पहुँच गए। असत्य क्या है ? जिसके द्वारा दुख होता है, सत्य वह है जिसके द्वारा सुख होता है। इस सत्य को पहिचानने और ढूँढ़ने की फिर कोई आवश्यकता नहीं। मुझे शांति मिल गयी। आकुलता मिट गई। इसी के लिए तो लोग उद्यम कर रहे हैं, रात-दिन । संगति करना है तो सज्जनों की करिये । जड़ की ओर मत जाइये, चेतन की ओर जाइये । भले ही मूर्ख की संगति करिये। क्योंकि कभी मूर्ख के मुख से भी दिशा-बोध परक शब्द निकल जाते हैं। मूर्ख की सौबत करने से क्या होता है ? पागल की सौबत करने से क्या होता है ?

यदि आप लेना चाहें तो बहुत कुछ मिल सकता है, महाराज! ये तो आप गजब की बात कर रहे हो। पागल के पीछे-पीछे हम चले जायें। हाँ... हाँ पागल के पीछे ही आप रहते हैं, कभी पागल

आपके पीछे नहीं रहता हमेशा आगे ही रहता है। और क्या सीखना चाहते हो? बोलिए! चुप क्यों हैं? आप हँसेंगे उसे देख कर लेकिन! वह आपको देख कर नहीं हँसेगा। पागल वो है या आप हैं! वस्तुतः जो व्यक्ति किसी से मतलब नहीं रखता वही वास्तव में निर्मोही माना जाता है। पागल के पास परिग्रह की बात तो दूर मोह भी नहीं रहता, सीख लेना चाहते हो तो बहुत कुछ ले सकते हो। आप पागल बन जाओ, ये नहीं कह रहा हूँ; मैं तो उसकी वृत्ति की बात कर रहा हूँ। वह कभी कपड़े अच्छे नहीं माँगता, एयरकंडीशनर की आवश्यकता भी नहीं है। मान-अपमान से कभी हर्ष-विषाद नहीं, अच्छा और बुरा उसके दिमाग से निकल गया है। इन सब क्रियाओं के माध्यम से लगता है कि आपसे अच्छा तो वह पागल है, आप जैसी आकुलता तो नहीं है उसको। सही समय नींद आती है उसको। चुपचाप बैठा रहता है, किसी से कुछ भी मतलब नहीं, भले ही दुनियाँ उसके विरोध में हो जाए, लेकिन वह दुनियाँ के विरोध में नहीं होगा। कहने का मतलब यही है कि संगति जड़ की नहीं चेतन की करो।

यदि संगति जड़ की करोगे तो रात में नींद नहीं आएगी। आज बड़े-बड़े सेठ- साहूकारों की यही स्थिति हो रही है, घर में ज्यादा हो गए, क्या हो गए? क्या बढ़ गए? मेम्बर बढ़ गए, सदस्य बढ़ गए? मान लो सदस्य उतने ही हैं, लेकिन! घर ज्यादा बड़ा बना दिया, दरवाजे भी बहुत हैं। झरोखे भी खोल दिये गए हैं। अब देखें चोर कहाँ से आता है आप जान भी नहीं सकेंगे माल बिखरा हुआ है। अब क्या करें? वह जड़ आपको धीरे-धीरे जड़ बना रहा है, वह जड़ आपकी नींद हराम कर रहा है। बिल्कुल! नींद नहीं ले सकते आप, जब तक वह आपके घर में रहेगा तब तक आप नींद लेना भी चाहो तो भी नहीं आएगी। उस पागल के पास कुछ भी नहीं है, वह खुर्राटे ले रहा है फुटपाथ पर और आप डल्लप के गद्दे पर भी करवटें बदल रहे हैं। यह जड़ आपको सोने भी नहीं दे रहा है, और आप उसके पीछे पड़े हैं।

ऐसा क्यों हो रहा है ? यही तो आश्चर्य की बात है। आपके जीवन में बहुत सारी आकुलताएँ? वेदनाएँ बढ़ती चली जा रही हैं, यह मात्र फल है जड़ की उपासना का। जड़ की उपासना करना सबसे बड़ी मूर्खता है। भारत ही एक ऐसा राष्ट्र है जहाँ पर अध्यात्म की पूजा होती है। भारतीय संस्कृति बताती है कि अरे भैया! भौतिकवादी मत बनो, और धीरे-धीरे लोभ लालच कम करो। किन्तु! आज भारत में भी कम से कम में एक दिन तो छुप करके धन की पूजा होती है, वह कौन सा दिन है ? 'धन तेरस'। वो दिन सबको याद है, महाराज उस दिन को तो हम ३६५ दिन में सबसे महत्त्वपूर्ण दिन मानते हैं और शाम को लक्ष्मी जी की पूजा करते हैं।

कितने ठाठ-बाट से आप जड़ की, धन की पूजा करते हैं। वह आपकी पूजा करे या न करे पर आप तो उसकी पूजा नियम से करते हैं, क्योंकि! लक्ष्मी जी गुस्सा न हो जाये, यदि नाराज हो

गई, तो सारा का सारा काम चौपट हो जाएगा। इसलिए कम से कम पूजा तो कर लो । यह जड़ की पूजा, धन की पूजा, ही संसारी प्राणी को पतन के गर्त में ढकेल रही है। आत्मा की पूजा, गुणों की पूजा करना ही अध्यात्मवाद है। अपनी आत्मा को प्राप्त कर जो जीव परमात्मा बन गए हैं, उनकी पूजा करना आवश्यक है लेकिन संगति का असर हुए बिना रहता नहीं है। हम उत्सुक तो हो जाते हैं पर भूल जाते हैं, उसकी चपेट में आकर के, उसके द्वारा हम ऐसे प्रभावित हो जाते हैं कि लक्ष्य को भी भूल जाते हैं, परमात्मा बनने की शक्ति हमारे पास विद्यमान है लेकिन वह परमात्मा नहीं बन पा रही है, इसमें एकमात्र कारण है भूल का प्रभाव, संगति का प्रभाव।

एक मेघ का टुकड़ा ऊपर डोल रहा है, शीत का सम्बन्ध यदि होता है, तो वह जम जाता है। और फिर जल बनकर बरसने लगता है। वह शुद्ध जल की धारा नीचे आकर धूल में मिल जाती है, तो कीचड़ का रूप ले लेती है, वह यदि समुद्र में गिर जाती है तो लवण का रूप ले लेती है, नीम की जड़ में चली जाती है, तो कड़वेपन का रूप धारण कर लेती है, इक्षु-दण्ड में पहुँच जाती है तो मिठास का रूप धारण कर लेती है, यदि वही धारा स्वाति नक्षत्र में समुद्र में पड़े सीप में चली जाती है, तो मोती बन जाती है और वही धारा सर्प के मुख में चली जाए तो विष बन जाती है। धारा एक है, लेकिन! संगति का प्रभाव पड़ जाता है। वह समुद्र में जाने पर मुक्ता का रूप लेती है। जल का विकास यहाँ तक हुआ कि वह मुक्ता बन गया। इसी प्रकार आत्मा का भी हिसाब-किताब है, अभी तक आत्मा उस सीप में नहीं पहुँची। उस सीप की बड़ी आवश्यकता है उस सीप की गवेषणा आवश्यक है।

अपना उपादान, आप साधे रहो, और यदि निमित्त मिल जाए तो उसमें ढालने का प्रयास करते जाओ, अन्यथा आपका उपादान कड़वी नीम में भी परिणत हो सकता है, कीचड़ के रूप में भी परिणत हो सकता है, जहर के रूप में भी परिणत हो सकता है, मिट्टी में भी मिल सकता है और सूर्य का ताप मिलने पर वह वाष्प में भी परिणत हो सकता है, उसकी कोई परिणति नियामक नहीं है, बनाने वाला चाहिए, योग-निमित्त बनाकर वह उसमें ढाल देता है, बड़ी सावधानी की आवश्यकता है।

यदि आप अपने जीवन को मौलिक बनाना चाहते हो तो, कसरत की, मेहनत की, साधन की बड़ी आवश्यकता है। लोग साधना के माध्यम से सब कुछ कर सकते हैं लेकिन साधना में परिश्रम होता है, पसीना बहाना पड़ता है जबकि आप आराम चाहते हैं। ये बात ध्यान में रखना, आराम तो मिलेगा परन्तु बाद में मिलेगा, अभी आराम नहीं, साधना सामने है। जब वह साधना पूर्ण हो जाएगी, तब आराम अपने आप मिल जायेगा फिर अनंत काल के लिए विश्राम है। संसारी प्राणी देह को **Rest** मिलने पर उसी को आराम समझने लगता है। यह समझने की कमी है वस्तुतः! अभी तक आत्मा को **Rest** नहीं मिला, सुख-शांति नहीं मिली, एक भी श्वास आत्मा ने शांति से नहीं

लिया। हमारी सभ्यता में विकृति आ गई है, हम सोच भी नहीं पा रहे हैं कि क्या करें? किन्तु! संत कहते हैं कि शरीर द्वारा काम लेते हुए अपनी शरीर के द्वारा आत्मा को पुष्ट बनाना ही हमारी सभ्यता है। शरीर को पुष्ट बनाओ लेकिन लक्ष्य हो आत्मिक पुष्टि का कितना अन्तर हो गया। नौकर की हम सेवा कर रहे हैं, वह हमारा नौकर है, उसका जीवन हमारे लिए है, हमारा जीवन उसके लिए नहीं है। जड़ का कोई जीवन नहीं है, वह जड़ है, हम चेतन हैं। आप उसको कुछ भी कर दो, बाहर रखो, या अन्दर इसे कुछ भी फर्क नहीं पड़ता, हाँ! चेतन के द्वारा, उसको सुरक्षित रखने का प्रयास चल रहा है।

हमारे लिए यदि कोई पूज्य होगा, तो वह ज्ञान होगा, दर्शन होगा। और जो भोक्ता पुरुष आत्माराम है, उसकी प्राप्ति के लिए, हमें सन्तों के पास जाना है। एक बार जाने से काम नहीं होने वाला, दो बार जाने से कुछ काम नहीं होने वाला, रहस्य की बात जानने के लिए बहुत काल की आवश्यकता पड़ती है, साधना की आवश्यकता है। कई सज्जन जो कि भौतिक क्षेत्र में काम कर रहे है, वे बार-बार आकर मुझसे कहते हैं कि महाराज बताओ । क्या बतायें? रहस्य की बात बताओ ताकि हम आत्मा को समझें क्योंकि अभी तक हमें बताया नहीं गया है। और जब विहार होने लगता है उसी समय हम पूछ रहे हैं। मैंने कहा कि देखो भैया! जब वह आँखों के द्वारा देखने में नहीं आती, सूँघने में नहीं आती तो आप उस रहस्य की बात को क्यों पूछ लेते हैं ? आप रहस्य की बात पूछना चाहते हो तो ध्यान में रखो मेरी बात को, मैंने उनसे कुछ प्रश्न पूछे।

-आप कौन सी कक्षा में पढ़ते हो?

एम० ए० में महाराज जी, उसने कहा!

-विषय कौन-सा है ?

अर्थशास्त्र!

-एम० ए० के बाद क्या होता है ?

जी उसके बाद **Research** (शोध) किया जाता है।

-**Research** का अर्थ क्या है ?

जो कुछ उसमें छुपा है उसे हम उद्घाटित करते हैं।

-देखो भैया! बुरा मत मानना, तुम पागल हो।

कैसे महाराज?

आपने वस्तु के बोध के लिए सोलह साल लगा दिये, अब उस वस्तु के बोध के माध्यम से आप शोध में उतरोगे और शोध के लिए कम से कम तीन वर्ष लगेंगे ही।

महाराज शोध की क्या कहें, वह तो बढ़ता ही जाता है।

इसलिए तो मैं कह रहा हूँ कि आप पागल हो क्योंकि आपने वस्तु के बोध के लिए सोलह वर्ष लगा दिए फिर इसके उपरान्त शोध के लिए पूरा जीवन लगा दिया जाये तो भी सही-सही शोध नहीं हो सकता और आप १०-१५ मिनट में आत्मा की बात पूछ रहे हो। १०-१५ मिनट में तो वह बताई नहीं जा सकती।

किसी भी चीज की अनुभूति के लिए बड़ा परिश्रम करना पड़ता है। तुम तो बातों-बातों में कहते हो, कि हमने जान लिया, मान लिया, हमें सब कुछ मालूम पड़ गया जबकि बात कुछ और ही है। मालूम ये पड़ गया कि हमारे जीवन में कुछ काम होने वाला नहीं है।

वस्तुतः यदि उस ज्ञान की खोज करना चाहते हो तो सन्तों के समागम का लाभ उठाओ। आप कहीं भी चले जायें वहाँ आपको अध्ययन के लिए जीव मिलेंगे। चाहे छोटा कीड़ा हो या मकोड़ा हो, या कोई भी पशु, गाय हो, भैंस हो, बन्दर हो या पेड़-पौधे। इस प्रकार पृथ्वी सारे के सारे जीवविज्ञान से भरी पड़ी है। इसके द्वारा हम ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। इसी ढंग से कर सकते हैं। अपने आप अपना भी आभास होना प्रारम्भ हो जाएगा। जीव-तत्त्व क्या है ? ये देखने के लिए बहुत बार परिश्रम अपेक्षित है। आज के वैज्ञानिकों ने भी इस ओर थोड़ा परिश्रम किया है पहले तो वे इसको बिल्कुल जड़ समझते थे। लेकिन! अब वनस्पति, पेड़-पौधों को भी जीव मानने लगे हैं। जगदीशचन्द्र वसु ने इसे कलकत्ता यूनिवर्सिटी में सिद्ध किया कि इसमें भी जीव है, किन्तु जीव तो उसमें पहले से था ही। लेकिन! जो नहीं मानते थे उनको पुरुस्कृत कर दिया गया। इसके उपरान्त आगे और बढ़ता जा रहा है जीवविज्ञान इसमें भी जीव है। देखो! सारे के सारे विश्व में जीव भरे हुए हैं। कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है, जो जीवत्व से रहित हो, और पहले से जीवत्व के साथ सम्बन्ध न रखता हो। कोई भी पदार्थ देख लीजिए, चारों ओर यही मिट्टी है, तो इसमें भी जीव रह चुका है.... रह गया है.... आगे भी रहेगा.... यह अटल नियम है। भले ही हमारी आँखें, हमारा ज्ञान उसे देख न सके। इस प्रकार का सम्बन्ध जल के साथ है। जो कोई भी पदार्थ देखने में आ जाते हैं, वे सब पहले जीवविज्ञान से संबंधित थे, हैं और आगे भी रहेंगे इस प्रकार जीवात्मा का अस्तित्व त्रैकालिक सिद्ध हो जाता है।

माली ने बगीचा लगाया है। उसने बगीचे में भिन्न-भिन्न प्रकार के पौधे लगाए हैं। उनकी एक-एक डाल पर एक-एक फूल खिला हुआ है। कोई गुलाब का है, कोई रजनी गंध का, कोई चमेली का, कोई चंपक आदि का। सारा का सारा उपवन महक रहा है। चारों ओर सौरभ फैल रही है, पवन भी साथ-साथ बह रहा हैं, और सुगन्ध को दूर-दूर तक ले जा रहा है। भँवर भी गुंजार कर

रहे हैं। भिन्न-भिन्न दृश्य वहाँ पर देखने में आ रहे हैं। माली का काम है सिर्फ सिंचन करना, उनकी देख-रेख करना, उनको सुरक्षित रखना। ज्यों ही माली बगीचे में उन पौधों के पास पहुँच जाता है त्यों ही वे पौधे वे फूल हिल-हिल कर बच्चों के समान उछल कूद मचाने लगते हैं। वे सोचने लगते हैं कि हमें अब अच्छी खाद मिलेगी, प्यार मिलेगा, सब कुछ मिलेगा। अपना जीवन इसके हाथ में है, हमें चाहने वाला यह व्यक्ति मिला है। सब लोग यही चाहते हैं कि हमें सब लोग चाहें, भले ही वह व्यक्ति दूसरे को चाहता है या नहीं चाहता ये बात अलग है प्रत्येक व्यक्ति यही चाहता है कि हमें सब व्यक्ति चाहें। मतलब क्या है, हमारी कद्र करें हम दूसरे की करें अथवा नहीं करें ये अलग बात है, हमारी कद्र प्रत्येक प्राणी करे किन्तु यह कैसे बन सकता?

माली उन पौधों की कद्र करता है, प्यार करता है, जीवन देता है, विकास की ओर ले जाता है। उन फूलों के पास वे भ्रमर उनके अन्दर की पराग का पान करने आते हैं, और फिर उड़ जाते हैं। सारे के सारे लोग देखने के लिए आ जाते हैं। लेकिन! यह भी ज्ञान होता है, कि जब उस माली के स्थान पर, आप लोगों में से कोई पहुँच जाता है, तो उस फूल को सन्देह हो जाता है। क्योंकि यह देह ही कुछ अलग **Type** (प्रकार) की दिखती है। पहले जो देह थी, संदेह पैदा करने वाली नहीं थी, वह प्यार का संदेश लेकर आया था, और यह संदेह लेकर आया है, क्यों? पता नहीं, प्यार करता या पार करता।

कोई भी व्यक्ति फूल को उस पौधे पर देखना नहीं चाहता। वह अपने हाथ में चाहता है, वह अपनी नासिका के पास चाहता है। और कुछ महिलाएँ वगैरह तो अपने सिर में लगाना चाहती हैं। आप लोग अपने कोट में लगाना चाहते हैं। उसकी दशा तो ऐसी होती है, आप लोगों को देख करके कि ये आ गए हैं, अब हमारी स्वतंत्रता नियम से नष्ट होगी। हमारा जीवन नियम से समाप्त होगा।

जीव विज्ञान कितना सूक्ष्म है, समग्र वायु-मण्डल में तरंगायित है, भावना वश फूल को हाथ नहीं लगाया केवल तोड़ने की भावना की है, और यह भावना की है कि यह पौधे के ऊपर न होकर हमारे पास आ जाए। वह फूल जान लेता है कि मेरे लिए हितकारी कौन है ? मुझे स्वतंत्रता दिलाने वाला कौन है ? मेरा शुभचिन्तक/हितैषी कौन है ? और मेरे आनंद को छीनने वाला कौन है ? उस फूल को भी ज्ञान है, पत्तों को भी ज्ञान है, सबको ज्ञान है। क्योंकि सबके पास ज्ञान है, हित का जानना और अहित से बचना यह प्रत्येक जीव का लक्ष्य है। यह बात अलग है कोई लक्ष्य तक पहुँच जाता है कोई नहीं पहुँच पाता। फूल पत्तों के पास पेड़ पौधों के पास पैर नहीं है जो आपकी चपेट से, आपकी पकड़ से भाग निकलें। इसलिए वे आपके हाथ में आ जाते हैं लेकिन आते-आते आपको अभिशाप देते हैं। आपके प्रति उनको कषाय होती है कि देखो प्यार की ओट में इन्होंने हमारे

साथ धोखा किया। जब तक मैं खिला नहीं था तब तक तो यह मौन था, ज्यों ही मैं खिला और आनंद से झूमने लगा त्यों ही इसने मेरे आनंद को छीनकर अपने आपको संतुष्ट बनाने का उद्यम किया।

ध्यान रखो! माली आता है, तो एक दशा हो जाती है, और कोई नागरिक आता है,? तो दूसरी दशा हो जाती है। यह दशा एक ही फूल में भिन्न-भिन्न प्रकार से क्यों हो रही है ? यहाँ तक तो ज्ञान हो गया, इतना ही नहीं और आगे तक ज्ञान हुआ।

एक बार की बात है, बहुत दिन हो गए, मैंने एक चित्र देखा था, गीत के माध्यम से कमल को खिलाया गया था। संगीत के माध्यम से दीप को जलाया गया था। हाँ जीवन को शब्दों के माध्यम से आनंद विभोर भी कर सकते हैं। बहुतों के जीवन में अंतिम क्षण तक ऐसी तिलमिलाहट पैदा कर सकते हैं जो वह भव-भवान्तर में भूल नहीं सकता और उसका हृदय पल नहीं सकता, जल सकता है, एक-एक सेकेण्ड में जल सकता है। शब्दों में भी यह बल है, उसके माध्यम से पेड़ पौधों में, आनंद की लहर दौड़ सकती है। भले ही सुनें या न सुनें किन्तु! शब्द के माध्यम से आपकी भावना व्यक्त हो जाती है, भाव तरंगें उससे आकर टकरा जाती हैं। एक आनंद का हाथ उठाकर तथास्तु कहने से सामने वाला भयभीत व्यक्ति भी अभय का अनुभव कर सकता है। यदि तथास्तु नहीं कहा, तो वह सोचता है कि तथास्तु की जगह कोई अभिशाप तो नहीं है ? शंका की दृष्टि से देखने लग जाता है।

फिर शब्द की भी कोई आवश्यकता नहीं किन्तु उसके प्रति आपका क्या भाव है? यह देखना है। हमारे भावों की तरंगें वायु-मण्डल में तरंगित हो करके हम जहाँ पहुँचाना चाहें, वहाँ पहुँचा सकते हैं। आज का यह युग एक-एक कदम बढ़ाता वहाँ तक पहुँच गया है। सर्वप्रथम शब्द का आविष्कार किया गया और फिर उनके माध्यम से, ग्रामोफोन का आविष्कार, फिर हम शब्दों को गीत बनाकर रिकार्ड प्लेयर के माध्यम से सुनने लगे। टेलीफोन आ गया, टेपरिकार्डर आ गया फिर इसके उपरान्त शब्द के साथ आत्मा का पुट भी कुछ और विशेष आवश्यक है, इसलिए आज का मानव सोचने लगा, और फिर शब्द के उपरान्त मनोरंजन के लिए टीवी आ गया। शब्द गौण हो गए और चित्र आ गए।

उस समय मैं बहुत छोटा था, मैंने एक फिल्म देखी थी, उसमें बोलते नहीं थे, मूक चित्र था, एक्शन मात्र करते थे। उसके माध्यम से समझ में सब आता था क्या कहना चाहते हैं? सब कुछ समझ जाते थे। शब्द का निखार फोन के माध्यम से टेपरिकार्डर के माध्यम से बहुत आगे बढ़ता चला गया है लेकिन टेलीविजन के साथ मात्र हम सुन ही नहीं रहे हैं, बल्कि देख भी रहे हैं। ये आविष्कार टीवी- हो या वी०डी०ओ० सब पुराने पड़ रहे हैं और दूसरा ये आविष्कार प्रारम्भ हो

चुका है, लेकिन वह बहुत मंहगा है, **telepathy** किसको बोलते हैं ? वह संप्रेषण कला है, शब्द का माध्यम ले करके आगे उठी हुई एक कला है। जिसमें तन भी शान्त हो जाता है, और मन भी शांत हो जाता है। और तन और मन, वचन के ऊपर उठकर केवल अकेला स्वतंत्र हो जाता है। तब हम उस मनोविज्ञान के माध्यम से उस संप्रेषण शक्ति के माध्यम से जिसके दुखों को दूर करना है तो हम कर सकते हैं। जिसमें सुख का आरोपण करना है कर सकते हैं। बन्धन से छुटकारा दे सकते हैं और बंधन में भी डाल सकते हैं वह अद्भुत शक्ति है।

जैनाचार्यों ने हजारों वर्ष पूर्व इसका उल्लेख किया है, तब आज विज्ञान का सूत्रपात हुआ है। किन्तु! जो कुछ भी है वह पहले से ही ग्रन्थों में चित्रित किया गया है। जो सबसे ज्यादा सशक्त है, वह मन है और यदि वह मन सबसे ज्यादा सशक्त होगा, तो मात्र मानव का ही होगा। देवों का नहीं होगा, दानवों का भी नहीं होगा, पशुओं का भी नहीं होगा, लेकिन ध्यान रखना, सबसे खतरनाक भी मानव का ही मन होगा।

न सूरत बुरी है, न सीरत बुरी है।
बुरा तो वह जिसकी नीयत बुरी है...

तो नीयत किसको बोलते हैं भैया? नीयत उसको बोलते हैं जो मनोविज्ञान है। मन के माध्यम से हम सुखी बना सकते हैं, क्रोध की कोई आवश्यकता नहीं और उसके लिए वैर की भी कोई आवश्यकता नहीं है। दुनियाँ के किसी भी पदार्थ की, आविष्कार की कोई आवश्यकता नहीं है। **wireless** भी वही काम करता है-वायर के अभाव में। जो मनोविज्ञान की तरंगें हैं उन्हें हम जिस व्यक्ति के पास भेजना चाहते हैं वे **Direct** उसी व्यक्ति को **Pinch** करेंगी और आपके भावों को वहाँ पर व्यक्त करेंगी। कोई आवश्यकता नहीं है इसको वायर की। हमने उदाहरण के माध्यम से आपको समझाने का प्रयास किया है, यदि आ जाए तो ठीक है, नहीं तो हमने तो समझ ही लिया है।

जब बहुत छोटा था तब देखा था। एक बच्चे को हिचकी आ रही थी, हिचकी आने के उपरान्त वह माँ के पास आकर कहता है कि मुझे हिचकी आ रही हैं? दर्द हो रहा है। अरे! कुछ बात -नहीं बेटा! वह तो अभी पानी से ठीक हो जाएगी। माँ हम तो इसलिए आए थे,कि कुछ मिठाई वगैरह मिल जाएगी और आप तो पानी की बात कर रही हो। अच्छा! तो ये बात है ठीक है पानी तो पी ले, फिर मिठाई मिल जाएगी। कैसे मिल जाएगी? लाओ ना! नहीं.. नहीं वो लेने गए अभी आते ही होंगे, बाजार गए हैं तो जाते समय मैंने कहा था कि आते समय छोटे मुन्नू को याद कर लेना इसका अर्थ यही है कि मिठाई लेते आना, उन्होंने वहाँ पर मिठाई खरीदने के लिए याद किया है, और यहाँ तुम्हें हिचकी आने लगी, यह बात बिल्कुल **Fact** है, समझने की है।

मनोविज्ञान इतना सूक्ष्म है कि हम किसी भी प्रकार से किसी भी वस्तुओं के द्वारा उसको बाँध नहीं सकते। प्रेम को, भावना को हम तौल नहीं सकते, वह अनमोल है, उसका मूल्य और उसकी शक्ति आज तक किसी ने नहीं की। और इसके द्वारा जो काम आज हो सकता है, उसे करने में वैज्ञानिकों को हजारों साल लगेंगे, तो भी यह संभव नहीं। और हजारों वर्षों के उपरान्त इतनी मात्रा में काम हो ऐसी कोई बात नहीं। इसके लिए एक **Second** में बहुत सारा काम हो सकता है। मनोविज्ञान सही-सही पूछा जाय तो अध्यात्म तक पहुँचने के लिए, एक पृष्ठ भूमि का काम करता है लेकिन ये ध्यान रखना, जहाँ भौतिकवाद का विश्रान्त हो जाता है। जहाँ पर मनोविज्ञान का समापन होता है, वहाँ पर अध्यात्मवाद नजर आने लगता है। क्योंकि यह **Nearest** वस्तु है जिसने भाव तरंग को पकड़ा है। जिसने भाव प्रणाली को समझ लिया है, वही दूसरे की भाव प्रणाली को समझ सकता है। यह तादात्म्य स्थापित किये बिना सम्भव नहीं है। एक व्यक्ति का तादात्म्य दूसरे व्यक्ति से तो है नहीं लेकिन! वही व्यक्ति हम हैं ऐसा महसूस करना प्रारम्भ कर दें, तो यह सम्भाव्य है। इसमें भक्तिवाद गर्भित हो जाता है। यहाँ पर ज्ञान, ज्ञान नहीं, यहाँ पर ज्ञान भक्तिवाद में समर्पित हो जाता है।

इस ज्ञान के माध्यम से वह सामने वाले की वेदना को समझ लेता है। सम्वेदना को अनुभूत कर लेता है। वहाँ नजदीक जाना आवश्यक होता है, शब्द टकराते हैं। और कई मूर्त पदार्थ टकराते हैं, किन्तु मनोविज्ञान किसी से टकराता नहीं है। आज के वैज्ञानिकों ने फोटो लेने का प्रयास किया, एक्सरे लेने का प्रयास किया, इसको पकड़ने की कोशिश की किन्तु! वह शक्ति किसी भी यन्त्र के द्वारा पकड़ने की चीज है ही नहीं। ये मात्र ज्ञान के द्वारा जानने की चीज है। इस मनोविज्ञान के माध्यम से हम बहुत कुछ काम कर सकते हैं, अंधकार भी ला सकते हैं। मन के माध्यम से क्या नहीं कर सकते। मानव सब कुछ कर सकता है लेकिन! मन बदमाश है, वह अच्छा ही अच्छा तीन काल में भी नहीं कर सकता।

मनोविज्ञान का प्रशिक्षण उसी मन के लिए ही सम्भव है जिसने अपने आपको **Control** संयत कर लिया है। इन्द्रियों से ऊपर उठकर मानसिक सफलता प्राप्त कर ली है, तामस वृत्ति से ऊपर उठ चुका है। तब कहीं जा करके हम इसको पकड़ सकते हैं, इसकी पृष्ठ-भूमि है समता। जिसका ज्ञान पंचेन्द्रिय विषयों से आकर्षित है, वह व्यक्ति मन के माध्यम से विकास के स्थान पर,अपनी आत्मा को विनाश की ओर ले जा रहा है। मनोविज्ञान के लिए सन्तों का क्या कहना है ? सन्त शब्द ही अपने आप में कह रहा है। 'स' से प्रारम्भ कर दो। तामस में 'त' पहले आता है, समता में 'स' पहले आता है। 'स' पहले आ जाएगा तो 'त' का अन्त किया जाएगा। तामस को अन्त मिल गया। तामसता जिसमें अन्त को प्राप्त हो गई उसी का नाम है सन्त। संक्षेप से संत की

व्याख्या यही है कि जो समता से भरा हुआ हो और आत्म कल्याण के साथ-साथ जिसको यह मनोविज्ञान प्राप्त हो गया वह कल्याण कर ही जाएगा, इसमें सन्देह नहीं है। इसलिए हमें वह ज्ञान प्राप्त करना है, जिसके द्वारा कुछ सुख-शान्ति के साथ बैठ जायें, अपने आप का जीवन जी सकें।

पाँच मिनट बैठने के लिए शक्ति तक नहीं है। लेट सकते हैं, स्थिति बिगड़ गई तो। मनोविज्ञान के माध्यम से हम इसे जानें और उसे ठीक करने की कोशिश करें। क्या कर सकते हैं ? इसका कितना बल है, कितनी शक्ति है, कितना ओज है? उदाहरण केवल उदाहरण नहीं है, किन्तु एक सत्य घटना है।

एक राजा और उसके साथी, वन में घूमने के लिए गए। राजा के मन में आता है कि किसी न किसी जानवर का शिकार करूँ किन्तु! उस दिन चीता-सुअर-हिरण कुछ भी नहीं मिला। अन्त में एक हिरणों का समूह (झुण्ड) देखने को मिला, और राजा देखते ही घोड़े को उनके पीछे भगाने लगा। तीरकमान हाथों में उठा लिया। यह दृश्य उसका एक साथी जो शिकार करना नहीं चाहता था, उसने देखा। देखने के उपरान्त वह सोचता है कि देखो! इन भोले-भाले हिरणों के ऊपर, निरपराध पशुओं के ऊपर यह अत्याचार ठीक नहीं है। पशुओं के जो रक्षक हैं, जिनकी रक्षा करना राजा का धर्म है, वे ही आज इनके रक्त के प्यासे हैं, वे ही उनके भक्षक बन रहे हैं। यह देखा नहीं जाता, अब यह अत्याचार सहन नहीं होगा। यह सोचकर वह कहता है -

हे अनाथ मृगो! ठहर जाओ, तुम्हारे इस समय भागने से कोई मतलब सिद्ध नहीं होगा। आज रक्षक ही तुम्हारा भक्षक बनकर पीछे लगा है तुम कहाँ जाकर अपने प्राण बचाओगे, रुक जाओ! ज्यों ही यह वाणी, यह करुण आवाज मृगों के कानों तक पहुँची त्यों ही वे कीलित से हो गये। राजा ने यह चमत्कार देखा तो तीर कमान चलाना भूल गया और आश्चर्य से उस साथी के मुख को देखने लगा और उसने सोचा कि यह क्या मामला है? उसकी वाणी में क्या चमत्कार है, जादू है? भागते हुए पशुओं का शिकार खेलना तो फिर भी ठीक है, लेकिन! ये तो रुके हुए हैं इनको मैं कैसे मारूँ पहलवान कुश्ती उसी समय खेलता है जब दूसरा पहलवान ताल ठोंक कर चुनौती देता है, यदि वह बिना लड़े ही **Surrender** हो जाए तो फिर मजा नहीं आएगा। यही स्थिति उस समय राजा की हुई। वह राजा साथी से पूछता है। ये रुके कैसे?

इससे तुम्हें क्या मतलब? शिकार करना है तो कर लो। साथी ने उत्तर दिया।

तुम मजाक कर रहे हो?

मजाक कैसे? आप तो भाग रहे थे, वे अपने आप रुक गए यहाँ पर, अब शिकार करना है आपको, शौक से करिए! साथी ने व्यंग भरे स्वर में कहा।

नहीं मुझे यह जानना है कि ये रुके कैसे? और बिल्कुल पास ही आकर खड़े हो गए। जीने की आशा ही छोड़ दी इन्होंने, इतने पास आ गए, पहले तो काँप रहे थे, और अब बिल्कुल आनंद के साथ खड़े हैं। ये क्या हो गया? इनके कानों में मंत्र तो नहीं फूँक दिया तुमने बताओ तो सही? राजा ने आश्चर्यपूर्वक पूछा।

इससे क्या मतलब? आपको जब शिकार करना ही है तो करते क्यों नहीं? साथी ने उत्तर दिया।

नहीं... नहीं तुम मुझे पहले यह बताओ ये रुके कैसे? राजा ने उत्कण्ठापूर्वक पूछा।

आप सुनना चाहते हैं तो सुनिए! इन्हें रोकने में कारण है प्रेम की शक्ति, अहिंसा की शक्ति, दया-अभय-करुणा की शक्ति। राजन्! आप अपने पद की ओर भी जरा ध्यान दो, आपका कर्त्तव्य है, प्रजा की रक्षा करना, प्रजा का पालन करना, निरपराध पशुओं के प्रति जो आपने अपने हाथ में धनुष और बाण ले लिया है, वह निरपराध पशुओं की हिंसा के लिए नहीं बल्कि! उनकी रक्षा के लिए होना चाहिए, आपने राज्याभिषेक के समय क्या संकल्प लिया था? जरा याद तो करिये! कि मैं अनाथ-अशरण/दीन-हीन प्राणियों की रक्षा करूँगा, हमारे जीवित रहते हुए, किसी भी प्राणी को किसी भी प्रकार का कष्ट नहीं हो सकता और वह आज भी आपके परिवार द्वारा दुहराया जाता है। क्षत्रियता आज भी छुपी नहीं है, भले ही आप छुपाते चले जाओ ये बात अलग है। इतना कहकर वह साथी चुप हो गया।

आज भी राष्ट्रपति भवन में जिस समय राष्ट्रपति की नियुक्ति होती है, उस समय उसे यही संकल्प कराया जाता है, कि जब तक मैं इस पद पर रहूँगा, तब तक जनता की रक्षा करूँगा, देश के प्रति आस्था रखूँगा । देश की रक्षा के लिए अपने प्राणों तक का उत्सर्ग कर दूँगा और यह एक बार नहीं तीन बार कहलवाया जाता है। महाराज तीन बार क्यों कहा जाता है ? तीन बार इसलिए कहा जाता है कि तीन बार कहने में बात वजनदार हो जाती है, बात प्रभावक हो जाती है।

लेकिन, आप तीरकमान लिए, उन भोले मृगों के पीछे लगे हो प्रजापालक होकर। रक्षक होकर, भक्षक बन रहे हो। आप राजा हो या खाजा हकीकत तो यह है कि आपको पशुओं की रक्षा करनी थी। अहिंसामय अपना जीवन बनाना था, आज आपने अपने संकल्प का उल्लंघन किया, यह देखकर उनको हमने पास में बुला लिया, ताकि ज्यादा कष्ट न हो। उस साथी ने पुनः व्यंग्य किया।

तो आपकी वाणी उन्हें कैसे समझ में आ गई? राजा ने बात को समझने की दृष्टि से पूछा।

दया की पुकार, रक्षा की पुकार सब को समझ में आती है बस! कान होना चाहिए कान के बिना भी समझ में आती है। ऐसी -भी वाणी है जो मन के माध्यम से, मन में भाव भी कर लें तो भी समझ में आती है, बस! समझने की दृष्टि चाहिए। साथी ने सारी बातों का खुलासा किया।

-ओ हो.. अहिंसा की यह शक्ति है। इतना कह कर वह सोचने लगा कि कुछ भी हो लेकिन आज तो मेरा अपमान हो गया, उसने मारा किसी को नहीं और वह महल की ओर चला गया। दूसरे दिन साथी से राजा कहता है कि यदि इस प्रकार की शक्ति तुम्हारे पास है, तो हमें बता दो क्यों सिंह भी आ सकता है।

-हाँ.... हाँ अवश्य आ सकता है। साथी ने कहा।

-तो फिर बुलाओ, हम इसका भी चमत्कार देखेंगे। राजा ने गर्व से कहा।

-हम सिंह को तो बुला सकते हैं, लेकिन नर सिंह को नहीं। जिस प्रकार मृग आए थे उसी प्रकार सिंह आएगा । साथी ने दृढ़तापूर्वक कहा।

-एक शेर को पिंजड़े में बंद करके पाँच छह दिन भूखा रखा गया, उसको सताया गया, गुस्सा दिलाया गया, फिर उसके उपरान्त तारीख नियुक्त कर दी गई। समस्त प्रजाजन और दरबारीगण उपस्थित थे, फिर उनसे कहा गया - अगर तुम्हारे पास शक्ति है, अहिंसा का बल है तो इस शेर को ठीक कर दो और इसे शाकाहारी बनाओ।

देख लीजिए! उस मनोविज्ञान का कितना बल है, एक जीव अगर दूसरे जीव को चाहता है तो हिंसक से हिंसक पशु भी अहिंसक बन जाता है लेकिन वह व्यक्ति निर्विकार होना चाहिए। विकार से ही विकार टकराता है, विकार विकार का संघर्ष है, विकार का और निर्विकार का संघर्ष तीन काल में संभव नहीं है, मिलना तभी संभव है जहाँ मिलने के लिए गुंजाइश रह जाए। दूध में पानी तो मिल सकता है पानी में दूध भी मिल सकता है लेकिन दूध में घी मिलता है क्या? पानी में घी मिल सकता है क्या? मैं पूछना चाहता हूँ! कि विकार से निर्विकार टकरा नहीं सकता वह विकार नीचे चला जाएगा। निर्विकार ऊपर आ जाएगा। यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है। इसमें हम किसी प्रकार से, विचार ही नहीं कर सकते कि मिलावट वहाँ पर है, दोनों सजातीय जैसे लगते हैं, वर्ण सजातीय, गंध सजातीय और तरल पदार्थ इस अपेक्षा से सजातीय हो तो मिलावट संभव है। सोना, तांबा, पीतल इनमें मिलावट संभव है।

निर्विकार किसी प्रकार नीचे नहीं जाएगा, विकार नीचे ही रहेगा। तो पानी पहले मत डालो पहले उस बर्तन में एक चम्मच घी डालो, उसका वजन कितना है, दस ग्राम समझ लो, अब उसके ऊपर दस किलो पानी डाल दो ताकि वह डूब जाए। क्या वह घी दब जाएगा? नहीं वह दस किलो पानी को दबाकर ऊपर आ करके सिंहासन पर बैठ जाएगा। दस ग्राम घी को दबाने की शक्ति एक क्विंटल पानी के पास नहीं है, आप समुद्र को उस के आ जाये और का नीचे चला जाये ऐसा नहीं होगा। विकार-विकारों का साम्य है, निर्विकार-विकारों का नहीं, नीचे का घी ऊपर आ जाए और

ऊपर का नीचे चला जाए, ऐसा नहीं होगा। एक चम्मच घी के ऊपर एक किलो घी डालो तो वह मिल जाएगा, वह कहेगा ठीक है। लेकिन! विजातीय ऊपर आ गया, तो कहता है कि मेरे पास दया है, शक्ति है, उसको दबाकर ऊपर आने की। वह व्यक्ति जाता है तो साथी कहता है-

यदि आप मेरी शक्ति देखना चाहते हो तो मैं तैयार हूँ और अगले ही पल सिंह दहाड़ता हुआ आया।

तुझे यदि भूख मिटाना ही है तो ये जलेबियाँ खाकर मिटा ले और मांस खाना है तो मैं उपस्थित हूँ, साथी ने शेर से कहा।

मुझे समय पर खाना नहीं मिलता जो भी मिल जाए उसे खाकर अपनी भूख मिटा सकता हूँ पेट भरने के उपरान्त मुझे कुछ नहीं चाहिए, सिंह बड़ी नम्रतापूर्वक बोला।

यह सिंह की नीति है नरसिंह की नहीं। सिंह जब भूखा होगा, तो शिकार कर लेगा और उसे खा लेगा, वह छुप करके शिकार नहीं करता, खाने के उपरान्त शिकार नहीं करता, दूसरे के द्वारा किए गए शिकार को नहीं खाता, क्या-क्या बातें आ गई इसमें? बहुत सारी बातें आ गईं महाराज! इसमें से मेरे पास कुछ नहीं है, लेकिन! नरसिंह में शेर की एक भी बात घटित नहीं होती। आप पीछे से हमला करते हो। और क्या करते हो? छुप जाते हो दूसरे के द्वारा कमाए गए धन को हड़प लेते हो। वह साथी राजा से कहता है-

-मैं शेर को शाकाहारी बना कर ही रहूँगा भले आप मानो या ना मानो।

-तुम्हें क्या चाहिए? वह सिंह से बोला।

-हमें खाना चाहिए, हम बहुत दिन से भूखे हैं, सिंह ने कहा।

-तुम्हें भूख मिटाना है।

-हाँ हमें भूख मिटाना है।

-तो फिर थाली में गरम-गरम जलेबी हैं जितना चाहो खा लो और कढ़ाई में भी रखी हैं, खाने में कमी नहीं करना तुम्हारी पूरी व्यवस्था है, पीने के लिए दूध भी रखा है प्यासे नहीं रहना, साथी ने प्रेम-वात्सल्य के साथ सिंह से कहा।

और वह अहिंसा का चमत्कार था, सिंह उठकर चुपचाप जलेबियाँ खाने लगता है, फिर वह साथी सिंह से पुनः कहता है...!

-और कुछ चाहिए? साथी ने कहा।

-अब कुछ नहीं चाहिए मेरा पेट भर गया है, शेर ने तृप्तिपूर्वक कहा।

सब देख रहे थे, सोच रहे थे कि पता नहीं ये दीवान जी शेर को अब क्या आदेश दे दें। फिर दीवान जी शेर से कहते हैं-

-अब जा कर इन सबको देख लो ।

राजा हाथ जोड़कर खड़ा हो जाता है और कहता है कि मुझे आज तक इस बात पर विश्वास नहीं था कि हम अपनी सच्चे अहिंसक परिणामों से पशुओं के ऊपर, पेड़ पौधों के ऊपर, अनाथों के ऊपर, सब के ऊपर अपना प्रभाव डाल सकते हैं इसी को बोलते हैं आत्मीयता। हमारे पास ये जो शक्ति विद्यमान है, वह धीरे-धीरे अस्ताचल की ओर चली जा रही है। यह दु :ख की बात है लेकिन सुख की भी ये बात है कि आज भी इस प्रकार की शक्ति है, इस प्रकार के आज व्यक्ति हैं जो मनोविज्ञान के माध्यम से सब कुछ कर सकते हैं।

वस्तुतः आप विश्व में शांति चाहते हो तो दया धर्म का अनुपालन करो। वह मनोविज्ञान, जो जीव तत्त्व की तलस्पर्शी खोज करता है उसकी प्राप्ति के लिए ही प्रयत्न करो। उससे बहुत सारे समाधान मिलते हैं, जो आप लोगों के पास मन है उसके माध्यम से बहुत कुछ काम कर सकते हो, उसी मन के माध्यम से आप अपने आत्मतत्त्व को प्राप्त कर सकते हो।

यह घटना दीवान अमरचंद जी के साथ जयपुर में घटी थी। इसी प्रकार की घटनायें समय समय पर घटती रही हैं। यह घटना अधिक पुरानी नहीं है किन्तु भौतिकवाद का विस्तार इतना बढ़ गया है कि अब इस पर कोई ध्यान नहीं देता। किन्तु वैज्ञानिकों को अब यह तथ्य, सत्य प्रतीत हुआ है कि हजारों वर्ष जो काम नहीं होगा वह इस प्रकार के संयत मन के द्वारा अल्पकाल में संभव है लेकिन मन को संयत करने के लिए निर्विकार बनने की आवश्यकता है। बस! अन्त में यही कहना है कि आप लोग तामस का विलोम कर दीजिए। समता पर ही हम सभी का विश्राम हो और सुसंगति पर हमारा पड़ाव हो, वहीं पर हमारी यात्रा की समाप्ति है। वहीं से मोक्ष की उपलब्धि का सूत्रपात है।

महावीर भगवान की जय

दुर्ग : फरवरी १९८४

❑ ❑ ❑

डबडबाती आँखें

वे आँखें किस काम की जिनमें ज्ञान होते हुए, देखते हुए भी संवेदना की दो.... तीन बूंदें भी नहीं आती। वे आँखें पत्थर की हैं, लोहे की हैं, हमारे किसी काम की नहीं हैं।

धर्म का अर्थ यही है कि दीन दुखी जीवों को देखकर आँखों में करुणा का जल छलके अन्यथा नारियल में भी छिद्र हुआ करते हैं।

राम-रहीम और महावीर के समय में जिस भारत भूमि पर दया बरसती थी। सभी जीवों का अभय था। उसी भारत भूमि पर आज अहिंसा खोजे-खोजे नहीं मिलती।

ऐशो-आराम की जिन्दगी विकास के लिए नहीं बल्कि विनाश के लिए कारण है। या यूँ कहो ज्ञान का विकास रोकने में कारण है।

जैन दर्शन कहता है कि उतना उत्पादन करो जितना तुम्हें आवश्यक है। बल्कि! उससे कम ही करो जिससे कुछ समय बचेगा, उसमें परोपकार की बुद्धि जाग्रत होगी।

सर्दी का समय है। रात की बात, लगभग १२ बज गए हैं। सब लोग अपने-अपने घरों में अपनी व्यवस्था के अनुरूप सर्दी से बचने के प्रयत्न में हैं। खिड़कियाँ और दरवाजे सब बंद हैं, ऊपर से भी हवा नहीं आ रही है सब कुछ प्रबंध हो चुका है। पलंग पर विशेष प्रकार की गर्म दरी बिछी है, उसके ऊपर मखमल की गादी है, ओढ़ने के लिए रजाई भी है। एक-एक क्षण ऐश-आराम के साथ बीत रहा है। इसी बीच ऐसे शब्द, ऐसी आवाज सुनाई पड़ी जिसमें से अभाव की ध्वनि निकल रही थी, दुख दर्द सुनने में आ रहा था। इस प्रकार दुख भरी आवाज सुनते ही चैन नहीं, इधर-उधर उठकर देखते हैं तो, सर्दी भीतर जाने, घुसने का प्रयास कर रही है, वह सोचता है उठूं कि नहीं वह फिर सो जाता है। कुछ ही क्षण बीते होंगे कि आवाज पुनः कानों में आ जाती है, कानों में आने के उपरान्त कान तो बन्द किए नहीं जा सकते जितना जो कुछ होना था, वह हो चुका फिर भी वह आवाज बार-बार आ रही है, उठने की हिम्मत नहीं है, सर्दी बढ़ती जा रही है, पर देखना तो आवश्यक है। घर के आजू-बाजू में देखते हैं तो आवाज सुनने में नहीं आती, थोड़ी देर बाद तीन-चार कदम आगे बढ़कर देखते हैं, तो आवाज और तेजी से आने लगती है। तब वह सोचता है कि आवाज तो यहीं से आ रही है, देखने के उपरान्त वहाँ पर कुत्ते के तीन-चार पिल्ले सर्दी के मारे ऐसे सिकुड़ गए थे,.......जैसे रबड़ सिकुड़ता है। उन्हें देखकर के रहा नहीं गया और वे अपने हाथों में उन कुत्ते के बच्चों को उठा लेते हैं, जिस गादी पर वे शयन कर रहे थे उस गादी पर लिटा देते हैं और धीरे - धीरे अपने हाथों से उन्हें सहलाते हैं, उनके सहलाने से वे कुत्ते के बच्चे सुख शांति का अनुभव करने लगे, वेदना का अभाव सा होने लगा। सारा का सारा जो शरीर ठंडा पड़ गया था, अब वह उन हाथों के सहलाने से गर्मी का अनुभव करने लगा। उन बच्चों को ऐसा लगा जैसे कोई माँ

उन्हें सहला रही हो।

लेकिन! सहलाते-सहलाते उनकी आँखें डबडबाने लगी, आँसू आने लगे। रहा नहीं गया सोचने लगे कि इन बच्चों के ऊपर मैं क्या उपकार कर सकता हूँ? इनका जीवन परतंत्र है। प्रकृति का प्रकोप है, और उसका कोई प्रतिकार नहीं कर सकते, ऐसा जीवन ये प्राणी जी रहे हैं। हमारे जीवन में एक सैकेण्ड के लिए भी प्रतिकूल अवस्था आ जाए तो हम क्या करेंगे? पूरी शक्ति लगाकर उसका प्रतिकार करेंगे। सहा नहीं जाता, वे सोचने लगे इस संसार में ऐसे कई प्राणी होंगे जो यातनापूर्वक जीते हैं, मनुष्य होकर भी यातना सहन करते।

उन्होंने उसी समय से संकल्प ले लिया, अब मैं ऐश आराम की जिन्दगी नहीं जिऊँगा। ऐश आराम की जिन्दगी विकास के लिए कारण नहीं बल्कि विनाश के लिए कारण है या यूँ कहो ज्ञान का विकास रोकने में कारण है। मैं ज्ञानी बनना चाहता हूँ। मैं आत्म तत्त्व की खोज करना चाहता हूँ। सबको सुखी बनाना चाहता हूँ। और मेरे जो उद्देश्य हैं उन्हें तभी पूर्ण कर सकता हूँ जब मैं ऐश आराम की जिन्दगी जीना छोड़ दूँगा। उन कुत्ते के बच्चों को उन्होंने अपने जीवन निर्माण का निमित्त बना लिया था। विकास के लिए कोई न कोई निमित्त आवश्यक होता है। यह कथा किसकी है ? जब मैं पहली कक्षा में था उस समय एक पाठ पड़ा था, गाँधी जी के जीवन में गादी पर सुलाने वाले कुत्ते के बच्चों को सहलाने वाले वे गाँधी जी ही थे। इस घटना से वे बहुत प्रभावित हुए और उन्होंने नियम ले लिया कि इस प्रकार का जीवन मेरे लिए हितकारी सिद्ध नहीं होगा। जिस प्रकार मैं दु:खित हूँ उसी प्रकार दूसरे जीव भी दुखित हैं। मैं अकेला ही सुखी बनूँ यह बात संभव नहीं ऐश-आराम के लिए बहुत कुछ सामग्री हमें मिल सकती है, जिसके द्वारा हमारे विषय-भोगों की कुछ क्षण के लिए पूर्ति हो सकती है। किन्तु मैं अकेला मात्र सुखी बनना नहीं चाहता मेरे साथ जितने और प्राणी हैं सभी को जिलाना है और आनंद के साथ जिलाना है। जो कुछ मेरे लिए है, वह सबके लिए होना चाहिए, बस! दूसरों के सुख में ही मेरा सुख निर्धारित है।

जीवन में किस प्रकार सुख-शान्ति हम ला सकते हैं ? इस प्रश्न को समाधित करने की धुन लग गई इसके लिए उन्होंने सोचा कि जो-जो आवश्यक है उन आवश्यकताओं में कमी करना है। सर्व प्रथम मुझे अपने पास एकत्रित भोग्य पदार्थों की सीमा करनी है।

एक दिन की बात, वे घूमने जा रहे थे। तालाब के किनारे उन्होंने देखा एक बुढ़िया अपनी धोती धो रही थी। बस! देखते ही उनकी आँखों में पानी आ गया। कितने हैं आपके पास कपड़े? एडवाँस में कितने हैं ? आप कितने कपड़े पहन कर आए हो? महाराज यह भी कोई प्रश्न है, एक बार में एक ही जोड़ी पहनी जाती है एक कुर्ता और एक धोती। हाँ..... ठीक है यह पहनने की बात हुई पर एडवाँस में कितने हैं बोलो? चुप क्यों हो? महाराज जी, फिर तो गिनना पड़ेंगे।

जिन पेटियों में कपड़े बन्द हैं उन पेटियों में घुस-पुस कर चूहे काटते होंगे। फिर भी आपके दिमाग में यह चूहा काटता रहता है कि उस दिन मार्केट में जो हमने नायलोन देखा था, वह तो अहा हा अहा अब क्या करूँ? पता नहीं ट्रंक (सन्दूक) में कितने हैं ? लेकिन! फिर भी जो बाजार में आया है, उसकी पूर्ति के प्रयत्न में हैं। अपव्यय भी हो जाय तो कोई बात नहीं, गाँधी जी ने उस बुढ़िया को देखकर सोचा कि ओ अहो इनके पास तो पहनने के लिए भी नहीं है। ओढ़ने की बात तो बहुत दूर है। धोते समय उस बुढ़िया ने आधी धोती तो पहन रखी थी और आधी धोती धो रही थी, कितना अभावग्रस्त जीवन है इसका। लेकिन फिर भी वह बुढ़िया किसी से जाकर नहीं कह रही कि मेरी यह स्थिति है।

जब से गाँधी जी ने जनता के दुख भरे जीवन के बारे में सोचा तब से उन्होंने सादा जीवन बिताना प्रारम्भ कर दया । वे धोती कैसे पहनते थे? मालूम है आपको, साठ इंची पना वाली नहीं, जैसे आप दुपट्टा पहनते हो! उसी प्रकार की धोती जो घुटनों के नीचे नहीं आती थी, और आपकी धोती क्या करती है ? जमीन को बुहारती है, अब नगर पालिका की कोई जरूरत नहीं। जब आप लोग इस प्रकार चलेंगे तो सड़क अपने आप ही साफ हो जाएगी, अब झाड़ू लगाकर साफ करने की कोई आवश्यकता नहीं।

आप भारत के नागरिक हैं, और वे भारत के नेता माने जाते थे। उनका जीवन कैसा था? एक बार अनुभव हो गया था, ज्ञान उनके पास था। ज्ञान का अर्थ है आँखें, वे आँखें उनके पास थी जिनमें करुणा का जल छलकता रहता था। धर्म का अर्थ यही है दीन दुखी जीवों को देखकर, आँखों में करुणा का जल छलके अन्यथा! नारियल में भी छिद्र हुआ करते हैं। दयाहीन आँखों को तो छिद्र ही मानते है। यद्यपि! ज्ञान है लेकिन उस ज्ञान के माध्यम से यदि संवेदना नहीं होती है तो उस ज्ञान का कोई मूल्य नहीं, इन आँखों से हम सब को देखते अवश्य हैं लेकिन वे सब हमारी आँखों के विषय मात्र बन जाते हैं। वे आँखें किसी काम की नहीं हैं, जिन में ज्ञान होते हुए, देखते हुए संवेदना की दो-तीन बूँदें भी नहीं आती। वे आँखें लोहे की हैं, पत्थर की हैं हमारे किसी काम की नहीं हैं।

एक अंधे व्यक्ति को हमने देखा था। उस अंधे की आँखों में से पानी आ रहा था। वे आँखें बहुत अच्छी हैं जिनसे भले ही देख नहीं सकते लेकिन उनमें करुणा का जल तो छलकता रहता है किन्तु! उन आँखों का कोई महत्त्व नहीं है जिनमें दया नहीं है, करुणा का जल नहीं है। उनके पास ज्ञान था, विलायत जाकर के उन्होंने अध्ययन किया और वो बैरिस्टर बने। बैरिस्टर बहुत कम सफल हुआ करते हैं, ध्यान रखना! वह भारत में नहीं विलायत से उपाधि मिलती है। अब देखो! इतना ज्ञान था, लेकिन साथ-साथ दया भी थी। धर्म और संवेदना से वे ऐसे हल्के हो जाते थे कि बस उसमें डूब जाते थे। ऐसी कई घटनाएँ उनके जीवन में घटी। वो दया धर्म को जीवन का मुख्य अंग मानते

थे, या यूँ कहो जीवन ही मानते थे। कहा भी है -

दया धर्म का मूल है, पाप मूल अभिमान।
तुलसी दया न छाँडिये, जब लों घट में प्राण॥

यह जो समय हमें मिला है, जो कुछ उपलब्धियाँ हुई हैं, वो पूरी की पूरी उपलब्धियाँ दया धर्म पालन के लिए ही हैं। इस ज्ञान के माध्यम से हमें क्या करना है ? तो संतों ने लिखा है कि उन-उन स्थानों को जानने की आवश्यकता है, जिन-जिन स्थानों में सूक्ष्म एकेन्द्रियादिक जीव रहते हैं। जब जीवों का परिज्ञान हो जाता है, तब उनको बचाने का उचित प्रयास भी किया जा सकता है। जीवों को जानने के उपरांत यदि दया नहीं आती है, तो उस ज्ञान का कोई उपयोग नहीं वह एक प्रकार से कोरा-थोथा ज्ञान है। वह ज्ञान नहीं माना जाता, जिसके हृदय में थोड़ी भी उदारता नहीं है, जिसके जीवन में अनुकम्पा नहीं है। जिसका जीवन, जिसका शरीर सर्दी में तो कँप जाता है, किन्तु! प्राणियों के कष्टों को देखकर के नहीं कंपता तो उसे लौकिक दृष्टि से भले ही ज्ञानी कहो, किन्तु परमार्थ रूप से वह सच्चा ज्ञानी नहीं है।

पंचेन्द्रिय जीव उसमें तिर्यंच की बात तो बहुत दूर है, ऐसे मनुष्य भी इस बीसवीं शताब्दी में हैं जिन्हें आवश्यक सामग्री भी उपलब्ध नहीं हो पाती । समय पर भोजन नहीं है, रहने को मकान नहीं है शिक्षक नहीं है, समय पर यथायोग्य सामग्री नहीं मिल पाती, यदि मिल भी जाती है तो जीवन ढलता हुआ नजर आता है। शाम तक यदि कुछ राशन मिल भी जाए तो सूरज डूबने को होता है, प्रकाश में खाने के लिए बिजली तक नहीं है। कहाँ जायें? क्या करें? बेचारों के पास दूसरा कोई उपाय भी तो नहीं है, आप लोग रात्रि भोजन का त्याग करते हैं बिल्कुल ठीक है दिन में ही भोजन करते हैं इसके साथ-साथ ऐसे भी लोग देखे जाते हैं जो दिन में भी एक बार भरपेट भोजन नहीं कर पाते उनकी ओर भी तो थोड़ी दृष्टि कीजिए, कौन-सा व्यक्ति ऐसा है जो उन्हें सहयोग देने का कार्य करता हो?

आज इस भारत में सैकड़ों बूचड़खानों का निर्माण हो रहा है, आप सब कुछ जान रहे हैं, देख रहे हैं, कानों से सुन रहे हैं, फिर भी उन पशुओं की करुण पुकार सुनकर आपके हृदय में यह भाव नहीं उठते कि हम इसका विरोध करें। राम-रहीम और महावीर के समय में जिस भारत भूमि पर दया बरसती थी, सभी प्राणियों के लिए अभय था, उसी भारत भूमि पर आज अहिंसा खोजे नहीं मिलती। आज बड़ी-बड़ी मशीनों के सामने रख कर एक-एक दिन में दस-दस लाख....बीस-बीस लाख निरपराध पशु काटे जा रहे हैं। आप बम्बई-कलकत्ता-दिल्ली-मद्रास कहीं भी चले जाइये सर्वत्र हिंसा का ताण्डव नृत्य ही दिखाई देगा, देखने तक की फुरसत (समय) आपको नहीं है। आज इस दुनियाँ में ऐसे कोई दयालु वैज्ञानिक नहीं हैं जो जाकर के इन निरपराध पशुओं की करुण पुकार को

सुन लें! और उनके पीड़ित अस्तित्व को समझ कर, आत्मा की आवाज पहचान कर, इन कुकर्मों को रोकने का प्रयास करें। उन पशुओं की हत्या कर, उनकी चमड़ी, मांस आदि सब कुछ विभाजित कर, पेटी में बन्द करके निर्यात किया जाता है। आपको यह बातें मालूम नहीं पड़ पाती और मालूम भी हो जाये तो आप पैसों के लोभ में आकर, कई अशोभनीय कार्य कर जाते हैं। केवल आप नोट ही देखते हैं Currency...आगे जाकर जब उसका फल मिलेगा तब मालूम पड़ेगा, इस दुष्कार्य का जो व्यक्ति समर्थक है, अनुमोदक है, उस व्यक्ति के लिए नियम से इस हिंसा जनित पाप के फल का यथायोग्य हिस्सा मिलेगा।

छहढाला का पाठ आप रोज करते हैं। ''सुखी रहें सब जीव जगत् के'' यह मेरी भावना भी रोज भायी जाती है। लेकिन फिर भी ये सब क्या हो रहा है, ४० साल भी नहीं हुए हैं गाँधी जी का अवसान हुए और यह स्थिति आ रही है। जिस भारत भूमि पर धर्मायतनों का निर्माण होता था उसी भारत भूमि पर आज धड़ाधड़ सैकड़ों हिंसायतनों का निर्माण हो रहा है। इसमें राष्ट्र का कोई दोष नहीं है, और इस देश में तो प्रजातंत्रात्मक शासन है, प्रजा ही राजा है। आपने ही चुनाव के माध्यम से वोट देकर के उनको उम्मीदवार बनाकर शासक बनाया है, अतः एक प्रकार से आप ही शासक हैं। आपके अंदर यदि इस प्रकार की करुणा जागृत होगी, तो वे कुछ भी नहीं कर सकेंगे। आप लोगों को, Indirect तो मिलता ही रहता।

सुनो! सौन्दर्य प्रसाधन सामग्री आप मुँह माँगे दाम देकर के खरीदते हैं, जीवन का आवश्यक कार्य समझकर हमेशा उपयोग करते रहते हैं उसके माध्यम से आप अन्धाधुंध हिंसा करते हुए, बड़ी प्रसन्नता के साथ अपनी मनोकामना पूरी करते हैं। रात्रि भोजन नहीं करते, अभक्ष्य-भक्षण भी नहीं करते, पानी छानकर पीते हैं, आलू भटा इत्यादि भी नहीं खाते, किन्तु! समय आने पर भालू बनकर सब कुछ खाने जैसी प्रवृत्ति कर जाते हैं, इस नश्वर शरीर की सुन्दरता बढ़ाने के लिए, आज कितने जीवों को मौत के घाट उतारा जा रहा है, दूध देने वाली गायें, भैंसें दिन दहाड़े काटी जा रही हैं, खरगोश, चूहे, मेंढ़क और बेचारे बन्दरों की हत्या दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। आपने कभी सोचा?...समझा कि यह सब क्यों हो रहा है ? ध्यान रखो यह सब आपके अन्दर बैठी हुई वासना की पूर्ति के लिए हो रहा है। इन अनेक प्रकार के पशुओं को सहारा देना तो दूर रहा, उनके पालन-पोषण की बात तो छोड़िये...लेकिन उनके जीवन में इस प्रकार की घटना घटते हुए चुप-चाप देखते रहते हैं, कहाँ गई आपकी दया...कहाँ गया आपका लम्बा-चौड़ा ज्ञान...कहाँ गई आपकी अहिंसा?

आज मनुष्य-मनुष्य के लिए खाने को तैयार है। पशुओं को समाप्त किया जा रहा है, आज मुर्गी पालन केन्द्र खुल रहे हैं ताकि उनसे अधिक से अधिक अण्डे प्राप्त हो सकें। मछलियों का उत्पादन किया जा रहा है, लेकिन दया की उत्पत्ति, अनुकम्पा की उत्पत्ति, धर्म की उत्पत्ति शान्ति के

लिए कोई ऐसी यूनिवर्सिटी, कोई कॉलेज विद्यालय खुलने में नहीं आ रहे हैं, मुझे यह कहते हुए बड़ा कष्ट होता है कि जहाँ पर आप लोगों ने जैन विद्यालय-गुरुकुल खोले थे वहाँ पर आज जैन धर्म का नामोनिशान तक नहीं है जबकि लौकिक शिक्षण का कितना अधिक विकास हो गया है। वहाँ पर साइंस आ गई, कॉमर्स आ गई, अर्थ विज्ञान आ गया किन्तु जीव दया पालन जैसा सरल विषय रंचमात्र भी नहीं रहा है।

नागरिक शास्त्र जिस समय हम छोटे थे, उस समय पढ़ते थे। नागरिक शास्त्र का अर्थ क्या है ? कैसे नागरिक बनें? कैसे दया का पालन करें? कैसे अपनी समाज की सुरक्षा करें। इन सब बातों को नागरिक शास्त्र हमें सिखाता है। उन नागरिक शास्त्र के माध्यम से, हम सही जीवन जीने का प्रयास करें, दूसरे प्राणियों को अपना सहयोग दें। पशुओं की रक्षा करें, क्योंकि! पशुओं का जीवन परतन्त्र है और हमारा जीवन स्वतंत्र है, इस प्रकार के विचार आज समाप्त होते जा रहे है। जहाँ पर पहले चरस चलाया जाता था, वहाँ पर अब पंप आ गया, उसके द्वारा कुँए के कुँए खाली किए जाते हैं। जहाँ पर जमीन के लिए गोबर आदि की खाद बनाई जाती थी, वहाँ पर आज यूरिया, ग्रोमोर आदि खाद आ गया, जो जमीन की उपजाऊ शक्ति को क्षीण करते हैं। कुएँ की बात कह दूँ। चरस चलाने से कुएँ के झरनों को धक्का नहीं लगता किन्तु पंप के चालू करने से कुएँ के सारे स्रोत बंद हो जाते हैं। पंप का पानी जब जमीन पर बहता है तो वह तेजी से रगड़ता हुआ चला जाता है और जो तत्त्व शक्ति ऊपर रहती है वह सब रगड़ खाने से धुल जाती है। जबकि चरस का पानी बिल्कुल डूबता हुआ भीतर.....भीतर घुसता चला जाता है बहता नहीं है। तपी हुई धरती की प्यास पंप का पानी नहीं बुझा सकता क्योंकि उसकी रफ्तार बहुत तेज रहती है जबकि चरस का पानी धीरे-धीरे बहकर धरती के हृदय में प्रवेश कर उसकी तपन को शान्त कर देता है।

जब बालक को माँ का दूध नहीं मिलता तो उसे गाय का अथवा डिब्बे का दूध पिलाया जाता है, किन्तु वह उसे असली दूध के माफिक लाभकारी नहीं होता। वैसे ही जमीन को बनावटी खाद-पानी भी पूर्णतः लाभकारी नहीं होता। जैसे कमजोर शक्ति वाले को ऊँचे दर्जे का इंजेक्शन लगाने से वह उसे सहन नहीं कर सकता उसी प्रकार जमीन में भी एक हद तक सहन करने की शक्ति रहती है। उसमें तेज खाद डालने से एक फसल तो अच्छी आ जाती है किन्तु दूसरी फसल में हानि हो जाती है-वह कहने लगती है कि अब यह विदेशी खाद नहीं चलेगी, अब तो उसी देशी खाद की ही आवश्यकता है। क्योंकि उसकी पूरी की पूरी शक्ति समाप्त हो चुकी है, इस प्रकार जब हम सही तरीके से सोचते हैं तो, ये हानियाँ हमारे द्वारा होती चली जा रही हैं। यह सारा का सारा विनाशक कार्य बौद्धिक क्षेत्र में हुआ, सामाजिक क्षेत्र में हुआ, आर्थिक और शैक्षणिक क्षेत्र में हुआ कोई भी ऐसा क्षेत्र शेष नहीं है, जिसकी हम पूर्व परम्परा से तुलना कर सकें।

आप लोग चुपचाप सब बातों को सुन रहे हैं, मात्र सुन ही नहीं रहे हैं, किन्तु उनकी प्रगति में अपने वित्त का उपयोग भी कर रहे हैं। अपनी संतान को इस प्रकार की शिक्षा देने में अपने को कृतकृत्य मानते हैं, हमारा लड़का M.B.B.S. हो तो ठीक है। जबकि धार्मिक विद्यालय सारे के सारे बंद होते जा रहे हैं और यदि हैं भी तो उनमें एकाध Period लगता है, जिसमें मेरी भावना की एकाध कड़ी बोली जाती है। ''णमोकार मंत्र बोलकर के वन्दे वीरो'' कह देते हैं, बस! धार्मिक अनुष्ठान समाप्त हो गया। न उसके प्रति आस्था है, न कोई आदर है, न धार्मिक संस्कार प्राप्त करने की इच्छा है। बस! एकमात्र Routine (क्रम) सा चलता है, यह कितने दिन तक चलेगा? जो आस्था के बिना, बुद्धि के बिना किया जाता है, वह तो बहुत कम दिन तक चलता है भीतर से उसके प्रति कोई जगह नहीं है, तो वह खोखलापन अल्प समय में ही नष्ट हो जाने वाला है।

नवनीत और छाछ ये दो तत्त्व हैं। जिसमें सारभूत तत्त्व को छोड़कर छाछ की मटकी की ओर हमारी दृष्टि जा रही है। यदि उसमें छाछ है तो फिर भी ठीक है, लेकिन! उसमें फटा हुआ दूध है, जो न तो इधर है, और न उधर है। वर्तमान में यही दशा भारत की हो रही है। शोध शील होने वाले कुछ राष्ट्रों ने इसके ऊपर दृष्टिपात किया और कुछ खोजने की चेष्टा की है, लेकिन उन्होंने सोचा कि यह भी भौतिकता की चकाचौंध में पागल हो रहा है। अपनी मूल संस्कृति को छोड़कर पाश्चात्य संस्कृति की ओर जा रहा है। भारतीय नागरिक की यह दशा त्रैकालिक बन गई है। ज्ञान धर्म के लिये है, और होना भी चाहिए क्योंकि धर्म आत्मा को उन्नति की ओर ले जाने वाला है, यदि वह ज्ञान दया धर्म के साथ Connected (संबंधित) होकर दयामय हो जाता है तो वह ज्ञान हमारे लिए हितकारक सिद्ध होगा। वे आँखें भी हमारे लिए बहुत प्रिय मानी जायेंगी जिसमें करुणा, दया, अनुकम्पा के दर्शन होते हैं, यदि नहीं तो यह मानव जीवन बिल्कुल नीरस प्रतीत होगा।

आज किसी के पास न तो सहनशीलता है, न त्याग है, न धर्म है, न वात्सल्य है और न ही सह-अस्तित्व भाव है। कुछ भी नहीं है। केवल धक्का-मुक्की खाये जा रहा है। भौतिकता से ऊब कर शांति के लिए अब बड़े-बड़े वैज्ञानिकों को भी धर्म की ओर मुड़ने को मजबूर होना पड़ रहा है, मुड़ने की भी शक्ति नहीं है, इसलिए उनका माथा ही घूम रहा है। कैसे जियें? क्या, कैसा व्यवहार करें? आदि प्रश्नों के समाधान मिलना दूभर हो रहा है। आज वित्त का अर्जन तो बहुत हो रहा है लेकिन वित्त का उपयोग कैसे करें? इसके लिए उनका दिमाग नहीं चल रहा है। यदि अनावश्यक उत्पादन किया जाता है, तो उनका दिमाग नियम से खराब होगा।

हम जब बहुत छोटे थे। उस समय की बात है। रसोई परोसने वाले को हमने कहा कि रसोई दो बार परोसने की अपेक्षा एक बार ही परोसो। तो वह बोला कि हम तीन बार परोस देंगे लेकिन एक बार में नहीं परोसेंगे, यदि हम एक ही बार में परोस देंगे तो तुम आधी खाओगे और आधी छोड़

दोगे। परोसने वाले पूरी की पूरी रसोई कभी नहीं दिखाते। उसके ऊपर कपड़ा ढका रहता है, उसी में धीरे-धीरे सामान निकालकर देते हैं, तृप्ति हो जाती है। एक साथ सब कुछ परोस देने से मन कचोट जाता है और खाने की जो भूख है वह समाप्त हो जाती है।

उसी प्रकार आज भी, वही स्थिति है। बहुत उत्पादन होने से दिमाग खराब हो रहा है। एक समय वह भी था, जब धन का संग्रह एक दूसरे के उपकार के लिए होता था, धन का उपयोग धार्मिक अनुष्ठानों में होता था। जो धन दूसरों का हित करने वाला था वही धन आज राग-द्वेष का कारण बना है। मैं किसी को क्यों दूँ? इस प्रकार की भावना मन में आ गई है। आज अनीति-अन्यायपूर्वक धन का संग्रह अधिक मात्रा में हो रहा है, किन्तु उसका उपयोग कैसे करें? कहाँ करें? इसके लिए उनकी बुद्धि नहीं चल रही है, और उन्हें सोचने की फुरसत भी नहीं है। मात्र धन का अर्जन करना ही बुद्धिमानी नहीं है, बल्कि संग्रहीत धन का सही-सही उपयोग करना बुद्धिमानी है। जैनदर्शन कहता है कि उतना उत्पादन करो, जितना तुम्हें आवश्यक है, यदि कुछ कम ही करो तो ठीक है, जिससे कुछ समय बचेगा उसमें परोपकार की बुद्धि जाग्रत होगी। धन की सुरक्षा की अपेक्षा जहाँ पर आवश्यक है वहाँ पर दे दो तो सब कुछ ठीक हो जाएगा।

बहुत दिन पहले की बात है, राज्य व्यवस्था और राजा का शासन कैसा हो? इस बारे में मैंने एक पाठ पड़ा था। उस राजा के राज्य में प्रजा की स्थिति बहुत दयनीय थी। राजा के पास कई बार प्रजा की शिकायतें आई, राजा ने सोचा कि यहाँ पर क्या कमी है ? कमी को मालूम कर उस कमी को दूर करने के लिए सख्त शासन प्रारम्भ कर दिया। और कह दिया कि हमारे राज्य में कोई भी व्यक्ति भूखा सोयेगा तो उसे दूसरे दिन दण्ड दिया जाएगा। कोई भूखा तो नहीं है यह पता लगाने के लिए उसने एक घंटा लगवाया था। जिसकी बहुत दूर-दूर तक आवाज आती थी, एक-दो दिन तक कुछ नहीं हुआ तीसरे दिन घंटा क्यों बजा? वहाँ और कोई नहीं था, एक घोड़ा था। और वह घोड़ा घंटे को बजा रहा था। वहाँ पर घास का पूरा गट्ठा अटका हुआ था उसको खाने के लिए वह सिर हिला रहा था। उसके साथ-साथ घंटा बज रहा था, सिपाही ने सोचा कि यह घोड़ा नियम से भूखा है, इसलिए इस घंटे के ऊपर लगी हुई जो घास है, वह खाना चाह रहा है। उसके मालिक को बुलाया और कहा-

बोलो कितने दिन से भूखा था?

अन्नदाता! भूखा तो नहीं रखा, घोड़े के मालिक ने डरते-डरते कहा।

फिर ऐसा क्यों हुआ? राजा ने पुनः प्रश्न किया।

अन्नदाता! इसके माध्यम से मैं जो कुछ भी कमाता हूँ उसमें कमी आ गई, जब मेरा ही पेट

एक बार भरने लगा तो मैंने सोचा कि अब इसे भी एक ही बार दो।

तुम्हारा पेट एक ही बार क्यों भरने लगा? राजा ने पूछा।

महाराज! जो किराया देते थे, उसमें लोग कटौती करने लगे और कटौती करने से हमारा पेट एक ही बार भरने लगा। घोड़ा तो वही है और कमाने वाला मात्र मैं ही हूँ तो उसका भोजन हमने एक बार कर दिया। वह तो जानवर है, मैंने उसे पानी तो खूब पिलाया पर घास की पूर्ति नहीं कर सका। यदि करता हूँ तो मुझे भूखा रहना पड़ेगा, यही स्थिति यदि कुछ दिन और रही तो वह जल्दी ही मर जाएगा, क्योंकि वह अब इतना बोझ वहन तो कर नहीं सकता।

इतना सुनने के उपरांत राजा ने कहा कि ओ हो! हम पगडंडी तो बहुत जल्दी अपना लेते हैं और राज मार्ग से स्खलित हो जाते हैं, क्योंकि हमारी वृत्ति कंजूसपने की ओर जा रही है। इसका अर्थ यही है कि मनुष्य-मनुष्य के बीच जो व्यवहार था उसमें ही जब कमी आ रही है, तो फिर पशुओं के व्यवहार की तो बात ही अलग है।

उसी दिन राजा ने आज्ञा दी कि जो जितना काम करता है उसे उसके अनुरूप वेतन मिलेगा। इसको बोलते हैं शासन की व्यवस्था। आज भी शासन है, पहले भी शासन था और आगे भी रहेगा, किन्तु कितना फर्क? जमीन आसमान का! धर्म वह है जो जीव को दुख के स्थान से उठाकर सुख के स्थान पर लाकर रख देता है और जो दुख के गर्त में ढकेल देता है वह है अधर्म। वह अधर्म आपकी दृष्टि में हो सकता है, आपके आचरण में भी हो सकता है। वृत्ति, ज्ञान, दर्शन इन तीनों के माध्यम से सुख मिलता है और दुख भी मिल सकता है। यदि धर्म से विमुख हो जाते हैं तो हम इन तीनों से दुख का अनुभव करते हैं और यदि हम धर्म के सन्मुख हो जाते हैं, तो हमारा जीवन सुखमय बन जाता है।

गाँधीजी के माध्यम से भारत को स्वतंत्रता मिली। उनका उद्देश्य केवल भारत को ही स्वतंत्रता दिलाने का नहीं था, किन्तु! विश्व भी स्वतंत्रता का अनुभव करे, विश्व भी शान्ति का अनुभव करे । सब संतों का धर्मात्मा पुरुषों का उद्देश्य यही होता है कि जगत के सभी जीव सुख-शान्ति का अनुभव करें। कुछ लोग आकर के कहते हैं कि महाराज! कुछ प्रवचन, उपदेश ऐसे दिया करो जिससे गायें कटना बन्द हो जायें और बकरे कटें, ऐं...! और बकरे कटना बन्द हो जाए और अण्डों की उत्पत्ति शुरू हो जाए...नहीं यह गलत है, एक साथ सभी जीवों के प्रति अभय देने की भावना धर्मात्मा के अन्दर होनी चाहिए।

वे भी संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव हैं, उनके भी ज्ञान की गरिमा है, उनके आचरण की सीमा है, उनकी दृष्टि भी समीचीन होती है। जीव विज्ञान को पढ़ने से ऐसा ज्ञान हो जाता है कि उनके अन्दर ऐसा ज्ञान, ऐसा चारित्र भरा हुआ है। ऐसी उन जीवों की आस्था रहती है कि आप लोगों को तो

प्रशिक्षण देना पड़ता है, किन्तु उनको मात्र इशारा काफी है। देखकर, वे ऐसा जान सकते हैं, पहिचान सकते हैं, आप यहाँ बैठे सुन रहे हैं, लेकिन आप ही मात्र श्रोता हैं ऐसा नहीं है। पेड़ के ऊपर बैठी चिड़ियाँ भी सुन सकती हैं और वे सब प्राणी अपने जीवन को धर्ममय बना सकते हैं। पुराणों के अन्दर ऐसी कथाओं की भरमार है। इन कथाओं को पढ़कर ऐसा लगता है कि हम लोगों को अल्प-समय में बहुत उन्नति कर लेना चाहिए लेकिन करते नहीं हैं। उसका कारण यही है कि हम लोगों का जीवन किसके ऊपर निर्धारित है इसका थोड़ा भी हम विचार नहीं करते। आपका समय हो गया है, सावधान हो जाइये! आपको अभी आगे यात्रा और करनी है।

आज आप लोग यह संकल्प कर लें कि नये कपड़े खरीदने से पहले पुराने कपड़े कितने हैं, इसका हिसाब लगा लें और वे फटे हैं कि नहीं? यह देखकर ही बाद में खरीदें। यदि दया आ जाए तो पुराने कपड़े जिनके पास कपड़े नहीं हैं उनके लिए दे दें।

इस युग में रहने वाले गाँधीजी ने अपने जीवन को "Simple living and high thinking" (सादा जीवन-उच्च विचार) के माध्यम से उन्नत बनाया था। वे सदा सादगी से रहते थे। शरीरिक शक्ति कम थी लेकिन आत्मिक शक्ति, धर्म का सम्बल अधिक था। उनके अनुरूप जीवन को बनाने के लिए आप लोग यह संकल्प कर लें जितनी सामग्री आवश्यक है, उतनी ही रखें, उससे अधिक नहीं इस प्रकार परिमाण करने से आप अपव्यय से बच सकते हैं। सर्वप्रथम व्यय से नहीं बचा जाता किन्तु अपव्यय से बचा जाता है। अपव्यय से बचना ही अपने जीवन को उन्नत बनाना है। आप लोग सोचते नहीं हैं कि कितना पैसा अनर्थ में खर्च हो जाता है ? खरीदने के लिए तो आप चले जाते हो, खरीद लेते हो लेकिन दूसरे दिन उसका महत्त्व कम हो जाता है। ऐसा क्यों होता है ? इसलिए होता है कि उसकी उपयोगिता नहीं थी और आपने खरीद लिया। वह सबसे बड़ा पाप है, जैनाचार्यों ने इसे अनर्थदण्ड कहा है, जो जीवों को दण्ड के समान पीड़ा पहुँचाता है उसे अनर्थदण्ड कहते हैं।

अधिक से अधिक पाप अनर्थदण्ड के माध्यम से होता है। आप लोग समय का मूल्यांकन करते हुए जीवन को उन्नत बनाने का प्रयास करें। समय सबसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण धन है। आत्म तत्त्व को पाने के लिए समय का मूल्यांकन करें और अपव्यय से बचने का प्रयास करें तभी देश की, संस्कृति की सुरक्षा संभव है।

❑ ❑ ❑

धीवर की धी

जिसने रागद्वेष कामादिक, जीते सब जग जान लिया,
सब जीवों को मोक्षमार्ग का, निस्पृह हो उपदेश दिया।
बुद्ध वीर जिन हरि हर ब्रह्मा, या उसको स्वाधीन कहो,
भक्ति भाव से प्रेरित हो यह, चित्त उसी में लीन रहो॥ मेरी भावना॥

धर्म को हम देखना चाहे तो वह भावपरक है, न वचनों में है, न काय की चेष्टा में, न ही और किसी जमीन-जायजाद में। ये उसी भाव की पूर्ति के लिए माध्यम बनाए जा सकते हैं, जिसके माध्यम से संसार का कार्यक्रम चलता रहता है। भाव के माध्यम से हम एक-दूसरे को पास-पास देख सकते हैं। तन से, धन से और किसी वस्तुओं के माध्यम से भले ही दूसरे को हम, अपने पास देख सकते हैं लेकिन भावों की अपेक्षा से वह बहुत दूर हो सकता है। अतः धर्म के क्षेत्र में भावों की अपेक्षा से दूरी मिटना अनिवार्य है और धर्म वह है जो हमें सुखी बना दे, शान्ति दिला दे, हमारे भीतर वात्सल्यभाव उमड़ जाये।

तन के कारण, धन के कारण और किसी अन्य वस्तु के कारण संसार में रहने वाले व्यक्तियों में भेद रेखा खींच सकते हैं। उनमें भेद देख सकते हैं लेकिन वह सब इन अपेक्षाओं की अपेक्षा से एक ही डोरी से बंध जाते हैं। कोई तन की अपेक्षा, कोई धन की अपेक्षा, कोई जमीन-जायदाद की अपेक्षा, कोई बल की अपेक्षा भिन्न माना जाता है किन्तु यह कोई व्यक्तित्व को भिन्न रखने के लिए कारण नहीं है। वह व्यक्ति जो प्रभु के रूप में स्वीकृत है, उसमें राग-द्वेष, अहंकार-ममकार आदि विकार नहीं पाये जाते। वही हमारे लिए ईश्वर है, वह ही हमारे लिए आराध्य है, वही हमारे लिए सुख का कारण है, उन्हीं की शरण में हमें जाना चाहिए।

जैनधर्म कोई जातिपरक धर्म नहीं है। जैनधर्म उस बहती गंगा के समान है, जिसमें कोई भी व्यक्ति स्नान कर सकता है और अपने पापों को मिटा सकता है। उस बहती गंगा में अपने जो कुछ भी कषायभाव हैं, उनको फेंक सकता है और अपने हृदय को, मन को और तन को भी स्वच्छ-साफ कर सकता है। जैनधर्म का आधार लेने के उपरान्त भी जो व्यक्ति केवल अहंकार-ममकार को पुष्ट बनाता चला जाता है वह अपने जीवन काल में कभी भी धर्म का स्वाद नहीं ले सकता। धर्म का समार्जन कोई भी व्यक्ति यहाँ तक कि तिर्यञ्च, पशु-पक्षी भी कर सकता है। उज्ज्वल-भावधारा का नाम धर्म है। जैनधर्म कषायों को जीतने के लिए कहता है। जैनधर्म शारीरिक स्वच्छता को नहीं मानता किन्तु वह भीतरी स्वच्छता पर अधिक बल देता है क्योंकि धर्म को अपनाने का मुख्य उद्देश्य है कि-मनोमालिन्य समाप्त होना चाहिए, इसी में धर्म का सार समाहित है। ऐसा करने वाला हरि भी

हो सकता है, शंकर भी हो सकता है, शिव भी हो सकता है, बुद्ध भी हो सकता है, महावीर भी हो सकता है। जिसने रागद्वेष को जीत लिया है, उनके लिए हमारा बार-बार नमस्कार है। यह इसलिए कहा जा रहा है या कहना आवश्यक हो गया है कि हम बाहरी आडम्बरों को कुछ कम कर लें। हमारे भीतर वह बात है या नहीं? यह देखने की पूरी कोशिश करो, कि हमारे भीतर कितना रस, धर्म का, आया है। जो कोई भगवान हुए और आगे होंगे उनका यह कहना है कि जीवन इसी का नाम है। दया का अभाव हो जाता है तो पाप का मूल अभिमान आ जाता है। अभिमान के कारण कौन नरक गया? दया के कारण कौन स्वर्ग से आया? अथवा प्रभु बना, यह आप लोगों को ज्ञात अवश्य होगा। राम और रावण। रावण के पास भी कोई कमी नहीं, राम के पास भी नहीं। किन्तु रावण के पास एक ही कमी, जिसका नाम धन नहीं, धर्म है और राम के पास भले ही धन कम हो फिर भी धर्म इतना अधिक था कि उनका नाम आज दुनिया लेना चाहती है, रावण का नाम लेना नहीं चाहती। कारण यह है कि वे आदर्श माने जाते हैं, उनका जीवन हमारे जीवन में उतर जाए। अतः धन की रक्षा नहीं, तन की रक्षा नहीं और किसी वस्तु की रक्षा नहीं, किन्तु मात्र धर्म की रक्षा करना है।

तुलसी दया न छोड़िये, जब तक घट में प्राण।

कब तक ? जब तक घट में प्राण। वही तो धर्म है। यदि धर्म निकल जाएगा तो वह प्राण नहीं माना जाएगा। वह तो केवल खोखला माना जाएगा। धर्म से रहित, दया से रहित, परोपकार से रहित, जो जीवन है वह जीवन, जीवन क्या? **मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति**: मनुष्य के रूप में पशु है। वह मनुष्य के रूप में एक प्रकार से गाय-भैंस जैसे हैं। उनके अनुसार पृथ्वी भी भार का अनुभव करती है। धिक्कार है उस भारमय जीवन को, जिस जीवन में न दया हो, न परोपकार हो, न धर्म हो। प्रभु के प्रति कुछ भाव समर्पण करने के लिए नहीं हैं वह जीवन, जीवन नहीं है, वह केवल भारमय जीवन हो जाता है और हमारा यह जीवन पृथ्वी के लिए भार बन जाए, अड़ोस-पड़ोस हमारे जीवन के कारण कंटक का रूप धारण कर लें। उसके लिए नीतिकार कहते हैं-मर जाना अच्छा है, पर धर्म बिना जीना अच्छा नहीं है क्योंकि धर्म के अभाव में जीवन नहीं होता, केवल जीवन का अभिनय होता है, नाटक होता है।

धर्म को समझो बन्धुओ! कि दया ही हम लोगों के लिए सबसे महान् धर्म माना जाता है और यदि दया हमारे जीवन से निकल गई तो हमारा जीवन ही निकल गया, यह ध्यान रखना। केवल आयु की पूर्ति की जा रही है। न ही उसका स्वर्ग लोक में कोई स्वागत होने वाला है, न ही अन्यत्र विशेष उच्च स्थान मिलने वाला है, बल्कि उसके लिए तो एक बहिष्कृत जैसा स्थान मिलने वाला है, जिसको अधोगति बोलते हैं। वहाँ का दृश्य आपके सामने आगे आ रहा है।

धर्म के बारे में एक सन्त जी ने अपने प्रवचनों में कहा कि धर्म के प्रति समाज का, युग का कैसा, क्या लगाव है ? कुछ व्यक्ति गौधर्म से विमुख होकर जीवन जी रहे हैं। उनके लिए सहज रूप से कुछ धर्म का व्याख्यान किया, प्रवचन दिया। बहुत सारे लोगों ने सन्तजी के प्रवचन को समझा कि वस्तुतः ऐसा नहीं होना चाहिए और अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार परोपकार के लिए, दया के लिए, दान के लिए, सेवा के लिए आदि-आदि जो एक जीव को दूसरे जीव से मिलाते हैं, उस दयामय धर्म को पालना चाहिए। ऐसे दयामय धर्म के माध्यम से उस अलगाव को दूर करने के लिए,उस दूरी को मिटाने के लिए, उस भेद रेखा को समाप्त करने के लिए प्रयास करना चाहिए। ऐसी बातें करने लगे अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार उस धर्म का पालन करने का संकल्प लेकर सब चले जाते हैं। एक व्यक्ति दूर खड़ा होकर सुन रहा था। उसका भी भाव धर्म के प्रति बहुत पास आने को हुआ, लेकिन वह कहता है कि मैं पास कैसे आ सकता हूँ? मेरे जीवन में तो दया का अंकुर भी नहीं फूटा है और दयामय जीवन अपना लेता हूँ तो मेरा जीवन समाप्त हो जाएगा। यह धर्म-कर्म हमारे भाग्य में नहीं लिखा, इस तरह वह पश्चाताप कर रहा है। लेकिन उस पश्चाताप का भी परिणाम ऐसा निकलता है कि सन्त जी इस दृश्य को देखकर जान लेते हैं कि इसके मन में क्या भाव उमड़ रहे हैं ? आरोहण-अवरोहण क्या हो रहा है ? उन्होंने उसको बुलाया-आ जाओ इधर, वह घबड़ा गया। सन्त जी मुझे बुलाते हैं, नहीं जाता हूँ तो गड़बड़, जाता हूँ तो गड़बड़, क्या करें ? सन्त जी के जाल में तो आ ही गये। मैं तुम्हारी घबराहट को जान रहा हूँ, घबराओ नहीं आप। वह पास आ गया। अब अपनी बात कह सकते हो। देखो सन्तजी, हम आए हैं। आपके प्रवचन बहुत सुन्दर हैं, हम लोगों का भाग्य था। जिन्होंने सुना उन्होंने अपने ढंग से धर्म पालन करने के लिए संकल्प लिए लेकिन मैं गुरु से कह रहा हूँ और दिल से कह रहा हूँ कि मैं किसी भी बात को अंगीकार नहीं कर सकता, क्योंकि आपका धर्म बहुत मँहगा है। हमें चाहिए सस्ता। देखो बाजार में सभी प्रकार के ग्राहक आते हैं। सारे के सारे श्रीमान् आते हैं, ऐसी तो बात नहीं है, ऐसे भी होते हैं जिनके पास नोट भी नहीं और खाकर चले जाते हैं। उनके लिए भी बाजार होना चाहिए। सन्त जी कहते हैं भइया! हम क्या कहें, तुम्हारे पास कुछ ना कुछ तो होगा? पर हमारे पास तो कुछ भी नहीं है। कुछ ऐसी चीज मैं देता हूँ उसको ग्रहण कर लेना। बहुत अच्छी बात है। मैं अपनी तरफ से कह देता हूँ, मैं मांस का त्याग नहीं कर सकता, झूठ बोलना छोड़ नहीं सकता, चोरी किए बिना मेरा जीवन चल नहीं सकता और जो कुछ भी संकल्प की बातें हैं वह सारी की सारी मैं कर नहीं सकता। फिर भी इसके उपरान्त आपके पास ऐसी औषधि हो तो दीजिए मैं स्वीकार कर लूँगा। आज तक इस दुकान पर आया ग्राहक लौटा नहीं, यह ध्यान रखना, यह विश्वास है दुकान का। सन्त जी कहते हैं कि तुम मांस का त्याग नहीं कर सकते? नहीं, हमारी आजीविका इसी से चालू होती है। अच्छी बात है, आप यह नहीं

कर सकते ? कोई बात नहीं, आपका काम क्या है ? मैं तो मछली मार, धीवर हूँ। मांस का त्याग तो नहीं कर सकते, क्यों नहीं कर सकते? वह मेरा सब कुछ है लेकिन तुम्हें त्याग करना है। कैसे त्याग करना? आप ही करा दो, जीवन को समाप्त करना है तो आप करा दो, दूसरे दिन उपवास हो जायेगा। तुम प्रतिदिन जाकर के जाल फेंकते हो तालाब-नदी में तो उसमें जो पहली मछली आती है उसको छोड़कर फिर इसके उपरान्त जो कोई आ जाए उसको पकड़ लेना, यह तो बन जाएगा? यह तो बहुत आसानी की बात है, देखो आपने संकल्प लिया है, अच्छे से निभाना। यह संकल्प तो ब्रह्मा भी आ जाए तो नहीं छूट सकता क्योंकि इसमें कुछ है नहीं हमारा। एक दो मछली आ जाये तो उसको छोड़ देना यह बहुत अच्छी बात है, सस्ता भी है, देखो संकल्प है। हाँ! जब तक घट में प्राण तब तक आपको मैं याद करता रहूँगा कि हमने भी कुछ संकल्प लिया था, दूसरे दिन वह जाल लेकर नदी पर गया, उसने जाल फेंक दिया, एक मछली आई, बड़ी भारी थी वह, उसको पकड़ा और उसमें कुछ निशान कर छोड़ने के उपरान्त दुबारा जाल फेंक दिया, थोड़ी देर बाद वह देखता है मछली तो आई है लेकिन जिसकी पूँछ में चिह्न था वही आई है, उसको पुनः छोड़ दिया क्योंकि पहली मछली को नहीं पकड़ना है, अगली बार जाल फिर फेंका, तीसरी बार भी फेंका लेकिन वही मछली आई, फिर उस स्थान को छोड़ दिया, आधा किलोमीटर दूर जाकर के फिर फेंक दिया लेकिन वहीं मछली उस दिन आई। चौथी बार भी वही आई, इस ओर छोड़ कर उस ओर गया, फिर भी वही मछली आई, महाराज जी ने कोई जादू तो नहीं किया, जादू नहीं संकल्प तो संकल्प है, पूरा दिन चला गया, अब दिन ही समाप्त हो गया तो कैसे करें? वह शाम को खाली हाथ लौटकर आया, क्योंकि गृहमन्त्री को हाजिरी देनी आवश्यक थी। गृहमन्त्री; आप समझते ही हैं कौन है ? कमा करके ले आयेंगे तो कुछ करेंगे लेकिन ऐसी स्थिति हो गई कि आने से पूर्व ही दरवाजा बंद कर दिया। अन्दर से आवाज आयी जहाँ से आए, उधर ही चले जाओ, दरवाजा बंद ही रहा।

एक दिन भी नहीं हुआ धर्म को धारण किये और दूसरे दिन ही घर से बाहर निकलना पड़ा। फिर भी संकल्प तो संकल्प, वह बाहर रह जाता है, सर्दी का समय, सांय-सांय करती हवा, किन्तु उसको ओढ़ने को कुछ भी नहीं, रात्रि के समय कहीं जाना अच्छा न समझ वहीं विश्राम करने की कोशिश करता है, जैसे-तैसे कुछ समय के लिए नींद आती है, कि तभी एक सर्प अपने बिल को छोड़कर बाहर आता है और उसे काट देता है, विष के आधिक्य से वह मरण को प्राप्त हो जाता है। किन्तु उसकी गति कहाँ हुई, मालूम है आपको? वह एक महान् धार्मिक खानदान में जाकर जन्म लेता है, कितना क्या त्याग किया था और उसका फल क्या मिला?

दया धर्म का पालन करने के लिए अपनी रोजी रोटी में से पहले की एक मछली त्याग का यह परिणाम। मात्र पहली मछली को छोड़ देना, जिसको आप बोलते हैं बोनी। वह उसकी दुकान

थी। पहली मछली का उसने त्याग किया। आप लोगों के पास भी दुकान है, आप लोग क्या करते हैं, पहले ग्राहक को छोड़ देते हैं ? नहीं, पहले ग्राहक से तो नोट आते ही रख देते हैं। उसने कितना बड़ा काम किया कि पहले ग्राहक को छोड़ दिया, जिसके ऊपर आप तिलक लगा करके रख देते हैं। यहाँ पहले ग्राहक का ही क्या हुआ भगवान ?

सोचो, विचार करो, आर्थिक विकास के लिए अर्थ का अवलम्बन लेना ठीक है, लेकिन जीवन ही बन गया अर्थ के लिए। जीवन चलाने के लिए भोजन तो ठीक है, लेकिन भोजन के लिए ही जीवन बन गया। यह तो गड़बड़ है। अपनी रक्षा तो ठीक है, लेकिन अपनी रक्षा के लिए दुनियाँ भी मिट जाए इससे कोई मतलब नहीं। यह कहाँ का धर्म है ? आज विश्व का प्रत्येक सदस्य, प्रत्येक राष्ट्र का नागरिक अपना देश, अपना नगर, अपना मोहल्ला, अपना घर कहता है, लेकिन होता क्या है भाई-भाई भी छूट जाते हैं और बहिन भी छूट जाती हैं। पति भी छूट जाते हैं। धर्म के अभाव में व्यक्ति केवल स्वार्थ परायण हो जाता है।

अपने जीवन के बारे में, अपनी सुख-सुविधाओं के बारे में कोई भी कमी आ जाती है तो वह रोष खा जाता है। रोष खाना उसका जीवन बन गया है। ऐसा रोष कि उसे यह होश नहीं रहता कि मेरा जीवन किसके ऊपर और कैसे चलता आया है। माँ-बाप-दादाओं ने मेरे लिए क्या-क्या किया? अड़ोस-पड़ोस का कितना उपकार मेरे ऊपर है ? छोटे-छोटे पेड़-पौधों का भी मेरे ऊपर कितना प्रभाव है, आप जानते हैं ?

ऊपर कपड़ा तन गया, नीचे दरी बिछ गई धरती पर फिर बाद में आकर आप बैठ गए, लेकिन क्या-क्या हुआ मालूम है आपको? इसी प्रकार आपके जीवन को, पार्थिव शरीर को चलाने के लिए कितने-कितने जीव सहयोग देते हैं। वायु आपको कुछ समय के लिए नहीं मिले तो क्या होता है ? प्रदूषण फैल जाएगा। सूर्य प्रकाश आपको नहीं मिलेगा तो आपके शरीर में अपने आप ही खून का पानी होने लग जाएगा। सूर्य प्रकाश के माध्यम से आपके खून की गति होती रहती है। वह रिफाइन होता रहता है। आप भोजन लेते हैं। कई प्रकार के साग-सब्जी खा लेते हैं। वह नहीं हो तो आपको यह जीवन नीरस लगता है। आखिर आप लोगों के जीवन में सहयोग की कितनी गिनती है, ज्ञात है? और उन सब लोगों के जीवन के लिए आप लोगों का जीवन कहाँ तक उपयोगी सिद्ध होता है ? यह कभी देखा, कभी जाना, कभी पहचाना, कभी सोचा, कोशिश तो कम से कम करते। लेकिन इतना स्वार्थ, इतना अपनत्व केवल अपने से भी बढ़ नहीं सका, इसी का नाम कलयुग है। और उसका नाम है सतयुग, जहाँ पर के लिए सब कुछ समर्पण करके आगे चला जाता है। वहाँ पहले जीवन दान की बात थी, पहले दान, फिर बाद में खान। फिर वह भीतर-भीतर कहता है कि यह जीवन कब समाप्त होगा मेरा? मैं हिंसा के माध्यम से चल रहा हूँ, ऐसा कोई जीवन मुझे मिले

ताकि मैं हिंसा से बच सकूँ, मैं चोरी से बच सकूँ, मैं झूठ से बच सकूँ। यह जीवन अहिंसामय कब बन सकेगा? यदि इस प्रकार के भाव प्रत्येक मनुष्य के जीवन में आते हैं तो इसी काल का नाम सतयुग है। सतयुग में सत्य का, अहिंसा का वरदान होता है और इतनी वृद्धि होती है, विकास हो जाता है अहिंसा का कि बाद में हिंसा तो अपने आप ही शान्त हो जाती है।

आज हिंसा का तूफान-ताण्डव नृत्य चल रहा है। रावण जैसी घटनायें मामूली बात हो गई हैं। आज घर-घर में रावण हो गए हैं। राम की प्रतिमा मिल सकती है, मन्दिर मिल सकते हैं लेकिन घर जितने हैं सब रावण के ही हैं। मन्दिरों की स्थापना कर दी, उसके ऊपर ध्वजा चढ़ा दी और शिखर के ऊपर कलश चढ़ा दिया। राधेश्याम मन्दिर, राम मन्दिर, कृष्ण जी का मन्दिर, महावीर का मन्दिर बन गया। आप लिखते चले जाइये, प्रतिमा की पूजा करते चले जाइये, जबकि प्रत्येक आत्मा में जो आत्मराम बैठा है वही राम का साक्षात् रूप है, उसको देखकर यदि घृणा करते हो, उसकी रक्षा के बारे में, उसके ऊपर दया करने के बारे में सोच भी नहीं, विचार भी नहीं तो वह राम की प्रतिमा कभी आपसे प्रसन्न नहीं हो सकेगी। वह जीवन (धीवर का) प्रतीक है।

इस प्रतीक के माध्यम से जो राम का जीवन था उसको कुछ महसूस करना चाहिए। लेकिन वह घटना तभी हमारे जीवन में घट सकती है, जब प्रत्येक व्यक्ति के जीवन को पहचानने का प्रयास करेंगे। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को समाप्त करने में अपने विशेष ज्ञान का योगदान दे रहा है, खोज-छानबीन कर रहा है। एक-एक राष्ट्र कवल बन जायेगा तो यहाँ पर रहेगा कौन? यह दिव्यध्वनि बार-बार सुनने में आ जाती हैं-तीसरा विश्वयुद्ध यदि होगा तो चौथे विश्वयुद्ध के लिए कोई यन्त्र नहीं बचेंगे, वह केवल पाषाण के माध्यम से होगा अर्थात् पाषाण को आयुध बना करके होगा। इसे पाषाण युग बोलते हैं, आदि युग बोलते हैं, तीर-कमान वाली बात नहीं, ऐसी स्थिति क्यों आयेगी? इसलिए आयेगी कि इतना नरसंहार हो जायेगा कि धर्म का नामोनिशान तक नहीं रहेगा, लेकिन धर्म का अवतार यदि हो जाता है तो सब कुछ बच सकता है, लेकिन बचना असंभव-सा हो रहा है, क्योंकि धर्म का स्थान, धन ने पा लिया है और ऐसा अस्तित्व जमा लिया, कि जैसे धर्म का कोई अस्तित्व बचा ही नहीं। आज धन सिर पर है अर्थात् धन सब कुछ है लेकिन धर्म के लिए जमीन तक खाली नहीं, स्थिति यह हो गई कि जो मूल्यवान है उसका अवमूल्यन हो गया और जिसका कोई मूल्य नहीं था उसको हमने सिर पर रख लिया, धन के लिए आज सब कुछ किया जा सकता है, तन की रक्षा के लिए आज सब कुछ किया जा सकता है, नरसंहार हो जाए कोई बात नहीं, लेकिन ध्यान रखो तब भी हमारा जीवन सुरक्षित नहीं है।

धीवर देवलोक में गया, दया की यही तो विशेषता है, ऐसी दया आपको भी अपनानी चाहिए। महावीर ने और कोई सन्देश नहीं भेजा, राम का जीवन और कुछ नहीं था, हम लोगों के

लिए उपदेश दिया है राम ने महावीर ने और युग के आदि में वृषभनाथ ने, दया को ही एक मुख्य स्थान माना उन्होंने। दया की पूर्ति के लिए अहिंसा और सत्य को आवश्यक माना। चोरी का त्याग भी आवश्यक कहा, परिग्रह/लोभवृत्ति भी उसी के समाप्त हो सकती है जिसके घट में दया विद्यमान रहती है।

रागद्वेष जीतना महावीर भगवान् की अहिंसा धर्म का पालन करना है। जो राग नहीं करेगा, द्वेष भी नहीं करेगा, वह निश्चित रूप से अहिंसा धर्म का पालन कर रहा होगा। कैसे होगा? कुछ पदार्थों की अपेक्षा से राग होता है, कुछ से द्वेष। यदि किसी की आवश्यकता नहीं पड़ेगी तो वह रागद्वेष कैसे कर सकता है ? रागद्वेष नहीं करेगा तो दूसरे के पदार्थों को उठा भी नहीं सकेगा, उसी का परिणाम वह हमेशा आपको आदर्श के रूप से देखता चला जाएगा। इस प्रकार जीवन हम लोगों का स्वयं अपने से बनता है निश्चत रूप से युग कोई भी हो स्वर्ग उतर कर धरती पर आ जाता है अगर हमारा जीवन दया से भरपूर हो तो।

यह ध्यान रखना कि हमेशा-हमेशा धरती से स्वर्ग का निर्माण होता है, स्वर्ग कोई लोक नहीं है जहाँ कि लोग रहते हों। यहाँ के ही लोग स्वर्ग चले जाते हैं, आप बोलते हैं स्वर्गवास हो गया। वह कहाँ चला गया? स्वर्गलोक चला गया। क्या हो गया? दिवंगत हो गए, कोई ऐसा नहीं कहता नरकगत हो गए। यहाँ से ही स्वर्ग का निर्माण होता है, यदि यहाँ कोई धर्म नहीं करेगा तो स्वर्ग ऊपर से सब खाली हो जाएगा लेकिन ऐसा कभी नहीं होता। यहाँ पर रह कर अहिंसा का पालन करने वाला व्यक्ति स्वर्गों में जाकर के मान-सम्मान पा जाता है और ऐश्वर्य को प्राप्त करता है फिर उस ऐश्वर्य की इच्छा कभी भी दिल में नहीं रहती। क्योंकि उसका सम्यक् चिन्तन प्रारंभ होता है कि जब मैं स्वयं ही ईश्वर हूँ तो फिर कौन-सा स्वर्गीय ऐश्वर्य मेरे सामने आने वाला है ? ईश्वर जो होता हैं, उसी के पास ऐश्वर्य रहता है। स्वर्गों में ऐश्वर्य रहता है, यह केवल कहने में आता है। वास्तविक ऐश्वर्य तो ईश्वर के पास है। ईश्वर का अर्थ रागद्वेष जो नहीं करता और अहिंसा व्रत का पालन करता है। दयामय में हमेशा-हमेशा लीन रहता है, उसी का नाम ईश्वर है।

''जिसने राग द्वेष कामादिक जीते सब जग जान लिया।''

कोई इच्छा भी नहीं, आज कोई भी माँ बेटे के लिए कुछ उपदेश इसलिए देती है अथवा पालन-पोषण भी इसलिए करती है कि कम से कम अन्त में बेटा मुझे पानी तो पिला देगा। बेटी होगी तो वह चली जाएगी, लेकिन बेटा निश्चित रूप से पानी पिलाएगा। इसलिए वह माँ अपनी पूर्ति के लिए अन्तिम घड़ी को सामने रखकर के अच्छे ढंग से पालन-पोषण करती है अर्थात् वह स्वार्थ रखती है। स्वार्थ त्याग की कठिन तपस्या वह नहीं कर पाती। इसी प्रकार पिता भी सोचता है, कि कम से कम अन्त में अग्नि संस्कार तो कर देगा, यह बड़ा काम है। अपने घर का लड़का आ जाता

है तो ठीक है, नहीं तो भैया, दूर-दूर सम्बन्ध जोड़कर वंश की परम्परा को जोड़कर उसका अन्तिम संस्कार होता है। नहीं आता तो किसी भी प्रकार से गोद लेना पड़ता है, दत्तक पुत्र जिसको बोलते हैं, वह अपनी सोचता है, अपने धर्म की रक्षा के लिए भी सोचता है। अब मास्टर लोग भी सोचते हैं, मुझसे पढ़ा-लिखा कोई भी लड़का होगा तो मेरा नाम हमेशा-हमेशा होगा लेकिन प्रभु कितने बड़े काम करते हैं किन्तु स्पृहा कुछ भी नहीं रहती, इच्छा कुछ भी नहीं रहती, बदले में कुछ नहीं चाहते। अरे जो प्रभु हो वह दुनिया से क्या चाहेगा? और प्रभु के लिए ऐसी कौन सी पूर्ति करेगी दुनिया? राग के माध्यम से वीतरागी को क्या लाभ मिलेगा? सोचो, विचार करो।

जिसको धन नहीं चाहिए, धनिकों से उस व्यक्ति के लिए क्या फायदा? बोलो आप लोगों से हमें क्या फायदा? कोई फायदा नहीं, क्योंकि आप रागी हैं, हम राग चाहते नहीं, फिर यहाँ क्यों आये? एक बात है, हम बता देते हैं आपने बुलाया इसलिए हम आए। रुक जाओ, ऐसी कोई राग की बात मत करो, हम तो इसलिए आए कि इस मार्ग का परिचय इन लोगों को भी हो जाए।

यहाँ पर गाड़ियाँ पेट्रोल के लिए तो रुक ही जाती हैं, लेकिन निश्चित है कहाँ पर जाती हैं ? Signboard को कभी नहीं निकाल सकते, अर्थात् यह गाड़ी कहाँ पर जा रही है ? कैसे जा रही है साइनबोर्ड को देखकर आगे जाती है पर बोर्ड को कोई स्पृहा नहीं? वह गाड़ी से कुछ चाहता नहीं। उसी प्रकार हम आप लोगों से कुछ चाहेंगे नहीं, किन्तु ये जरूर चाहेंगे कि इन लोगों का जीवन राग से रहित, विषयों से रहित हो, प्रेम-वात्सल्य का सागर बन जाए। जीव-जीव को पहचाने, अभी अजीव की ओर ही इन लोगों की ज्यादा गति हो रही है और अजीव की रक्षा के लिए जीव के ऊपर प्रहार किया जाता है। स्वयं रहना चाहता है मकान में और वह भी दूसरे के मकान को गिरा करके। कभी दूसरे के मकान में बैठ कर सोचता है कि यह मेरा मकान है। इस प्रकार लड़ाई हो जाती है और तीसरे व्यक्ति को लाभ मिलता है, इस प्रकार फूट भी पड़ जाती है। चोरी भी हो जाती है और एक दूसरे के लड़ने से हिंसा भी हो जाती है। इस प्रकार जो संघर्ष विश्व में है वह केवल रागद्वेष के कारण ही है, और जीव तत्त्व को नहीं पहचानने का यह परिणाम है। आप जीव की ओर दृष्टिपात करिये। अपने आप ही बीच की बात समाप्त हो जायेगी। जब तक यह परिग्रह-लोभ का पर्दा एक दूसरे के बीच में रहेगा तब तक आप पर्दे की उस ओर जो है, उस चैतन्यतत्त्व की पहचान नहीं कर पायेंगे।

राम, रावण की आत्मा को जान रहे थे लेकिन रावण, राम को नहीं पहचान पा रहा था। रावण के सामने केवल सीता ही सीता थी। सीता बीच में आ रही थी। यह सीता किसकी है ? राम की। उसको समाप्त करना है। देखो सीता के कारण रावण की बुद्धि में यह आया। राम का इतना व्यक्तित्व निखरा हुआ था, लेकिन देखने में नहीं आया। भारत का ऐसा कोई भी प्राणी नहीं है जिसको राम न रुचते हों, राम के लिए रावण काँटा नहीं था, लेकिन रावण के लिए राम हमेशा काँटा थे। रावण को ये सोचना आवश्यक था कि यह धर्म का काँटा है जो मेरे ऊपर प्रहार नहीं कर रहा।

मैं राम को, मार कर रहूँगा, यह केवल सीता के कारण। इस प्रकार का काँटा पड़ गया रावण के जीवन में। वस्तु को आप वस्तु के रूप में समझ लीजिये। रावण सीता को सीता के रूप में समझता तो बहुत भला हो जाता, राम ने कभी भी मन्दोदरी की ओर नहीं देखा, राम ने और किसी की ओर नहीं देखा, केवल सीता-सीता कहता गया, यह धर्म है, यह कर्म है, यह एकमात्र जीवन का रहस्य-मर्म है। इस डोर में हम बंध करके चलेंगे तो निश्चित रूप से शिवलक्ष्मी हमारे स्वागत के लिए खड़ी होगी। सुख संपदा हमारा स्वभाव है किन्तु हम आपदाओं को मोल ले रहे हैं, उसी के कारण इस प्रकार नीरस जीवन बना हुआ है।

एक मछली का त्याग भी देवत्व को प्रदान कर सकता है लेकिन ध्यान रखना उसके पीछे उसके प्राण भी चले गये। घर से बाहर भी निकाला गया, लेकिन उसने भीतर कभी भी ऐसा नहीं सोचा कि हमने संकल्प छोटा सा लिया था। संकल्प छोटा नहीं होता, संकल्प हमेशा बहुत बड़ा हुआ करता है वह खसखस के दाने के बराबर बीज है लेकिन बोने के उपरान्त बड़ का पेड़ बन जाता है। धर्म की बात तो बोलने की हो, करने की हो, विश्वास की हो, वह बात तो बात है, वह ऐसी है कि उसके सामने आकाश भी छोटा पड़ जाता है। वह तीन लोक का नाथ बनाने वाला होता है। अहिंसा पालन के बारे में ऐसा मत सोचिए कि मेरे में शक्ति नहीं है।

यह सत्य है कि अहिंसा एक संकल्प है। और वह निश्चित रूप से विकास करेगा, किन्तु कब, कैसे और कहाँ से पता नहीं पड़ेगा। बीज बोते हैं तब पता नहीं लगता किन्तु जब पेड़ होकर आता है सामने तब मालूम होता है कि बड़ का बीज कितना छोटा था और उसका परिणाम कितना बड़ा निकला।

धर्म के क्षेत्र में भी आप हृदय से, मन से, वचन से, काय से, कृत से, कारित से और अनुमोदन से सच्चाई के साथ, आस्था के साथ यदि बीज बो लेते हैं तो कुछ ही समय के उपरान्त वहाँ पर बड़ का निर्माण हो जाता है। धीवर धीमानों में भी श्रेष्ठ था। वर माने श्रेष्ठ और धी माने बुद्धि वाला सो धीवर। उसका नाम भी अच्छा रखा। धीवर है उसका नाम, जो कि सार्थक है। उसके पास भी बुद्धि थी। चैतन्य आत्मा का स्वभाव है, उस स्वभाव के माध्यम से सोचो, विचार करो। अनुकम्पा, दया, करुणा फूटना चाहिए। अपने गुरुदेव ज्ञानसागर जी ने 'दयोदय चम्पू' काव्य लिखा है उसमें इसी कथा का विस्तार है। धीवर की कथा का नाम रखा दयोदय, दया का जिसके जीवन में उदय होता है उसका नाम दयोदय और वह चम्पू काव्य है। संस्कृत काव्य है, उसका एक श्लोक मुझे याद आ गया। आप लोग भाग्यशाली हैं इसलिये वह श्लोक याद आ गया, उन्होंने बताया है जीवन कैसा होना चाहिए?

परोपकाराय दुहन्ति गावः परोपकाराय वहन्ति नद्यः।
परोपकाराय तरोः प्रसूतिः, परोपकाराय सतां विभूतिः॥

महाराज जी ने चार चरणों में हमारे जीवन की पूरी की पूरी योग्य बातें कह दीं। तीन चरण तो प्रकृति के लिए हैं और चौथा विद्वान् कौन है या सज्जन कौन है ? साधु कौन है ? इसकी व्याख्या एक चरण में की गई है। तीन चरणों की बात आपके सामने पहले मैं कह रहा हूँ–

''परोपकाराय दुहन्ति गावः''

गाय क्या खाती है ? घास-फूस खाती है, खली खाती है। तेल आप निकाल लेते हैं और कूड़ा-कचरा जो कुछ रह गया वह उसको मिलता है वही खली वह खाती है लेकिन फिर भी वह आपको क्या देती है ? मीठा-मीठा दूध देती है। भले आप लोग पानी डाल दो लेकिन वह पानी मिला दूध नहीं देती। आज तक ऐसी कोई गाय नहीं देखी जिसने कि पानी मिला दूध दिया हो। पानी पेट में जाता होगा लेकिन कभी पानी मिला कर दूध का संग्रह नहीं किया। वह अपने दूध को रखने का भाव भी नहीं करती आप लोग उसके दूध को पूरा का पूरा निकाल लेते हैं। संभव है उस दूध को वह स्वयं पी ले, प्यास लग जाए, भूख लग जाय, लेकिन ऐसी गाय को देखा तो कभी नहीं, जो अपने दूध को स्वयं पी ले, देखा? आप लोगों का प्रभाव पड़ गया होगा, पंचमकाल का। ऐसी कोई गाय नहीं है जो स्वयं दूध पी ले। देखो आप लोगों के सौभाग्य की बात है कि छोटी-सी घटना और याद आ गई।

महावीर जी, राजस्थान में एक गाँव है जो कि गम्भीर नदी के तीर है। वहाँ पर क्षेत्र बसा है। वहाँ की यही तो घटना है, कि वह गाय दिन भर चर लेती लेकिन एकाध माह से दूध से रिक्त होकर आ जाती। उस ग्वाले ने सोचा क्या बात हो गई, गाय का दूध कौन पीता है ? बछड़ा पीता है या कोई निकाल लेता है। एक बार, दो बार देखा, कुछ मिला नहीं। तीसरी बार देखा तो गाय ने वहाँ पर दूध छोड़ दिया जहाँ चट्टान जैसी शिला है।

उस ग्वाले ने सोचा कि इस शिला के नीचे कोई ने कोई चमत्कार होना चाहिए। देखो गाय इतनी होशियार होती है, इतनी सयानी होती है कि भीतर के भगवान् को बाहर ला सकती है। दृष्टि की बात है, ग्वाले ने सोचा-मेरी गाय पालतू है, किसी को दूध नहीं देती, यहाँ पर दूध छोड़ती है। इसका अर्थ है **''परोपकाराय दुहन्ति गावः''।** आज तक हजारों, लाखों, करोड़ों व्यक्ति गए होंगे वहीं पर और उन महावीर भगवान् के चमत्कारों से प्रभावित भी हुए होंगे। महावीर भगवान से - विनती भी की होगी किन्तु गाय ने अपनी कोई बात भगवान् के समक्ष नहीं रखी।

इसके उपरान्त **''परोपकाराय वहन्ति नद्यः''**, नदियाँ बहती जा रहीं हैं। उनमें किसी का कोई असर नहीं किन्तु आपने अपनी छाप उन पर भी लगा दी कि नागपुर की नदी, जबलपुर की नदी आदि। वह अपनी यात्रा नहीं छोड़ती, प्यासे की प्यास बुझाती है, कोई जो थक गए हों उनको प्रशस्तता लाने के लिए नदी यहाँ से वहाँ दौड़ती चली जा रही है। जहाँ से वह जाती है वहाँ की भूमि

बहुत ही उपजाऊँ हो जाती है, वह परोपकार के लिए है।

''**परोपकाराय तरोः प्रसूतिः**'' यह पृथ्वी पूत मानी जाती है। पूत माने पुत्र होता है, पृथ्वी का पुत्र कौन आप? नहीं, आप पृथ्वीपाल हो सकते हैं लेकिन पृथ्वीपूत नहीं, पृथ्वीपूत का अर्थ पेड़ होता है, पूत वह होता है जो अपने लिए कुछ नहीं रखता है और वह हमेशा दूसरे के लिए छाया प्रदान कर देता है, फल प्रदान कर देता है, सब कुछ कर देता है, किन्तु वह स्वयं कुछ भी खाता-पीता नहीं, पृथ्वी के लिए हमेशा-हमेशा स्थान बनाए रखता है।

पूत सपूत हो तो का धन संचय।
पूत कपूत हो तो का धन संचय॥

बुन्देलखण्ड में यह एक कहावत है-पुत्र कपूत नहीं होना चाहिए बल्कि सपूत होना चाहिए। पृथ्वी का नाम हो सकता है, पृथ्वी का काम हो सकता है नहीं तो पृथ्वी उन व्यक्तियों से बदनाम हो जाएगी, जो व्यक्ति कपूत का काम कर जाता है। धनसंचय करने से कुछ नहीं होता। जिसके पास कला नहीं, विद्या नहीं, उद्यमशीलता नहीं वह करोड़पति भी हो तो उसको कुछ हासिल होने वाला नहीं। किन्तु जिसके पास एक टका भी नहीं किन्तु ज्ञान है, परोपकारिता है, धर्म है उसके पीछे लक्ष्मी पड़ जाती है, तो यह है 'परोपकाराय तरोः प्रसूति।'

अब''**परोपकाराय सतां विभूतिः**'' आपका मन, आपका तन, आपका धन, आपके वचन आदि परोपकार के लिए लग जायें। आप ऐसा बोलिए जिसके द्वारा दूसरा खिल उठे, प्रसन्नता का अनुभव करे। आप अपने मन में दूसरों की भलाई के बारे में सोचिये, आपका तन दूसरों के संकट को, दूर करने के लिए कारण बन जाए, अगर इस प्रकार आपका जीवन बन जाता है तो आप में सज्जनता निश्चित रूप से है लेकिन यह बहुत कम हो पाता है।

आपका समय हो गया। महाराजजी ने कहा था-यह कारिका हमेशा-हमेशा के लिए याद रखना चाहिए और इसका अनुकरण कर लेना चाहिए, ताकि हम राम बनें, महावीर बनें और आदिनाथ प्रभु के समान बनें किन्तु रावण को स्वप्न में भी याद न करें। क्योंकि रावण का जीवन हम लोगों को अभिशाप है, वह स्वयं के लिए भी अभिशाप हुआ और पर के लिए भी। इसलिए जो वरदान सिद्ध हो उसी जीवन की उपासना करनी चाहिए।

❑ ❑ ❑

संस्था या परम्परा

वर्णी-संस्था तो आप कहो, यदि वर्णी-परम्परा चले तो सब कुछ ठीक-ठाक हो जायेगा। वर्णी का अर्थ क्या होता है जानते हो? नाममाला में एक जगह आया है, वर्णी का अर्थ यति होता है, मुनि होता है, व्रती होता है।

वर्णी-संस्था और वर्णी-परम्परा ये दो चीजें हैं। मुझे वर्णी-संस्था की उतनी चिन्ता नहीं, जितनी चिन्ता वर्णी-परम्परा की है। त्याग, तपस्या के बिना न आज तक समाज का उद्धार हुआ है, न आगे होगा।

स्वभाव का बोध न होने के फलस्वरूप संसारी प्राणी पर-पदार्थ की शरण पाने को लालायित हो रहा है। अनन्तकाल व्यतीत हो चुका है, जब उसे अपने स्वभाव का बोध होगा तब वह बहिर्मुखी न होकर, अन्तर्मुखी होना प्रारम्भ कर देगा। भगवान् की मूर्ति सामने है और आप कहते हैं कि-

अन्यथा शरणं नास्ति त्वमेव शरणं मम।
तस्मात् कारुण्य-भावेन रक्ष-रक्ष जिनेश्वर॥ समाधिभक्ति १५

हे भगवन्! इस लोक में आपके बिना कोई शरण नहीं है। आपकी शरण मिलने से भीतर जो छुपा परमात्म तत्त्व है, उसका बोध प्राप्त हो जाता है। ध्यान रखो! संसारी प्राणी भटकता-भटकता मनुष्य योनि में आया है। इसे बोध है किन्तु पर का बोध है, इसे बोध है किन्तु सही बोध नहीं है और जिसे अपने-पराये का बोध नहीं है उसका वह बोध, बोध नहीं बोझ है। जिस बोध के माध्यम से केवलज्ञान की प्राप्ति होती है, उस बोध की बात यहाँ पर हो रही है। जिस व्यक्ति ने इस गुरुकुल की स्थापना की थी, उस व्यक्तित्व का मूल्यांकन हम शब्दों में नहीं कर सकते। दुनियाँ में Collage खुल रहे हैं। अनेक प्रकार के स्कूल हैं, सब कुछ है लेकिन! वह सारे के सारे जीवन-निर्वाह के लिए हैं निर्माण के लिए नहीं। आप जीवन निर्वाह चाहते हैं तो, इस बोध से आपको कोई मतलब नहीं और यदि निर्माण चाहते हैं तो इस बोध की इच्छा करिये, जिसके माध्यम से जीवन का निर्माण हो जाता है और अन्त में निर्वाण यानि मोक्ष प्राप्त हो जाता है, संसार और संस्थाओं से छुटकारा मिल जाता है।

भारत में देश-विदेशों में ऐसी कोई संस्था या School-Collage नहीं है, जिनमें आत्मा की क्षण भर चर्चा होती हो। ऐसी कोई शक्ति नहीं है, जिससे वे किसी को उसके स्थायी अस्तित्व का परिचय करा सकें । किन्तु यहाँ पर इन गुरुकुलों में वह विद्या...वह कला...वह ज्ञान...वह बोध पाया जा सकता है जिसके द्वारा पर की शक्ति (शरण) छूट जाती है। सुबह-सुबह वाचना चल रही थी। पंडितजी (पंडित फूलचन्द्रजी, वाराणसी) ने एक बहुत अच्छी बात कही थी,

उसको दुहराने के लिए कुछ लोगों ने कहा कि पण्डितजी एक बार और बोलो, जैसे काव्य (कविता) पाठ होते हैं तो उसमें 'वंस मोर' (once more) कह देते हैं आप लोग, उसके अनुसार क्योंकि उसमें बहुत अच्छी बात थी, कि सब लोग धर्म तो चाहते हैं। उस समय मैंने कहा कि पण्डित जी ऐसे प्रवचन होना चाहिए कि जो परिग्रह को बचा रहे हैं, वे परिग्रह छोड़ दें।

परिग्रह ने आपको अपने वश में कर रखा है, यह मान्यता गलत है आप लोगों की, किन्तु परिग्रह के अधीन हो गये हैं आप लोग,। ध्यान रखिये, परिग्रह इस शब्द की निष्पत्ति करते हुए पूज्य महाराज जी (आचार्य ज्ञानसागर जी) ने एक बार कहा था -

परितः समन्तात् आत्मानं गृह्णाति बध्नाति यत् सः परिग्रहः।

आत्मा को जो चारों ओर से बाँध लेता है, ग्रहण कर लेता है उसका नाम है परिग्रह। बिल्कुल ठीक है, आप यहाँ पर बैठे हैं, ट्रेजरी में आपका धन है, फोन आ जाये तो आपका कलेजा काँप जाता है कि वहाँ तक जाते-जाते रहे या नहीं रहे क्या पता? वैसे आपको पसीना नहीं आता लेकिन, आपको पसीना आ जाता है तथा उसके साथ-साथ सीना भी धड़कने लगता है। ऐसा क्यों होता है भैय्या? इसी का नाम है मोह आपने अपने को उसके वश में कर दिया है। यह परिग्रह महाभूत है। पण्डितजी (डॉ. पन्नालालजी साहित्याचार्य, सागर) ने अभी-अभी कहा था कि महाराज कभी Appeal नहीं करते लेकिन अप्रत्यक्ष रूप से कर दी। हमने किसी को कुछ नहीं कहा लेकिन त्याग के बारे में तो अवश्य Appeal करेंगे। यह हमारा कार्य है, आप त्याग नहीं करेंगे तो वीतरागता की प्राप्ति कैसे होगी ? हमें किसी संस्था को चलाने की चिन्ता नहीं है, किन्तु आत्मा का जो संस्थान है उसकी खबर आपको होनी चाहिए। बस, हमें फिर कोई चिन्ता नहीं।

आप लोगों को देखकर बस एक ही भाव जागृत होता है; कि कोई ऐसा माध्यम, साधन उपलब्ध हो जाये इन लोगों को, कि ये आत्मा की बातें करने लगें। चार प्रकार के ध्यान बताये हैं - आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय, संस्थानविचय। किसी सज्जन ने मुझसे पूछा-''महाराज! धर्मध्यान तो हमें भी होता है और आपको भी होता है। आप धर्मध्यान के माध्यम से जहाँ पर भी जायेंगे तो उसी के माध्यम से हम भी वहाँ पहुँच जायेंगे। मैंने कहा ध्यान रखो! नहीं आ सकते और मैं जो कर्म-निर्जरा करता हूँ आप नहीं कर सकते। धर्मध्यानों में एक संस्थानविचय नामक ध्यान भी तो है। हाँ...हाँ है तो पर थोड़ा-सा अन्तर है उसमें। आपको संस्थानविचय तो नहीं पर संस्थाविचय अवश्य हो सकता है। संस्था अपने आप में परिग्रह है और संस्थानविचय ध्यान अपने आप में परिग्रह नहीं है ये ध्यान रखना। संस्थानविचय ध्यान षट्खण्डागम आदि ग्रन्थों के माध्यम से तीन लोक में जीव कहाँ-कहाँ भटक रहे हैं वह सारा का सारा चित्र उस समय मन में लाता है। उस ज्ञान के माध्यम

से वह ध्याता नरक में भी जाता है, स्वर्ग में भी जाता है, सर्वार्थसिद्धि को भी लाँघ जाता है, सिद्धालय में भी जाता है। निगोद में भी जाता है। तीनों लोकों की यात्रा वह संस्थान-विचय नामक ध्यान के माध्यम से कर लेता है। वह इतनी लम्बी यात्रा करता हुआ भी पूज्य माना जाता है।

संस्थाविचय ध्यान जब तक मुनि नहीं बनोगे तब तक तीन काल में भी सम्भव नहीं है। मुझे और किसी क्षेत्र की चिन्ता नहीं है लेकिन आप लोगों को जो धर्मध्यान होगा वह त्याग करने से, दान करने से ही बनेगा। वीरसेन स्वामी ने धवला में कहा है -

''दाणं पूया सीलमुववासो सावयाणं चउव्विहो धम्मो॥''

यदि धर्म हैं तो चार ही हैं। जिनेन्द्रदेव की पूजा करना, शील का पालन करना, उपवास करना, सत्-पात्रों को दान देना ये चार धर्म श्रावकों के हैं।

एक प्रश्न रखना चाहता हूँ आपके सामने कि भगवान् के अभिषेक करने से क्या लाभ होता है ? ध्यान रखो, तीन अष्टाह्निका में इन्द्र अन्यत्र कहीं नहीं जाता लेकिन नन्दीश्वर द्वीप में जाकर पूजन और अभिषेक करता है। मेरे मन में ये बात आ जाती है कि इन्द्र को समवसरण में जाना चाहिए जहाँ पर भावनिक्षेप से अर्हन्त परमेष्ठी विद्यमान हैं। उनके चरणों में जा करके दिव्यध्वनि सुनना चाहिए। नन्दीश्वर द्वीप में जाकर क्या करेंगे? क्योंकि वहाँ तो केवल प्रतिमा मिलेगी। लेकिन इसमें एक रहस्य है। ध्यान रखो, मैं सोचता हूँ कि जो लाभ उस समय उसे समवसरण में प्राप्त नहीं हो सकता वह नन्दीश्वर द्वीप में प्राप्त हो जाता है, इसलिए वह सपरिवार वहाँ जाता है। साक्षात् भगवान् को छू करके जो आनन्द आता है, वह समवसरण में सम्भव नहीं, उस भामण्डल के अन्दर किसी की गति सम्भव नहीं। इसलिए वह सोचता है कि वहीं पर जाकर भगवान् का पूजन प्रक्षालन करूँगा।

प्राण-प्रतिष्ठा द्वारा भगवान् के सम्पूर्ण गुणों को आरोपित करके सूर्यमन्त्र पढ़कर उस पाषाण की प्रतिमा को पूज्य बना दिया जाता है। बुद्धि के द्वारा, भगवान् की साक्षात् कल्पना होती है। मैं पूछना चाहता हूँ-शास्त्र पास में है फिर भी पवित्र मन से आप छूते हैं तो अलग प्रकार की अनुभूति, संवेदना होती है। इन संवेदनाओं के लिए एकमात्र वही क्षण है, वही एक बात आचार्यों ने हमें बता दी कि जिनवाणी की उपासना करने से हमें सम्यग्ज्ञान की उपलब्धि होती है। मुनियों के पास जाने से; उनकी चर्या देखने से; गुरुओं के प्रति श्रद्धा उत्पन्न होती है, चारित्र की उपलब्धि होती है। जिनेन्द्र-देव की पूजा अभिषेक आदि से सम्यग्दर्शन की उपलब्धि होती है।

वीरसेन स्वामी ने कहा है कि इन चार धर्मों को आप अपनाते चले जाओ। नियम से सब काम होता चला जायेगा। मुझे आप लोगों के निर्वाह के बारे में चिन्ता नहीं, निर्माण के बारे में चिन्ता

है। आपका निर्माण धन के द्वारा नहीं होने वाला है। धन के त्याग में ही आपका निर्माण होने वाला है और आप मानते हैं कि हमारे जीवन का उद्धार धन के राग से होगा, ये गलत धारणा है। आप लोगों का जीवन धन के माध्यम से नहीं चल रहा है, बल्कि आपने जो पहले पुण्य किया था उसी के माध्यम से चल रहा है। आयु कर्म जब तक रहेगा तब तक आप रहेंगे। आयु कर्म के निषेक जब क्षीण होंगे तब ब्रह्मा भी आकर आपको मरने से नहीं बचा सकते। इस गति से दूसरी गति में जाने से कोई नहीं रोक सकता। चाहे प्रत्यूष बेला हो या संध्या बेला हो, रात के चाहे कितने भी बजे हों, खाते-पीते, उठते-बैठते उसको रवाना होना ही पड़ेगा, यह नियम है, सिद्धान्त है। मरकर मनुष्य-आयु में उत्पन्न होना यह अनिवार्य नहीं है। यदि आपकी यात्रा दो हजार सागर में पंचम गति की ओर नहीं होती है, तो हमें इस बात की चिन्ता होती है कि देखो, कितना प्रयास करके, पुरुषार्थ करके निगोद की यात्रा को छोड़कर इस ओर आया है, लेकिन वह कौन-सा दुर्भाग्य होगा कि मनुष्य योनि को प्राप्त कर पुनः निगोद की ओर जाना होगा। सोचिए, विचार कीजिये, यह सारी की सारी बातें लिखी हुई हैं शास्त्रों में, जिन्हें देखने-समझने की आज बड़ी आवश्यकता है।

महान् सिद्धान्त-ग्रंथ धवला-जयधवलादिक में लिखा है कि कम से कम इन चार धर्मों (दान, पूजा, शील, उपवास) का अनुपालन करो। पण्डितजी साहब (सिद्धान्ताचार्य पण्डित फूलचन्द्रजी शास्त्री, वाराणसी) ने अभी-अभी जो कहा था कि आज के लोग परिग्रह को रखकर के, बचाकर के धर्म करना चाहते हैं, किन्तु यह सब गलत है। **धर्म तो विषय-कषाय राग-द्वेष परिग्रहादिक बाह्य वस्तुओं से दूर हटने पर ही होता है अन्यथा धर्म नहीं किन्तु धर्म का कथन अवश्य हो सकता है।**

दो बातें और कहना चाहूँगा मैं कि वर्णीजी की परम्परा और वर्णीजी की संस्थाओं की परम्परा। आप लोग दोनों को एक मान रहे हैं और मैं दो मान रहा हूँ। वर्णीजी की संस्था चले यह तो आप लोग चाहेंगे लेकिन मैं तो यही चाहूँगा कि संस्था तो ठीक है, यदि वर्णी परम्परा चले तो सब ठीक-ठाक हो जायेगा। वर्णी का अर्थ क्या होता है मालूम है आप लोगों को? कोई सेठ साहूकार नहीं, वर्णी का अर्थ पण्डित भी नहीं होता है। जब मैं (ब्रह्मचारी अवस्था में) नाममाला पढ़ता था, उस समय मुनियों के नाम में वर्णी शब्द आया था।...... तो वर्णी का अर्थ साधु होता है, अनगार होता है। वर्णीजी गृहस्थ नहीं थे, वे पिच्छीधारक क्षुल्लक जी थे। यह बात अलग थी कि उनकी काया की क्षमता अधिक न होने से मुनि नहीं बन पाये किन्तु मुनि बनने की उनकी तीव्र भावना अवश्य थी। उनका त्याग था, उनकी तपस्या थी, उनका समर्पण था, समाज के लिए समर्पण नहीं था किन्तु वीतरागी-मार्ग के लिए समर्पण था। जैसा कि अभी पूर्ववक्ता (पण्डित कैलाशचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री, वाराणसी) ने कहा कि उन्हें सारा का सारा समयसार कण्ठस्थ था लेकिन मैं समझता हूँ कण्ठस्थ

क्या, हृदयस्थ था, क्योंकि उन्होंने सोच लिया था कि जीवन में यदि कोई मौलिक पदार्थ है तो वह रत्नत्रय है और रत्नत्रय मुझे धारण करना है भले ही वह अभी मिले या न मिले किन्तु प्राप्त तो उसी को करना है। उसी के माध्यम से ही जीवन उन्नतिशील बनेगा और परम निर्वाण यानि मुक्ति का लाभ होगा।......तो मैं यह कहना चाह रहा हूँ कि यदि आप वर्णी जी की परम्परा, उनका नाम कायम रखना चाहते हैं तो दूसरे वर्णी की आवश्यकता है। है कोई यहाँ पर इस सभा में (विद्वत्-मण्डली की ओर संकेत करते हुए) दमदार व्यक्ति जो वर्णी जैसा बनने के लिए तैयार हो। वर्णीजी तो चले गये। कब तक उनकी पुण्यतिथियाँ मनाओगे और मनाने मात्र से कोई प्रभाव पड़ने वाला है क्या? आप लोगों का जीवन अब अल्प बचा है, कम से कम इस अल्प समय में तो वर्णी जैसे जीवन की एक झलक आनी चाहिए। आप लोगों की यह ज्ञानाराधना तभी सार्थक होगी जब आपके कदम चारित्र की ओर बढ़ जायेंगे। वर्णी संस्थाओं का नहीं, वर्णी का निर्माण होना चाहिए क्योंकि जो सैकड़ों संस्थायें काम नहीं कर सकती हैं वह एक त्यागी, व्रती, संयमी वर्णी कर सकता है और एक वर्णी के तैयार होने से हजारों वर्णी तैयार हो जायेंगे। वर्णी जैसे साधक व्यक्तियों के तैयार होने से उनकी संस्थायें अपने आप चलने लगेंगी।

आप जड़ (सम्पत्ति) के माध्यम से वर्णी जी की संस्थाओं का निर्वाह करना चाहते हो, लेकिन यह ध्यान रखना, मात्र धन-पैसा के द्वारा ही यह कार्य हो सके, यह तीन काल में सम्भव नहीं। जैसा अभी एक वक्ता (पण्डित पन्नालाल जी साहित्याचार्य, सागर) ने कहा– वहाँ (दक्षिण में) बहुत सारे गुरुकुल चल रहे हैं किसके माध्यम से? श्रीमानों के द्वारा, धीमानों के द्वारा, नहीं, यह ध्यान रखना कुम्भोज बाहुबली के समन्तभद्र महाराज के पास गुरुकुल में जो कोई भी विद्यार्थी हैं वे सब बाल ब्रह्मचारी हैं। वे ही गुरुकुल चला रहे हैं, उनके पास त्याग-तपस्या है, संसार, शरीर-भोगों से उदासीनता हैं, अर्थ का प्रलोभन नहीं है, तब कहीं जाकर के यह काम हो रहा है।

धन-सम्पत्ति और वेतन के द्वारा हम कभी जिनवाणी का जीर्णोद्धार नहीं कर सकते। जब तक वेतन मिलता रहेगा तब तक काम चलता रहेगा। वेतन मिलना बन्द तो काम बन्द। **वेतन के द्वारा चेतन की उपलब्धि तीन काल में नहीं हो सकती।** वेतन आपको खर्च करना होगा, उसके माध्यम से आपका दानधर्म चालू हो जायेगा और जो संस्था के लिए समर्पित है, धर्म-प्रभावना के लिए समर्पित है, उसका भी बाहरी निर्वाह (गुजारा) हो जायेगा, क्योंकि निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध से सारे के सारे कार्य चल सकते हैं। विद्वान् लोग वृद्ध हो चुके हैं, जिन्होंने जीवन पर्यन्त जिनवाणी की सेवा की है, अब अन्तिम Stage (पड़ाव) पर पहुँच चुके हैं। बेला अन्तिम है, समय निकट है, अब यहाँ से (इस पर्याय से) कभी भी Transfer (तबादला) हो सकता है। हमें, आपको इन अन्तिम क्षणों में सचेत रहना परमावश्यक है। क्योंकि '**अन्त मति सो गति**' होता है। अतः समय

रहते हुए हम जाग जायें और ज्ञान का जो सही-सही फल अज्ञान की निवृत्ति, कषायों की हानि, आत्म-तत्त्व और रत्नत्रय की प्राप्ति एवं राग-द्वेष को कम करके चारित्र को अंगीकार करने रूप है, उसे प्राप्त करें। इसी में आपकी भलाई है।

निर्वाह से परे जीवन का निर्माण होना आवश्यक है। तदुपरान्त जीवन में संसार से छुटकारा पाकर आत्मा निर्वाण को (मोक्ष) प्राप्त करता है। यही परम सुख रूप मोक्ष-धाम है। इस मोक्ष धाम की प्राप्ति के लिए आज से ही सभी को कटिबद्ध हो जाना चाहिए। एक बार तो उस आत्मिक भाव का स्पर्श करो। बड़े-बड़े महान् आचार्यों ने कहा है कि जीवन में वह घड़ी मौलिक मानी जायेगी, वह समय बहुमूल्य माना जायेगा जिस समय ''स्व समय संस्पर्श'' आत्मानुशासन होगा। मोह का संस्पर्श तो अनन्तकाल से संसारी प्राणी करता आया है। किन्तु जाते-जाते अन्त में ध्यान रखना बन्धुओ **त्याग, तपस्या और निःस्वार्थ सेवा के बिना आत्मोद्धार और देश का उद्धार तीन काल में नहीं हो सकता।** इस प्रकार; त्याग, तपस्या को अपनाकर वर्णी-संस्था और वर्णी-परम्परा का उद्धार करना है। इन धार्मिक आयोजनों के निमित्त से जीवन को उज्ज्वल एवं सफलीभूत बनाने का प्रयास करें।

❑ ❑ ❑

कर विवेक से काम

दृश्य को पाने के पहले दृश्य को देखने से भी सुख प्राप्त होता है, इसी को आस्था कहते हैं।

विवेक के साथ प्रत्येक घड़ी बिताने का नाम ही वास्तव में जीवन है।

सत्य और अहिंसा का बहुत गहराई से सम्बन्ध है यदि हमारे एक हाथ में सत्य है तो दूसरे में अहिंसा होनी चाहिए। दोनों मिल जाते हैं तो बड़े से बड़े राष्ट्रों की भी रक्षा की जा सकती है, उनका विकास किया जा सकता है।

एक मछली जो पानी में रहती है जलचर प्राणी कहलाती है। जैसे-जैसे पानी की मात्रा कम होती है उसकी परेशानी बढ़ती जाती है, और पानी के सूखते ही चन्द मिनटों में वह प्राण छोड़ देती है। इसका मतलब यह है कि मछली को प्राण रक्षा के लिये जल अनिवार्य होता है। सारी व्यवस्थाएँ होने के उपरान्त भी यदि आप लोगों को कुछ समय के लिये ऑक्सीजन न मिले तो दम घुटने लगता है सारा जीवन अस्त-व्यस्त हो जाता है। ठीक इसी तरह की बात थी-जंगल का वातावरण था, गर्मी के दिन और उस पर भी काफी तेज धूप। प्यास की वजह से कण्ठ सूख रहा था, अपने प्राणों की रक्षा के लिये पानी की तलाश में वह बहुत दूर तक निकल गया, काफी खोज के बाद भी जब उसे पानी नहीं मिला तब निराश निरुपाय वह अपने साथी घोड़े को छोड़कर एक घने छायादार वृक्ष के नीचे पहुँच जाता है। थकाहारा तो था ही, अतः कुछ विश्राम करने के विचार से वह वहीं लेट जाता

है, फिर क्या था लेटते ही नींद आ गई।

निर्जन वन है, चारों ओर कोई भी नहीं, पक्षी ही कभी-कभी अपनी आवाज से जंगल की नीरवता भंग कर देते हैं, किन्तु वहाँ पर पूछताछ करने वाला कोई नहीं, एकाध घण्टे के लिए उसे निद्रा आ जाती है।

तात्कालिक कुछ आराम मिल जाता है पर वह नहीं के बराबर। प्यास बहुत सता रही थी जागते ही पुनः मन में भाव आया कि पानी की गवेषणा करना जरूरी है नहीं तो आज कैसे इस पीड़ा से बच सकते हैं। इसी बीच उसने एक दृश्य देखा, दृश्य के देखते ही उसके प्राण हरे-भरे हो गये, क्योंकि दृश्य को पाने के पहले दृश्य को देखने से भी सुख प्राप्त होता है। सन्तों ने इसी का नाम सम्यग्दर्शन कहा है इसी को आस्था भी कहते हैं और आस्था जहाँ प्राप्त हो जाती है तब वह स्वयं ही रास्ता बताने लगती है। उसका दुख उसकी पीड़ा नहीं के बराबर हो जाती है। पीड़ा का अभाव तो नहीं लेकिन जब सुख प्राप्त करने की आस्था पूरी बन जाती है, विश्वास हो जाता है तो उसका दुख प्राय समाप्त हो जाता है। जैसे अध्ययनशील विद्यार्थी महीनों तक दिन रात एक करता है यहाँ तक कि निद्रा न आये इसलिए भोजन पर भी कंट्रोल करता है, चाय पी कर ही काम चलाता है किन्तु उत्तम श्रेणी में पास होने के परिणाम को पाकर सारी थकावट दूर हो जाती है। ठीक यही बात आप लोगों के साथ भी लागू हो जाती है। सफलता मिलने के उपरान्त तो प्रत्येक को हर्ष होता है यहाँ तो सफलता के चिह्न मात्र दिखाई दे जाने पर आनन्द की लहर आये बिना नहीं रहती।

जो प्राण कण्ठगत थे उन्हें विश्वास हो गया कि मैं अब बच जाऊँगा। पानी दिख गया किन्तु वहाँ पर पानी कहाँ से दिख गया? यह विचारणीय बात है। वहाँ पर पानी कहाँ से आया ? क्योंकि सारे जंगल को छान डाला था, फिर भी पानी कहीं नहीं मिलता था, यह ज्ञान उसे नहीं रहा और रह भी कैसे सकता है ? और एक धार उसे सामने से बहती हुई दिखाई दी, वह कहाँ से आ रही है? इस ओर उसने दृष्टिपात नहीं किया। धार कहाँ पर गिर रही है बस इतना देखकर उसने सोचा कि यहाँ से हमारा काम पूर्ण हो जायेगा। वह धार उसी पेड़ के ऊपर से आ रही थी। इसे कैसे पिया जाय? वह विकल्प मन में उत्पन्न हुआ। पेड़ बड़ का था अतः उसने सोचा कि इसके पत्तों का यदि दोना बना लिया जाय तो उसमें धार का पानी इकट्ठा किया जा सकता है और तीन चार दोना भर कर पी लेंगे तो अपना काम हो जायेगा। धार के नीचे दोने को रखा और वहीं बैठकर भरने की प्रतीक्षा करने लगा। दो चार दोने और बना कर रख लिये अपने पास में। पहला दोना जैसे ही भरने को हुआ तो धीरे से उठा लिया और अब पीना है, बहुत प्रतीक्षा के उपरान्त पानी मिला है, अब ज्यों ही दोने को हलके हाथों से पकड़कर पीने को है, उसी समय अचानक एक पक्षी आया और इधर से (हाथ करके दिखाना) यूँ चला गया और उसके माध्यम से दोना धक्का खाकर नीचे गिर गया, कोई बात नहीं दोने

को दुबारा रख लिया, उसके भरते ही पूर्व की भाँति उठा लिया और पीने ही वाला था कि वही पक्षी जो इधर गया था लौटकर आया और दोने को पुनः गिरा दिया। इस प्रकार का कार्य जब दो बार और तीसरी बार भी हो जाता है तब उस व्यक्ति को थोड़ा सा गुस्सा आ जाता है यह पक्षी कहीं प्रशिक्षित सा लगता है, मैं पानी पीना चाह रहा हूँ और यह बार-बार गिरा देता है, लगता है यह मेरे कार्य में व्यवधान करने के लिए ही आया है। जैसे किसी प्रश्न को यदि दो तीन बार दुहरा दिया जाय तो लगभग उत्तर का अनुमान लग सा जाता है, इसी प्रकार उसने भी अनुमान लगाया यह मेरे कार्य में व्यवधान उपस्थित कर रहा है। इस बार हाथ में चाबुक लेकर बैठा है, देखेंगे उसको, आने दो फिर से। इस बार भी दोना भर जाने के बाद ज्यों ही पीने को होता है पुनः वही पक्षी तेजी से आकर पंखों से गिरा देता है, दोना गिरते ही गुस्से में आकर उसने जोर से चाबुक मार दी। देखते ही देखते पक्षी....। छोटा सा तो था पक्षी, अब जरा विचार करो। उसके प्राण क्यों गये? क्या पानी के अभाव में? पानी के अभाव में तो नहीं गये क्योंकि पानी तो उसने पी रखा था। फिर उसके प्राण क्यों गये? यह एक प्रश्न है हमारा। प्रश्न मंच चल रहा था न अभी। एक हमारा भी प्रश्न है ? आखिरकार उसके प्राण क्यों गये?

जान बूझकर चले गये? मरना था इसलिए चले गये? दूसरा बच जाय, उसके पानी को गिरा दूँ इस उद्देश्य से चले गये? क्यों चले गये? एक रहस्यमय प्रश्न है। धीरे-धीरे मैं कथा को आगे बढ़ाकर आप को सोचने के लिए सुविधा कर रहा हूँ ताकि उसका उत्तर आप सभी के Mind (दिमाग) में आ जाये लेकिन मेरे विचारों से छोटों की अपेक्षा बड़ों के Mind (दिमाग) में इसका उत्तर बाद में आयेगा ऐसा मेरा सोचना है इन्हीं सब बातों को सोचते हुए यद्यपि इस उदाहरण को कई बार सुनाया है, पर अब की बार कुछ अलग ही ढंग से रखा जा रहा है। चार बार भरा हुआ दोना हाथ से गिर गया, उसे भरने में समय भी लगता है। अतः उसके मन में भाव आ गया कि जहाँ से यह धारा आ रही है वहाँ देखना चाहिए और शीघ्र ही पेड़ के ऊपर चढ़कर देखता है जहाँ से धारा आ रही थी। उस को देखते ही हक्का-बक्का सा रह गया उसे ज्ञात हो गया कि स्रोत के मूल में क्या है ? और यह घटना इतनी बार क्यों घटी इसके पीछे तोते का क्या अभिप्राय था? पूरा का पूरा भाव सामने आ जाता है। हम देखते हैं यह गाय, भैंस, यह घोड़े यह कुत्ते, यह जानवर, हमारी अपेक्षा निम्न कोटि के हैं, पर ऐसा नहीं है वे भी काफी समझदार होते हैं। हम अपने लिये तो समझते हैं कि हम ज्ञानी हैं, हम वैज्ञानिक हैं, हमारे पास बहुत शक्ति है, बहुत विवेक है, जीने की भी कला है, हम जीने वाले हैं। जीना! आप जानते हैं जीना का अर्थ क्या है ? जीना का एक अर्थ छत पर जाने के लिये सीढ़ी होता है इसके उपरान्त 'जी' ना। जी आपके लिए सम्बोधन में बहुत अच्छा लगता है। और कभी-

कभी कहते हैं आपका जी मचल रहा है, यानि जीना में से जी का एक अर्थ यह भी है।

जीना तो सबको आता है पर कैसे जीना यह सभी को ज्ञात नहीं है, पानी पीना तो सभी को आता है पर कैसे? पीना छानकर या यूँ ही, यह विशेष बात है। आप सोचते हैं छना हुआ मिल जाये तो ठीक अन्यथा बिना छना ही पी लेंगे क्योंकि भीतर तो छन्ने हैं ही, छन जायेगा। जब रस रुधिर आदि भी छानकर ही शरीर में काम आते हैं तब बिना छना पानी इसमें डाल भी दें तो कौन सी बड़ी बात?

नहीं बन्धुओ ऐसा नहीं है, 'वस्त्र पूत जल पिबेत्' वस्त्र के द्वारा छानकर ही पानी पीने के लिये कहा गया है। मछली का उदाहरण पहले इसलिये दिया था कि पानी के अभाव में मछली मर जाती है, हवा के अभाव में आप भी मर जाते हैं, उसी प्रकार प्राणों के रहते हुए भी हमारा जीना तब समाप्त सा हो जाता है जब हमारा विवेक काम नहीं करता।

यदि कोई व्यक्ति विवेक से ही हाथ धो बैठता है तो उसका जीना-जीना नहीं बल्कि संतों ने कहा है कि चलते-फिरते शव के समान है। उसका जीवन तो निकल चुका, उस व्यक्ति के सामने यही दृश्य उभर कर आया। वह विचारों में खो गया। ओ हो! मेरा अभी तक का जीना वास्तव में जीना नहीं रहा अब और क्या जीना? वह एक पक्षी तोता था, जो शाकाहारी था, जिसको फल रुचते थे, वह बड़े चाव से फलों को खाता था, जहाँ कहीं भी पानी मिल जाता पीकर अपना जीवन बिता लेता। पिंजड़े के बन्धन को स्वीकार कर आपके द्वारा दी गई सुख-सुविधायें भी उसे पसन्द नहीं थी। आकाश में मुक्त स्वतंत्रता का जीवन जीने वाला पक्षी सभी को प्यारा हो जाता है, वह बहुत छोटा सा था पक्षी, मुट्ठी भर प्राण थे उसके, गिर गया जमीन पर और....मर गया।

मरते दम तक अपने प्रण को निभाया। क्या प्रण निभाया था उसने यह विषय अब आपके सामने आ रहा है। वह एक राजा था। उसने एक व्यक्ति, दो व्यक्तियों को नहीं बचाया एक गाँव, नगर एक प्रांत को नहीं बचाया पूरे एक राष्ट्र को बचाया था। राष्ट्र को कैसे बचाया? कैसे बच सकता है? इतना बड़ा राष्ट्र एक पक्षी के द्वारा बच सकता है बन्धुओ! क्योंकि वह व्यक्ति राष्ट्र का मालिक था। सोचा आपने तोते ने ऐसा प्रयास क्यों किया? इसलिये कि यह राजा इस जल को पी न ले, क्योंकि यह जल नहीं है किन्तु प्राण को लेने वाला जहर है।

राजा ने ऊपर पेड़ पर जाकर जब देखा तो पाया एक महान् भयंकर अजगर सर्प जिसके मुख में से विष की धारा निकल रही थी और वह पत्तों के ऊपर से होते हुए एक धारा का रूप धारण किये थी। देखने से वह जल धारा जैसी ही लगती थी, तभी तो हर बार राजा उसे जल ही समझता रहा और तोता उसे बचाने का प्रयास करता रहा। पक्षी का पुरुषार्थ किसलिये था यह प्रश्न यदि किया जाये

तो उत्तर अपने आप मिल जायेगा। उसके प्राण क्यों चले गये? किसी के प्राण बचाने के लिये यदि प्राण चले जाते हैं तो कोई बात नहीं। और छोटे प्राणों की अपेक्षा यदि बड़े प्राणों को बचा लिया जाता है तो अपने आपमें बहुत बड़ी बात है। और धर्म की रक्षा के लिये यदि यह पार्थिव प्राण चले भी जाते हैं तो कोई बात नहीं क्योंकि आत्मा के प्राण तो वस्तुतः ज्ञानदर्शन ही हैं। विचार विवेक ही आत्मा के महान् प्राण माने गये हैं, वे उज्ज्वल और अखण्ड रूप में सदा विद्यमान रहते हैं, इन्हीं के माध्यम से इनका आगे का विकास होता है और ये प्राण कभी भी भौतिक प्रभाव में नहीं आने वाले । लेकिन यदि हमारा ध्यान उन प्राणों की ओर नहीं जाता या उन प्राणियों की ओर हम दृष्टिपात नहीं करते उनका महत्त्व नहीं समझते तो हमारे ये पार्थिव प्राण और उनकी रक्षा करना, सब व्यर्थ जैसा ही है।

....और राजा की आँखों से अश्रुधारा बहने लगी, इधर तोते की आँखों में आंसू नहीं है, ऐसा लग रहा है जैसे वह जिन्दा हो और देख रहा हो कि कहीं घटना घट न जाये, हो सके तो पुनः जीवन धारण करके उसको बचाऊँ, यह ज्ञान तोते को कैसे हुआ था? कहाँ से हुआ था? ध्यान रहे उसने भी एक संत के माध्यम से प्रवचन सुने थे, प्रवचन सुनने के लिये आप लोगों को तो व्यवस्था होती है, पर उस पक्षी ने कैसे सुना? यह कैसी बात है, वाह! आपके लिये नीचे बैठकर सुनने की व्यवस्था है तो वह पेड़ के ऊपर बैठकर सुन सकते हैं, आवाज तो जा सकती है वहाँ तक, आप लोग फिर भी इस कान से सुनकर उस कान से छोड़ सकते हैं पर पक्षी ऐसे नहीं होते, वे बहुत ध्यान से सुनते हैं उन्हें भी भावभासन होता है। गाय, कुत्ते, कबूतर आदि बोलते नहीं और बोलने से किसी प्रकार का अभिव्यक्तिकरण भी नहीं हो सकता, संकेत मात्र होता है उनके भावों का। धन्य है! बिना बोले भी श्रद्धान किया जा सकता है, बिना बोले भी व्रत पाले जा सकते हैं, बिना दिखावट-प्रदर्शन किये भी बहुत कुछ हो सकता है। राजा का मन पश्चाताप की अग्नि में झुलस रहा है, अब क्या करे वह? 'अब पछताये होत क्या जब चिड़िया चुग गई खेत', चुग गई क्या, चुग कर उड़ भी गई। यही चूक गये आप लोग, अब चिड़िया वापिस कहाँ से आये? अब कैसे आयेगी? हमने आज तक बहुत कुछ कहा, बहुत कुछ सुना फिर भी हम अपना जीवन नहीं बना पाये। अपने लिये और दूसरे के लिये आज तक हमारा जीवन अभिशाप ही सिद्ध हुआ है। राजा का दिमाग बहुत तेज होता है क्योंकि उसके हाथ में सारी प्रजा का संरक्षण रहता है किन्तु जब वही राजा विवेक खो देता है तो सभी का अहित भी कर देता है।

मुझे आज ज्ञान की बात नहीं करना है, आज तो मुझे विवेक की बात करना है। और वह विवेक कभी भी छोटा बड़ा नहीं होता, विवेक तो विवेक होता है। असली क्या? नकली क्या? धर्म क्या? अधर्म क्या? यह जब मिश्रण हो जाता है तब विवेक उसे विभाजित कर देता है। Mixing (मिश्रण) सहन नहीं है विवेक को। विवेक को हंस की उपमा भी दी जाती है। सभी पक्षियों में हंस

की विशेषता अलग होती है, उसकी चोंच में कुछ विशिष्ट शक्ति रहती है, जिसके कारण वह मिले हुए दूध पानी को पृथक्-पृथक् कर दूध-दूध पी लेता है। विवेकी ज्ञानी पुरुष की प्रकृति भी इसी तरह की होती है और 'हंसा तो मोती चुगे' ऐसा भी कहा जाता है। जल में जलचर जीव-जन्तु, मछलियाँ आदिक रहती हैं किन्तु उन्हें न खाकर मानसरोवर के तट पर रहने वाला वह हंस सिर्फ मोतियों को ही चुगता है। पक्षी भी अपने ज्ञान के माध्यम से सब काम करते हैं। ज्ञान के माध्यम से विवेक के माध्यम से कार्य करना ही उनका बहुत बड़ा पुरुषार्थ है। जिनका विवेक एक बार जाग्रत हो जाता है वे अधर्म से स्वयमेव बच जाते हैं। उनके लिये फिर किसी प्रकार के प्रशिक्षण की आवश्यकता नहीं होती। आपने देखा होगा यहाँ पर पचासों बन्दर घूमते रहते हैं, एक बन्दर को भी कुछ हो जाये तो एक ही आवाज में वे सब के सब इकट्ठे हो जाते हैं। उनके लिये आते समय, जाते समय, कूदते समय चोटें भी लग सकती है, तकलीफ भी हो सकती हैं, पर वे कहाँ आते हैं आपके चिकित्सालय में? हमने एक हाथ का भी बन्दर देखा है, एक ही हाथ था उसका (एक टूटा हुआ था) उसके लिये कोई कठिनाई न आ जाये इसलिये उसके इर्दगिर्द उसके साथी अन्य बन्दर भी रक्षा के लिये रहते थे। अब सोचना यह है कि उनकी चिकित्सा कैसे हो? दवाई की व्यवस्था क्या? कैसे? उनका भी जीवन है। उनके लिये मकान नहीं है, उनके लिये दुकान नहीं है, उनके लिये स्कूल नहीं है, कोई व्यवस्था नहीं है पर पूरा निर्वाह और बहुत बढ़िया।

शाकाहारी प्राणी वह शाखामृग माना जाता है, पेड़ की शाखाओं पर ही अपना जीवन गुजार लेता है। आप लोगों को चाहिए चार दीवार वाले मकान, मकान पर मकान और सारी व्यवस्थाएँ। एक टहनी के ऊपर एक शाखा के ऊपर पचासों बन्दर रहकर के रात गुजार लेते हैं, सुरक्षित रह जाते हैं, स्वतंत्रता के साथ रहते हैं। बन्दरों की कहानियों से, पक्षियों की कहानियों से, गाय, भैंस, सर्प इत्यादि की कहानियों से हमारे पुराण साहित्य संवृद्ध हैं और इन कहानियों के माध्यम से हमें आदर्श मिलता है, हमारा ज्ञान विवेक जाग्रत हो जाता है। उस तोते ने संकल्प लिया था कि अपने प्राण भले ही चले जायें किन्तु प्रण नहीं छोड़ूँगा। यदि मेरे से महान् व्यक्ति कोई, संकट में फँसा है तो अपने प्राणों की भी बाजी लगाकर उसकी रक्षा करूँगा और जब तक कण्ठ में प्राण रहे तब तक उस व्यक्ति की रक्षा की। वह व्यक्ति कौन था?

वह एक राजा था। राजा को समझ में कब आया? बच्चों से पहले आया कि बाद में आया। एक बार संकेत.....समझ में नहीं आया, दो बार संकेत........नहीं आया, तीसरी बार और चौथी बार में भी संकेत समझ में नहीं आया प्राणान्त होने को है तब भी नहीं, जब प्राणों का विसर्जन उत्सर्ग हो गया, जब प्राण ही छूट गये, तब उसके दिमाग में Indirect (परोक्ष) बात आ गई कि प्राणों की रक्षा के लिये पानी की आवश्यकता तो होती है पर वह कैसा है ? कहाँ से आ रहा है? इस पर, भी

ध्यान देना जरूरी है। प्राण निकलते हुए भी तोते की आँखों में पानी नहीं आया है और राजा के प्राण नहीं निकले फिर भी आँखों से पानी क्यों आता रहा, इस प्रश्न का हल हमने नहीं किया, इस समस्या का समाधान हमने नहीं किया बल्कि उस विवेकी तोते ने किया। राजा सोचता है, तोते ने मेरे प्राणों की रक्षा की और मुझे विवेक की शिक्षा दी। क्या-क्या नहीं दे दिया? ऐसी शिक्षा आज तक नहीं मिली हमें। ऐसा प्रसंग न कहीं देखा न कहीं सुनने को मिला कि एक छोटे से पक्षी के द्वारा महान् राष्ट्र के पालक राजा की रक्षा हो सकती है, निश्चित ही वह पक्षी राष्ट्र के लिये समर्पित धर्मात्मा था।

बंधुओ! जो दिखाई देते हैं वह सब भेद बाहर के ही हैं, भीतर से सभी की आत्मा एक है, चेतन का स्वरूप प्रत्येक शरीर में एक जैसा है। मैं सुखी, मैं दुखी, मैं रंक-राव आदि अनेक विकल्पों के साथ हम जीते रहते हैं। मैं सेठ हूँ, मैं साहूकार हूँ, मैं दीन दरिद्री हूँ यह सब प्रत्यय These are External सब बाहरी प्रत्यय है, भीतरी आत्मा के साथ इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। धन जड़ है और आप चेतन अब यदि आप धन की वजह से अपने को बड़ा मानते हो आत्मा का विकास मानते हो तो अच्छे ढंग से धन को खूब भर लो ताकि अच्छा विकास हो जाये लेकिन ऐसा नहीं होता आत्मा के प्रदेश उतने ही रहते हैं जितने थे, ज्ञान भी उतना ही रहता है फिर विकास किस बात का?

यह मान्यता हमारे मन की है और ये मान के कारण हुआ करती है। कितना अज्ञान, कितना अविवेक हमारे जीवन में आता जा रहा है जिसकी वजह से इस आत्म तत्त्व का भी मूल्य कम होता जा रहा है। स्वार्थ सिद्धि और क्षणभंगुर जीवन की रक्षा के लिये अनाप-शनाप सामग्री का संग्रह पता नहीं इन्सान को कहाँ ले जायेगा। हमारी मान्यतावश लगता जरूर है प्रारम्भ में कि हमें कुछ सुख मिल रहा है, हमारी रक्षा हो रही है, पर यह सब भ्रम मात्र है सिर्फ मान कषाय की अपेक्षा है। जिन्होंने विवेक की धरती पर इन सब बातों को जाना है, सोचा है, विचारा है, उन्हीं का जीवन धन्य है और व्यक्तियों के जीवन तो प्रवाह मात्र हैं, हवा के झौंके की तरह आये और गये, हरी-भरी डालों पर पक्षी आये, बैठे और उड़ गये। अनन्त काल से यूँ ही जीवन व्यतीत हो रहा है, ज्ञान स्वभावी होकर भी हम भटकते चले जा रहे हैं।

तोते के प्राण निकल गये, अब पानी कैसे पी सकता है वह राजा? अभी तक कितना प्यासा था, कहाँ चली गई उसकी वह प्यास? पानी की खोज करेगा क्या अब? ऐसी स्थिति में कैसे कर सकता है वह खोज, सामने तोते का मृत शरीर पड़ा हुआ है, बस गहन गंभीर ऊहापोह, विचारों का मन्थन और प्यास गायब। अभी तक तो प्यास के द्वारा तड़फ रहा था, बैचेन था पर अब वह बैचेनी कहाँ चली गई? बताइये आप, कोई बतायेगा क्या? इस प्रश्न का कोई है उत्तर आपके पास? पानी पिये वह, कौन रोक रहा है उसे? प्राणों की रक्षा करना है न, प्राणियों की रक्षा करना है न, प्रजापालक

प्रजारक्षक कहलाता है न। तब ये निरीह भोले-भाले पशु पक्षी भी तो प्राणी हैं, इनके भी प्राण हैं, इन्हें भी तो सुख - दुख का अनुभव होता है। दो न इन्हें शरण, करो न इनकी रक्षा, क्यों कर्त्तव्य को भूल रहे हो, निभाओ न अपना दायित्व और कुछ नहीं तो कम से कम अपनी ही रक्षा कर ले, पीले न पानी। पर वह पानी नहीं है, वह है जहर जो कि सोते हुए सर्प के मुख से निकलकर धार जैसा बह रहा है। विषैले प्राणियों के अन्दर स्वभावतः ही जहर होता है, वह कुछ भी खा ले, पी ले पर वह अन्दर जाकर जहर ही बनेगा। और वह जहर उन्हें स्वयं घातक नहीं होता दूसरे प्राणियों को ही होता है। राजा के पास अब विवेक आ गया है, अब वह उसे पी नहीं सकता है, क्योंकि वह तो जल पीना चाह रहा था।

इस विवेक को कहाँ से पाया राजा ने? एक पक्षी से पाया। प्रायः करके जितने भी शाकाहारी पशुपक्षी होते हैं वे सब जहरीले प्राणियों को पहचानते हैं। हमारे से कहीं ज्यादा उन्हें प्रकृति का ज्ञान होता है। मौसम बिगड़ने वाला है या कोई आपत्ति आने वाली है इसकी सूचना उन्हें पूर्व में ही मिल जाती है और वे सावधान हो जाते हैं। कई पक्षी संकेतों को पाकर तालाब-सरोवर को छोड़कर अन्यत्र चले जाते हैं क्योंकि अब पानी का स्तर बढ़ जायेगा और हमारी रक्षा यहाँ पर नहीं हो सकेगी। यह सब ज्ञान के माध्यम से होता है, इसलिये अब दूरदर्शन रखने की आवश्यकता नहीं बल्कि दूरदृष्टि रखने की आवश्यकता है। यह दूरदृष्टि कैसे प्राप्त होती है तो दूर देखने से नहीं बल्कि पास देखने से, कर्त्तव्य की ओर अग्रसर होने से प्राप्त होती है। निकट दृष्टि और दूरदृष्टि दोनों ही अपने आप में बहुत महत्त्वपूर्ण हैं जो केवल विवेक के आधार पर ही प्राप्त हो सकती हैं। इनके द्वारा जीवन का निर्वाह नहीं निर्माण होता है। अनन्त काल के लिये वह वैभव प्राप्त हो सकता है जो आज तक कभी प्राप्त नहीं हुआ है।

आँखों को मलता हुआ राजा अपने हाथ में जो चाबुक लिये था, उसे देखता है। आह! जो चाबुक घोड़े को वश में करने के लिये था उस चाबुक का प्रयोग इस छोटे से प्राणी पर कर दिया। कहाँ चली गई थी उस समय दया? 'दया धर्म का मूल है पाप मूल अभिमान' और ''धम्मो दया विशुद्धो' यह बोधवाक्य क्यों याद नहीं आये? बंधुओ दया और अभय का धर्म से गहरा सम्बन्ध है। वीतरागी जीवन में हमें ये सहज ही दिखाई दे सकते हैं।

शान्तिनाथ भगवान् की प्रतिमा को देखिये...देखते ही रहिये, कितनी शान्ति मिलती है आत्मा को। एक-एक अंग से वीतरागता टपक रही है, अभय और करुणा मानो रग-रग से फूट रही हो। कुछ भी प्रतिकार नहीं है, चाहे आप कैसे ही भाव करो यहाँ तक कि प्रहार भी करो पर आपका प्रभाव उनके ऊपर कुछ भी नहीं पड़ने वाला। धन्य हैं वे भगवान् और उनकी प्रतीक ये मूर्तियाँ। इन मूर्तियों के माध्यम से यह ज्ञात होता है कि हमें अपने जीवन की रक्षा करने का मतलब अपने आप

की ही रक्षा करना है। यदि हम दूसरे के जीवन को समाप्त करेंगे तो क्रोध, मान, माया, लोभ के माध्यम से ही करेंगे तब निश्चित है कि उन कषायों के माध्यम से हमारा जीवन भी नष्ट हो जायेगा।

हमारा यह जीना वास्तव में जीना नहीं वह तो एक प्रकार से मरने के समान है। यह मान रखा है हमने कि हम जीव हैं, जी रहे हैं। किन्तु यथार्थ जीवन तो वह जीवन है जिसमें शरीर भी छूट जाये तो परवाह नहीं क्योंकि शरीर सो मैं नहीं हूँ यह विवेक जब जागृत होता है तब सब पृथक्-पृथक् दिखने लगता है। शरीर में आत्मा विद्यमान है यह ज्ञान है लेकिन विवेक के आते ही वह शरीर से पृथक् प्रतिभासित होने लगती है। आज के वैज्ञानिक, शरीर के बारे में सब कुछ जानते हैं, यह सारी की सारी जानकारी डॉक्टरों, वैज्ञानिकों के पास रहते हुए भी वह उस Material (पदार्थ) से बनी काया पर मुग्ध हो जाते हैं परन्तु विवेक कभी मुग्ध नहीं होता और जल्दबाजी में कभी क्षुब्ध भी नहीं होता। जबकि यह राग सहित विज्ञान मुग्ध भी हो जाता है और क्षुब्ध भी हो जाता है, सब कुछ हो सकता है क्योंकि अभी कषायें हैं।

प्राणों की रक्षा के लिये तोते ने संकल्प किया था, और अकेले अपने प्राणों की ही नहीं किन्तु दूसरों की भी रक्षा का प्रसंग आता है तो हम दूसरों की रक्षा पहले करेंगे और उस तोते ने एक बहुत बड़ा काम किया, एक बहुत बड़ा आदर्श प्रस्तुत किया। अपने घोड़े पर बैठकर राजा उस तोते को दरबार में ले गया और सभी के सामने राजा ने घटित घटना को दुहरा दिया, इस तोते ने एक व्यक्ति की रक्षा की, जहर पीते हुए व्यक्ति को बचाया मगर उस व्यक्ति ने जिसे इसने बचाया, इस तोते को मार डाला, ऐसी स्थिति में बताओ (सभा के लिये कहा).......अब उस व्यक्ति के लिये क्या दण्ड दिया जाना चाहिए? और अपनी बात को रहस्य में रख दी राजा ने। दरबार में सभी ने यही कहा कि उस ओर तो देखना भी नहीं चाहिए, क्योंकि ऐसे उपकारक जीव के प्रति इस प्रकार का व्यवहार, वह यहाँ पर किसी भी प्रकार से रहने का अधिकारी नहीं, उसका जीना और मरना ' This are Equal दोनों समान हैं कोई अन्तर नहीं है, इस प्रकार के व्यक्ति धरती पर भार ही हैं। राजा पुनः कहता है, यदि वह व्यक्ति यही आ जाता है तो?

तो उसे इसी समय बाहर निकाल देंगे, राज्य में रहने नहीं देंगे, सभी ने एक स्वर में कहा।

'वह व्यक्ति मैं हूँ', राजा ने कहा।

आप! सब डर गये, एकदम सन्नाटा छा गया दरबार में।

हाँ! वह व्यक्ति ''मैं ही हूँ'' जब राजा यह कह देता है तब मंत्री सोच में पड़ जाता है, कुछ क्षण विचार कर कहता है, नहीं राजन्! आपके लिये दण्ड नहीं दिया जायेगा। यदि आपके लिये भी दण्ड दिया जाये तो हम सबका क्या होगा? देखो! दुनियाँ अपने स्वार्थ के पीछे न्याय और सत्य का पक्ष भी नहीं लेती। पहले सभी ने कहा था कि ऐसा विवेकहीन व्यक्ति हमारे राज्य में रहने के लायक

नहीं, उसे दण्ड मिलना चाहिए पर कहाँ गया वह न्याय?

राजा ने पुनः कहा कि नहीं, मुझसे अपराध हुआ है मुझे दण्ड मिलना ही चाहिए किन्तु इतना जरूर है प्रसंग कुछ अलग था, प्यास जोरों से सता रही थी, पानी पीने को गया, तोते ने उसे बार-बार गिरा दिया, क्रोध आ गया और उतावली में यह घटना घट गयी, अपराधी तो हूँ ही, दण्ड मुझे अवश्य मिलना चाहिए। क्या दण्ड दिया जाय आपको राजन्! ....राजन्! अभी मैं राजा नहीं हूँ दुनियाँ की दृष्टि में....। हाँ! मंत्री ने धीरे से कहा और फिर कहना प्रारंभ कर दिया कि महाराज गल्ती तो हुई है जो क्षम्य नहीं है, कुछ तो दण्ड मिलना ही चाहिए? कुछ दण्ड क्यों अभी-अभी तो आप लोग बहुत कुछ कह रहे थे। हाँ राजन्! पर आपको विवेक आ गया, अपराध बोध हो गया यही सबसे बड़ा दण्ड है। यह थी पुरानी दण्ड संहिता, मर्यादा, दूरगामी दृष्टि, न्याय नीतियाँ। राजा ने अब कुछ हल्कापन सा महसूस किया, उन्हें लगा कि कुछ भार सा उतर गया है और उन्होंने कहा कि हम और आप सब मिलकर प्रजा की रक्षा करें और सुख-दुख में एक दूसरे के पूरक बनें।

जीवन क्या है ? मरण क्या है ? इसके रहस्य को समझें। वस्तुतः यह तन-मन-धन और यह प्राण सब व्यवहारिक हैं, यह भीतरी नहीं हैं, सब क्षणिक वस्तु हैं, एक संयोग है जिसके साथ वियोग जुड़ा हुआ है। उषा बेला आती है तो निशा भी उसके साथ-साथ आ जाती है। रात के बाद दिन और दिन के बाद रात यह आज की देन नहीं बल्कि अनादि से चला आ रहा क्रम है। ज्यादा क्या कहूँ? आपका जीवन और कुछ नहीं मात्र एक सप्ताह में बंधा हुआ है। जब कभी भी अतीत में झाँकेंगे हम तो सात दिनों में ही बंधे मिलेंगे। क्योंकि एक सप्ताह में सात ही वार तो होते हैं।

तिथियाँ पन्द्रह बनाई गई हैं, वार (दिन) सात ही हैं, और दिन देखो तो १२ घंटे का ही होता है क्योंकि ८ घंटे की रात सोने में निकल जाती है। एक बार जीवन का लेखा-जोखा करके देखो, कितने दिन आये, कितनी रातें आई। यदि ५० साल की उम्र है, तो २५ साल तो रात में निकल गये, रहे आपके २५ साल सो उसमें खाने-पीने धन्धा-व्यापार रोग इत्यादि में बहुत सा समय निकल गया। बालपन, अज्ञान दशा में, विवेक के अभाव में कितना समय चला गया पता ही नहीं, यूँ समझिये वह मिला ही नहीं, वह मिलना कोई मिलना नहीं है वह तो मिट्टी में मिलना है। यह सब पार्थिव शरीर की लीला है, आत्मा की लीला तो अपरम्पार है, मगर कौन देखता है उसकी ओर? सारी प्रजा ने समर्थन किया इस बात का कि अब अपने को उतावलेपन में कोई अविवेक पूर्ण कार्य नहीं करना है। कोई भी बात हो, पहले सोचो-विचारो फिर विवेकपूर्ण निर्णय लो तभी परिणाम कुछ अच्छा निकल सकता है। इसलिये ये तीन बातें जो किसी ने कही हैं हमें हमेशा ध्यान रखनी चाहिए। नो करी (NO CURRY) का अर्थ है, तामसता न हो, नो वरी (NO WORRY) का अर्थ है, चिन्ता न हो और नो हरी (NO HURRY) का अर्थ है, उतावली न हो। तो वह उतावली कब होती

है ? आगे-पीछे बिना सोचे विचारे उतावली कर जाते हैं और फिर बाद में पश्चाताप करते हैं। एक तोते ने विवेक से काम किया और एक राजा ने उतावली से काम किया, उतावली से काम करने का परिणाम एक निष्ठावान देशभक्त प्राणी को खो दिया और जीवन भर के लिये पश्चाताप हाथ लगा। वह महान् पक्षी जिसका जीवन ही आदर्शमय था, ज्ञानमय था क्योंकि उसने अपने जीवन को परोपकारमय बनाया, पर की रक्षा में लगाया उसका त्याग.....त्याग है, क्योंकि दूसरों की रक्षा में उसने अपने आपको भी बिना किसी स्वार्थ के खो दिया। वह खोया कहाँ? उसकी कथा, उसका आदर्श जीवन आज भी मौजूद है।

इस प्रकार के भाव विचार ही जीवन में उच्च आचार को लाते हैं तथा उच्चतम स्थान दिलाने में कारण होते हैं। अच्छे कार्य करने से ही अच्छे पद मिला करते हैं। बुरा कार्य करने से कभी भी अच्छे पद नहीं मिला करते।

अच्छे पद के लिये अच्छे कार्यों को भी कमर कस कर, कर लेना चाहिए। किन्तु यह भी ध्यान रहे कि सत्य के साथ ही अच्छे कार्य हुआ करते हैं। सत्य की भूमिका यदि नहीं है तो कोई भी कार्य अच्छा नहीं माना जायेगा। सत्य और अहिंसा का बहुत गहराई से सम्बन्ध है। यदि एक हाथ में हमारे सत्य है तो दूसरे में अहिंसा होनी चाहिए। दोनों मिल जाते हैं तो बड़े से बड़े राष्ट्रों की भी रक्षा की जा सकती है, उन्नति-विकास किया जा सकता है। समय आपका हो गया है, आज की इस तोते की कथा को यदि आप याद रखेंगे, उसकी दृढ़ धारणा, भावना और पुरुषार्थ को जीवन में उतारने का प्रयास करेंगे तो निश्चित ही मानिये कि आपका जीवन भगवान् महावीर से जुड़ जायेगा। अहिंसा, सत्य, अचौर्य और अपरिग्रहादिक के जो उदाहरण हैं वह मात्र उदाहरण ही नहीं बल्कि जीवन है और जीवन ही नहीं एक प्रकार से उसे चलाने वाले प्राण हैं। यह धर्म का जीवन है, धर्म के प्राण हैं जो किसी प्रकार से नष्ट होने वाले नहीं; छूटने वाले नहीं हैं क्योंकि मिटने वाला आत्मा का स्वभाव नहीं होता। ज्यों का त्यों बना रहता है वही वास्तव में जीवन है। उसी प्रकार के जीवन के लिये, उसी आदर्श के लिये अब हम नये सिरे से सोचें, विचारें और विवेक से काम करें। तभी हमारा जीवन सुरक्षित, उन्नत और आदर्शमय हो सकता है।

❑ ❑ ❑

ब्रह्मचर्य : चेतन का भोग

ब्रह्मचर्य से अर्थ वस्तुतः, सही-सही मायने में है- चेतन का भोग। ब्रह्मचर्य का अर्थ भोग से निवृत्ति नहीं है, भोग के साथ एकीकरण और रोग-निवृत्ति है।

जड़ के पीछे पड़ा हुआ व्यक्ति, चेतन द्रव्य होते हुए भी जड़ माना जायेगा। जिस व्यक्ति के जीवन का लक्ष्य आत्मा नहीं है वह गुलाम है। बोध की चरम सीमा होने के उपरान्त ही शोध हुआ करता है। उस बोध को ही शोध समझ लें तो गलत है और आज यही गलती हो रही है। शोध का अर्थ है-अनुभूति होना।

मणिमय मन हर निज अनुभव से, झग-झग झग-झग करती है,
तमो - रजो अरु सतो गुणों के, गण को क्षण में हरती है।
समय - समय पर समयसार मय, चिन्मय निज ध्रुव मणिका को,
नमता मम निर्मम मस्तक तज, मृणमय जड़मय मणिका को॥

(निजामृतपान)

धर्म प्रेमी बन्धुओ! भगवान् महावीर ने जो सूत्र हमें दिये, उनमें पाँच सूत्र प्रमुख हैं, उनमें से चौथा सूत्र है ब्रह्मचर्य जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

पतित से पावन बनने का यह एक अवसर है। यदि हम इस सूत्र का आलम्बन लेते हैं तो अपने आपको पवित्र बना सकते हैं। ब्रह्मचर्य की व्याख्या आप लोगों के लिए नई नहीं है, किन्तु पुरानी होते हुए भी उसमें नयेपन के दर्शन अवश्य मिलेंगे। ब्रह्मचर्य का अर्थ है-अपनी परोन्मुखी उपयोग धारा को स्व की ओर मोड़ना, बहिर्दृष्टि-अन्तर्दृष्टि बन जाये, बाहरी पथ-अन्तर पथ बन जाये। बहिर्जगत् शून्य हो जाये, अन्तर्जगत् का उद्घाटन हो। यह ध्यान रहे कि ब्रह्मचर्य का अर्थ वस्तुतः सही-सही मायने में है - 'चेतन का भोग।' ब्रह्मचर्य का अर्थ भोग से निवृत्ति नहीं, भोग के साथ एकीकरण और रोग निवृत्ति है। जिसको आप लोगों ने भोग समझ रखा है वह है रोग का मूल और ब्रह्मचर्य है जीवन का एकमात्र स्रोत।

दस साल विगत प्राचीन बात है, एक विदेशी आया था, वह कह रहा था कि ब्रह्मचर्यपूर्वक रहना कठिन है, आप इसे न अपनायें क्योंकि आज के जितने भी वैज्ञानिक हैं उन सबने यह सिद्ध किया है कि भोग के बिना जीवन नहीं है। मैंने भी उन्हें यही समझाया कि भोग जहाँ पर है वहीं पर जीवन है, यह मैं भी मानता हूँ लेकिन जिसे आप भोग समझते हैं उसको मैं भोग नहीं समझता, उसे तो मैं रोग समझता हूँ। आपके भोग का केन्द्र भौतिक सामग्री है और मेरे भोग की सामग्री बनेगी 'चैतन्य शक्ति'।

विषय वासना मृत्यु का कारण है, मृत्यु दुख है, दुख का कूप है और ब्रह्मचर्य जीवन है, आनन्द है, सुख का कूप है। आप सुख चाहते हैं, दुख से निवृत्ति चाहते हैं तो चाहे आज अपनायें, चाहे कल अपनायें, कभी भी अपनायें किन्तु आपको अपनाना यही होगा। रोग की निवृत्ति के लिए औषधपान परमावश्यक होता है। बिना औषधपान के रोग ठीक नहीं हो सकेगा।

भगवान् महावीर ने जो चौथा सूत्र ब्रह्मचर्य का दिया है वह बहुत महत्त्वपूर्ण है, अपने में पूर्ण है। आज तक जितने भी अनन्त सुख के भोक्ता बने हैं उन सबने इसका समादर किया है और जीवन में अपनाया है, अपने जीवन में इसको स्थान दिया है, मुख्य सिंहासन पर विराजमान कराया है इसे, भोग-सामग्री को नहीं। ब्रह्मचर्य पूज्य बना किन्तु भोग सामग्री आज तक पूज्य नहीं बनी। हाँ ब्रह्मचर्य पूज्य तो आपकी दृष्टि में भी बना किन्तु पूजा तो भोग-सामग्री की हो रही है आप लोगों के द्वारा, यह एक दयनीय बात है, दुख की बात है। जैन साहित्य या अन्य कोई दार्शनिक-साहित्य देखने से विदित होता है कि आत्मा को सही-सही रास्ता तभी मिल सकता है जब कि हम उस साहित्य का अध्ययन, मनन, चिन्तन व मन्थन करें। हम मात्र उसे सुनते हैं। सुनने से पहले यह सोचना होगा कि हम क्यों सुन रहे हैं ? दवाई लेने से पूर्व हम यह निर्णय अवश्य करते हैं कि दवा क्यों ली जाये? एक घंटे यदि श्रवण करते हैं तो मैं समझता हूँ कि इसके लिए कम से कम आठ घन्टे चिन्तन-मनन-मन्थन आवश्यक है। मैं कैसे खिलाऊँ आप लोगों को कैसे पिलाऊँ आप लोगों को, जबकि आप लोगों की पाचन की ओर दृष्टि ही नहीं है। वह पचेगा नहीं तो दुबारा खिलाना ही बेकार चला जायेगा। उस खाये हुए अन्न को मात्र विष्ठा नहीं बनाना है, उसमें से सारभूत तत्त्व को अपनी जठराग्नि के माध्यम से पकड़ना है। जठराग्नि ही नहीं तो फिर क्या होगा? संग्रहणी के रोगी को जैसे होता है कि ऊपर से डालते हैं वह वैसे ही निकल जाता है, उसी प्रकार आपकी स्थिति है। पर फिर भी कुछ गुंजाइश है, जठराग्नि कुछ उत्तेजित हो जाये और कुछ हजम हो जाये तो ठीक ही है।

उपयोग की धारा को बाहर से अन्दर की ओर लाना है, तभी ब्रह्मचर्य व्रत पालन हो सकता है अथवा यूँ कहिये कि उपयोग की धारा जिस पदार्थ में अटक रही है उस पदार्थ से वह स्थानान्तरित (Transfer) हो जाये और गहराई तक उतरने लग जाये। चाहे अपनी आत्मा में भी जाये, चाहे दूसरे की आत्मा में भी जाये पर उपयोग को खुराक मिलनी चाहिए 'आत्मतत्त्व' की, जड़ नहीं अपितु चैतन्य की! जहाँ पर बहुत सारी निधियाँ हैं, बहुत सारी संख्या बिछी हुई है। वह सम्पदा उस उपयोग की खुराक बन सकती है, सही-सही मायने में वही खुराक है और इसके लिए हमारे आचार्यों ने ब्रह्मचर्य व्रत पर जोर दिया है, क्योंकि उस आत्मा को एक बार तृप्त करना है जो अनादिकाल से तप्त है।

ब्रह्मचर्य का विरोधी धर्म है 'काम', इस काम के ऊपर विजय प्राप्त करनी है। यह काम और

कोई चीज नहीं है, ध्यान रखिये वही उपयोग है जो कि बहिर्वृत्ति को अपनाता जा रहा है उसी का नाम है काम। वही उपयोग, जो कि भौतिक सामग्री में अटका हुआ है, वही काम है महाकाम है, यह अग्नि अनादिकाल से जला रही है उस आत्मा को। कामाग्नि बुझे और आत्मा शांत हो। उस कामाग्नि को बुझाने में दुनियाँ का कोई पदार्थ समर्थ नहीं है, बल्कि यह ध्यान रहे कि उस कामाग्नि को प्रदीप्त करने के लिए भौतिक सामग्री घासलेट-तेल का काम करती है। आपको यह आग बुझानी है, या उदीप्त करनी है ? नहीं, नहीं! बुझानी है, ये चारों ओर जो लपटें धधक रही हैं उसमें से अपने को निकालना है और वहाँ पर पहुँचना है जहाँ चारों ओर लपटें आ रही हैं शान्ति की, आनन्द की, सुख की। हम यहाँ एक समय के लिए भी आनन्द की श्वास नहीं ले रहे हैं। ऐसे दीर्घ श्वास तो निकल रहे हैं जो कि दुख के, परिश्रम के प्रतीक हैं श्वाँस की गति अवरूद्ध नहीं है, चल रही है, अनाहत चल रही है किन्तु आनन्द के साथ नहीं क्योंकि मृत्यु की स्मृति या मृत्यु का वार्तालाप भी सुनते ही हृदय की गति में परिवर्तन आ जाता है और विषय की, वासनाओं की जो लहर चल रही है उसमें आप रात दिन आपाद कण्ठलीन हैं, उसी का परिणाम दुख के साथ श्वास है, सुख के साथ नहीं।

इस काम के ऊपर विजय प्राप्त करना है अर्थात् अपने बाहर की ओर जा रहे उपयोग को जो कि भौतिक सामग्री में अटक रहा है उसे आत्मा में लगाना है। आत्मा में नहीं लगा पाते इसीलिए कामाग्नि धधक रही है।

काम पुरुषार्थ का उल्लेख मिलता है भारतीय साहित्य में। कई लोगों की इस काम-पुरुषार्थ के बारे में यह दृष्टि रह सकती है कि काम-पुरुषार्थ का अर्थ भोग है, पर लौकिक नहीं चैतन्य का। सही-सही मायने में वह काम-पुरुषार्थ से ही मोक्ष-पुरुषार्थ की ओर जाना है। वह काम-पुरुषार्थ की ओर देखते हुए, उसका अध्ययन करते हुए क्या मोक्ष-पुरुषार्थ में जा सकता है क्योंकि वहाँ से जाने का कोई रास्ता नहीं है ? लेकिन काम-पुरुषार्थ का अर्थ बाह्य वातावरण में घूमते रहना ही नहीं लेना चाहिए, काम-पुरुषार्थ का अर्थ ही है गहरे उतरना। काम+पुरुष+अर्थ, इन तीन शब्दों के योग से 'काम-पुरुषार्थ' यह पद निष्पन्न हुआ है। काम-पुरुष-अर्थ, काम अर्थात् भोग, पुरुष अर्थात् प्रयोजन। पुरुष के लिए काम आवश्यक है, पुरुष के दर्शन के लिए नितान्त आवश्यक है, इसके बिना वहाँ पहुँच नहीं सकते हम। अर्थात् चैतन्य भोग के बिना हम आत्मा तक पहुँच ही नहीं सकते। पहुँचना वहीं पर हैं-पुरुष तक पहुँचने के लिए यह काम (चैतन्य भोग) सहायक तत्त्व है। आप लोग पुरुष तक नहीं पहुँच पाते, पुरुष तक पहुँचने वाले ही पुरुषार्थी होते हैं और भौतिक सामग्री में ही अटकने वाला गुलाम होता है। आप तो गुलाम हैं आप मानो या न मानो, क्योंकि जिस व्यक्ति के जीवन का लक्ष्य पुरुष (आत्मा) नहीं है वह गुलाम तो है ही। जड़ के पीछे पड़ा हुआ व्यक्ति चेतन द्रव्य होते हुए भी जड़ माना जायेगा, इसमें कोई संदेह नहीं है और जो लक्ष्य से पतित हैं वे भटके हुए

माने जायेंगे इसमें कोई सन्देह नहीं है।

काम-पुरुषार्थ से धीरे-धीरे उन्नत करने के लिये यह भारतीय आचार संहिता है जो कि विवाह के ऊपर जोर देता है। कई लोगों की दृष्टि हो सकती है कि विवाह अर्थात् ब्रह्मचर्य से स्खलित करना, किन्तु नहीं! ब्रह्मचर्य के और निकट जाना है यह शार्टकट है, घुमावदार रास्ता है वहाँ पर जाने के लिये, क्योंकि विवाह की डोरी में बंधने के बाद वह आत्मा फिर चारों ओर से अपने आप को छुड़ा लेता है और उस डोरी के माध्यम से वह आत्मा तक पहुँचने का प्रयास करता है। कोई किसी बहाव को देश से देशान्तर ले जाना चाहते हैं तो उसे रास्ता देना होगा तभी वह बहाव वहाँ तक पहुँच पायेगा अन्यथा बह मरुभूमि में समाप्त हो जायेगा। आप लोगों का उपयोग भी आज तक पुरुष के पास इसलिये नहीं पहुँच रहा है कि इस तक बहने के लिये कोई रास्ता आपके पास नहीं है और अनन्तों में जब बह बहने लग जाता है तो वह उपयोग सूख जाता है क्योंकि छद्‌मस्थों का ही तो उपयोग है। उस उपयोग के लिये, उस झरने के लिये कुछ रास्ता आवश्यक है, अनन्तों से वह रास्ता बन्द हो जाता है। इसके लिये सही-सही रास्ता आवश्यक है और वही है काम, वही है असली विवाह, जिसके माध्यम से वह वहाँ तक जा सके। आपने विवाह के बारे में सोचा है कुछ आज तक? जहाँ तक मैं समझता हूँ इस सभा में ऐसा कोई भी नहीं होगा जो विवाह से परिचित न होगा, लेकिन विवाह के उपरान्त भी वह पुरुष (आत्मा) के पास गया नहीं, इसलिए विवाह केवल एक रुढ़िवाद रह गया है।

विवाह से अर्थ काम-पुरुषार्थ है और यह आवश्यक है, किन्तु इस विवाह के दो रास्ते हैं एक गृहस्थ आश्रम सम्बन्धी व दूसरा मुनि आश्रम सम्बन्धी। आप लोगों ने उचित यही समझा कि गृहस्थाश्रम का विवाह ही अच्छा है। अनन्त भोग सामग्रियों से आपको मुक्ति मिलनी चाहिए थी किन्तु नहीं मिल पाई। जिस समय विवाह-संस्कार होता है उस समय उस उपयोगवान आत्मा में संकल्प दिया जाता है पंडितजी के माध्यम से कि अब तुम्हारे लिये संसार में जो स्त्रियाँ हैं वे सब माँ बहिन और पुत्री के समान हैं। आपके लिए एकमात्र रास्ता है, इसके माध्यम से चैतन्य तक पहुँचने का।

प्रयोगशाला में एक विज्ञान का विद्यार्थी जाता है, प्रयोग करना प्रारम्भ करता है जिस पर प्रयोग किया जाता है उसकी दृष्टि उसी में रुक जाती है और वह अपने आपको भूल जाता है पास-पड़ोस को तो भूल ही जाता है, स्वयं को भी भूल जाता है। एकमात्र उपयोग काम करता है तब वह विज्ञान का विद्यार्थी सफलता प्राप्त करता है, प्रयोग सिद्ध कर लेता है प्रेक्टीकल के माध्यम से वह विश्वास को दृढ़ बना लेता है ऐसी ही प्रयोगशाला है विवाह। विवाह का अर्थ है दो विज्ञान के विद्यार्थी पति और पत्नि। पत्नी के लिये प्रयोगशाला है पति और पति के लिये प्रयोगशाला है पत्नी, पत्नी का शरीर नहीं आत्मा! यह ध्यान रहे कि वे ऊपर से स्त्री व पुरुष हैं पर अन्दर से दोनों पुरुष

हैं (अर्थात् आत्मा हैं)। स्त्रियाँ भी पुरुष के पास जा रही हैं और पुरुष भी पुरुष के पास जा रहे हैं। दोनों पुरुष हैं पर ऊपर स्त्री पुरुष के वेद के भेद हैं। किन्तु वेद के भेद ही वहाँ पर अभेद के रूप में परिणत हो रहे हैं और अभेद की यात्रा प्रारम्भ हो रही है, यह है विवाह की पृष्ठ-भूमि! अभी तक आप लोगों ने विवाह तो किया होगा पर पति सोचता है पत्नी मेरे लिये भोग-सामग्री है और पत्नी सोचती है कि पुरुष-पति मेरे लिये भोग-सामग्री है, बस इतना ही समझकर ग्रन्थि बन जाती है, विवाह हो जाता है बंधन में बंध जाते हैं, इसलिये आनन्द नहीं आता। इसीलिये जैसे-जैसे भौतिक कायायें सूखने लगती हैं, बेल सूखने लगती है, समाप्त प्रायः होने लग जाती है तो दोनों एक दूसरे के लिये घृणा के पात्र बन जाते हैं। पति से पत्नी की नहीं बनती और पत्नी से पति की नहीं बनती और बस बीच में दीवार खिंच जाती है। वह तो लोक नाता है जिसे निभाते चले जाते हैं निभता नहीं निभाना पड़ता है क्योंकि अग्नि के समक्ष संकल्प किया था।

दो बैल थे, वे एक गाड़ी में जोत दिये गये। एक किसान गाड़ी को हांकने लगा। एक बैल पूर्व की ओर जाता है तो एक बैल पश्चिम की ओर, बस परेशानी हो जाती है। बैलों को तो पसीना आता ही है, किसान को भी पसीना आना प्रारम्भ हो जाता, वह सोचता है कि अब गाड़ी आगे नहीं चल पायेगी। यही स्थिति गृहस्थाश्रम की है। आप लोगों का रथ प्रायः ऐसा ही हो जाता है। पत्नी एक तरफ खींच रही है तो पति दूसरी ओर, अन्दर का आत्मा सोच रहा है कि यह क्या मामला हो रहा है ?

आप लोग आदर्श विवाह तो करना चाहते हैं दहेज से परहेज करने के लिए किन्तु आदर्श विवाह के माध्यम से अपने जीवन को आदर्श नहीं बना पाये। इसलिए आपका वह आदर्श विवाह एकमात्र आर्थिक विकास के लिए कारण बन सकता है किन्तु पारमार्थिक विकास के लिए कारण नहीं बनता।

आदर्श विवाह था राम और सीता का। दोनों ने किस प्रकार उस विवाह के माध्यम से, डोरी के माध्यम से, सम्बन्ध के माध्यम से अपने जीवन को सफलीभूत बनाया। आपको याद रहे कि वह सीता भोग सामग्री थी राम के लिए, राम भोग सामग्री थे सीता के लिए। पर उनकी दृष्टि में अनन्त जो सामग्री बिछी थी चारों ओर वह भोग सामग्री नहीं थी, उस प्रयोगशाला में जो कोई भी पदार्थ इधर-उधर बिखरा हुआ है, विद्यार्थी को उनका कोई ध्यान नहीं रहता उसी प्रकार उन्हें बाहर की वस्तुओं से कोई मतलब नहीं था। उनकी यात्रा अनाहत चल रही थी। इसी बीच हजारों स्त्रियों के साथ जीने वाला रावण, एक भूमिगोचरी सीता के ऊपर दृष्टिपात करता है किन्तु सीता की आत्मा के ऊपर दृष्टिपात नहीं करता, सीता की आत्मा तक उसकी दृष्टि नहीं पहुँचती अपितु गोरी-गोरी उस काया की माया में डूब जाता है और अपने जीवन को भी वह धो देता है। यह ध्यान रहे कि उसकी

दृष्टि सीता की आत्मा तक पहुँच जाती तो उसे अवश्य मार्ग मिल जाता, उसका जीवन सुधर जाता। सीता की चर्या के माध्यम से राम का जीवन सुधरा और राम के जीवन के माध्यम से सीता का जीवन सुधरा। वे एक दूसरे के पूरक थे। जैसे कि राह में दो विद्यार्थी परस्पर एक दूसरे के सहयोग से चलते जाते हैं, गिरते नहीं हैं। इस प्रकार वे दोनों भी चले जा रहे थे। इधर-उधर उपयोग न भटके इसलिए दृढ़ निश्चय करके एक ही विषय में दो विद्यार्थी जुटे हुए थे, वे राम और सीता। ज्यों ही रावण बीच में आया, तो राम सोचते हैं कि इसके लिए यहाँ पर स्थान नहीं है, हमारे जीवन के बीच में कोई नहीं आ सकता। कोई आता है तो वह व्यवधान सिद्ध होगा और उस व्यवधान को हम सर्वप्रथम दूर करेंगे। जब तक यह रहेगा तब तक हम दोनों का जीवन एक साथ चल नहीं सकता। फिर भी रावण आता है तो राम को कुछ प्रबन्ध करना ही पड़ता है। रावण को मारने का इरादा नहीं किया राम ने, मात्र अपने प्रशस्त मार्ग में आने वाले व्यवधान को हटाने का प्रयास किया और सीता के पास जाने का प्रयास किया उन्होंने।

सीता ने जिस संकल्प के साथ इस ओर कदम बढ़ाया था, उसकी रक्षा करना, समर्थन करना राम का परम धर्म था और राम का समर्थन करना सीता का परम धर्म था। उन दोनों ने धर्म का अनुपालन किया। भोग का (सांसारिकता का) अनुपालन नहीं, योग (चैतन्य) का सहारा लिया, उसके बिना चल नहीं सकते थे, चलना अनिवार्य था, मंजिल तक पहुँचना था, इसलिए साथी को अपनाया यह ध्यान रहे कि विवाह पद्धति का अर्थ मोक्ष-मार्ग में साथी बनाना है। विवाह का अर्थ संसार-मार्ग की सामग्री नहीं है।

विवाह तो पाश्चात्य शहरों में भी होते हैं पर वहाँ के विवाह, विवाह नहीं कहलाते । वहाँ पर पहले राग होता है और तब बन्धन होता है, यहाँ पहले बन्धन होता है, पीछे राग होता है, और वह राग, राग नहीं आत्मानुराग प्रारम्भ होता है। पहले संकल्प दिये जाते हैं फिर बाद में उनके साथ सम्बन्ध होता है, अन्यथा नहीं। इसका अर्थ क्या? इसका अर्थ बहुत गूढ़ है। जब तक उनका (राम व सीता का) सांसारिक गृहस्थ धर्म चलता रहा तब तक उन्होंने एक दूसरे के पूरक होने के नाते अपने आप के जीवन को चलाया। अन्त में सीता कहती है कि हमने एम. ए. तो कर लिया अब पीएच. डी. करना है स्वयं का शोध करना है। शोध के लिए पर्याप्त बोध मिल चुका है, बोध की चरम सीमा हो चुकी है। बोध की चरम सीमा होने के उपरान्त ही शोध हुआ करता है। एम. ए. का विद्याध्ययन शोध के लिए आवश्यक है, उसके बिना शोध नहीं हो सकता उस बोध को ही शोध समझ लें तो गलत हो जायेगा, आज यही हो रहा है। शोध करना तो दूर रह जाता है मात्र इतना ही पर्याप्त समझ लेते हैं कि सोलहवीं कक्षा पास कर ली तो हमने बहुत कुछ कर लिया, पर वस्तुतः किया कुछ नहीं। शोध अब प्रारम्भ होगा अपनी तरफ से अनुभूति अब प्रारम्भ होगी। अभी तक

अनुभूति नहीं, मात्र Guideline (दिशानिर्देश) मिली है। एम. ए. का अर्थ है दूसरे के Guidance (मार्गदर्शन) के माध्यम से अपने आप के बोध को समीचीन बनाना और फिर इसके उपरान्त अनुभूति का अर्थ–अब किसी प्रकार की Taxt Book नहीं है, कोई बन्धन नहीं है, अब शोध करना है।

सीता के पास अब इतनी शक्ति आ चुकी थी कि वह राम से कहती है अब मुझमें इतनी शक्ति आ चुकी है कि आपकी आवश्यकता नहीं है। अब तीन लोक में जो कोई भी पदार्थ बिखरे हुए हैं, उनमें से किसी भी पदार्थ को निकाल कर उनमें से आत्मा को चुन सकती हूँ और बोध का विषय बना सकती हूँ। (जैसे कि सामान्य शोध छात्र पुस्तकालय में से अपने विषय की पुस्तक चुन लेता है) उसके माध्यम से मैं अपनी यात्रा बढ़ा सकती हूँ। अब राम, तुम्हारी कोई आवश्यकता नहीं है। अब स्वावलम्बी जीवन आ गया। अब विवाह की डोरी को तोड़ना चाहती हूँ ध्यान रखना पहले नहीं तोड़ी। वह कहती है अब मैं इस पाठशाला में नहीं रहूँगी। ऊपर उठूँगी और पंचमुष्टि केशलुंचन कर लेती है। राम अभी शोध छात्र नहीं थे, अतः वे प्रणिपात हो गये उसके चरणों में। जिन्होंने विषय चुन लिया, शोध छात्र बन गया, ऊपर उठ गया वह अब विद्यार्थी नहीं, छात्र तो इसलिए मान लिया जाता है कि अभी भी कुछ कर रहा है। अब वह स्नातक से भी ऊपर उठ चुका है, अब वह विद्यार्थी नहीं है, भले ही उसे विद्यार्थी कहो पर वह अब मास्टर बन गया है। राम ने अभी इतना साहस नहीं किया था इसलिए उन्होंने सीता के चरणों में प्रणिपात किया और अपने आप को कमजोर महसूस करने लगे कि देखो यह एक अबला होकर भी शोध छात्रा बन गई। अब यह विश्व में बिखरी चैतन्य सत्ताओं के बारे में विचार करेगी, अध्ययन करेगी और उनके पास पहुँचने का प्रयास करेगी । अब सीता को राम की आवश्यकता नहीं है।

राम-राम, श्याम... श्याम, रटन्त से विश्राम।
रहे न काम से काम, तब मिले आतम राम॥

अब राम, राम न रहे सीता की दृष्टि में, अब दृष्टि में था आतमराम। प्रत्येक काया में छिपे हुए आतमराम को वह टटोलेगी, उन सब के साथ सम्बन्ध रखेगी, विश्व के साथ एक प्रकार से भोग यात्रा प्रारम्भ हो गई लेकिन ध्यान रहे अब आतमराम के साथ भोग है, राम के साथ नहीं। राम उस काया का नाम था, आतमराम काया का नाम नहीं है। उस अन्तर्यामी चैतन्य सत्ता में न पुरुष है, न स्त्री है, न नपुंसक है, न वृद्ध है, न बालक है, न जवान है, वह देव नहीं, नारकी नहीं, तिर्यञ्च नहीं, पशु नहीं, वह केवल आतमराम । चारों ओर आतमराम । वह सीता चल पड़ी, अकेली चल पड़ी। सीता की आत्मा कितने जबरदस्त बल को प्राप्त कर चुकी । अब वह किसी की परवाह नहीं करती। अब वह अबला नहीं है, सबला है। उसके चरणों में अब राम प्रणिपात कर रहे हैं, इस समय वे

अबला थे और सीता सबला थी।

वह ऊपर उठ चुकी थी। राम उससे कहते हैं कि ठहरो, मैं भी आ जाऊँ। सीता पूछती है, कहाँ आ जाऊँ? तुम्हारे साथ! किसलिए? दोनों घर में रहें बाद में मार्ग चुन लेंगे। सीता कहती है - अरे! अब घर में रहने की कोई आवश्यकता ही नहीं है, मैं जब विद्यार्थी थी तब तक ठीक था, अब मैं विद्यार्थी से ऊपर उठ चुकी हूँ, अब आपकी कोई आवश्यकता नहीं, आपको धन्यवाद देती हूँ कि आप ने एम. ए. तक मेरा साथ नहीं छोड़ा, धन्यवाद बहुत धन्यवाद, पर अब पैरों में बहुत बल आ चुका है, आँखों को दृष्टि मिल चुकी है, अब मैं अनाहत जा सकती हूँ अब कोई परवाह नहीं, राह मिल चुकी है।

राम ने अग्नि परीक्षा के बाद कहा था कि चलो प्रिये, घर चलो। वह अग्नि परीक्षा ही सीता के लिए मैं समझता हूँ स्नातक परीक्षा थी, वह उसमें सफल हो जाती है। वह राम से आगे निकल गई। राम ने बहुत कहा अभी मत जाओ। सीता कहती है–तुम पीछे आ जाओ, पर मैं अब नहीं रुक सकती, साथ नहीं रह सकती। साथ रहने पर बिखरे हुए विषय का संग्रह नहीं कर सकूँगी। इसलिए आप अपना विषय अपनायें और मैं अपना विषय अपनाती हूँ। अब आप मेरी दृष्टि में राम नहीं हैं आतमराम हैं।

इस प्रकार लिंग का विच्छेद करके, वेद का विच्छेद करके, वह अभेद यात्रा में चली गई, यह घड़ी उसकी आत्मा की अपनी घड़ी थी। उसी दिन उसके लिए मोक्ष-पुरुषार्थ की भूमिका बन गई। यह काम पुरुषार्थ का ही सुफल था कि वह मोक्ष-पुरुषार्थ में लीन थी, अब वह मोक्ष पुरुषार्थी थी, काम पुरुषार्थी नहीं।

राम ने सोचा कि – क्या मैं कमजोर हूँ? उन्हें अबला से शिक्षण मिल गया। वे भी शोधछात्र बन गये। सीता को मालूम न था कि ये मुझसे भी आगे बढ़ जायेंगे। स्पर्धा ऐसी बातों में करनी चाहिए। आप लोग कमाने में, भौतिक सामग्री जुटाने में स्पर्धा करते हैं, ये आविष्कार हुआ, ये परिष्कार हुआ, लेकिन अन्दर क्या आविष्कार हुआ, यह तो देखो, अपने आपके ऊपर डॉक्टरेट की उपाधि तो प्राप्त कर लो। स्वयं पर नियन्त्रण नहीं है स्वयं के बारे में गहरा ज्ञान नहीं है तो मैं समझता हूँ कि भौतिक ज्ञान भी आपका सीमित है। मात्र दूसरे ने जो कुछ कहा उसी को नोट कर लिया, पढ़ लिया। अन्दर ज्ञान के स्रोत हैं- वहाँ पर देखो, चिन्तन के माध्यम से देखो कितने-कितने खजाने भरे हुए हैं वहाँ पर, घुसते चले जाओ, अनन्त सम्पदा भरी पड़ी है, वह अनन्तकालीन सम्पदा लुप्त है, गुप्त है, आप सोये हुए हैं, अतः वह सम्पदा नजर नहीं आ रही।

जब राम को सीता से प्रेरणा मिल जाती है, तब राम ने निश्चय कर लिया कि मुझे भी अब कॉलेज की कोई आवश्यकता नहीं, अब तो मैं भी ऊपर उठ जाऊँ। आप लोगों का जीवन कॉलेज

में ही व्यतीत हो जाता है। शिक्षण जब लेते हो जब भी कॉलेज की आवश्यकता है और उसके उपरान्त अर्थ-प्रलोभन आपके ऊपर ऐसा हावी हो जाता है कि पुनः उस कॉलेज में आप को नौकरी कर लेनी पड़ती है। पहले विद्यार्थी के रूप में, अब विद्यार्थियों को पढ़ाने के रूप में, स्वयं के लिए कुछ नहीं है। उसी कॉलेज में जन्म और उसी कॉलेज में अन्त, यही मुश्किल है। डॉक्टरेट कर ही नहीं पाते एक बार स्वयं पर, अब दूसरे पर नहीं, अपने आप पर अध्ययन करो।

राम ने संकल्प ले लिया और दिगम्बर दीक्षा ले ली। अब राम की दृष्टि में कोई सीता नहीं रही न कोई लक्ष्मण रहा। वे भी आतमराम में लीन हो गये। यह काम (आत्मा के लिए चैतन्य का भोग, काम पुरुषार्थ) की ही देन थी। मोक्ष-पुरुषार्थ में भर्ती कराने का साहस काम पुरुषार्थ की ही देन है। वह काम-पुरुषार्थ भारतीय परम्परा के अनुरूप हो तो मोक्ष-पुरुषार्थ की ओर दृष्टि जा सकती है, आपके कदम उस ओर उठ सकते हैं। जब दृष्टि नहीं जायेगी तो कदम उठ नहीं पायेंगे। विवाह तो आप कर लेते हैं किन्तु आपको अभी वह राह नहीं मिल पाई। भारत में पहले बन्धन है फिर राग है, वह राग वीतराग बनने के लिए है। इसमें एक के ही साथ सम्बन्ध रहा है। अनन्त के साथ नहीं, अनन्त के साथ तो बाद में, सर्वज्ञ होने पर। पहले सीमित विषय, फिर अनन्त। जो प्रारम्भ से ही अनन्त में अधिक उलझता है उसका किसी विषय पर अधिकार नहीं हो पाता।

आज पाश्चात्य समाज की स्थिति है कि एक व्यक्ति दूसरे पर विश्वास नहीं करता, प्रेम नहीं करता, वात्सल्य नहीं करता। एक दूसरे की सुरक्षा के भाव वहाँ पर नहीं हैं। भौतिक सम्पदा में सुरक्षा नहीं हुआ करती, आत्मिक सम्पदा में ही सुरक्षा हुआ करती है।

विवाह के पश्चात् यहाँ आपका (भारतीय परम्परानुसार) विकास प्रारम्भ होता है और वहाँ (पाश्चात्य देशों में) विनाश। वह धारा इधर भी बहकर आ रही है।

राम और सीता ने विवाह को, काम-पुरुषार्थ को अपनाया, उसे निभाया, उसी का फल मानता हूँ कि राम तो मुक्ति का वरण कर चुके और स्व आनन्द का अनुभव कर रहे हैं और सीता सोलहवें स्वर्ग में विराजमान हैं वह भी गणधर परमेष्ठी बनेगी और मुक्तिगामी होगी। हम इस कथा को सुनते मात्र हैं इसकी गहराई तक नहीं पहुँचते।

काम पुरुषार्थ-काम-सम्बन्ध भले किन्तु पुरुष के लिए आत्मा के लिए, भोग चैतन्य का। आप पुरुष तक नहीं पहुँचते, शरीर में ही अटक जाते हैं, रंग में ही दंग रह जाते हैं, बहिरंग में ही रह जाते, हैं, अन्तरंग में नहीं उतरते। आत्मा के साथ भोग करो, आत्मा के साथ मिलन करो, आत्मा के साथ सम्बन्ध करो।

अभी कुछ देर पूर्व यहाँ मेरा परिचय दिया पर वह मेरा परिचय कहाँ था, आत्मा का कहाँ

था? मेरा परिचय देने वाला वही हो सकता है जो मेरे अन्दर आ जाये जहाँ मैं बैठा हूँ, सिंहासन पर नहीं, सिंहासन पर शरीर बैठा है। आप की दृष्टि वहीं तक जा सकती है, आपकी पहुँच भौतिक काया तक ही जा पाती है। मेरा सही परिचय है-मैं चैतन्य पुञ्ज हूँ जो इस भौतिक शरीर में बैठा हुआ है। यह ऊपर जो अज्ञान दशा में अर्जित मल चिपक गया है उसको हटाने में मैं रत हूँ, उद्यत हूँ मैं चाहता हूँ कि मेरे ऊपर का कवच निकल जाये और साक्षात्कार हो जाये इस आत्मा का, परमात्मा का, अन्तरात्मा का। आपके पास कैमरे हैं फोटो उतारने के, मेरे पास एक्सरे हैं, कैमरे के माध्यम से ऊपर की शक्ल ही आयेगी और एक्सरे के माध्यम से अन्तरंग आयेगा क्योंकि अन्तरंग को पकड़ने की शक्ति एक्सरे में है और बाह्य रूप को पकड़ने की शक्ति कैमरे में है। आप कैमरे के शौकीन हैं, मैं एक्सरे का शौकीन हूँ। अपनी-अपनी अभिरुचि है। एक बार एक्सरे के शौकीन बनकर देखो, एक बार बन जाओगे तो लक्ष्य तक पहुँच जाओगे। मैं चाहता हूँ कि हम उस यन्त्र को पहचानें, ग्रहण करें, उसके माध्यम से अन्दर जो तेजोमय आत्मा अनादिकाल से बैठी है, विद्यमान है, वह पकड़ में आ जाये। लेकिन ध्यान रखना एक्सरे की कीमत बहुत होती है। प्रत्येक व्यक्ति गले में कैमरा लटका सकता है पर एक्सरे यन्त्र नहीं। एक बार एक्सरे से आत्मा को पकड़ लें बस, कैमरे से उतारा गया ढांचा बदल सकता है, शरीर बदल सकते हैं पर एक्सरे से उतारी गई आत्मा नहीं बदल सकती। अनन्तकाल व्यतीत हो चुका है व्यर्थ में, हम लक्ष्य पर नहीं पहुँचे।

दिपे चाम चादर मढ़ी हाड़ पींजरा देह।
भीतर या सम जगत में और नहीं घिनगेह॥ बारह भावना

आपके पास तो घिनावने पदार्थ पकड़ने की मशीन है किन्तु सुगन्धित, जहाँ किसी प्रकार के घिनावने पदार्थ नहीं हैं, वह एक आत्मा है वह हमें मिल सकती है जब हमारी दृष्टि अन्तर्दृष्टि हो जाये।

जब राम ने मुनि दीक्षा धारण कर ली, घोर तपस्या में लीन हो गये तो इतनी अन्तर्दृष्टि बन चुकी थी कि बाहर क्या हो रहा है उन्हें पता ही नहीं। प्रतीन्द्र के रूप में सीता का जीव सोचता है कि-अरे इन्होंने तो सीधा मोक्ष का रास्ता अपना लिया मुझे तो स्टेशन पर रुकना पड़ा ये लक्ष्य तक पहुँचने वाले हैं। सीता ने सोचा कि राम डिगते हैं कि नहीं, उसने डिगाने का प्रयास किया पर राम डिगे नहीं। उन्हें फिर बाहरी पदार्थों ने प्रभावित नहीं किया, इसी को कहते हैं ब्रह्मचर्य। अपनी आत्मा में रमण करना ही ब्रह्मचर्य है।

इस ब्रह्मचर्य के सामने विश्व का मस्तक नत-मस्तक हो जाता है, इसमें कोई संदेह नहीं। उस दिव्य तत्त्व के सामने सांसारिक कोई भी चीज मौलिकता नहीं रखती, उनका कोई मूल्य नहीं है। इसलिये मैं उस दिव्य ब्रह्मचर्य धर्म की वन्दना करते हुए आप लोगों को यही कहूँगा कि आप लोग

कैमरे को छोड़ दें और एक्सरे के पीछे लग जायें, अन्दर घुस जायें, कोई परवाह नहीं कि बाहर क्या हो रहा है ? बाहर कुछ भी नहीं होगा। अन्दर जो होगा उसे देखोगे तो बाहर कुछ घट भी जाये तो उसका प्रभाव आपके ऊपर नहीं पड़ेगा क्योंकि वह सुरक्षित आत्मद्रव्य है। बाहर कुछ भी कर लो, आत्मा इस प्रकार का Tank है कि जिसके ऊपर किसी भी प्रकार का गोला-बारूद असर नहीं करता वह अन्दर का व्यक्ति सुरक्षित रहता है किंतु वह बाहर आ जाये तो स्थिति बिगड़ जाती है। बाहर लू चलती है पर अन्दर शान्ति की लहरें चल रही हैं। उस अन्तरात्मा में लीन होने वाले व्यक्ति के चरणों में कौन नत-मस्तक नहीं होगा? अवश्य नमस्कार करेंगे। लेकिन हम नमस्कार करके भी अपना उद्देश्य वह नहीं बना पाते कि हमें भी उस शान्त लहर का अनुभव करना है, उस शान्ति की अनुभूति अनन्तकाल में नहीं हुई है। आगे भी हो नहीं सकती, ऐसा नहीं है, हो सकती है लेकिन दृष्टि अन्दर जाये तो।

काम-पुरुषार्थ को आप मात्र भोग मत मानो, वह भोग पुरुष के लिए है, आत्मा के लिए है। वास्तविक भोग वही है जो चैतन्य के साथ हुआ करता है। जब सर्वज्ञ बन जाते हैं, उस समय अनन्त चैतन्य के साथ मेल हो जाता है। उस मेल में कितनी अनुभूति, कितनी शान्ति मिलती होगी, यह वे ही कह सकते हैं, हम नहीं कह सकते। मात्र कुछ बिन्दु हमें उसके मिल जाते हैं ध्यान के समय तो हम आनन्द विभोर हो जाते हैं उस अनन्त-सिंधु में गोता मारने वाले के सुख की कोई सीमा नहीं है। असीम है उसका सुख, असीम है वह शान्ति, असीम है वह आनन्द। वह आनन्द अपने को मिले इसलिए पुरुषार्थ करना है।

मुनिराज भी निर्भोगी नहीं होते, वे भी भोगी होते हैं किन्तु वे चैतन्य के भोक्ता बनते हैं, पाँच इन्द्रियों के लिये यथोचित विषय देते हैं किन्तु रागपूर्वक नहीं, भोग की दृष्टि से नहीं, अपितु योग की साधना की दृष्टि से-

ले तप बढ़ावन हेतु नहीं, तन पोसतैं तजि रसन को। (छहढाला-६वीं ढाल)

विषय और भोग (काम) मात्र संपोषण की दृष्टि से माने गये हैं, किन्तु जब वह दृष्टि हट जाती है वे ही पदार्थ हमें मोक्ष-पुरुषार्थ की साधना करने में कार्यकारी हो जाते हैं। **मुनिराज के द्वारा इन्द्रिय विषय (निद्रा भोजन आदि) ग्रहण किये जाते हैं पर वे विषय-पोषण की दृष्टि से नहीं होते, योग दृष्टि उनके पास रहती है, जिसमें शरीर के साथ सम्बन्ध छूटता भी नहीं है, हटता भी नहीं है और मात्र शरीर के साथ भी सम्बन्ध नहीं रहता। किन्तु चैतन्य के साथ सम्बन्ध रहता है। मुनिराज का शरीर के साथ सम्बन्ध चैतन्य खुराक के साथ रहता है।**

सवारी तभी आगे बढ़ेगी जब उसमें पेट्रोल डालेंगे। आप लोग भी इस काम पुरुषार्थ के माध्यम से मोक्ष-पुरुषार्थ की ओर बढ़ें और अनन्त सुख की उपलब्धि करें यही कामना है ।

मुझे जो यह इस प्रकार ज्ञान की, साधना की थोड़ी सी ज्योति मिली है वह पूर्वाचार्यों से (पूज्य गुरुवर श्री ज्ञानसागरजी महाराज से) मिली है। हम पूर्वाचार्यों के उपकार को भुला नहीं सकते। वैषयिक दृष्टि को भूलकर विवेक दृष्टि से इनके उपकारों को देखो, इनके द्वारा बताये कर्त्तव्यों की ओर दृष्टिपात करो और देखो, कि इनके सन्देश किसलिए हैं ? स्व-आत्म पुरुषार्थ के साथ उनके उपदेश आप लोगों के उत्थान के लिए हैं किन्तु उनका अपनी आत्मा में रमण स्वयं के कल्याण के लिए था। कोई भी व्यक्ति जब स्वहित चाहता है और उसका हित हो जाता है तो उसकी दृष्टि अवश्य दूसरे की ओर जाती है, इसमें कोई सन्देह नहीं। उन्होंने सोचा कि ये भी मेरे जैसे दुखी हैं, इनको भी रास्ता मिल जाये। आचार्यों को जब ऐसा विकल्प हुआ तो उन्होंने उसके वशीभूत होकर प्राणियों के कल्याण के लिए मार्ग सुझाया। महान् अध्यात्म साहित्य का सृजन किया और आज हमारे जैसे भौतिक चकाचौंध के युग में रहते हुए भी कुछ कदम उस ओर उठ रहे हैं तो मैं समझता हूँ कि बाह्य निमित्त से वे आचार्य कुन्दकुन्द और आचार्य ज्ञानसागर जी महाराज आदि जो पूर्वाचार्य हुए उनका ऋण हम पर है और उनके प्रति हमारा यही परम कर्त्तव्य है कि उस दिशा के माध्यम से अपनी दिशा बदलें और दशा बदलें, अपने जीवन में उन्नति का मार्ग प्राप्त करें, सुख का भाजन बनें और इस परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखें ताकि आगे आने वाले प्राणियों के लिए भी यह उपलब्ध हो सके। आचार्य कुन्दकुन्द की स्मृति के साथ मैं आज का वक्तव्य समाप्त करता हूँ-

कुन्दकुन्द को नित नमूँ, हृदय कुन्द खिल जाय।
परम सुगन्धित महक में, जीवन मम घुल जाय॥ (दोहा दोहन)

❑ ❑ ❑

आत्मानुभूति ही समयसार है

स्व की ओर आने का कोई रास्ता मिल सकता है तो देव-शास्त्र-गुरु से ही मिल सकता है, अन्य किसी से नहीं। हम जैसे-जैसे क्रियाओं के माध्यम से राग-द्वेषों को संकीर्ण करते चले जायेंगे वैसे-वैसे अपनी आत्मा के पास पहुँचते जायेंगे।

आत्मा के विकास के लिए वीतराग स्व संवेदन की आवश्यकता है। स्व-संवेदन के माध्यम से हमें वो दर्शन हो सकते हैं जो आज तक नहीं हुए।

पथ एक ही है, मार्ग एक ही है, जो सामने चलता है वह मुक्ति का पथ चाहता है और जो 'Reverse' में चलता है वह संसार का पक्ष चाहता है।

संसारी प्राणी को जो कि सुख का इच्छुक है उसे वीतरागी सर्वज्ञ हितोपदेशी, उपदेश देकर हित का मार्ग प्रशस्त करते हैं। वे भगवान जिनका हित हो चुका है फिर भी जो हित चाहता है उसके लिए वे बहुत कुछ देते हैं, कृतकृत्य होने के उपरान्त भी वे सहारा देते हैं, इशारा देते हैं और हमें भी

भगवान के रूप में देखना चाहते हैं। संसारी प्राणी सुख का भाजन बन तो सकता है। किंतु वह अपनी पात्रता को भूल जाता है, अपनी शक्ति को भूल जाता है, इससे यही परिणाम निकलता है कि वह सुखी बन नहीं पाता। वह भेद विज्ञान एक बार हो जाये, बस भगवान बन सकते हैं। महावीर भगवान व अन्य सन्तों ने जोर के साथ कहा है कि जो कोई भी धार्मिक क्रियायें हैं वे सब 'मैं भगवान बनूँ, मैं भगवान बन सकता हूँ' सर्वप्रथम इन्हीं लक्ष्य को लेकर होनी चाहिए, इसके उपरान्त ही वे सारी क्रियायें धार्मिक मानी जा सकती हैं। यह उसकी व्यक्तिगत दृष्टि के ऊपर आधारित है। वह यदि भगवान नहीं बनना चाहता है या भगवान बनने की कल्पना तक नहीं करता है तो ध्यान रहे उसकी सारी की सारी क्रियायें सांसारिक ही कहलायेगी। क्रियायें अपने आपमें न सांसारिक हैं न धार्मिक हैं। दृष्टि के माध्यम से ही वे क्रियायें धार्मिक हो जाती हैं और एक प्रकार से चारित्र का रूप धारण कर लेती हैं।

चलना आवश्यक है किन्तु दृष्टि बनाकर चलना है, जब तक दृष्टि नहीं बनती तब तक उस चलने को चलना नहीं कहते। उदाहरण के लिए समझने के लिए आप कार-गाड़ी चला रहे हैं, चलाते-चलाते उसे रोक देते हैं और उसको 'Reverse' में डाल देते हैं। गाड़ी चल रही है कि नहीं? चल रही है किन्तु उल्टी चल रही है। उल्टी चल रही है तो उसे चलना नहीं कहेंगे । यद्यपि गाड़ी का मुख सामने ही है और आप लोगों का मुख भी सामने ही है लेकिन गाड़ी चल रही है पीछे की ओर, उसी प्रकार आप लोगों की दृष्टि के अभाव में जो कोई भी क्रियायें होती हैं वे सारी क्रियायें 'Reverse गाड़ी' के अनुरूप होती हैं। गाड़ी जब 'रिवर्स' में रहेगी तब तक वह पीछे ही जायेगी और पीछे अपने को जाना नहीं है, रास्ता आगे की ओर है। दिखता है कि हम जा रहे हैं, चल रहे हैं किन्तु अभिप्राय यदि संसार की ओर हो, मन में भगवान बनने का भाव न हो तो व क्रियायें ही क्या? वे क्रियायें मोक्षमार्ग के अन्तर्गत नहीं आ सकती। मोक्षमार्गी तभी कहला सकता है जब कि वह मोक्ष पाने की इच्छा करे, और मोक्ष पाने की इच्छा करता है तो निश्चित रूप से वह गाड़ी 'Reverse' में नहीं डालेगा। उसके कदम, उसके चरण अपनी शक्ति के अनुरूप उसी ओर बढ़ेंगे जिस ओर भगवान गये हैं, मुक्ति का पथ जिस ओर है। सामने चलता है तो वह मुक्ति का पथ चाहता है। और 'Reverse' में चलता है तो वह संसार का पथ चाहता है। दो ही तो पथ हैं - एक मुक्ति का और एक संसार का। बल्कि यूँ कह दो आप कि मार्ग एक ही है, एक ही प्रकार है, सामने चलना तो मुक्ति का मार्ग, पीछे की ओर चलना संसार का मार्ग ।

जयपुर से आगरा की ओर जायेंगे तो आगरा का साइन बोर्ड मिलेगा, आगरा से जयपुर की ओर आयेंगे तो इधर जयपुर का साइन बोर्ड मिलेगा, किन्तु पत्थर एक ही है, शिला एक ही है। इस ओर से जाते हैं तो आगरा लिखा मिलता है और उधर से आते हैं तो जयपुर लिखा मिलता है। अर्थ

यह है कि मार्ग एक है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चरित्र रूप जो मोक्षमार्ग है उससे विलोम कर दो, आप को मिथ्यादर्शन-मिथ्याज्ञान-मिथ्याचारित्र यह संसार मार्ग बन जाता है। ऐसा नहीं है कि दो लाइनें चल रही हैं ये सम्यग्दर्शन की लाइन है और ये मिथ्यादर्शन की लाइन है दोनों एक साथ नहीं चल सकती क्योंकि व्यक्ति एक है और रास्ता भी एक ही है। दिशायें दो हैं, दिशायें भी कोई चीज नहीं है, जब चलता है तब दिशा बनती है, जब बैठा रहता है तो दिशा की कोई आवश्यकता नहीं है न दिशा की, न विदिशा की, न ऊपर की, न नीचे की। जब गति प्रारम्भ हो जाती है तब दिशा- बोध की आवश्यकता होती है जब चलना आरम्भ होता है तभी उल्टा-सीधा इस प्रकार की कल्पनायें उठती हैं। अतः भगवान बनने के लिए जो कोई भी आगम के अनुरूप आप क्रिया करेंगे वह सब मोक्षमार्ग बन जायेगा। इसके लिए क्रम के अनुरूप ही हम अपने कदम बढ़ायेंगे तो अवश्य सफलता मिलती चली जायेगी। सफलता भी ठीक-ठाक चलने से मिलती है और क्रम के अनुरूप चलने से मिलती है एक साथ तो हो नहीं सकती।

हम कहते हैं- ''सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः'' रत्नत्रय की ओर भी प्ररूपणा करते हैं, सुनते हैं, सुनाते हैं, किन्तु इसमें अनुभूति नहीं होने का सही-सही कारण पूछा जाये तो उस ओर हमारा जीवन ढलता नहीं, वह ऊपर-ऊपर रह जाता है, जहाँ जीवन ढल जाता है वहाँ अनुभूति होती है।

अनुभूति को आचार्यों ने बहुत महत्त्व दिया है। ज्ञान को महत्त्व नहीं दिया किन्तु अनुभूति को महत्त्व दिया। अनुभूति के साथ ज्ञान अवश्य होगा यह नितान्त आवश्यक है। ज्ञान पहले हो और अनुभूति बाद में हो यह कोई नियम नहीं, जिस समय अनुभूति होगी उस समय ज्ञान अवश्य होगा लेकिन जहाँ ज्ञान हो वहाँ पर अनुभूति हो यह नियम नहीं।

समझने के लिए - लौकिक दृष्टि से कोई डॉक्टर M.B.B.S. हो जाता है, किन्तु वह उपाधि मात्र से डॉक्टर नहीं कहलाता उस परीक्षा के उपरान्त भी उसे Practical (प्रायोगिक) देना आवश्यक होता है। उस Practical (प्रायोगिक) में क्या ज्ञान दिया जाता है ? जो कोई ज्ञान था वह तो ले लिया फिर उसके उपरान्त क्या ज्ञान? ज्ञान और कुछ नहीं किन्तु जो Practical (प्रायोगिक) कर रहे हैं उसको देखना भी आवश्यक होता है, मजबूती के लिए दृढ़ता के लिए । आज तक जो कुछ भी परोक्ष रूप से जाना था उसे आज प्रत्यक्ष रूप से देखेगा प्रयोगशाला में । फिर एक-दो साल उनको प्रशिक्षण (Traning) देना पड़ता है। प्रशिक्षण पाने के बाद ही वे अस्पताल खोल सकते हैं या रोगी की चिकित्सा कर सकते हैं। इसी प्रकार आप लोगों ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र के बारे में ज्ञान तो बहुत प्राप्त कर लिया, पर अनुभूति की ओर आपकी दृष्टि नहीं जा रही।

हमने इस ज्ञान को किसलिये प्राप्त किया है ? यह आपका ज्ञान तब तक कार्यकारी नहीं होगा जब तक कि अनुभूति की ओर दृष्टिपात नहीं करेंगे। 'Practical' नहीं करेंगे। सैद्धान्तिक व प्रायोगिक (Theoretical &Practical) में यही तो अन्तर है। जो सैद्धान्तिक रूप में हमने जाना, देखा, अनुमान किया है, ध्यान किया है वह सारा का सारा प्रयोगशाला में प्रत्यक्ष हो जाता है। इसलिये आचार्यों ने कहा है जब ज्ञान के माध्यम से उस आत्मानुशासन की ओर कदम बढ़ जाते हैं तो ध्यान रहे, वही मोक्षमार्ग बन जाता है, अन्यथा उस ओर कदम नहीं उठ रहे, कदम किस ओर उठ रहे हैं तो विलोम में Reverse में वह गाड़ी चली जायेगी, वह मिथ्यादर्शन-मिथ्याज्ञान-मिथ्याचारित्र के साथ चली जायेगी। इनका ज्ञान कोई मूल्य नहीं रखता।

अनुभूति रागानुरूप हो रही है या वीतरागानुरूप हो रही है, परिणाम उसी के अनुरूप निकलने वाला है। मोक्षमार्ग की अनुभूति तब होगी जब जैसा हमने सुना, देखा, जाना है उसको वैसा ही अनुभव कर लिया जाये और अनुभव के लिए पुरुषार्थ की आवश्यकता है जानने के लिए इतना पुरुषार्थ आवश्यक नहीं जितना कि अनुभव करने के लिए आवश्यक है। कोई भी कार्य बिना पुरुषार्थ के नहीं हो पाता।

बैठे-बैठे जाना जा सकता है किन्तु बैठे-बैठे चला नहीं जा सकता। जिस समय जा रहे हैं उस समय देखा भी जाता है, जाना भी जाता है। मैं सदैव कहता हूँ - देखभाल कर चलना । इसमें कोई संदेह नहीं कि जीवन में जो कोई भी अनुभूति होती है वह इन तीनों की देख-भाल-चलना दर्शन-ज्ञान-चारित्र की समष्टि के साथ ही होगी। इसलिए आप लोगों को रागानुभव हो रहा है फिर भी सैद्धान्तिक (Theoretical) ज्ञान चल रहा है। इसलिए शांति, सुख, आनन्द जो मिलना चाहिए वह नहीं मिल रहा है। कुछ क्षण के लिए भी जो अनुभूति होती है, आचार्य कहते हैं -

"सौ इन्द्र नाग नरेन्द्र व अहमिन्द्र के नाहीं कह्यो" इसमें कोई सन्देह नहीं कि चाहे चक्रवर्ती हो चाहे अहमिन्द्र हो, अहमिन्द्र जो कि सर्वार्थसिद्धि इत्यादिक में रहते हैं, उनके पास नियम से सम्यग्दर्शन रहता है सौधर्म इन्द्र के पास क्षायिक सम्यग्दर्शन रहता है इन्द्र हो, नागेन्द्र हो, नरेन्द्र हो, धरणेन्द्र हो, कोई भी हो उसे वह मोक्षपथ उपलब्ध नहीं हो सकेगा क्योंकि ये सारे के सारे असंयमी हैं अर्थात् इन्हें सैद्धान्तिक ज्ञान तो हो सका है किन्तु प्रायोगिक (Practical) नहीं हो सकता। ये बात ठीक है कि प्रायोगिक उसी को मिलता है जिसने सैद्धान्तिक को अपना लिया है। M.B.B.S. उपाधि को जब तक प्राप्त नहीं करेगा, परीक्षा पास नहीं करेगा, तब तक वह प्रयोग में नहीं आ सकता पर जिसने प्रयोग को अपना लिया उसके लिये नितान्त आवश्यक है कि सिद्धान्त उसके पास है ही। तो अनुभव के लिए ज्ञान ही पर्याप्त नहीं है, अनुभव के लिए दर्शन ही पर्याप्त नहीं है, अनुभव के लिए तीनों की आवश्यकता है, समष्टि की आवश्यकता है।

वह अनुभूति, वह अपनी आत्मा की एक प्रकार से परिणति-शुद्ध परिणति है उसमें लीन होने योग्य जो कोई भी परिणमन है वह सारा का सारा उसी व्यक्ति के लिए संभाव्य है। उसी के लिए वह द्वार खुला है जिसने इन तीनों को दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्राप्त किया है। जो व्यक्ति भगवान बनना चाहता है उसको सर्वप्रथम परमात्मा के दर्शन करने से जो सैद्धान्तिक बोध प्राप्त-होता है उसके माध्यम से वह अपने प्रयोग Practical पर आ जाता है। यह नितान्त सत्य है कि वह अपनी अनुभूति कर लेता है क्योंकि, 'मैं भगवान बन सकता हूँ इस प्रकार का जो विचार उठेगा वह भगवान को देखे बिना उठेगा नहीं, इसलिए भगवान का दर्शन करना परमावश्यक है। यदि भगवान बनने की जिज्ञासा मन में उत्पन्न होगी, तो वह भगवान बनने का पुरूषार्थ करेगा इसलिए दर्शन परमावश्यक है भगवान का। लेकिन भगवान का दर्शन मात्र करने से यह नक्शा तो बन सकता है; यह भावना तो बन सकती है कि 'मुझे भी भगवान बनना है' लेकिन इतने मात्र से भगवान नहीं बन सकते। आचार्य कहते हैं कि-यदि भगवान बनना चाहते हो तो आगे की प्रक्रिया और अपनाओ। देख लिया आँखों से, पर पाया नहीं तो क्या आनन्द? उसे तो पाया कैसे जाता है ? आँखों से नहीं, आँखों से तो देखा जाता है, अनुभूति जो होगी, प्राप्ति जो होगी संवेदना जो होगी, आत्मा की या परमात्मा की उपलब्धि जो होगी उसके लिये संयम नितान्त आवश्यक होता है। यह संयम इन्द्रिय संयम और प्राणी संयम के भेद से दो प्रकार का होता है और इसके उपरान्त वह अपने आप में लीन हो सकता है।

यह मोक्षमार्ग का सिद्धान्त (Theory) है उसको समझ तो रहे हैं हम, लेकिन यह साहस नहीं कर पा रहे हैं कि उसमें किस प्रकार लीन हो जायें? और उसी को आचार्यों ने भक्ति गाथाओं से प्रत्येक पंक्तियों से यही खुलासा करने का प्रयास किया कि इसकी गति किसी न किसी रूप से-Reverse न होकर सामने हो जाये और आप Reverse में ही मजा ले रहे हैं, किन्तु साथ में ध्यान रखो कि Reverse में क्या गाड़ी की गति तीव्र होती है ?.... नहीं? धीमी-धीमी होती है, मजा भी नहीं आता। पर हम उसी को समझ रहे हैं कि गाड़ी चला रहे है।

भगवान का दर्शन व आत्मा का दर्शन नितान्त आवश्यक है। भगवान के दर्शन तो हमने किये; किस दृष्टि से किये हैं? इसका तो आप ही निर्णय कर सकते हैं कि किस दृष्टि से किये हैं। भगवान बनने की दृष्टि से किया होता तो यह अवश्य फलीभूत हो जाता और भगवान बनने की प्रक्रिया भी आपके जीवन में आ जाती। अभी कोई चिन्ह नहीं दिख रहे हैं, इसलिए आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं, कि-अपने जीवन में इस प्रकार का परिवर्तन जब तक नहीं लाओगे तब तक शांति का कोई ठिकाना नहीं। अनुभूति का मात्र विश्लेषण किया है और संसारी जीव की अनुभूति और मोक्षमार्ग की अनुभूति ये दोनों एक रूप नहीं हैं। अनादिकाल से रागरूप ही अनुभूति हो रही है आप लोगों को क्योंकि -सभी संसारी जीवों को जो संवेदना अनुभूति है वह रागानुभूति है। उस

संवेदन की, उस अनुभूति की हम बात नहीं कर रहे वह तो नहीं चाहें तो भी हो रही है, उससे संसार का विकास हो रहा है आत्मा का विनाश हो रहा है, आत्मा के विकास के लिए स्वसंवेदन की आवश्यकता है पर, वीतराग स्वसंवेदन की। राग के अलावा, राग के बिना जो जीवन जिया जाता है वह है वीतराग। स्वसंवेदन के माध्यम से हमें वे दर्शन हो सकते हैं जो आज तक नहीं हुए। फिर क्या करें? और कुछ नहीं, आगम में जो उल्लेख किया है उसके अनुरूप अपना आचरण बनाने का प्रयास करो। धीरे-धीरे अपनी दृष्टि को, जिन-जिन पदार्थों को लेकर राग द्वेष उत्पन्न हो रहे हैं उन उन पदार्थों से हटाते चले जायें, जब तक यह प्रयास नहीं होगा तब तक कोई कार्य नहीं होने वाला है। प्रारम्भ यही से होगा और जहाँ राग का अभाव होगा वही पूर्णता आयेगी। जिन पदार्थों को देखकर हमारा मन राग में ढल जाता है, हमारा ज्ञान राग का अनुभव करना प्रारम्भ कर देता है, वह पदार्थ हमारे लिये वर्तमान में इष्ट नहीं है। उससे अलगाव रखो और अपने ज्ञान की शुद्धि करना प्रारम्भ कर दो। धीरे-धीरे पर से स्खलित होते हुए आप अपनी ओर आ जायेंगे।

राग का केन्द्र आत्मा नहीं है, राग का केन्द्र जो कोई भी बनेगा उसमें पर पदार्थ निमित्त बनेगा। इसलिये पर का विचार मत करो, पर को प्राप्त करने की जिज्ञासा मत करो, पर के साथ सम्बन्ध मत रखो, आचार्यों ने यह बार-बार कहा है। ऐसा कोई शार्टकट नहीं जो कि पर के साथ सम्बन्ध रखते हुए भी हम वहाँ पर पहुँच जायें। हाँ, महाराज यह रास्ता तो बहुत दूर दिख रहा है और हम खड़े होकर यही से देख रहे हैं कि कोई शार्टकट हो तो चले जाये। ऐसा शार्टकट कोई नहीं है। इस शार्टकट के पीछे ही सारा अतीत गुजर गया है। रास्ता एक है यह, इस पर आना ही होगा, अगर इस ओर जाना चाहते हैं। किन्तु जाना चाहते हुए भी जो कुछ हमने अर्जित किया है वह टूट न जाये, फूट न जाये यह सोचकर, इन्हीं को सुरक्षित रखना चाह रहे हैं।

एक सेठजी थे, भगवान के अनन्य भक्त थे। एक दिन वे एक गजानन गणेश की प्रतिमा लेकर आये और खूब धूमधाम से पूजा करना प्रारम्भ कर दिया। गजानन को मोदक बहुत प्रिय होते हैं इसलिए एक थाली में मोदक भी सजा कर नैवेद्य रूप में रखे, सेठ जी उस प्रतिमा के समक्ष प्रणिपात हुए, माला फेरी, उसकी आरती की और फिर वहीं पर बैठे उस प्रतिमा को निहारने लगे । इसी बीच एक चूहा आया और उस थाली में से एक मोदक लेकर चला गया। सेठजी के मन में विचार आया कि - देखो? भगवान का स्वरूप बताते हुए कहा गया है कि जो सबसे बड़ा है वह भगवान है जो सबसे वीर होता है वह भगवान होता है। ये गजानन-भगवान नहीं दिखते हैं, यदि ये भगवान होते तो इस चूहे से अवश्य ही प्रतिकार करते। एक इतना सा चूहा इनका मोदक उठा ले गया और ये कुछ न बोले, उसे हटाने की सामर्थ्य ही नहीं है इनमें, हो सकता है कि चूहा भगवान से बड़ा हो, मेरे समझने में कहीं भूल हो गई है, सेठजी ने उस चूहे को पाल लिया और पिंजरे में रखकर

उसकी पूजा करने लगे। दो तीन दिन बाद के उपरान्त एक दिन चूहा जब बाहर आया तो उसे बिल्ली पकड़ कर ले गई, ओहो! अब अनुभव होता जा रहा है मुझे-सेठजी ने सोचा, मैं अब अनुभव की ओर बढ़ता जा रहा हूँ। जैसे जैसे उसका अनुभव बदलता जा रहा है उसका आराध्य भी बदलता जा रहा है और वह उसकी पूजा में लीन होता जा रहा है। अब उसने बिल्ली को पकड़ लिया क्योंकि सबसे बड़ी वही है। जिस चूहे को गजानन नहीं पकड़ सके उस 'चूहे को इसने पकड़ लिया, अतः यही सबसे बड़ी उपास्य है। अब बिल्ली की पूजा होने लगी। सात-आठ दिन व्यतीत हो गये। बिल्ली का स्वभाव होता है कि-कितना ही अच्छा खिला दो -पिला दो पर वह चोरी अवश्य करेगी । एक दिन अंगीठी के ऊपर दूध की भगौनी रखी थी, बिल्ली चोरी से दूध पीने गई, सेठानी ने देख लिया -अरे देखो! जब सेठ जी इसे इतने आदर के साथ पाल रहे हैं, प्रतिदिन एक-आध किलो दूध पिलाते हैं तब भी यह चोरी करती है, तब भी इसका चोरी का भाव नहीं गया। सेठानी को क्रोध आया और उसने बिल्ली की पीठ पर एक लट्ठ मार दिया, बिल्ली मर गई। सेठजी बाजार से आये, पूछा -बिल्ली कहाँ हैं ? मुझे पूजा करनी है। सेठानी ने कहा-कौन सी पूजन? वह बिल्ली तो चोर है। सेठजी को पूरी घटना बताई, पहले तो खेद हुआ, लेकिन तुरन्त ही खेद दूर हो गया। खेद की बात थी ही नहीं जो मर गया, वह कमजोर है, वीर होता तो नहीं मरता । धन्य हो देव! धन्य हो! तुमने गजब कर दिया, बहुत अच्छा किया। गजानन चूहे से डर गये थे, चूहा बिल्ली की पकड़ में आ गया था और अब तुमने बिल्ली को समाप्त कर दिया पर तुमको समाप्त करने वाला कोई नहीं है। सेठ जी उसके चरणों में बैठ गये और उसके पैर पूजना प्रारम्भ कर दिया। देखो, अनुभूति बड़ों की ओर बढ़ रही है। अनुभूति होने के उपरान्त वह छूटता चला जाता है जो कि Theoretical है, सैद्धान्तिक है जो हमने मान रखा था। पर जब तक अनुभूति नहीं होती तब तक छोड़ना भी नहीं चाहिए। एक दिन प्रातः सेठ जी ने सेठानी से कहा कि आज हमें दुकान में अधिक काम है, हम साढ़े दस बजे खाना खायेंगे, खाना तैयार हो जाना चाहिए। सेठानी ने कहा ठीक है। प्रतिदिन पूजा होने के कारण सेठानी प्रमादी हो गई थी, समय पर रसोई बनी नहीं। जब सेठ जी आये तो बोली - आइये, आइये! अभी तैयार हो जाती है। सेठजी क्रोधित हो उठे - क्या तैयार हो जाती है, मैं कह कर गया अब भी तैयार नहीं है ? सेठजी के हाथ में-जो कुछ था सेठानी पर उसी से वार कर दिया। सेठानी मूर्छित होकर गिर गई एक घण्टे तक नहीं बोली। सेठजी ने सोचा क्या बात है मर गई क्या? पानी सिंचन किया, थोड़ी देर बाद सेठानी को होश आ गया। सेठ जी सोच रहे थे कि अभी तक तो मैं सेठानी को सबसे बड़ा समझ रहा था किन्तु अब पता चला कि मैं ही बड़ा हूँ। अरे! मैं दुनिया के चक्कर में पड़ गया था। अब मुझे अनुभव हो गया कि मुझ से बढ़कर कोई भगवान है ही नहीं और वह अपने आप में लीन हो गया।

आप लोग समझ नहीं पा रहे हैं रहस्य को। जब तक समझ में नहीं आता तब तक जो कोई प्रक्रियायें है उन प्रक्रियाओं को छोड़ना भी नहीं क्योंकि इन प्रक्रियाओं के माध्यम से अनुभव के लिए कुछ गुंजाइश है।

'स्व' की ओर आने का कोई रास्ता मिल सकता है तो देव-शास्त्र-गुरु से ही मिल सकता है। अन्य किसी से नहीं मिल सकता है। इसलिये इनको तो बड़ा मानना ही है तब तक मानना है जब तक कि हम अपने आप में लीन न हो जायें।

भगवान का दर्शन करना तो परम आवश्यक है, पर यह ही हमारे लिए पर्याप्त है, यह मन में मत रखना। भगवान बनने के लिए यदि आप भगवान की पूजा कर रहे हैं तो कम से कम मन में तो उठता है कि-अभी तक पूजा कर रहा हूँ पर भगवान क्यों नहीं बन रहा हूँ? दुकान खोलने के उपरान्त आप एक-दो दिन अवश्य रुक जायें पर फिर सोचते हैं कि-ग्राहक क्यों नहीं आ रहे, क्या मामला है? धीरे-धीरे विज्ञापन बढ़ाना प्रारम्भ कर देते हैं, बोर्ड पर लिखवाते हैं, अखबारों में निकलवाते हैं कि घूमते-घूमते कोई आवे तो सही। अर्थ यह है कि इतना परिश्रम करके जिस उद्देश्य से दुकान खोली है, उसका तो कम से कम ध्यान रखना चाहिए। तो भगवान की पूजा हम क्यों कर रहे हैं ? यह भी तो ध्यान रखना चाहिए। भगवान बनने के लिए कार्य कर रहे हैं यह तो ठीक है पर आप लोगों का भगवान बनने का संकल्प नहीं है तो फिर भगवान की पूजा क्यों कर रहे हो? हमें भगवान थोड़े ही बनना है हम तो श्रीमान् बनने के लिए पूजा कर रहे हैं, तभी आप टटोलते रहते हैं कि-पूजा तो कर रहा हूँ पर अभी बन नहीं रहा हूँ। लगता है कि वहाँ से ध्वनि निकल रही है-बन जायेगा। ध्वनि, अपने मन के अनुरूप ही निकलती है, ध्यान रखना। यह मनोविज्ञान है। 'भगवान बन जायेगा' वहाँ से ऐसी ध्वनि नहीं निकलती। क्योंकि मन में है कि कब साहूकार बन जाऊँ ? तो ध्वनि निकलेगी कि बन जायेगा। उसके माध्यम से आप अभी तक साहूकार बनने में ही लगे हैं। परिश्रम इसी में समाप्त हो रहा है, यह परिश्रम कितने भी दिन करते रहो, जड़ की उपलब्धि हो सकती है, सम्पत्ति की उपलब्धि हो सकती है पर भगवान की उपलब्धि इस दृष्टिकोण से नहीं हो सकती। हम जैसे-तैसे क्रियाओं के, अनुष्ठानों के माध्यम से राग द्वेषों को संकीर्ण करते चले जायेंगे कम करते चले जायेंगे-वैसे-वैसे अपनी आत्मा के पास पहुँचते जायेंगे। यह प्रक्रिया ही ऐसी है इसके बिना कोई भगवान हो ही नहीं सकता।

ठहराव बाहर नहीं हो सकेगा। ठहराव केन्द्र में ही होगा। आप परिधि के ऊपर घुमा रहे हैं अपने आपको, जो घुमावदार चीज है उसका आश्रय लेने से आप भी घूमेंगे।

देव-शास्त्र-गुरु के माध्यम से जिस व्यक्ति ने अपने जीवन को वीतरागता की ओर मोड़ लिया, वीतराग-केन्द्र की ओर मोड़ लिया वह अवश्य एक दिन विराम पायेगा। किन्तु यदि देव-

शास्त्र-गुरु के माध्यम से जो जीवन में बाहरी उपलब्धि की वाञ्छा रखता हो तो वही चीज उसे उपलब्ध हो सकती है, आत्मोपलब्धि नहीं।

मुझे एक बार एक व्यक्ति ने आकर कहा कि, महाराज! हमने अपने जीवन में एक सौ बीस बार समयसार का अवलोकन कर लिया। कंठस्थ हो गया मुझे! बहुत अच्छा किया आपने-मैंने कहा अब आपके लिये टेपरिकार्डर की भी कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि कंठस्थ हो गया, लेकिन भैया आपने कंठस्थ किया है मैंने एक ही बार अवलोकन किया है और हृदयस्थ कर लिया। मैंने हृदयंगम कर लिया और आपने शिरोगम कर लिया। आपने उसे मस्तिष्क में स्थान दे दिया, हमने जीवन में स्थान दे दिया। आपको अभी आनन्द नहीं आ रहा है और हमारे आनन्द का कोई पार नहीं है। तो Quantity (संख्या) एक सौ बीस बार से अधिक है या एक की अधिक है ? किन्तु वह ज्ञान है, यह अनुभूति है और अनुभूति ही समयसार है। मात्र जानना समयसार नहीं है।

समयसार की व्युत्पत्ति आचार्य ने बहुत अच्छी की है-"**समीचीन रूपेण अयति गच्छति व्याप्नोति जानाति परिणमति स्वकीयान् शुद्ध गुण पर्यायान् यः सः समयः**" अर्थात् जो समीचीन रूप से अपने शुद्ध गुण पर्यायों की अनुभूति करता है, उनको जानता है, उनको पहचानता है, उनमें व्याप्त होकर रहता है, उसी में जीवन बना लेता है वह है-"समय और उस समय का जो कोई भी सार है" वह है -'समयसार'। जिस समयसार के साथ व्याख्यान का कोई सम्बन्ध नहीं रहता, आख्यान का कोई सम्बन्ध नहीं रहता और कषाय का कोई निमित्त नहीं रहता, उसमें मात्र एक रह जाता है बस एक में ही विराजमान हो जाता है, उस एक का ही महत्त्व है। ताश खेलते हैं आप लोग उसमें एक इक्के का बहुत महत्त्व है उसी प्रकार '**एकः अहं खलु शुद्धात्मा**' ऐसा कुन्दकुन्दाचार्य ने लिखा है। ताश के बादशाह से भी अधिक महत्त्व रहता है उस इक्के का। एक अपने आप में महत्त्वपूर्ण है, वह है - शुद्धात्मा। जिस दिन सेठजी ने गजानन को छोड़ दिया, चूहे को छोड़ दिया, बिल्ली को छोड़ दिया, पत्नी को भी छोड़ दिया उस दिन याचना की कोई आवश्यकता ही नहीं रह गई।

इस प्रकार आपने कभी किया नहीं किन्तु यदि अनुभूति के बिना अपने आप में लग जाओगे तो पेट में चूहे कबड्डी खेलने लगेंगे क्योंकि जिसका जीवन पराश्रित है वह व्यक्ति उसी के ऊपर (आश्रय के ऊपर) आश्रित है, निर्भर है। इसलिये उसको उसी में आनन्द आता है और आता रहेगा भी।

देव-शास्त्र-गुरु के माध्यम से हम लोगों को यह रास्ता तो मिल जाता है कि अपनी ओर आना किस प्रकार होता है क्योंकि देव-शास्त्र-गुरु शुद्ध पर्याय हैं। देव के माध्यम से भी शुद्धत्व का भान होता है, गुरु के माध्यम से भी शुद्धत्व का भान होता है, वीतरागता की ओर हमारी दृष्टि जाती है। उनकी जो कोई भी वाणी है उस वाणी में भी राग का, द्वेष का कोई स्थान नहीं रहता और मात्र

वीतरागता ही उसमें प्रत्येक पंक्ति में, प्रत्येक अक्षर में मुखरित होती है, इससे उन तीनों के माध्यम से वीतरागता पकड़ में आती है और यह वीतरागता हमारे जीवन का एक केन्द्र बिन्दु होना चाहिए।

आप लोगों को राग है। एक व्यक्ति ने कहा कि-महाराज कुछ न कुछ अंश में तो हमें भी वीतराग मानना चाहिए आपको, हम इतनी वीतरागता की चर्चा आदि सुनते हैं। हमने कहा कि भैया हमने आपको कब रागी कहा? आप भी वीतरागी हैं। आप लोग कहेंगे बहुत अच्छा पर आप वीतरागी कैसे हैं ? वीतरागी इसलिये हैं **'विगत: राग: यस्य आत्मन:'** अर्थात् जिस व्यक्ति का आत्मा के प्रति राग नहीं है वह वीतरागी है (श्रोता समुदाय में हँसी) आत्मा के प्रति राग है ही नहीं इसलिये आप लोग भी वीतरागी हैं और मैं रागी हूँ क्योंकि मुझे आत्मा के प्रति राग। इस प्रकार आप भी वीतरागी सिद्ध होते हैं, पर इससे मतलब नहीं, मन में कोई सन्तोष नहीं हो रहा आप लोगों को। इसलिये नहीं हो रहा कि आप अभी अनुभव राग का ही कर रहे हैं, द्वेष का कर रहे हैं, मद का कर रहे है, पर्यायों का कर रहे हैं किन्तु शुद्ध पर्याय का नहीं, अशुद्ध पर्याय का कर रहे हैं। जबकि भगवान ने यह देशना दी है कि-तुम्हारे पास भी यह भगवत्-पद विद्यमान है किन्तु अव्यक्त रूप से है, व्यक्त रूप से नहीं है शक्ति रूप से है व्यक्ति रूप से नहीं। जो अन्दर है उसको बाहर निकालना है, उसका उद्घाटन करना है उसके लिये ही मोक्षमार्ग की देशना है, यह और कोई चीज नहीं है। मोक्षमार्ग और कोई चीज नहीं, बाहर में कोई समयसार थोड़े ही है जो एक सौ बीस बार पढ़ लो आप। एक सौ बीस बार पढ़कर भी चार सौ बीसी करोगे तो कम से कम सोचो तो सही उसका प्रयोजन क्या सिद्ध होगा?

जिस व्यक्ति को समय की उपलब्धि हो गई, समयसार की उपलब्धि हो गई, क्या वह अपने समय को दुनियादारी में खर्च करेगा? वह समय का अपव्यय नहीं करेगा। जिस व्यक्ति को निधि मिल जाती है क्या वह दस-बीस रुपये की चोरी करेगा?

कंठस्थ करने को मैं महत्त्व नहीं देता, मुख्यता नहीं देता, मुखाग्र करने को मैं मुख्यता महत्त्व नहीं देता, महत्त्व है-हृदयंगम करने का। मात्र शाब्दिक ज्ञान से कुछ नहीं होने वाला भले ही आप समयसार को पी लो, घोंट-घोंट कर पी लो। प्रयास तो आज तक यही हो रहा है।

वैद्यजी के पास एक रोगी गया और ऐसी दवा देने के लिए कहा जिससे वह शीघ्र रोग मुक्त हो जाये। वैद्य जी ने देख लिया - एक पर्चा लिखकर दिया और बोले कि इसको दूध में घोल कर पी लेना। रोगी घर गया, एक कटोरी दूध लिया और उस पर्चे को उसमें घोलकर पी गया। (हँसी) दूसरे दिन वैद्यजी के पास गया। वैद्यजी ने पूछा-क्या बात है ? रोगी ने कहा कि-एक दिन में रोग ठीक थोड़े ही होता है। उन्होंने कहा अरे हमने औषधि ऐसी ही दी थी कि एक दिन में ठीक हो जाये। खैर, कौन-कौन-सी दुकान से दवा लेकर आये थे? गोलियाँ मिल गई थी क्या? रोगी ने पूछा -

कौन सी गोली? आपने जो कागज दिया था वही तो थी औषधि। इसी प्रकार समयसार भी वही कागज है भैया! ये औषधि थोड़े ही है। औषधि कहाँ मिलती है ? जिस दुकान पर मिलती है वहाँ जाते, उसे ढूँढ़ते, खरीदते फिर लेते तो रोग ठीक हो जाता। एक सौ बीस बार लेने की (पढ़ने की) कोई आवश्यकता. नहीं थी और आप एक सौ बीस बार क्यों चार सौ बीस बार कर लो तो भी काम नहीं होता।

परिश्रम व्यर्थ हो गया। क्या, आप 'सार्थक हो गया' ऐसा समझ रहे हैं ? नहीं, सार्थक नहीं है, क्योंकि गाड़ी 'Reverse' में चल रही है। ऐसे यात्रा नहीं होगी, गाड़ी को सीधे रास्ते पर लगाओ। गति दो, तभी प्रगति होगी, मंजिल आयेगी। 'Reverse' में जाओगे तो रास्ता कम नहीं होगा बल्कि बढ़ेगा। मंजिल दूर होती जा रही है, इस प्रक्रिया के माध्यम से अनुभूति के अभाव में यह सब एक बोझ का काम कर रहा है। अतः अनुभूति के लिए कुछ ही समय का प्रयास होता है तो कुछ समय के उपरान्त जीवन में क्रान्ति आ सकती है। जैसे-कहाँ तो गजानन गणेश की पूजा थी और कहाँ वह बिल्कुल अपनी ओर आ गया, अपने अलावा और कोई की पूजा नहीं रही।

आप लोगों के लिए मन्दिर वे ही हैं, देव-शास्त्र-गुरु वे ही हैं, सब कुछ हैं किन्तु इसके उपरान्त भी आपकी गति उधर से इधर आ रही है। इसका अर्थ क्या है ? या तो आप घुमावदार रास्ते पर आरूढ़ हो गये हैं जिससे बार-बार घूमकर वहीं पर आ जाते हो, जैसे तेली का बैल आ जाता है। उसी प्रकार आपका जीवन व्यतीत हो रहा है। पहले छोटे थे अब बड़े हो गये किन्तु खड़े वहीं पर हैं।

जो जवान हैं, उसके जीवन में परिवर्तन नहीं आता, जो प्रौढ़ हैं उनके जीवन में कोई परिवर्तन नहीं आता तो कोई बात नहीं! किन्तु जो वृद्ध हैं उनमें भी कोई अन्तर नहीं आये तो क्या मतलब है? वृद्धत्व के उपरान्त भी वृद्धत्व नहीं आता! वही रासलीला! एक साथ अन्तर हो ही नहीं सकता, यह विश्वास जम गया, इसलिए ऐसा हो रहा है। एक समय तो अन्तर आना चाहिए .और नहीं आता तो पूछना चाहिए कि क्या बात है ? दो-तीन दिन औषधि लेने के उपरान्त यदि किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं आता तो पुनः Checking हो जाती है, पुनः उसकी चिकित्सा की जाती है कि क्या बात हो गई? कुछ न कुछ लाभ अन्तर तो होना चाहिए था, नहीं आता तो औषधि बदलते हैं पुनः निदान करते हैं। इस बात में तो बहुत शीघ्रता दिखाते हैं, पाँच-छह दिन में स्थिति परिवर्तन के अभाव में चिकित्सा परिवर्तन कर लेते हैं, इसमें महीनों नहीं लगाते, शीघ्रता से सही-सही औषधि देना प्रारम्भ कर देते हैं। घूमते- घूमते और रोग बढ़ता गया और जब असली दवाखाना आ जाता है उस समय वह रवाना हो जाता है। आपका जीवन आदि से लेकर अन्त तक बार्डर पर ही खड़ा है, सीटी बजने की देरी है; ऐसी स्थिति में भी आपका कोई निर्णय नहीं है, जीवन में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं है तो फिर आगे कैसे हो सकेगा? क्योंकि गाड़ी का मुख Platform पर ही मुड़ सकता है।

एक बार स्टेशन से गाड़ी बाहर निकल जायेगी तो बाद में मुड़ नहीं सकेगी दुर्घटना में मुड़ जाये वह बात पृथक् है, किन्तु वह सामान्यतः नहीं मुड़ेगी क्योंकि हमने उसको उसी रास्ते पर चलाया है। स्थिति यही है। मनुष्य जीवन एक प्रकार का Platform है, Station है। अनादिकाल से जो जीव राग द्वेष की ओर मुड़ गया है उस मुख को हम वीतरागता की ओर मोड़ सकते हैं और उस ओर गाड़ी को चला सकते हैं। तो इस (मनुष्य जीवन) Station पर ही चला सकते हैं।

Station आ जाने पर आपको नींद आ जाती है। आपकी निद्रा भी बहुत सयानी है। आलस्य आता है आपको। क्या करें महाराज? कर्म का उदय ही है कई लोग कहते हैं ऐसा ही है भैया! किन्तु समझो तो सही क्या होता है ? निद्रा वहीं पर क्यों आती है ? आलस्य वहीं पर क्यों आता है ? एक व्यक्ति ने कहा-जैसे ही मैं सामायिक करने बैठता हूँ, जाप करने बैठता हूँ, स्वाध्याय करने के लिए सभा में आ जाता हूँ तो निद्रा आ धमकती है, मुझे सोना ही पड़ता है। अच्छा, बहुत सयानी है न, निद्रा। आपके कर्म भी बहुत सयाने हैं कि ऐसे स्थान आने पर ही निद्रा आती है। इसमें कुछ न कुछ रहस्य अवश्य है। मैंने उनसे पूछा कि-जिस समय आप दुकान में बैठते हैं और नोट के Bundle गिनते हैं, उस समय कभी निद्रा आई है ? महाराज उस समय (वहाँ पर) तो भूलकर भी नहीं आती। अच्छा यह अर्थ है। वहाँ पर नहीं आती और यहाँ पर आती है तो निद्रा को भी इस प्रकार अभ्यास कराया है आपने कि यहाँ पर आते ही नींद लेना है, सुनना नहीं है।

एक शास्त्र सभा जुड़ी थी। एक दिन एक व्यक्ति से पंडित जी ने पूछा-क्यों भैया! सो तो नहीं रहे हो? वह कहता है- नहीं! वह ऊँघ रहा था। किन्तु फिर भी वह 'नहीं' ही कहता है। एक बार, दो बार, तीन बार, ऐसे ही कहा-उसने भी वही जबाब दिया और ऊँघता ही रहा। फिर पंडित जी अपना वाक्य बदल कर बोले-सुन तो नहीं रहे हो भैया? उसने तुरन्त उत्तर दिया नहीं तो (श्रोता समुदाय में हँसी) ठीक है भैया। ऐसे पकड़ में आये। सीधे-सीधे पूछने पर थोड़े पकड़ में आयेंगे आप लोग। सुन रहे हो? नहीं तो। बस यह 'नहीं तो' आपने याद कर रखा है। यहाँ पर आचार्य कुन्दकुन्द कह रहे हैं-समयसार पढ़ रहे हो? हाँ पढ़ रहे हैं। पढ़ रहे हैं तो परिवर्तन क्यों नहीं आ रहा? समयसार को पूरा पढ़ने की भी कोई आवश्यकता नहीं है, एक गाथा ही पर्याप्त है। समयसार की इतनी बड़ी पुस्तक में तो उन्होंने अपनी भावनाओं को अभिव्यक्त किया है, मूर्तरूप दिया है, शब्द रूप दिया है किन्तु एक ही शब्द में उन्होंने कह दिया 'समय' और उसका 'सार' इसके शीर्षक के माध्यम से ही सारा काम हो जाता है। शुद्ध आत्मा को ही समयसार कहा है। इसमें (पुस्तक में) नहीं है वह, आप घोंट-घोंट कर किसे पीयेंगे? समयसार नहीं आयेगा। 'समयसार' जीवन का नाम है, चेतन का नाम है और शुद्ध परिणति का नाम है; पर की बात नहीं स्व की बात है।

महाराज! ये बातें आप लोग सुनाते हैं, ये तो हम लोगों को अच्छी नहीं लगती। आप चटक-

मटक सुनाते चले जायें तो बहुत अच्छा होता एक घण्टा निकल जाता। आप एक घण्टे से इन्हीं बातों की पुनरावृत्ति (Repetition) करते जा रहे हैं।

भैया! आत्मा की बात सुनना चाहते हो या दूसरी बात सुनना चाहते हो? हम क्या हैं ? यह आप लोगों को मालूम नहीं है तो फिर क्या सुनायें ? यह मालूम नहीं इसलिये तो हम यहाँ पर आये हैं – आप यह कह सकते हैं। पर मैं कहूँ उसको सुनना भी तो चाहिए। जिस ओर आपकी रुचि नहीं है उसी ओर तो रुचि जगाना है। जिस ओर रुचि है उसको जगाने की कोई आवश्यकता नहीं है। मेरे उपदेश से उस रुचि को जगाना नहीं है और मैं उस रुचि को जगाने के लिए कहूँगा भी नहीं। बिना उपदेश के ही वह रुचि स्वयं जग जायेगी। धर्मोपदेश, विषयों में रुचि जगाने के लिये नहीं है, आत्मा की रुचि जगाने के लिये है। इस ओर रुचि नहीं हो रही है यह मैं भी जान रहा हूँ इसलिये-नहीं हो रही है कि उधर की चटक-मटक बहुत अच्छी लग रही है।

एक बच्चे ने अपनी माँ से कहा-''माँ मुझे भूख नहीं लगी है आज।'' ''क्यों बेटा! क्या बात हो गई ? माँ ने कहा। कुछ नहीं माँ।'' ''तो खाने का समय तो हो गया खा ले, सब शुद्ध है, शुद्ध आटा है, घी है।'' ''मुझे अभी भूख नहीं है।'' कुछ खा लिया था? ''आज सुबह तो कुछ नहीं खाया था, आपने परसों एक रुपया दिया था न, वह रखा था, उससे आज मैंने चाट-पकौड़ी खा ली।'' अच्छा यह बात है। जिसको चाट-पकौड़ी मुँह लग गयी, जो तेल में तली चीज खाता है उसके लिये अब शुद्ध घी काम नहीं करेगा। फिर कब काम करेगा? उसकी (चाट पकौड़ी की) आदत थोड़ी छूट जाये। हर समय तो आप चाट-पकौड़ी खाकर आते हैं, यहाँ एक घण्टा में शुद्ध घी की जलेबी भी खिला दूँ तो क्या काम चलेगा? यहाँ पर तो चाट-पकौड़ी आयेगी नहीं यहाँ तो शुद्ध घी की बात है। यदि इसमें थोड़ी सी वह (चाट-पकौड़ी) मिला दूँ तो इसका असली बाद बिगड़ जायेगा इसलिए उसको थोड़ा कम करो और फिर इसे चखो तो सही, कितना अच्छा लगता है।

हम लोगों को विषय और कषायों को मन्द करना होगा और मन्द जबर्दस्ती किया जाता है, उसकी ओर रुचि होते हुए भी मन्द करना होगा, तभी स्वाद में बदलाहट आ सकती है, नहीं तो नहीं आयेगी। एक हाथ से वह खाते रहे और दूसरे हाथ से यह, तो हाथ तो दो हैं किन्तु मुँह तो दो नहीं हैं भैया! जिह्वा तो एक ही है, स्वाद लेने की शक्ति तो एक के ही पास है। अभी जो चर्वण हो रहा है उसके साथ इसको मिलाओगे तो मिश्रण हो जायेगा और मिश्रण में सही स्वाद नहीं आ सकता।

मात्र ज्ञान के साथ वह अनुभूति नहीं आ सकती। उसके साथ संयम की आवश्यकता है, इसलिये

यों चिन्त्य निज में थिर भये, तिन अकथ जो आनन्द लह्यो,
सो इन्द्र नाग नरेन्द्र वा, अहमिन्द्र के नाहि कह्यो। (छह.)

स्वात्मानुभूति का संवेदन-आत्मा का जो स्वाद है वह स्वाद स्वर्गीय देवों के लिये भी दुर्लभ है और वहाँ के इन्द्र के लिये भी-दुर्लभ है, कहीं भी चले जाओ सबके लिए दुर्लभ है। केवल उसी के लिये मनुष्य के लिये यह साध्यभूत है, संभव है, 'जिन्होंने अपने आप के संस्कारों को परिमार्जित कर लिया है अर्थात् राग-द्वेष के संस्कार जिनमें बिल्कुल नहीं हैं। जिनकी अनुभूति में वीतरागता उतर गई है, उसका नाम है स्वसंवेदन, उसका नाम है आत्मानुशासन, उसका नाम है अतीन्द्रिय आनन्द उसको चाहते हो तो उस तरफसे गाड़ी को हटा दो। अब मोड़ दो उसे एक बार देव-शास्त्र-गुरु के ऊपर विश्वास करके, इस काम को हाथ में लो, लोगे तभी काम होगा। मैं आपको विश्वास नहीं दिला सकता, विश्वास आपको करना होगा क्योंकि यह विश्वास दिलाने, कराने की वस्तु नहीं है, मात्र विश्लेषण हो सकता है। हम प्रशंसा कर सकते हैं, उस आत्मा की प्रशंसा कर सकते हैं किन्तु दिखा नहीं सकते।

ऐसा कौन सा बुद्धिमान होगा जो परोक्ष-ज्ञान में अर्थात् श्रद्धान में आने वाली चीज को हाथ में रखकर दिखा देगा। ध्यान रहे केवली भगवान भी इसमें समर्थ नहीं हो पायेंगे। आत्मा आपको देखना होगा, वे आत्मा को दिखा नहीं सकेंगे, वे आत्मा की बात बता सकेंगे। समयसार पढ़ोगे तो वही बात आयेगी, गुरु के मुख से सुनोगे तो वही बात आयेगी, केवली भगवान के मुख से सुनोगे तो वे भी वही सुनायेंगे, वही वाणी तो इसमें अंकित है। अनन्त शक्ति के धारक होकर भी वे आपको अपनी आत्मा को हस्त में रख कर के दिखा नहीं सकेंगे, वह दिखाने की वस्तु नहीं है वह देखने की वस्तु है। किस प्रकार का उसका स्वरूप है ? यह तो बता देंगे, किन्तु बता देने के बाद आपका यह परम कर्त्तव्य है, प्रत्यक्ष ज्ञान में उतर कर उसका संवेदन करे। आप परोक्ष ज्ञान के ऊपर ही. निर्धारित रह करके किसी पुस्तक पर विश्वास रखकर के इन्हीं क्रियाओं पर विश्वास कर लेंगे, इसी में धर्म को पूर्ण मान लेंगे तो यह उचित नहीं होगा।

अभी गाड़ी का मुख मात्र मुड़ा है। आप लोगों का मुख मुड़ सकता है, किन्तु अभी चला नहीं है, यात्रा कहते हैं चलने को । हाँ, गाड़ी का मुख मोड़ने को भी यात्रा कहते हैं किन्तु मोड़ने का अर्थ उसकी पृष्ठभूमि है, जब तक गाड़ी मुड़ेगी नहीं यात्रा नहीं होगी। इसलिए मोड़ना भी आवश्यक है आपने बहुत पुरुषार्थ किया, ध्यान रखना गाड़ी मोड़ने के लिये बहुत पुरुषार्थ की आवश्यकता होती है और गाड़ी चालू करने के उपरान्त रेल का ड्राइवर तो आँख बंद करके बैठ सकता है पर कार का ड्राइवर नहीं। कार का ड्राइवर अगर आँख बन्द कर लेगा तो मुश्किल हो जायेगी। रेल का मुख स्टेशन की ओर मोड़ कर उसे गति दे दी जाती है और गाड़ी अपने आप पटरी पर चालू हो जाती है। यह भी पुरुषार्थ है आप लोगों का, कि कम से कम इस ओर दृष्टिपात तो किया, मुख तो मोड़ा पर आपकी गाड़ी चालू नहीं हो रही है। इसमें मुझे ऐसा लग रहा है कि ऐसा न हो कि आप गाड़ी को

पुनः उसी ओर मोड़ लें क्योंकि उस ओर मोड़ना तो बहुत आसान है और उधर आपका अनन्तकालीन अभ्यास हो चुका है। इसलिए उस ओर बहुत जल्दी मुड़ सकता है। वीतरागता से राग की ओर मोड़ने में कोई प्रयास की आवश्यकता नहीं है, ऊपर की ओर पत्थर फेंकने के लिए तो परिश्रम की आवश्यकता है पर नीचे फेंकने के लिए कोई परिश्रम की आवश्यकता नहीं है। आप चाहें या न चाहें पर वह अपने आप नीचे आ जाता है और आयेगा यह नियम है। इसी प्रकार वीतरागता की ओर जाने के लिये तो प्रयास की आवश्यकता है पर राग की ओर जाने के लिये प्रयास की कोई आवश्यकता नहीं है। पूर्व संस्कारवश अपने आप ही आपके कदम उठ जायेंगे।

अब समय हो गया आपके कदम घर की ओर उठ जायेंगे। पर निज घर किधर है यह आप लोगों को पता नहीं। अभी तो कदम उधर ही उठेंगे, उनको इस प्रकार का अभ्यास दिया गया है, उनको इस प्रकार की Guidance मिल चुकी है कि वह यूँ भी चलें तो पैर उधर ही जाते हैं। अभ्यस्त हो चुका है जीवन, अपने आप ही Corner पर मुड़ जाते हैं।

मेरा अभ्यास खुद की ओर मुड़ने में बढ़ रहा है और आपका अभ्यास घर की ओर जाने में बढ़ रहा है। यह संस्कार की बात है। प्रतिदिन किया हुआ कार्य इस प्रकार अभ्यस्त होता चला जाता है कि उसको बताने की कोई आवश्यकता नहीं है।

वीतरागता की ओर मोड़ने के लिये बहुत प्रयास हो रहा है, वाचनिक प्रयास, मानसिक प्रयास और कायिक प्रयास; गुरु के उपदेश बार-बार अनेक प्रकार के उदाहरणों के माध्यम से दिये जाते हैं इसके उपरान्त भी आपका उपयोग राग की ओर झुक ही जाता है। एक बार वह समय भी आ सकता है जबकि आपका राग पूर्णतः मिट सकता है क्योंकि संभाव्य ही नहीं नियम है यह कि - ''राग आत्मा का स्वभाव नहीं है'' और एक बार स्वभाव की उपलब्धि होगी तो फिर विभाव प्राप्त होगा ही नहीं। इसलिये कह सकता हूँ कि एक बार प्रयास करके आप इधर आ जायेंगे तो फिर छूटने का कोई सवाल ही नहीं, पर थोड़ा पसीना आने दो, कोई बात नहीं, फिर यात्रा प्रारम्भ हो जायेगी। टिकट खरीदते समय पसीना आता है और लाइन में लगते समय पसीना आता है, ट्रेन में चढ़ते समय पसीना आता है किन्तु फिर बाद में बैठ जायेंगे, गाड़ी चलने लगेगी, इधर-उधर की हवा आनी प्रारम्भ हो जायेगी और आराम के साथ निद्रा लग जायेगी। इसी प्रकार मोक्ष-मार्ग में तकलीफ नहीं है बन्धुओ किन्तु मोक्षमार्ग में लगते-लगते तकलीफ महसूस होती है, कुछ तकलीफ जैसी लगती है, लगेगी कोई बात नहीं। प्रारंभ में औषधि कड़वी लगती है, पर बाद में परिणाम मीठा निकलता है निकलेगा, नियम रूप से निकलेगा। यह मोक्षमार्ग औषधि ही ऐसी है जो अनादिकालीन रोग को निकाल देगा और शुद्ध चैतन्य तत्त्व की उत्पत्ति उसमें से होगी और आनन्द ही आनन्द रहेगा।

अतः कुन्दकुन्द के साहित्य को पढ़कर अपने जीवन को उसी ओर ढालने का प्रयास करना

चाहिए यही स्वाध्याय का, देव-शास्त्र-गुरु की उपासना का वास्तविक फल है, यदि यह नहीं है तो समझ लो कि वह सांसारिक उपलब्धि के लिए ही सिद्ध हो जायगा, कहाँ, क्या और कैसा करना है, किस ओर करना यही मोक्षमार्ग का प्रयास है। संसार मार्ग अनादि काल से चल रहा हो उसे नहीं अपनाना है, नहीं अपनाते हुए भी उस ओर जो उपयोग जा रहा है उससे दूर हटना है। अपनाना है तो एकमात्र मोक्षमार्ग जो कि स्वाश्रित है और स्वाश्रित होने के लिये-देव-शास्त्र-गुरु का आलम्बन नितान्त आवश्यक है।

❑ ❑ ❑

चलती चक्की देखकर

संसाररूपी महान् चक्की में सारा का सारा संसार पिसता जा रहा है, सुख की बाधा और दुख से भीति संसार के प्रत्येक प्राणी को है। फिर भी सुख की प्राप्ति और दुख का अभाव क्यों नहीं हो रहा है?

जिसने धर्मरूपी कील का सहारा लिया है, जिसने रत्नत्रय का सहारा लिया है, वह तीन काल में पिस नहीं सकता, क्योंकि केन्द्र में हमेशा सुरक्षा रहती है और परिधि में हमेशा घुमाव।

सुख के साथ प्राप्त हुआ जो ज्ञान है वह दुख के आने पर पलायमान हो जाता है। कपूर के समान उड़ जाता है।

एक दोहा रखा जा रहा है आपके सामने जो आप लोगों को ज्ञात है और कण्ठस्थ भी होगा -

चलती चक्की देखकर दिया कबीरा रोय।
दो पाटन के बीच में साबुत बचा न कोय॥

पिता और पुत्र दोनों हवा खाने जा रहे हैं। दवा खाने नहीं (हँसी), चर्चा चल रही है। पिताजी आध्यात्मिक हैं, दर्शन का अच्छा ज्ञान और उम्र के लिहाज से तो वृद्ध हैं ही और जाते-जाते कहते हैं अपने पुत्र से कि देख ले बेटा! उस ओर जिस ओर मेरी अँगुली है यह चक्की जो चल रही है, यही दशा इस संसार की है।

संसाररूपी महान् चक्की में सारा का सारा संसार पिसता जा रहा है सुख की बाधा और दुख से भीति संसार के प्रत्येक प्राणी को है, फिर भी सुख की प्राप्ति और दुख का अभाव क्यों नहीं हो रहा है? इसलिए नहीं हो रहा है क्योंकि बेटा-यह संसारी प्राणी संसार में ही रुलता रहा है। इसको दुख का अनुभव करना ही होगा क्योंकि दो पाटों के बीच में धान का दाना साबुत नहीं बच सकता। बेटा कहता है पिता जी जरा इस पर भी तो ध्यान दो, एक दोहा और भी तो सुनने में आता है-

चलती चक्की देखकर करत कमाल ठिठोय।
जो कीले से लग गया मार सके नहिं कोय॥

पिता जी-यह कोई एकान्त नहीं है, यह कोई सिद्धांत/नियम नहीं है कि संसार के सारे के सारे प्राणी दुख का ही अनुभव करते हैं। कौन कहता है कि संसार के सारे जीव जन्म-मरण रूपी पाटों के बीच पिसते ही रहेंगे? जिसने धर्मरूपी कील का सहारा ले लिया है, जिसका जीवन ही धर्म बन गया है उसके लिए ऐसी कोई भी शक्ति नहीं है दुनियाँ में जो मार सके, संसार में भटका सके। पिता जी इस रहस्य को हर कोई नहीं जानता और इस रहस्य को जानने की चेष्टा भी नहीं करता। इस संसारी प्राणी की क्या स्थिति है? तो आचार्य समन्तभद्र जी स्वयम्भू स्तोत्र में कहते हैं कि-

विभेति मृत्योर्न ततोऽस्ति मोक्षो, नित्यं शिवं वाञ्छति नाऽस्य लाभः।
तथापि बालो भयकामवश्यो, वृथा स्वयं तप्यत इत्यवादीः॥ ३४॥

यह अज्ञानी प्राणी मृत्यु से डरता है किन्तु उससे उसे छुटकारा नहीं मिलता और निरन्तर मोक्षसुख को चाहता है किन्तु उसकी प्राप्ति उसे नहीं होती फिर भी भय और काम के वशीभूत हुआ यह अज्ञानी प्राणी कष्ट सहता रहता है। वह कहता है पिता जी इन परिस्थितियों से वही डरता है जो इस रहस्य को नहीं जानता और वही इस संसार रूपी चक्की में पिसता रहेगा। इस रहस्य को जानने वाला ही इस संसार समुद्र से पार उतर सकता है। ऐसी कोई...कहीं से नौका नहीं आने वाली जो पार करा दे।

कबीर और कबीर का पुत्र, नाम क्या है भैया? जब कोई अच्छा कार्य करता है तो आप कहते हैं कि वाह...आपने तो 'कमाल' कर दिया! कमाल कर दिया!! कमाल कर दिया!!! समझ में नहीं आता था मुझे इसका मतलब, अब ज्ञात हुआ कि जब पिता जी से भी आगे बढ़ जाता है बेटा, तब उसका नाम पड़ता है 'कमाल'। वह पिताजी से कैसे आगे बढ़ता है देख लीजिए आप, यदि आप भी उसके अनुसार कमाल करें तो आपका भी नाम हो जाएगा कमाल! लेकिन आप लोग कुछ कमाल का काम नहीं करते। वह कहता है पिता जी ऐसी बात नहीं है। यह जो चक्की का उदाहरण आपने दिया वह उदाहरणाभास है, दृष्टान्त जो दिया वह दृष्टान्ताभास है, कैसे है बेटा? उत्सुकता जाग्रत हुई कम से कम देख तो लिया जाए क्या कहता है? लेकिन ऐसी गहराई में पहुँचा दिया कमाल ने कबीर को। वाह बेटा! कमाल कर दिया तुमने ऐसा कह दिया उन्होंने-ऐसी दृष्टि दी मुझे कि संसार को सुखी कैसे बना दिया जाए, दुख का अभाव कैसे हो? तो कहीं भागने की आवश्यकता नहीं है उसी चक्की में रहिए लेकिन चक्की के चक्कर में मत आइए। आप लोग चक्कर में आ जाते हैं इसलिए पिस जाते हैं। उस ही चक्की में रहिए लेकिन कहाँ पर रहिए? आजकल चक्की तो है नहीं, क्या बताएं? आप लोग पीसते ही नहीं।

एक बार देखा था, जिस समय छोटा था, जो चक्की चलाने वाला था, वह बीच-बीच में हाथ डालकर यूँ यूँ (हाथ का इशारा) करता था, मैंने सोचा धान तो डालता नहीं है और अँगुली डालकर यूँ-यूँ करता है, क्या ये भी कमाल कर रहा है? उसके अन्दर अँगुली ले जाने की क्या आवश्यकता थी? तो हमने पास जाकर देखा चक्की चल रही है और वह बीच-बीच में यूँ-यूँ करता था। यूँ-यूँ करते-करते जो धान के दाने वहां नहीं जा रहे थे रुके हुए थे तो अँगुली के माध्यम से वे चक्की के चक्कर में आ जाते और पिस जाते, हमने सोचा वाह भाई वाह! धान में भी कमाल है और इसकी अंगुलियों में भी कमाल है क्योंकि अपनी अँगुली तो सुरक्षित बचा लेता है। कील का सहारा जिसने ले लिया उसको कोई कह नहीं सकता कि तू पिस जायगा। चाहे हजार बार चक्कर क्यों न लग जाए। केन्द्र में हमेशा सुरक्षा रहती है और परिधि में हमेशा घुमाव रहता है, केन्द्र में द्रव्य का अवलोकन होता है।

सुख और दुख यह सब अपनी-अपनी दृष्टि के ऊपर निर्धारित है। संसार में जितने जीव रहते हैं सभी को दुख होता है ऐसी बात नहीं है। ध्यान रखिये जेल में सबको दुख नहीं होता, जो कैदी हैं जिसने अपराध किया है, जो न्याय-नीति से विमुख हुआ है, जिसको जेल में बंद कर दिया है उसे ही दुख होता है किन्तु उस ही जेल में, उन्हीं सीखचों के अन्दर जेलर भी रहता है किन्तु उसको रंचमात्र भी दुख नहीं होता। उस जेलर को क्यों दुख नहीं होता? और कैदी को दुख क्यों? तो बंधन कैदी के लिए है जेलर के लिए नहीं। मजे की बात तो यह है कि कैदी फिर भी रात में आराम की नींद सो सकता है किन्तु रखवाली करने वाला जेलर सोता तक नहीं फिर भी खुश रहता है और प्रभु से यही प्रार्थना करता रहता है कि हे भगवन्! यह जेल कभी न छूटे इसमें हमारा दिन दूना-रात चौगुना विकास होता रहे किन्तु एक सुख का अनुभव कर रहा है और एक दुख का। इसका अर्थ यह हुआ कि सुख और दुख का अनुभव करने में कारण व्यक्ति की विचारधारा ही बनती है, मन की स्थिति के ऊपर ही आधारित है उसका संवेदन, बिना उपयोग के वह सुख और दुख संभव नहीं। समयसार में 'आचार्य कुन्दकुन्द देव' कहते हैं कि उपयोग की धारा जब भाव रूप में परिणत हो जाती है अर्थात् उन-उन पदार्थों की ओर अथवा कर्मफल की ओर वह जाती है, तो उस समय उस भाव के द्वारा कर्म का समार्जन हुआ करता है अन्यथा इन कर्मों को कोई बुला नहीं सकता। उदयमात्र बंध का कारण नहीं है किन्तु अपने अन्दर विद्यमान राग-द्वेष-विषय-कषाय एवं पर पदार्थों में ममत्व बुद्धि का होना ही बंध का कारण है। वस्तु बंध के लिए कारण नहीं है बल्कि उस वस्तु के प्रति हमारा जो अध्यवसान भाव है वही बंध का कारण है।

संसार में रहना तो अपराध है ही किन्तु संसार में लीन होकर रहना और महा अपराध है। इस अपराध से छुड़ाने के लिए ही संत लोग हमारे लिए हितकारी मार्ग प्रशस्त कर रहे हैं उनका जीवन, उनका साहित्य भी हमें एक नई दिशा नया बोध दे रहा है, यह सारा का सारा उन्हीं के परिश्रम का फल

है।...कमाल हो गया कबीर को ज्ञान हो गया कि वस्तुतः बात सही है कि जिसने धर्मरूपी कील का सहारा ले लिया रत्नत्रय का सहारा ले लिया, तो वह तीन काल में पिसेगा नहीं, चक्की के चक्कर में आएगा नहीं। संसार में आवागमन करते हुए भी जिसने संयम का आधार ले लिया अब उसको भटकाने-अटकाने वाली तीन लोक में कोई शक्ति नहीं। दूसरी बात यह है कि जहाँ कहीं भी धर्मात्मा पुरुष चला जाएगा वहाँ जाने से पहले लोग स्वागत सत्कार के लिए खड़े रहेंगे और हाथ जोड़कर कहेंगे कि किधर से आ रहे हैं आप? आइये हम आपकी सेवा के लिए तैयार हैं, हमारी सेवा मंजूर कर हम सभी को अनुग्रहीत कीजिए। महान् पुण्यशाली, महान् धर्म के आराधक होने का यह परिश्रम है कि जहाँ कहीं भी धर्मात्मा चला जाये पग-पग पर उसकी पूजा हुआ करती है किन्तु जिसने धर्म का सहारा नहीं लिया 'खाओ पीओ मौज उड़ाओ' वाली बात जिसके जीवन में है उसे तो कुछ समयोपरान्त पग-पग पर ठोकरें खाना पड़ेगी और अनंतकाल तक इसी संसार रूपी चक्की में ही पिसना पड़ेगा। असंयमी का जीवन महान् संक्लेशमय कष्टदायक होगा और एक समय ऐसी स्थिति आ जायेगी जैसी गर्मी के दिनों में होती है। छाया में आप बैठे हो आराम के साथ प्रवचन सुन रहे हो और यदि छाया नहीं होती तो क्या स्थिति होगी? ठीक वैसी ही स्थिति संयम के अभाव में संसारी प्राणी की होती है। ध्यान रखें संयोगवश कभी यह जीव देवगति में भी चला जाता है तो वहाँ पर भी संयम के अभाव में प्राप्त हुए इन्द्रिय सुखों के छूटते समय और अपने से बड़े देवों की विभूति को देखकर संक्लेश करता है जिस संक्लेश का परिणाम है कि उसका अधः पतन ही हुआ करता है और उसे दुख सहना पड़ता है।

"**विषय चाह दावानल दह्यो, मरतविलाप करत दुख सह्यो**" (छहढाला/पहली ढाल)

जो सुख मिला है वह आत्मा के द्वारा किए हुए उज्ज्वल परिणामों का परिणाम है और जो दुख मिला है वह भी आत्मा के द्वारा किए हुए अशुभ परिणामों का फल है। यह संसार एक झील की भाँति है जो सुखदायक भी है और दुखदायक भी है। यदि नौका विहार करके झील को पार किया जाये तो आनन्द की लहर आने लगती है किन्तु असावधानी करने से सछिद्र नाव में बैठने से प्राणी उसी झील में डूब भी जाता है। इस बात को आप उदाहरण के माध्यम से समझ लीजिए, समय ज्यादा नहीं लेना है, बस थोड़े में ही कमाल करना है-

अब देख लीजिए आप एक व्यक्ति Underground में है, उसका पालन-पोषण-शिक्षण सब Underground में हो रहा है, Ground भी Underground में बने हुए थे। आना-जाना, खाना-पीना, सोना, उठना-बैठना सब Underground में ही होते थे। वहाँ पर सारी की सारी व्यवस्था वातानुकूल (एयर कण्डीशन) और मनोनुकूल (मन के अनुरूप) थी। उनके लिए प्रकाश की व्यवस्था कैसी थी? सूर्यप्रकाश और बिजलियों का प्रकाश सहन करने की

क्षमता उनकी आँखें में नहीं थी, देखते ही आँखों में पानी आ जाता था, इसलिए हीरा-मोती वगैरह से बने हुए रत्नदीपक का प्रबन्ध रहता था, रत्नदीपक के प्रकाश में ही जिनका जीवन पल-पल, पल रहा था, बाहरी वातावरण को सहन करने की शक्ति जिनके शरीर में नहीं थी और यदि छोटा सा सरसों का दाना भी बिस्तर पर आ जाए तो उन्हें रात भर नींद नहीं आती थी। मुझे समझ में नहीं आता कि वहाँ पर सरसों का दाना गया ही क्यों? लेकिन सुख की उत्कृष्टता दिखलाने के लिए कवियों ने भेजा है। यह ध्यान रखना उनका शरीर इतना कोमल था कि सरसों का दाना तो फिर भी ठीक है यदि मुझसे पूछा जाय तो मैं तो यही कहूँगा कि मखमल के जो बाल हैं वह भी चुभते होंगे उनको। इससे संबंधित एक बात और सुनाऊँगा बाद में।...उनको भोजन के लिए कमल पत्रों में रखे हुए चावल का ही भात बनता था और उसे भी वह एक-एक दाना चुगते थे क्योंकि अन्य विधि से भात बना दिया जाये तो उन्हें हजम नहीं होता था, पेट में दर्द हो जाता था। अब आगे और कमाल की बात सुनाऊँ कि वह इतने सुकुमाल थे कि यदि उनके सामने ककड़ी का नाम ले दिया जाये तो उन्हें जुकाम हो जाता था (श्रोता समुदाय में हँसी).... खाने की बात तो बहुत दूर रही। इस प्रकार होते हुए उनका जीवन कैसे चल रहा था, भगवान ही जाने। उनकी माँ थी, पत्नियाँ भी थी, सब कुछ कार्यक्रम जैसा आपका चल रहा है वैसा ही चलता था।

किन्तु समय ने पलटा खाया अब ज्ञान का प्रकाश प्राप्त होता है उन्हें, जीवन के अन्दर एक किरण जाग्रत होती है, रत्नदीपक की किरणें तो मात्र बाहरी देश को आलोकित करती थीं, किन्तु भीतरी देश को प्रकाशित करने की क्षमता उनमें नहीं थी। अत: भीतरी देश को प्रकाशित करने के लिए ज्ञान की, वैराग्य की किरणें फूटती हैं। आत्मा के अन्दर उन किरणों ने कमाल कर दिया, जीवन की रूपरेखा ही बदल दी, अज्ञान अन्धकार समाप्त हो चुका, इसलिए रात्रि में वह चुपचाप उठता है, पत्नियाँ सोई हुई थी, इधर-उधर देखता है, रेशम की साड़ियाँ रखी हुई दिख जाती हैं, उन सभी को एकत्रित कर एक दूसरे से गाँठ बांध एक खिड़की से बांध देता है और बिना किसी से कहे साड़ियों के सहारे नीचे उतरना प्रारंभ कर देता है। जिसके पैर आज तक सीढ़ियों पर नहीं टिके आज वही रस्सी का Balance संभाले हुए है। एक साथ तो नीचे नहीं आए क्योंकि कार्य की पूर्णता क्रमशः हुआ करती है, ये सब क्रियायें कुछ समय को लेकर हुआ करती हैं, एक समय में नहीं हुआ करती। सभी कार्यों के लिए समय अपेक्षित रहता है बस केवल ज्ञान एवं वैराग्य जाग्रत होना चाहिए। प्रत्येक कार्य संपादित हुआ करते हैं और होते ही रहते हैं, असंभव कोई चीज नहीं है।

एक उदाहरण छोड़ दिया था हमने! कौन-सा है..... हाँ रत्न कम्बल, जिसे ओढ़ने-बिछाने के लिए खरीदा था जिसको खरीदने की क्षमता वहाँ के राजा की नहीं थी। इतना अमूल्य था वह जिसे देखकर उसकी कीमत सुनकर राजा कहता कि यदि इसे खरीद लूँ तो मेरा सारा का सारा भण्डार

खाली हो जायेगा, ले जाओ इसको मैं इसे नहीं खरीद सकता। उस रत्न कम्बल को उसी नगर में रहने वाले सेठजी ने खरीद लिया और बेटा सुकुमाल को उपयोग करने दे दिया लेकिन वह दूसरे ही दिन कहता है कि पिताजी इसके बाल मुझे चुभते हैं। कोई बात नहीं बेटा इसको अब हम वापिस तो नहीं कर सकते अतः माता-पिता ने अपनी बहुओं (सुकुमाल की पत्नियों)के लिए जूतियाँ बनवा दी...। अब बोलिए आप! इनके सुख वैभव की पराकाष्ठा। इतना कोमल शरीर था किन्तु आज वही नंगे पैरों चला जा रहा है, पगतल लहूलुहान हो गए, कोमल-कोमल पगतल होने के कारण लाल-लाल खून बहने लगा, कंकर-काँटें चुभते जा रहे थे फिर भी दृष्टि नहीं उस तरफ और अविरल रूप से आत्मा और शरीर के पृथक्-पृथक् अस्तित्व की अनुभूति करने के लिए कदम बढ़ रहे थे, बाहर की ओर दृष्टि नहीं है यदि है तो वह कहती है कि यह मेरा स्वभाव नहीं है। चलिए मंजिल तक पहुँचना है और वह पगडंडी ढूँढ़ता-ढूँढ़ता एकाकी चला जाता है उस ओर जिस ओर से मांगलिक आवाज आ रही थी, जिस ओर अपना काम होना था।

वीतराग मुद्रा को धारण करने वाले एक मुनि महाराज से साक्षात्कार हो जाता है। रागी और विरागी का अनुपम मिलन! वह भी वीतरागी बनने के अभिमुख हुआ है, पगतल से खून निकल रहा है फिर भी काया के प्रति कोई राग नहीं, आह की ध्वनि तक नहीं आ रही है ओठों तक....और भीतर में भी रागात्मक विकल्प तरंगें नहीं उठ रही हैं। वह सोच रहा है तीन दिन के उपरान्त तो इस शरीर का अवसान होने वाला है, बहुत अच्छा हुआ, मैं अन्त समय में तो कम से कम इस मोह निद्रा से उठकर सचेत हो गया और महान् पुण्य के उदय से सच्चे परम वीतराग धर्म की शरण मिल गयी। अब मुझे कुछ नहीं करना है, आत्म कल्याण करने के लिए बस उस उपादेयभूत वीतरागता को प्राप्त करना है, जो कि इस संसार में सर्वश्रेष्ठ और सारभूत है। जिसकी प्राप्ति के लिए स्वर्गों के इन्द्र भी तरसते रहते हैं, जिस निर्ग्रंथ दशा के माध्यम से केवलज्ञान की उत्पत्ति होने वाली है, अक्षय अनंत ज्ञान की उपलब्धि मुनि बनने के बाद ही होती है। इस शुद्धात्मा की अनुभूति के लिए हमें राग-द्वेष विषय कषाय इन सभी वैभाविक परणतियों से हटना होगा, तभी हम उस निर्विकल्पात्मक ज्ञानीपने को प्राप्त कर सकेंगे। उस ज्ञानी आत्मा की महिमा क्या बताऊँ -

णाणी रागप्पजहो, सव्वदव्वेसु कम्म मज्झगदो।
णो लिप्पदि कम्म रयेण दुख कद्दम मज्झे जहा कणयं॥२२९॥
अण्णाणी पुण रत्तो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो।
लिप्पदि कम्मरयेण दुख, कद्दममज्झे जहा लोहं॥२३०॥

(समयसार/निर्जराधिकार)

कितनी सुन्दर हैं ये गाथा। आचार्य कुन्दकुन्द देव कहते हैं कि ज्ञानी वह है जो कर्मों के बीच

में, विषयों के बीच में रहता हुआ भी अपने स्वभाव में रहता है जैसे कीचड़ के बीच में स्वर्ण रहते हुए भी अपने गुण धर्म को नहीं छोड़ता, निर्लिप्त रहता हुआ सदा अपने स्वरूप में ही स्थिर रहता है। जगत-जगत में रहता है किन्तु वह ज्ञानी जगत में भी जगत (जागृत) रहता है; अपने आप में जागृत रहता है औरों को भी जगाता है। वह अपनी आत्मभक्ति में ही दौड़ता चला जाता है, भागता रहता है और स्वभाव में लीन हो जाता है। बाहरी भागना यह पर्याय दृष्टि का प्रतीक है और भीतर ही भीतर भागना, भीतर ही भीतर विहार करना यह यथाख्यात विहार, विशुद्धि संयम का प्रतीक है। वह अपनी आत्मा में ही विहार करता जा रहा है। कोई तकलीफ नहीं कोई परेशानी नहीं। देख लीजिए मुनि महाराज के मुख से वचन सुनकर दिगम्बर दीक्षा धारण कर लेता है। दीक्षा लेने के उपरान्त और क्या-क्या होता है, अब देखेंगे आप कमाल की बात -

अब सूत्रपात होता है मोक्षमार्ग का। उपसर्ग और परीषहों से गुजरने वाला ही मोक्षमार्गी होता है। आचार्य कुन्दकुन्द देव, आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने अपने अध्यात्म ग्रन्थों में लिखा है कि जो सुख के साथ प्राप्त हुआ ज्ञान है वह दुख के आने पर पलायमान हो जाता है, कपूर के समान उड़ जाता है और जो कष्ट-दुख परीषह झेलकर ज्ञान अर्जित किया जाता है वह अनुकूल-प्रतिकूल वातावरण में भी स्थायी बना रहता है। ध्यान रखो पौधे को मजबूत करना है, तैयार करना है, अंकुरित बीज का विकास करना है तो मात्र खाद पानी ही पर्याप्त नहीं है उसे प्रकृति के अन्य वातावरण की भी आवश्यकता रहती है। यदि आप सोचते हो कि बीज को छाया में बोने से अच्छी सुरक्षा हो जाएगी, किन्तु यह ध्यान रखना वह बीज अंकुरित तो होंगे लेकिन पीले-पीले हो जायेंगे, टी० बी० के मरीज जैसे उसमें खून नहीं रहता है, उसमें ओज नहीं रहता है, किन्तु वही बीज यदि खुले मैदान में वो दिया जाये, खाद पानी मिले, सूर्य प्रकाश भी मिले तो वह पीला नहीं हरा-भरा रहता है। और वह सूर्य की प्रखर किरणों से दावे के साथ कहता है मेरे पास अब वह हिम्मत है कि मैं तुम्हें सहन कर सकता हूँ और तुम्हें पचाने के उपरान्त हमारा विकास ही होगा, विनाश नहीं।

इसलिए जिस प्रकार पौधे को पुष्ट बनाने के लिए, हरा-भरा बनाने के लिए कठिनाइयों से गुजरने की आवश्यकता पड़ती है ठीक उसी प्रकार दर्शन, ज्ञान और चारित्र को पुष्ट बनाने के लिए उपसर्ग और परीषहों से गुजरने की आवश्यकता पड़ती है। ज्ञान में विकास, ज्ञान में निखार एवं मजबूतपना चारित्र के माध्यम से आता है। आज तक ऐसा कोई भी जीव नहीं है जो उपसर्ग और परीषह को जीते बिना केवलज्ञान प्राप्त कर सिद्ध परमेष्ठी बन गया हो। महाराज भरत चक्रवर्ती को तो सिद्ध पद प्राप्त हुआ है। भैया! ग्रन्थ खोलकर देखिए तो मालूम पड़ जायेगा कि मुनि बने बिना तो उन्हें केवलज्ञान प्राप्त नहीं हुआ है। पर हाँ...यह बात जरूर है कि उन्हें अल्पकाल में केवलज्ञान प्राप्त हो गया लेकिन अल्पकाल होकर के भी छट्टा-सातवाँ, छट्टा-सातवाँ, सहस्रवार गुणस्थान

परिवर्तित होता है यह आवश्यक है। आराधना के बिना संभव नहीं है, अल्पकाल हो या चिरकाल किन्तु आराधना के बिना आत्मा का उद्धार होने वाला नहीं है।

संयम को धारण करके कोमल-कोमल काया वाला वह सुकुमाल दीक्षित होकर जंगल में चला जाता है। ध्यान में एकाग्रचित्त होकर खड़े हो जाते हैं किन्तु पूर्वजन्म के बैर से बंधी हुई उसकी भावज रास्ते में पड़े हुए खून के दाग सूँघती हुई उसी स्थान पर पहुँच जाती है जहाँ पर मुनिराज सुकुमाल स्वामी ध्यान मग्न थे। उनके असाता कर्म के तीव्रोदय से एवं स्वयं वैर के वशीभूत होकर उस स्यालिनी को क्रोध आ गया और वह झपट कर बच्चों सहित मुनिराज की काया को विदीर्ण करने लगी, खाने लगी, उसके साथ उसके छोटे-छोटे दो बच्चे भी थे।

''एक स्यालनी जुग बच्चायुत पाँव भख्यो दुखकारी।'' (समाधिमरण पाठ)

बड़ा वाला समाधिमरण पाठ है उसमें बहुत अच्छा विश्लेषण है उपसर्गों का और उन उपसर्गों को सहन करने वाले मुनियों के नाम भी दिए हैं। तो उस समय सुकुमाल मुनि और उनके दोनों पैरों को वह स्यालिनी खाना प्रारंभ कर देती है। अभी-अभी उदाहरण दिया गया था कि उन महाराज जी को चीटियाँ काट रही थी, वो महाराज जी तो हट्टे-कट्टे होंगे लेकिन हमारे महाराज तो भैया!.. कमाल की बात है सुकुमाल की बात है और दूसरी बात यह है कि वहाँ पर चीटियाँ खाती थी किन्तु यहाँ पर स्यालिनी खाती है और वह भी जुग बच्चा युत। तीसरी बात यह है कि वहाँ पर चीटियाँ घी खाती थी और यहाँ पर घी नहीं खाती, Direct (सीधे) अन्दर जो मांसपेशियाँ हैं उन्हें अपना भोजन बना रही हैं। इस प्रकार तीन दिन तक अखंड उपसर्ग चला जो अपवर्ग का सोपान माना जाता है स्वर्ग का तो है ही। जिसके द्वारा स्वर्ग और मोक्ष के कपाट खोले जाते हैं।

... धन्य है वह जीव जिसको सरसों का दाना चुभता था, सूर्य प्रकाश को भी सहन करने की क्षमता जिनकी आँखों में नहीं थी और जिसमें यह बल नहीं था कि वह मोटे-मोटे चावलों से बने भात को खा सके और उन्हें पचा सके और वही संहनन वही काया सब कुछ वही, क्योंकि एक बार प्राप्त होने के उपरान्त जीवनपर्यन्त संहनन बदलता नहीं उसमें कोई Change नहीं, कोई अन्तराल नहीं पड़ता है लेकिन इस प्रकार की शक्ति, सहन करने की क्षमता, यह अंतर कहाँ से आ गया, यह भीतरी अंतर है परिणामों की बदलाहट है। भीतरी गहराई में जब आत्मा उतर जाता है तब किसी प्रकार का बाहरी वातावरण उस पर प्रभाव नहीं डाल सकता।

'आचार्य वीरसेन' स्वामी ने एक स्थान पर कहा है कि जब एक अनादिकालीन संसारी प्राणी मिथ्यात्व से ऊपर उठने की भूमिका बनाता हुआ उपशमकरण करना प्रारंभ करता है तो ध्यान रखो उस समय तीन लोक की कोई शक्ति उस पर प्रहार नहीं कर सकती, किसी भी प्रकार के उपसर्ग का

उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ने वाला और उपसर्ग की स्थिति में भी उसकी मृत्यु तीन काल में संभव नहीं है। यह सब माहात्म्य आत्मा की विशुद्धि, भीतरी परिणति का है। आत्मानुभूति के समय बाहर कुछ भी होने दीजिए किन्तु अंदर बसंत बहार चलती रहती है। कुछ लोग काश्मीर जाते हैं, कुछ लोग धूप का चश्मा पहनते हैं, मान लीजिए किसी को यह साधन नहीं मिला तो हम कहते हैं कि भीतरी वस्तु का विचार करिए और शिखर के ऊपर जाकर बैठ जाइये, जेठ की तपती दुपहरी हो तो भी वहाँ पर काश्मीरी तलहटी से कम नहीं..! उससे भी अधिक बसंत बहार बहना प्रारम्भ हो जायेगी। यह धारणा का ही परिणाम है, आस्था/विश्वास का ही परिणाम है। जिस भावना का प्रभाव जब दूसरे पर पड़ सकता है यहाँ तक कि जड़ पदार्थ पर भी पड़ सकता है,.....तो फिर क्या चेतन आत्मा के ऊपर प्रभाव नहीं पड़ सकता? धन्य है वह एकत्व की भावना, वह भावना कैसी थी -

अहमिक्को खलु सुद्धो, दंसणणाणमइओ सदा रूवी।
णवि अत्थि मज्झ किंचिवि, अण्णं परमाणुमित्तंपि॥

(समयसार/४३)

धन्य है Underguound में रहने वाले आज चौपात पर हैं, शिलाओं पर हैं। आज स्यालिनी के द्वारा शरीर खाया जा रहा है,लेकिन वह भाग्यशाली भीतर से बाहर नहीं आता। देखा तक नहीं कि स्यालिनी कुछ कर रही है। यदि छठे गुण स्थान में आ भी जाते हैं तो कहते हैं कि तेरी खुराक तू खा ले, मेरी खुराक मैं खा रहा हूँ। धन्य हैं वे.. .क्या परिणाम हैं? मैं सोच रहा हूँ कि आप तो उनसे अधिक बलवान हैं, उनको तो पसीना जल्दी आ जाता था लेकिन आप तो...यहाँ पर डेढ़ घण्टा हो रहा है और ज्यों के त्यों बैठे हुए हो, आसन में फर्क नहीं आया, यह बात अलग है कोई जगह नहीं मिलने से नहीं बदली है। परिणामों की विचित्रता है, अपने परिणामों को शरीर से पृथक् कर आत्मा की ओर तो कम से कम कर लीजिए। आप प्रवचन सुनते हैं, भगवान का अभिषेक पूजन करते हैं स्वाध्याय भी करते हैं लेकिन इसका धर्म क्या ? इसका अर्थ क्या है? यह किस प्रकार के भावों से किया जाए? यदि आप इस क्रिया को विशुद्धता पूर्वक संकल्प लेकर के करते हो तो असंख्यातगुणी निर्जरा एक सैकेण्ड में कर सकते हो। वह सम्यग्दृष्टि जीव आठ मूलगुणों का पालन कर सकता है। बारह व्रतों को ग्रहण कर सकता है और आठ वर्ष की उम्र से लेकर पूर्व कोटि वर्ष तक पालन कर सकता है। इस प्रकार जीवनपर्यन्त निर्दोष व्रतों का पालन करते रहने से उस असंयत सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा देशव्रती तिर्यंच-मनुष्य की असंख्यात गुणी कर्म निर्जरा प्रतिसमय होती रहती है। किन्तु समस्त पूर्ववर्ती आचार्यों ने तो असंयत सम्यग्दृष्टि के लिए यही कहा है कि उसकी गुणश्रेणी निर्जरा तो सिर्फ सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति काल में ही हुआ करती है अन्य समय में नहीं।..... सामान्य निर्जरा का होना अलग बात है।

गणेशप्रसादजी वर्णी कहा करते थे, देखो! ध्यान रखो कोई असंयत सम्यग्दृष्टि चक्रवर्ती है और वह भी सामायिक कर रहा है लेकिन उससे भी अधिक असंख्यात गुणी निर्जरा एक मामूली तिर्यञ्च जो घासोपयोगी है उसकी हुआ करती है। बड़ा अच्छा शब्द प्रयोग किया है वर्णीजी ने 'घासोपयोगी' अर्थात् सिर्फ घास खाने में जिसका उपयोग है वह चक्रवर्ती से भी असंख्यात गुणी निर्जरा कर सकता है, यह किसका परिणाम है तो आचार्य कहते हैं कि यह देश संयम का परिणाम है क्योंकि तिर्यञ्च देश संयम से ऊपर उठने की सामर्थ्य नहीं रखते हैं। सकल संयम पालन करने की योग्यता मनुष्य पर्याय में ही संभव है। सकल संयम धारण करने से क्या होगा?.... तो जिस समय वह अणुव्रती सामायिक में बैठा है चाहे महान् उपसर्ग को सहन करने वाला वह सुदर्शन सेठ क्यों न हो और एक मुनिराज या तो शयन कर रहे हैं या भोजन कर रहे हैं या फिर किसी शिष्य को डाँट रहे तो भी उनकी उस सामायिक में लीन देशव्रती से असंख्यात गुणित निर्जरा होती है। मैं पूछना चाहता हूँ शयन के समय, भोजन के समय, शिष्य को डाँटते समय में भी असंख्यातगुणी निर्जरा!... हाँ भैया! दुकान कौन सी है देख लो।

जिस प्रकार कई वर्षों के उपरान्त भी जौहरी की दुकान में ग्राहक आ जाने से दोनों (ग्राहक और दुकानदार) मालामाल हो जाते हैं, उसी प्रकार मोक्षमार्ग में भी। सामान्य दुकानदारों की तरह उस जौहरी की दुकान में उठक-बैठक नहीं हुआ करती है, ग्राहक के लिए भी बढ़िया गद्दी तकिया बैठने के लिए मिल जाती है, नौकर चाय-पान लाता है, बाद में अपना कीमती नग दिखाया जाता है, साइज में बहुत छोटा होता है, हाथ से उसे छू नहीं सकते....केवल दूर से ही देख सकते हैं फिर भी उसकी कीमत क्या है?....एक लाख.... दो लाख....तीन लाख इतनी अधिक होती है....हाँ "**हीरा मुख से कब कहे लाख हमारा मोल**"। बस उसके ऊपर जैसे जैसे पहलू निकलते चले जाते हैं, वैसे-वैसे उसका मूल्य बढ़ता चला जाता है। जिस प्रकार पंखे की हवा में बैठे रहने वाले उन हीरे-जवाहरात के व्यापारियों के लिए १ मिनट में करोड़ों की आमदनी हो जाती है बिना पसीना बहाए, उसी प्रकार मोक्षमार्ग में भी जैसे-जैसे एक-एक गुणस्थान बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे विशुद्धि बढ़ने के कारण असंख्यात गुणित कर्मों की निर्जरा बढ़ती जाती है। प्रशस्त पुण्य प्रकृतियों का बंध होता जाता है, परिश्रम कम होता जाता है एवं लाभ अधिक बढ़ता जाता है।

इसी प्रकार से एक-एक लब्धिस्थान बढ़ाते हुए मुनिराज सुकुमाल स्वामी कायोत्सर्ग में लीन थे। कायक्लेश तप भी एक महान् तप माना गया है किन्तु उन आत्मध्यानियों के लिए क्या कायक्लेश, उनका तो आत्मचिंतन चल रहा था, बाहर क्या हो रहा हैं पता भी नहीं था। बुन्देलखण्डी भाषा में काय अर्थात् क्या है क्लेश, तो कुछ भी नहीं है। क्लेश तो Underground में था यहाँ आने पर अब कुछ भी नहीं है। आप आगम के हर पहलुओं पर चिंतन करके देखेंगे तो ज्ञात होगा कि

जो आभ्यन्तर तप के अलावा कायक्लेश आदि बाह्य तप है वह भी कर्म-निर्जरा कराने में कारण है। वह प्रवृत्ति, वह बाह्य तप भी शुभोपयोगात्मक है जो शुभोपयोग बंध की अपेक्षा असंख्यातगुणी निर्जरा कराता है और परम्परा से मोक्ष का कारण है किन्तु साक्षात् कारण तो शुद्धोपयोग ही है लेकिन यह बात भी ध्यान रखना उस शुद्धोपयोग का उपादान कारण तो शुभोपयोग ही है। सम्यग्दृष्टि साधक की जो कायक्लेश के माध्यम से निर्जरा होती है उसे वह क्लेश के रूप में नहीं देखता। छहढाला की वे पंक्तियाँ याद करने योग्य हैं उन्हें पुनः ताजा कर लीजिए।

''आतम हित हेतु विरागज्ञान ते लखें आपको कष्टदान''

(छहढाला/दूसरी ढाल)

जो मिथ्यादृष्टि हैं जिसकी बाहरी दृष्टि है वह वीतराग विज्ञान को क्लेश की दृष्टि से देखा करता है किन्तु सम्यग्दृष्टि मुमुक्षु प्राणी निर्जरा तत्त्व की ओर देखता है तब कहीं जाकर उसकी आमदनी ज्यादा होने लगती है। बंधुओ! अब आप लोगों को भी इस प्रकार की दुकान खोलना चाहिए। जिसमें आराम के साथ बैठे-बैठे काम कम करना पड़े और माला-माल हो जाए किन्तु आप लोग तो तेल, नोन, लकड़ी रखने वाले किराने की दुकान वाले हैं, जिसमें कालीमिर्च धनिया, जीरा बेचते रहते हैं। पाँच-पाँच पैसे के लिए बार-बार उठते-बैठते रहते हैं, कोई ग्राहक आता है मान लो आपकी उम्र से बहुत कम उम्र वाला एक छोटा सा लड़का आया है पाँच पैसे लेकर, वह कहता है एक पैसे का तो गुड़ दे दो और एक पैसे का कुछ और दे दो... बाकी पैसे वापिस कर दो। तो उसमें भी आप उठक-बैठक करेंगे, दस बार हाथ धोयेंगे और वह भी ठंड के समय पौष माह में (श्रोता समुदाय में हँसी) भले ही हाथ ठिठुर जाए और उसे ठीक करने में पैसे खर्च हो जायें। यह स्थिति आप लोगों की है, फिर भी कहते हैं हमारी दुकान बहुत चलती है, खूब ग्राहक आते हैं, किन्तु.... नहीं, आपकी दुकान से सेठ-साहूकार बनना मुश्किल है, आपकी दुकान में डेढ़ गुनी हानि वृद्धि का क्रम चलता रहता है। वह क्रम तो ऐसा होता है कि जैसा का तैसा ही रहता है उसमें वृद्धि नहीं होती तो इस प्रकार की हीन विशुद्धि वाले व्यापारियों को केवलज्ञान तीन काल में हो ही नहीं सकता, इसलिए संयम यह कहता है कि एक सैकेण्ड में करोड़ों की आमदनी।

इसको कहते हैं वीतराग विज्ञान का फल जो सुकुमाल स्वामी को प्राप्त हुआ, उनके द्वारा मोक्षमार्ग पर आगे बढ़ने के लिए एक आकस्मिक प्रयोग किया गया, जो सफल हुआ। जिसे प्राप्त करने उनकी एक धारणा थी, भावना थी, यह एक साधना का ही परिणाम था जो उत्तरोत्तर बढ़ता चला गया। और ऐसे महान् उपसर्ग को जीतकर उन्होंने सर्वार्थसिद्धि को प्राप्त किया एवं अल्प समय में ही मोक्ष सुख प्राप्त करेंगे। इसी प्रकार की साधना एवं लक्ष्य बनाकर मंजिल की प्राप्ति के लिए

कम से कम समय में विशेष कार्य करें। ज्ञान को साधना के रूप में ढालकर अध्यात्म को अपने जीवन में लाने का प्रयास करें। उसी परम आहलादकारी अध्यात्म को आत्मसात करें। तब कहीं जाकर आपका सुकुमाल जैसा कमाल का काम हो सकता है।

... सुकुमाल स्वामी की यह कथा बार-बार अपने चिंतन में लाओ क्योंकि आचार्य समन्तभद्र स्वामी कहते हैं कि भैया! शुद्धोऽहं, बुद्धोऽहं तो बहुत जल्दी चौपट हो जाता है। इसलिए उसको स्थिर बनाने के लिए प्रथमानुयोग का अध्ययन करना जरूरी है।

प्रथमानुयोग का स्वरूप आचार्य समन्तभद्र जी ने रत्नकरण्डक श्रावकाचार' में बताते हुए कहा है.....

प्रथमानुयोगमर्थाख्यानं चरितं पुराणमपि पुण्यम् ।
बोधि समाधि निधानं बोधति बोधः समीचीनः॥

(रत्नकरण्डक श्रावकाचार/४३)

महापुरुष की कथा, शलाका पुरुषों की जीवन गाथा,
गाता जाता बोधि विधाता, समाधि निधि का है दाता।
वही रहा प्रथमानुयोग है परम-पुण्य का कारक है,
समीचीन शुचि बोध कह रहा, रहा भवोदधि तारक है॥

(रयणमंजूषा)

एक पुरुष के कथानक को चरित्र कहते हैं। अनेक पुरुषों के कथानकों के वर्णन करने को पुराण कहते हैं। जो आज तक नहीं प्राप्त हुए ऐसे सम्यग्दर्शनादि गुणों की प्राप्ति को बोधि कहते हैं और प्राप्त हुए रत्नत्रय की भलीभाँति रक्षा करते हुए उनकी उत्तरोत्तर वृद्धि करने को समाधि कहते हैं। धर्मध्यान और शुक्ल ध्यान भी समाधि कहलाते हैं। इस प्रकार पुण्यवर्धक चरित्र और पुराणों को तथा धर्मवर्धक बोधि-समाधि के वर्णन करने वाले शास्त्रों को प्रथमानुयोग कहते हैं।

प्रथमानुयोग ग्रन्थों का अध्ययन जो कि बोधि-समाधि के निधान हैं, ज्ञान और वैराग्य की वृद्धि में सहायक होता है, ज्ञान और वैराग्य की वृद्धि आत्मोपलब्धि में सहायक है। अतः आत्मोपलब्धि के इच्छुक मुमुक्षुओं को प्रथमानुयोग का अध्ययन करना चाहिए ।

❑ ❑ ❑

गहन गहराइयाँ

श्रुत ज्ञान आत्मा का स्वभाव नहीं है। किन्तु आत्म स्वभाव पाने के लिए श्रुतज्ञान आवश्यक है।

श्रुतज्ञान होने के उपरान्त ध्यानरूपी बोध के द्वारा उस ज्ञान को ऊपर की ओर ले जाया जाता है। जिसके लिए महान् संयम साधना की आवश्यकता पड़ती है। अव्रती के वश का यह काम नहीं है।

श्रुत की सार्थकता तो तभी मानी जायेगी जब हेय उपादेय की जानकारी प्राप्त कर, हेय से बचने एवं उपादेय को ग्रहण करने का प्रयास करेगा।

अक्षय तृतीया से जो यह मंगल कार्य प्रारम्भ हुआ था इस मंगलमय श्रुत पंचमी के अवसर पर सानन्द सम्पन्न हुआ। आत्मा के पास एक ऐसा धन है ज्ञान का जिस धन के माध्यम से आत्मा धनी कहलाता है और वह धन जब जघन्य अवस्था का अनुभव करने लग जाता है तो वह आत्मा दरिद्र हो जाता है। इन आगम ग्रंथों की वाचना के समय पर निगोदिया जीवों का प्ररूपण आया था और उस निगोदिया जीव का प्ररूपण करते हुए बताया गया उसे सुनकर ऐसा लग रहा था कि आत्मा का यह पतन अन्तिम छोर को छू रहा है। किन्तु सावधान! दरिद्रता का अर्थ क्या होता है? धन का पूर्ण अभाव नहीं किन्तु धन की न्यूनता, बहुत कमी लेकिन बहुत कमी कह करके भी हम उसको अभाव नहीं कह सकते। एक पैसा भी पैसा है और वह पैसा एक रुपये का अंश है। एक-एक पैसा निकालते चले जाइये आप, रुपये का कोई भी अस्तित्व नहीं है। ज्ञान का पतन हुआ लेकिन ध्यान रखें उसका अभाव नहीं हो सकता। यह सही धन है, इस धन का जब हम संरक्षण करते हैं और संरक्षण ही नहीं संवर्धन करते हैं तो आत्मा की ख्याति बढ़ती चली जाती है।

ज्ञान के माध्यम से आत्मा प्रकाश में आ जाता और आत्मा ऐसे प्रकाश में आ जाता कि विश्व को भी वह प्रकाशित कर देता है। 'श्रुत पंचमी' पर कम समय में भी अपने चिन्तन के माध्यम से कई लोगों ने अपनी बात रखी। स्पर्श इन्द्रिय का विषय आठ प्रकार का, रसना इंद्रिय का पाँच प्रकार का रस, घ्राण इन्द्रियों का विषय दो प्रकार की गंध, चक्षु इन्द्रिय का विषय रूप पाँच प्रकार, श्रोत्र इन्द्रिय का विषय है शब्द। पाँच इन्द्रियाँ है हमारे पास, शब्द को सुनने के लिए कर्ण आवश्यक है लेकिन यह ध्यान रखिये सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के लिए जब पंडित जी (पं. कैलाशचन्द्र जी सिद्धान्त शास्त्री, बनारस) वाचना कर रहे थे प्रातःकाल की बात है और जय धवलाकार ने बहुत अच्छे ढंग से कहा पाँच इन्द्रियों का होना आवश्यक है लेकिन इतना ही पर्याप्त नहीं है।

शब्द को सुनने के लिए कान मिल गया तो पर्याप्त हो गया, नहीं! संज्ञी होना आवश्यक है। जो कोई उपदेश देते हैं यह तो असंज्ञी पंचेन्द्रिय भी अपने कानों के द्वारा ग्रहण कर सकता है किन्तु

शब्द अलग वस्तु है और तद्विषयक जानकारी अलग वस्तु है। श्रुत यह मन का विषय है और मन का विषय शब्द नहीं हुआ करता है। यह ध्यान रखना कान से शब्द सुने जा सकते हैं किन्तु ध्यान किसके द्वारा होता है? मन के द्वारा। तो मन लगाकर के यदि इन शब्दों को हम सुन लेते हैं तब कहीं जाकर के आचार्यों के भाव हमारे साथ और आत्मा के साथ हो सकते हैं अन्यथा नहीं, पुरुषार्थ इतना अपेक्षित है। केवल वक्ता अपनी बात को रखता और वह श्रोता सारा का सारा पीता चला जाता तो आज तक इन सभी का कल्याण हो जाता।

श्रुत शब्दात्मक नहीं हुआ करता। यहाँ अभी-अभी कई लोगों ने कहा यह वाचना जो हुई है, पण्डितों ने कितने अच्छे ढंग से इसकी वाचना की है। यह सारा का सारा शब्द ही तो है, नहीं तो कानों से सुनने में आ जाता। शब्द पढ़ने में नहीं आ सकते यहाँ पर शब्द संयोजना नहीं है केवल उन शब्दों के संकेत हैं और ये संकेत सारे अर्थ को लेकर के हैं।

अरहंत भासियत्थं गणहर देवेहिं गंथियं सम्मं।
पणमामि भत्तिजुत्तो सुदणाण महोवहिं सिरसा॥

अरहंत के द्वारा अर्थ रूप श्रुत का व्याख्यान हुआ है और उसे गणधर देव ने गूंथकर ग्रन्थ का रूप दिया क्योंकि अर्थ हमेशा अनंतात्मक होता है और अनंत को हम ग्रहण करने की क्षमता नहीं रखते और उस अनंत को हम सुन नहीं सकते, शब्द को सुन सकते हैं। शब्द इस अनंत अर्थ को अभिव्यक्त करने में सहायक हो जाता है उस अर्थ का संकेत इसमें किया गया है। कितनी छोटी सी किताब है? बहुत छोटी सी किताब है लेकिन इसके अर्थ की ओर जब देखते हैं तो लोक और अलोक दोनों में जाकर हमारा ज्ञान छोर को छूने के लिये मचलता रहे। वह छोर ज्ञेय की छोर, **ज्ञेयार्णवान्तर्गताः**, ज्ञेय रूपी महान् सागर जिसके ज्ञान में अवतरित हो जाता है, झलक जाता है।

उस ज्ञान की महिमा अपरम्पार है, उस अर्थ के लिये यह सब संकेत दिये गये हैं, इन संकेतों को सचेत होकर यदि हम पकड़ लेते हैं तो ठीक है अन्यथा नहीं। जिसका मन इन संकेतों को पकड़ने के लिये हो गया है किन्तु वह यदि मूर्छित है अथवा यूँ कहना चाहिए पञ्चेन्द्रिय के विषयों से प्रभावित हुआ है तो इन संकेतों को पकड़ करके भी वह भावों में अवगाहित नहीं हो सकता। अन्तर्मुहूर्त के भीतर वह जो सर्वार्थसिद्धि के देव हैं, उन्हें भी सुख का अनुभव नहीं हो सकता, उससे बढ़ करके सुख का अनुभव एक संज्ञी पञ्चेन्द्रिय यहाँ पर बैठा हुआ संयत जो है, अनुभव कर रहा है अथवा श्रावक जो है संयमासंयम का अनुभव कर रहा है अथवा त्याग तपस्या की ओर बढ़ते हुए चरण जो कि सवार्थसिद्धि को भी पीछे रख रहे हैं, ऐसा क्यों हो रहा है? इन संकेतों के माध्यम से हमारी गति बाहर नहीं होती किन्तु वह यूँ (हाथ का इशारा) आ जाती है।

देखो सूर्य प्रकाश देता है, प्रकाश से कार्य होता है लेकिन यह ध्यान रखना प्रकाश से तो कार्य होता है लेकिन सूर्य के प्रकाश देने मात्र से हमारा कार्य पूर्ण नहीं होता। प्रातःकालीन सूर्य प्रकाश तो देता है लेकिन तपता नहीं है। तपना भी आवश्यक होता है वह कब तपता है, जब उदयाचल को छोड़े तब तप सकता है। हमारी वृत्ति श्रुत के अभाव में क्या हो रही है? जिस प्रकार सूर्य प्रातःकालीन किरणों को फेंक देता है पृथ्वी की ओर उस समय हम उसके सामने खड़े हो जाते हैं तो उसके विपरीत दिशा में बहुत लम्बी-चौड़ी छाया हमारी पड़ती है और जब वह अस्ताचल की ओर चला जाता है उस समय में भी पूर्व दिशा की ओर हमारी लम्बी-चौड़ी छाया फैल जाती है, यह दशा हमारी श्रुत के अभाव में हो रही है और जिस समय श्रुत का आधार यह आत्मा ले लेता है उस समय क्या स्थिति आ जाती है। मध्याह्न के समय की बात देखो मध्याह्न में हमारी छाया कहाँ पर होती है, होती भी है या नहीं? होती तो है लेकिन मध्याह्न में दूसरे पदार्थों की पूजा नहीं करती किन्तु हमारे चरणों की आरती उतारती है, पूजन करती है। जिस समय हमारी छाया हमारे चरणों की पूजा करेगी उस समय समझ लेना हम मध्य में रहेंगे मध्यस्थ होकर के रहेंगे, उस समय हमारी आँखें काम नहीं करती क्योंकि इतनी तेज धूप रहती है और पंडितजी (पं. पन्नालाल जी साहित्याचार्य, सागर) बार-बार कहा करते हैं महाराज! हम इसको बोलते हैं ततूरी। ततूरी का अर्थ बहुत अच्छा बताया था। मुझे क्या मालूम था कि ततूरी का अर्थ इतना गंभीर है। **तप्ता उर्वी ततूरी**। जिस समय उर्वी अर्थात् पृथ्वी तप जाती है, आकाशमंडल सब तप जाते हैं, उस समय ततूरी होती है। ततूरी होती है तो आप क्या करते हैं? अपने पास एक गमछा रखते हैं। गमछा के द्वारा क्या करते हैं? सिर पर उस गमछे को कान के ऊपर से लाकर के यूँ (हाथ का इशारा) बाँध लेते हैं ताकि बाहरी आवाज सुनना बंद हो जाये। भीतरी आवाज को अब सुनो।

बाहरी आवाज बंद हो गयी, भीतर का संगीत प्रारंभ हुआ और ततूरी के समय यदि कान ठण्डे रह जाते हैं तो आप किसी भी रोग से घिरेंगे नहीं, नहीं तो लू लग जायेगी, इधर-उधर की बातें सुनोगे तो लू लग जायेगी और केवल जिनवाणी का श्रवण करोगे तो फिर कहना ही क्या? बड़े आनंद का अनुभव करोगे। मध्याह्न हमारे जीवन के लिये कल्याणकारी है। किसान लोग आज बहुत शान्ति का अनुभव कर रहे हैं, क्यों कर रहें हैं? इसलिये शान्ति का अनुभव कर रहे हैं कि अब मृगशीतला आ गयी है और कुछ ही दिन के उपरान्त वर्षा होगी तो बीज बोयेंगे फिर कुछ ही दिनों में अंकुरित होकर के फसल लहलहाएगी। यदि धरती तपेगी नहीं तो उसकी कभी भी कीमत नहीं है। तपी हुई धरती में बीज समय पर वर्षा के काल में बोये जाते हैं तो शीघ्र ही अंकुरित हो करके फसल आ जाती है, लहलहाती है और उस समय किसानों के साफा भी ध्वजा के समान लहलहाते हैं। उसी प्रकार जब

तक श्रुत के माध्यम से हम अपने आप को नहीं तपायेंगे तब तक उस अनंत केवलज्ञान की उत्पत्ति नहीं होने वाली । हम केवल बाल भानु की किरणों को देखने के लिये (सूर्य को) देखते हैं, या तो Sunrise (सूर्योदय) को देखते हैं या Sunset को, हमें मालूम नहीं पड़ता वो लोग क्या अनुभव करना चाहते हैं? उनसे सही पूछा जाये, इन दोनों को छोड़ दो किन्तु Sunlight (सूर्यप्रकाश) को देखो। देखा नहीं जाता महाराज, इसलिये गोगल (चश्मा) लगा लो और देखो वह क्या कहना चाह रहा है। जिस समय वह श्रुत-आत्मस्थ हो जायेगा तो नियम से उस श्रुत से क्या होगा? विश्रुत होगा। श्रुत का अर्थ तो बता दिया गया, अब... विश्रुत का क्या अर्थ है? विश्रुत का अर्थ है ख्याति। तीन लोक में उसकी ख्याति फैल जायेगी। अभी तक मुहल्ले में ख्याति फैलती थी या तो आसपड़ौस में, ज्यादा से ज्यादा हो तो गाँव में फैल जाये, जिले में फैल जाये, राष्ट्र में फैल जाये लेकिन तीन लोक में किसी की ख्याति नहीं फैलती, तीन लोक में उसी की ही ख्याति फैलती है जो संपूर्ण श्रुत को पीकर के विश्रुत हो गया। श्रुत को गौण करके ऊपर उठ गये विश्रुत अर्थात् श्रुताभाव और विश्रुत का अर्थ प्रसिद्धि भी है। सबसे ज्यादा प्रसिद्धि तीन लोक में उन्हीं की होती है जिन को आप बोलते हैं विश्रुत अर्थात् श्रुत से ऊपर उठे हुए हैं। श्रुतज्ञान भी आत्मा का स्वभाव नहीं है किन्तु आत्म स्वभाव पाने के लिये श्रुतज्ञान कारण है और उस श्रुत के माध्यम से जो अपने आपको तपाता है और ऐसा तपाता है कि बस श्रुतज्ञान नीचे रहकर के वह जो ज्ञान था वह ज्ञान केवल 'ज्ञान' रह जाता है। श्रुतज्ञान आवरणी ज्ञान है अर्थात् आवरण में से झाँकता हुआ वो सूर्य है जो बादलों की घटाओं से झाँक रहा है।

जब मेघ घटाओं का पूर्ण अभाव हो जायेगा तो सूर्य अपने सम्पूर्ण प्रकाश के साथ बाहर दिखने लगेगा। उस तपे हुए सूर्य पिंड से सारी धरती को प्रकाश मिलेगा और सुख-शान्ति छा जायेगी किसानों के हृदय में। इसी प्रकार श्रुतज्ञानावरण कर्म का जब पूर्ण क्षय होगा तब नियम से आत्मा में एक नई दशा उत्पन्न होगी, इसी दशा को प्राप्त करने के लिये यह श्रुत है और वह केवल मन का विषय है।

'श्रुतमनिन्द्रियस्य' हमारे पास पाँच इन्द्रियाँ हैं और मन एक है लेकिन वह इन्द्रिय नहीं है, वह श्रुत का अंग है, उपांग है, उसको अनंग बोलते हैं वो अंतरंग है भीतर रहता है उसके पास अंग नहीं है किन्तु अंग के भीतर अंतरंग होता है और उस अंतरंग के द्वारा ही सब कुछ कार्य होने वाला है। यदि अंतरंग विकृत होगा और केवल बहिरंग साफ सुथरा होगा तो उसके द्वारा काम ठीक नहीं होगा। भीतरी अंतरंग जिसका शुद्ध होगा वह सारा का सारा श्रुत पी लेगा। आचार्यों ने कहा है-जिसका अंतरंग ठीक-ठीक हो गया है उसके लिये श्रुत अंतर्मुहूर्त में पूरा का पूरा प्राप्त हो जाता है और अंतर्मुहूर्त के भीतर ही भीतर उसे नियम से कैवल्य की उपलब्धि हो सकती है।

वर्तमान में श्रुत ज्ञान जो कुछ भी आप लोगों को उपलब्ध है इससे अब आगे बढ़ने वाला नहीं है। इसमें विकास संभव नहीं है। क्योंकि अवसर्पिणी काल होने से वह धीरे-धीरे घटता चला जा रहा है। और वह समय आया धरसेन आचार्य के जीवन काल में जो कि वह एक-एक अंग का भी पूर्ण ज्ञान नहीं था फिर आज उसका शतांश क्या सहस्रांश भी नहीं रहा। आज सुबह पढ़ लेते हैं, शाम को पूछो तो उसमें से एक कड़ी (पंक्ति) हम ज्यों का त्यों नहीं बता सकते। थोड़ा सा मन इधर-उधर चला गया, उपयोग फिसल गया तो कहाँ से कहाँ चले जाते हैं। संज्ञी में से असंज्ञी मार्गणा में चले जाते हैं या असंज्ञी से संज्ञी मार्गणा में चले जाते हैं। क्या विषय चल रहा था पता तक नहीं पड़ता। पूर्व आचार्यों के उपयोग की स्थिरता उनका श्रुत के प्रति बहुमान आदि देखते हैं, तो उनमें से हमारे पास एक छोटा सा कण भी शेष नहीं रहा किन्तु भाव भक्ति श्रद्धा ही एकमात्र हमारे पास साधन है और यह श्रद्धा विश्वास नियम से वहीं तक ले जायेगा जहाँ तक पूर्व आचार्य गये हैं। उनके पास तक हम भी जा सकते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं किन्तु हम श्रुत को विश्रुत बना करके आत्मा में लीन हो जायें जिसके लिए यह साधन है उस साध्य के लिए ही यह सब कुछ है। एक स्थान पर आचार्य कुन्दकुन्द देव ने समयसार में कहा है -

सद्दो णाणं ण हवदि, जह्मा सद्दो ण याणदे किंचि।
तह्मा अण्णं णाणं, अण्णं सद्दं जिणा विंति॥४१५॥स.सा.

शब्द ज्ञान नहीं क्योंकि शब्द कुछ भी नहीं जानता इसलिए ज्ञान भिन्न है शब्द भिन्न है इस प्रकार भगवान का कथन है। इन संकेतों के माध्यम से हम भीतरी ज्ञान को पहिचान लेते हैं तो इस श्रुत को भी हम ज्ञान कह सकते हैं अन्यथा यह केवल कागज है। भारतीय मुद्रा को लेकर जिस प्रकार अन्यत्र चले जायेंगे तो वहाँ पर कोई कार्यकारी नहीं, वहाँ की मुद्रा को लेना आवश्यक है, वहाँ का व्यक्ति यहाँ पर आ जाता है तो यहाँ की मुद्रा उसे खरीदने की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार यदि हम श्रुत का भिन्न क्षेत्र में उपयोग लेते हैं तो इसका कोई भी मूल्य नहीं है। यदि स्वक्षेत्र में काम लेते हैं तो उसे केवलज्ञान होने में मात्र अंतर्मुहूर्त की देरी लगती है। श्रुत को पीते चले जाओ जब तक पेट नहीं भरता, डकार जब तक नहीं आती तब तक इधर-उधर देखो नहीं। हम लोग जो कोई भी कार्य करते हैं वह शिथिलता के साथ और अस्थिरता के साथ करते हैं। पूजन के लिए बैठ जाते हैं तो स्तुति याद आ जाती है, स्तुति के लिए बैठते हैं तो जाप याद आ जाती है, जाप के लिए बैठते हैं तो स्वाध्याय के लिए ग्रंथ सामने आ जाते हैं, ग्रंथ आते ही हमें तो महाराज जी को पड़गाहन करना है, और पड़गाहन से महाराज जी आ भी गये तो बड़े महाराज कहाँ गये? हमारी मन की यात्रा कैसी-कैसी चलती है। उन व्यक्तियों के लिए हमारा कहना भैया! आचार्यों ने जो आवश्यक बताये हैं उसको यदि मनोयोगपूर्वक शांति के साथ करोगे तो सारा का सारा फल मिल जायेगा इसलिए कहा है-

''विधि द्रव्यदातृपात्र विशेषात्तद्विशेषः''

(तत्त्वार्थसूत्र/अध्याय ७/सूत्र ३९)

कोई भी क्रिया करो विधि के अनुसार करो। कोई भी क्रिया करो दाता और पात्र को देखकर करो। द्रव्य किसके लिए किस रूप में देना चाहिए? इन सभी बातों को ध्यान में रखकर करने से ही क्रिया फलवती होती है। किसी को दवाई में गोली दे दी वैद्य जी ने, कहा सुबह शाम लेते जाओ पेट ठीक हो जायेगा। २० गोली थी उसने पूछा नहीं वैद्यजी से कि एक बार में कितनी लेना है। एक ही दिन में उसने इकट्ठी बीस गोली ले ली। गर्मी ज्यादा हो गई, बर्दाश्त नहीं हुई, २० दिन की खुराक एक दिन में ले लें तो क्या होगा? सहन नहीं कर सका और आंखें जलने लगी भूख-भूख कहने लगा। भूख क्यों लगी, गोली खाने से लगी। अरे भैया! अब तो पेट भी गड़बड़ होने लगा। आस्था बिगड़ गई, अनुपात चाहिए। स्वाध्याय करो कहने से प्रायः ऐसा ही होता है इसलिए संभव है, अष्टमी, चतुर्दशी के दिन वीरसेन भगवान् ने पढ़ने का निषेध किया है। लेकिन हम लोग क्या करते हैं उस व्यक्ति के समान गोली एक दिन में ही खा लेते हैं। एक वर्ष में जो स्वाध्याय करना चाहिए उसे एक माह में कर लेते हैं। रात-दिन एक कर लो किन्तु ऐसा नहीं होना चाहिए। उसके प्रति बहुमान, उसके प्रति विनय, उसके लिए कुछ काल अपेक्षित है। कोई भी एक वस्तु को ग्रहण करते हैं तो उसके बाद ग्रहीत वस्तु का चिंतन करना आवश्यक होता है। फिर धारणा बनाओ और आगे बढ़ो। हम यह नहीं करते हुए बंदर के समान मुख भर लेते हैं, जबकि बंदर इसलिए भर लेता है कि आप लोग ले न लें। एकांत में जाकर उसको निकाल कर खा लेता है और आप लोग क्या करते हैं, कल और सुन लेंगे, क्या बात हो गई उसका कुछ भी पाचन नहीं होता। श्रुत हमारे लिए बहुत बड़ा साधन है। श्रुतज्ञान के बिना आज तक किसी को न मुक्ति मिली और न आगे मिलेगी। अवधिज्ञान, मनःपर्यय ज्ञान का मोक्षमार्ग में कोई महत्त्व नहीं है किन्तु श्रुतज्ञान का मोक्षमार्ग में महत्त्व है,केवलज्ञान इसका फल है। यह साधन है तो नियम से फल मिल जाता है और यदि इसका (श्रुत का) अन्यत्र काम लेते हैं तो अर्थ का अनर्थ हो जायेगा। हमें श्रुत के माध्यम से आजीविका नहीं चलाना है, इसे व्यापार का साधन नहीं बनाना है क्योंकि यह पवित्र जिनवाणी है 'वीर हिमाचल' से निकली हुई है। किसी रागी द्वेषी की यह वाणी नहीं है। अतः इसका दुरुपयोग न कर सदुपयोग करना चाहिए। प्राप्त जो श्रुत है उसके माध्यम से स्व-पर कल्याण करना चाहिए। श्रुत का फल बतलाते हुए परीक्षामुख में आचार्य माणिक्यनन्दी जी कहते हैं कि -

''अज्ञाननिवृत्तिर्हानोपादानोपेक्षाश्चफलं''

(परीक्षामुख, अध्याय ५/सूत्र १)

श्रुत की सार्थकता तो तभी मानी जायेगी जब हमारे अन्दर बैठा हुआ मोहरूपी अज्ञानान्धकार समाप्त हो जायेगा और हेय उपादेय की जानकारी प्राप्त करके हेय से बचने का प्रयास करेगा और उपादेय वस्तु को ग्रहण करेगा अर्थात् चारित्र की ओर अपने कदम बढ़ायेगा। भले ही ज्ञान अल्प हो, उसकी चिन्ता नहीं करना बंधुओ क्योंकि यह पंचमकाल है इसमें नियम से ज्ञान में, आयु में, शरीर और अच्छी सामग्रियों में ह्रास होता जायेगा। यह अवसर्पिणी काल है अतः अपने अल्पश्रुत (क्षयोपशमावस्था) की ओर ध्यान न देकर आगे बढ़ने का प्रयास कीजिए। महावीर भगवान् और कुन्दकुन्द के समान तो किसी का ज्ञान है नहीं किन्तु भगवान् महावीर जैसा ज्ञान प्राप्त करने के लिए यानि श्रुतज्ञान को केवलज्ञान में परिणत करने के लिए हमें संयमित होकर के सदा गति करते रहना है और यदि इस प्रकार की हमारी गति हो जायेगी तो हमारी प्रगति, हमारी उन्नति होने में देर नहीं। हमारा यह अल्पज्ञान भी एक अन्तर्मुहूर्त में अनंत में परिणत हो सकता है।

जिस प्रकार नदी छोटी होकर के भी समुद्र की ओर ढलती है चूँकि उसकी दिशा है इसलिए वह नदी नियम से एक दिन सागर का रूप धारण कर लेती है, उसी प्रकार जिसकी दृष्टि मुक्ति की ओर हो गयी है उसका भी एक दिन ऐसा आयेगा कि वह केवलज्ञान रूपी महान् सागर में समा जायेगा। यही एकमात्र उद्देश्य रहना चाहिए, सम्यक् श्रुतज्ञान से आपूरित हर आत्मा का। इसी भाव को मैंने एक कविता में बाँधा है।

धरती से फूट रहा है
नव-जात है
और पौधा
धरती से पूछ रहा
कि
यह आसमान को कब छुएगा
छू....... सकेगा क्या नहीं?
तूने पकड़ा है।
गोद में ले रखा है इसे
छोड़ दे.....।
इसका विकास रुका है
ओ! .... माँ........।
माँ की मुस्कान बोलती है

भावना फलीभूत हो बेटा...........।
आस पूरी हो।
किन्तु
आसमान को छूना
आसान नहीं है
मेरे अन्दर उतर कर
जब छुएगा
गहन-गहराइयाँ
तब.... कहीं.... संभव हो....
आसमान को छूना
आसान नहीं है... । (डूबो मत लगाओ डुबकी)

क्या कहती है धरती? धरती यह कह रही है कि तू आसमान में चढ़ना चाहता है, भावना बहुत अच्छी है और मैं भी यही चाहती हूँ तू आसमान में जा, ऐसा जा तुझे देखकर के जो पतित व्यक्ति हैं वह भी एक बार मन में विचार लीन हो जायें। हाँ.... हाँ... जीवन इतना उन्नत हो सकता है लेकिन बेटा यह सब बातें मात्र जमा खर्च के रूप में नहीं होना चाहिए। यह यात्रा उस पौधे की तभी संभव है जब वह पौधा गहन गहराईयों में उतरेगा, अंकुर बीज के रूप में रहता है, वह बल, वह शक्ति अंकुर के रूप में आ जाती है। वह ध्यान रखना विकास दोनों ओर से चलता रहता है। इधर अंकुर के रूप में आ गयी वह बीज की शक्ति और ऊपर आ गया, उससे भले आधा होकर वह पौधा नीचे की ओर गया, मुस्कान के साथ, माँ कहती है बेटा तू धरती को कभी नहीं छोड़ना, धरती को छोड़ना चाहता है किन्तु धरती को न छोड़ते हुए आसमान में जाना और आसमान में जाना तभी संभव है जब धरती के भीतर जो कठोरता है उसको भी फोड़कर, भेदकर तुझे नीचे जाना है इसलिए माँ, धरती के साथ सम्बन्ध एकता का होगा। ध्यान रखना ऊपर हवा के द्वारा यूँ यूँ (हिलते हुए हाथ का इशारा) पेड़ कर रहा है लेकिन जड़ में किसी प्रकार का स्पंदन संभव नहीं। जड़ में यदि ऊपर जैसा स्पंदन होने लग जाय तो फिर शीर्षासन जैसा लग जायेगा। शीर्षासन का मतलब ऊपर का नीचे, नीचे का ऊपर हो जाना। मजबूती के साथ रहना सीखो।

सर्कस दिखाने वाले क्या करते हैं? सारे के सारे अंग को हिलायेंगे भिन्न-भिन्न प्रकार के Action (हाव-भाव) करेंगे लेकिन पैर उनके मजबूत रहते हैं, उसी प्रकार वृक्ष की जड़ें बहुत मजबूत रहती हैं। जब कभी भी पेड़ गिर जाता है, झंझावात, तूफान में तब दूसरे दिन जाकर के देखो ऊपर के साथ-साथ भीतर क्या-क्या आयाम चल रहा था। उस वृक्ष की कैसी-कैसी छोटी बड़ी जड़ें

कठिन-कठिन पत्थर को भी काट करके भीतर जाने की कोशिश करती थी और भीतर से ही आहार पानी का प्रबंध करती थी, किंतु धरती से ज्यों ही ढिलाई हो गयी त्यों ही सारा का सारा खेल समाप्त हो गया। पेड़ धरती से संबंध छोड़कर उखड़ गया, जीवन बर्बाद कर लिया।

बंधुओ! जीवन जब तक रहे तब तक जिनवाणी माता को कभी मत भूलो और जिनवाणी माँ को भूलकर अन्यत्र कहीं चले जाओगे तो तुम्हारी भी वही दशा होगी, पैर ऊपर होंगे और नीचे सिर होगा। शीर्षासन लगाना पड़ेगा।

हम उन्नति चाहते हैं लेकिन उन्नति किस रूप में होनी चाहिए? किसको उन्नति कहते हैं? यह ख्याल में नहीं है। वह क्या कहता है पौधा? मुझे छोड़ दो, तो धरती कहती है, मैं कैसे छोडूँ, तेरी नादानी बहुत है। तुझे छोड़ दूँ अर्थात् जमीन में दरार पड़ जाये तो तू कहाँ चला जायेगा, क्या आसमान को देख सकेगा? पाताल को ही देख सकेगा और तुम्हारा जीवन समाप्त हो जायेगा।

श्रुत को आधार बनाकर चलो और श्रुत के द्वारा वहाँ तक जाना है, कहाँ तक? जहाँ तक महावीर भगवान पहुँचे हैं। बारहवें गुण स्थान के अंतिम समय तक उस श्रुत का आधार वह साधक लेता है और हम लोग थोड़ा सा कुछ आने लगा तो अहंकार करने लग जाते हैं। वह माँ कहती है तू नादान है, आप श्रुत का आदर किया करो, किस रूप में करो, तो जिस रूप में बताया गया है उसी रूप में करना आवश्यक है। केवल बाहरी श्रुत का आदर, आदर नहीं है। आचार्यों ने कहा है ज्ञान का फल क्या है? ज्ञान का प्रयोजन क्या है? ज्ञान का प्रयोजन ध्यान है, ध्यान का प्रयोजन केवल ज्ञान है, सुख है, शान्ति है।

हमारे श्रुत में यदि अस्थिरता होगी तो ध्यान रखना तीन काल में भी हमारी यात्रा ऊर्ध्वगति के रूप में नहीं होगी। श्रुत का आधार लो और उन्नति को अपनाते चले जाओ। कहाँ तक अपनाते चले जाओ, जहाँ तक श्रुत की पूर्णता/पूर्ति नहीं होती। जैसे-जैसे ऊपर चले जाओगे वैसे-वैसे देखने में आयेगा वह आसमान बहुत-बहुत विशाल, कितना? जिसकी कोई थाह नहीं। श्रुत की कभी भी थाह नहीं पकड़ सकते हैं।

श्रुत के माध्यम से ऊपर-ऊपर बढ़ते चले जाओ एक सीमा आयेगी उसके उपरान्त केवलज्ञान हो जायेगा, निरावरण ज्ञान ही उस आसमान को छू सकता है जहाँ पर लोक का अंत भी हो जाता है। अलोक में भी वह प्रविष्ट हो सकता है। ज्ञान की महिमा बड़ी अपरम्पार है। उस ज्ञान की महिमा को पाने के लिए बड़े बड़े आचार्य कुन्दकुन्द जैसे भी कहते हैं। बन्धुओ! मेरे पास कहाँ ज्ञान है? गणधर परमेष्ठी भी कहते हैं- मेरे पास इतना ज्ञान कहाँ हैं? ज्ञान तो वह है जो निरावरण हुआ करता है। जिस प्रकार एक व्यक्ति के पास बहुत कुछ धन है, वह कम धन वाला भी सोचता है कि मेरे पास बहुत

कुछ धन हो गया किंतु जब ऊपर देखता है तो लगता है मेरे पास कुछ धन नहीं है। उसी प्रकार गणधर परमेष्ठी भी कहते हैं मेरा क्या ज्ञान मेरा क्या धन-धन तो वस्तुतः केवलज्ञानी के पास है। श्रुत तो केवल उसका साधन मात्र है। जब साधन मात्र है तो उसको हम साध्य मान करके नहीं चलें किन्तु साध्य तो वही है, निरावरण केवलज्ञान। उसको पाने के लिए आचार्य कुन्दकुन्द देव कहते हैं-हमें ध्यान की बड़ी आवश्यकता है। उस ध्यान में जब लीन होंगे तब स्थिरता के कारण आगे की ओर हमारी यात्रा होगी। आगे की ओर जैसे-जैसे यात्रा होगी वैसे-वैसे हमारा बल भी बढ़ता चला जायेगा, जिम्मेदारियाँ बढ़ती चली जायेंगी।

पानी का बहाव निम्नगा माना जाता है। वह नीचे की ओर चला जाता है। पानी हमेशा बहता रहता है यात्रा करता रहता है। जल का यह स्वभाव है। उसी प्रकार उपयोग भी यात्रा करता रहता है। उपयोग का भी यही स्वभाव है। अतः देख लीजिये जल का यदि कुछ उपयोग करना है, सिंचन विभाग खोलना है तो क्या करते हैं? क्या कीचड़ के द्वारा बाँध बांधते हैं? नहीं! नदी के तट तो कीचड़ के ही रहेंगे, मिट्टी के रहेंगे, सीमेंट कांक्रीट के नहीं रहते लेकिन बाँध बांधेंगे तो कंक्रीट के ही बांधेंगे। बाँध बांधने के उपरान्त क्या करते हैं-डेंजर लिख देते हैं- सावधान रहें जल की यात्रा अभी भी चालू है। जब जल नीचे की ओर न जाकर के ऊपर की ओर चला जाता है तो उस समय खतरा और अधिक बढ़ जाता है। जब तक ऊपर की ओर जल की यात्रा नहीं होगी तब तक सिंचन विभाग सामर्थ्यशाली नहीं हो सकता, जिसके माध्यम से सारी की सारी जमीन तृप्त होगी लेकिन यह बात ध्यान रखना कि वह जल निम्नगा न होकर के ऊर्ध्वगा हो जाएगा तो खतरा भी अधिक रहेगा। यदि बाँध टूट जाये तो एक साथ नदी तट आदि सब कुछ समाप्त हो जायेगा।

ज्ञानोपयोग की धारा हमेशा बहती रहती है। बहने वाले उपयोग का इतना महत्त्व नहीं है। श्रुतज्ञान होने के उपरांत ध्यान रूपी बाँध के द्वारा उस ज्ञान को ऊपर की ओर ले जाया जाता है जिसके लिए महान् संयम की आवश्यकता है। प्रकृति के वश का यह काम नहीं है। श्रुत का सदुपयोग तो यही है कि उस को संयम का बाँध बना कर के ऊपर उठा लेना और ऐसा उठा लिया कि कुछ मत पूछो भैया! जैसे पंडित जी (पं. कैलाशचन्द्र जी सिद्धांतशास्त्री, बनारस) वाचना के समय बार-बार लब्धि स्थानों के बारे में बताते थे कि कैसे श्रेणी चढ़ी जाती है। किस प्रकार साधक अपनी साधना को ऊपर उठाता है, कितना परिश्रम होता है ? उसके परिश्रम से यह नहीं समझों कि साधना अधिक करनी पड़ती है किन्तु चुटकी बजाते अल्प समय में भावों में विशुद्धता, भावों में उत्कृष्टता ऐसी लाता है कि उसको ऊपर चढ़ने में देर नहीं लगती। इसी प्रकार आप लोगों को भी साधना करना है, बोलते बोलते ही (अल्प समय में) संयमित होकर ऊपर एक एक गुणस्थान चढ़ते जाइये। जैसा कि अभी कहा था कि श्रुतज्ञान रूपी उस प्रवाह में संयम रूपी बाँध बांध करके ऊर्ध्वगति दे दी है और

ऊपर जाकर के क्षपक श्रेणी में लीन हुआ। बारहवें गुणस्थान में क्षीण-कषाय-वीतरागछद्मस्थ होता है तो अन्तर्मुहूर्त में वह कहाँ चला जाता? वह नीचे नहीं आता ऊपर जाता है, केवलज्ञान उत्पन्न हो जाता है। संयम रूपी बाँध में बंधे हुए श्रुत की यह महिमा है। त्याग तपस्या का यह प्रभाव है।

जैसे-जैसे जल को तपाया जाता है वैसे-वैसे वह वाष्प बनकर ऊपर चला जाता है। अब उसे किसी आधार की कोई आवश्यकता नहीं वह बहुत ऊपर चला जाता है। एक बार छद्मस्थ अवस्था की सीमा का उल्लंघन हो जाता है फिर बाद में वह अंतरिक्ष (केवलज्ञान प्राप्त होने पर धरती से ऊपर उठ जाता है) में चला जाता है क्षितिज पर नहीं रहता। अंतरिक्ष में जाने के उपरांत कोई बाधा नहीं होती उसके पास ऑटोमेटिक ईंधन (पेट्रोल) है और वह वहीं पर घूमता रहता है। नभमण्डल में क्या हो रहा है? सारा मामला रडार के द्वारा वह पकड़ लेता है। उसी प्रकार श्रुतज्ञान के प्रवाह को संयम के बाँध के द्वारा ऊपर ले जायेंगे तो वह अनंत-शक्ति को लेकर के आसमान में रहेगा। किसी भी प्रकार से उसको क्षति नहीं पहुँचेगी। मैंने एकमात्र यही उदाहरण दिया है। इस उदाहरण के माध्यम से ज्ञान की गति को ऊर्ध्वगति देना है। जिसका एक मात्र लक्ष्य संयमी हो जाना है और यही एकमात्र सम्यग्दृष्टि का लक्ष्य होना चाहिए कि मेरा जो उपलब्ध श्रुतज्ञान है इसी में मुझे राजी नहीं होना है। संतुष्ट नहीं होना है किंतु मैं इस ज्ञान को निरावरण कब देखूँगा? निरावरण देखने का एकमात्र यही ध्येय है।

नीचे वाली वस्तु को ऊपर ले जाने में बहुत कष्ट होता है। आप लोग पाँच खण्ड के ऊपर बैठ कर के टोंटी के द्वारा जल पीते हैं वह जल कैसे आया? टोंटी के द्वारा तो आया लेकिन पाँच खण्ड पर कूप का जल टोंटी के द्वारा आया कैसे? यहाँ वहाँ जब आप देखेंगे, पता लगायेंगे तब मालूम पड़ेगा। पहले कम से कम दस खण्ड ऊँचाई को लेकर एक टैंक बनाया गया है। तब कहीं पांचवें खण्ड में वह पानी आ रहा है वह, नीचे से ऊपर नहीं। पहले ऊपर ले जाया गया, कौन से हॉर्सपावर की मशीन चल रही है वहाँ पर? बहुत बड़ी शक्ति की आवश्यकता है। श्रुतज्ञान को ऊपर उठाना खेल नहीं है हॉर्सपावर शक्ति आवश्यक है और आप लोगों के पास जो है वह हार्सपावर तो है ही नहीं। महाराज हमें भी आगे बढ़ाओ, क्या बढ़ाओ इस प्रकार मात्र उपदेश देने से और सुनने से ज्ञान नहीं बढ़ता, ज्ञान को ऊर्ध्वगमन नहीं मिलता किन्तु संयम के द्वारा ही हम श्रुतज्ञान को केवलज्ञान में ढाल सकते हैं। आज तक कोई व्यक्ति ऐसा नहीं हुआ जिसने संयम लिये बिना ही श्रुतज्ञान को केवलज्ञान का रूप दे दिया हो ।

जब कभी भी हमें श्रुतज्ञान से केवलज्ञान मिलेगा उस संयम की बलिहारी है। संयम रूपी बाँध को बाँधने वाले इंजीनियर की भी बलिहारी है ऐसा इंजीनियर कौन होता है? तो आचार्य कुन्दकुन्द देव कहते हैं हमारे पास आ जाओ तो यहाँ मंच पर एक साथ सौ व्यक्तियों को भी अंतर्मुहूर्त

में इंजीनियर बना देंगे और वो अपने जीवनकाल में ऐसे बाँध बांध सकेंगे जिसके माध्यम से अनंतकाल तक उसका प्रवाह रहेगा।

बन्धुओ! श्रुत की क्या विशेषता बतायें श्रुत तो वही है जो केवलज्ञान के लिए साक्षात् कारण माना है उस श्रुत की आराधना आप लोगों ने एक-डेढ़ माह लगातार सिद्धान्त ग्रन्थों के माध्यम से की उसकी वाचना सुनी। जिस जिनवाणी का, गुफाओं में बैठकर के धरसेन, पुष्पदन्त, भूतबली एवं वीरसेन आचार्य जैसे महान् श्रुत-सम्पन्न व्यक्तियों ने सम्पादन किया उसको आप लोग आज एअरकंडीशन में बैठकर सुन रहे हैं, फिर भी कोई बात नहीं लेकिन इस प्रकार के ध्यान अध्ययन की साधना करते-करते एक दिन आपको वह समय उपलब्ध हो सकता है जिस दिन उसी प्रकार का वह संयम आप लोगों के जीवन में प्राप्त हो और नियम से प्राप्त होगा। विश्वास रखना और उसी के द्वारा आपको उसी प्रकार का फल मिलेगा जिस प्रकार का फल महावीर भगवान् को मिला था और अन्त में उन गुरुवर श्री ज्ञानसागर जी महाराज को स्मरण कर रहा हूँ। जिनके परोक्ष आशीर्वाद से ही यह सारे के सारे कार्य निर्विघ्न सम्पन्न हो रहे हैं। उन्हीं की स्मृति में -

तरणि ज्ञानसागर गुरो, तारो मुझे ऋषीश।
करुणाकर करुणा करो, कर से दो आशीष॥

❑ ❑ ❑

उपकार या परोपकार.....

कहीं बाहर से प्रकाश को लाने की आवश्यकता नहीं, मात्र अंधकार मिटाना है। जैसे-जैसे अंधकार मिटता जाएगा वैसे-वैसे प्रकाश उद्भूत होता जाएगा।

जो आत्मा का वास्तविक आधार है, जिसके माध्यम से जीवन में क्रान्ति आती है और सुख की प्राप्ति होती है वह है वीतरागता। उसी वीतरागता की प्राप्ति के लिए यह सारे के सारे प्रयास चल रहे हैं।

किसी के ऊपर यदि आप उपकार नहीं कर पा रहे हैं तो कोई बात नहीं, किन्तु यदि आप दूसरों के पैरों में हुए घावों पर नमक नहीं छिड़कते तो भी समझो आप उसके ऊपर महान् उपकार कर रहे हैं।

आज की पावन बेला में भगवान् महावीर को उस अलौकिक पद की प्राप्ति हुई है,जिस पद के लिए उन्होंने वर्षों तक अथक परिश्रम किया और वह परिश्रम तन से, मन से और वचन से किया था। उनकी वह साधना दुनिया के समस्त प्राणियों से भिन्न थी। दुनिया का प्रत्येक प्राणी सुख चाहता

है किन्तु सुख के साधनों के प्रति वह इतना चिंतनशील, मननशील नहीं होता जितना होना आवश्यक है।

साध्य की प्राप्ति के लिए साधन भी हुआ करते हैं, मोक्ष सुख एक साध्य वस्तु है जो कि प्राप्तव्य है, उसके लिए साधन के साथ-साथ साधना भी अनिवार्य है। ऐसी स्थिति में जो दुख से छुटकारा चाहता है उसके लिए यह अनिवार्य होता है कि वह समीचीन साधना की खोज करे । आज भी मोक्ष सुख को प्रत्येक प्राणी चाहता है किन्तु उसे प्राप्त न कर पाने का यही एकमात्र कारण है कि वे उसकी उस साधना में कहीं न कहीं अवश्य Fail (असफल) हैं और जब तक उनकी साधना सही-सही नहीं चलेगी तब तक उन्हें उस अभीष्ट सुख से वंचित रहना ही पड़ेगा।

अनंत सुख एक ऐसी चीज है जिसे हम महादुर्लभ कह सकते हैं, जो कि आत्मा का आनन्द एवं सबसे निकटतम गुण है। उसकी अनुभूति तभी हो सकती है जब रागद्वेष आशा तृष्णा को हम समाप्त करेंगे।

भगवान महावीर का कहना यही था कि -

यह सुख की परिभाषा।
ना रहे मन में आशा॥
ईदृश हो प्रति भाषा।
परितः पूर्ण प्रकाशा॥ (मुक्तक शतक)

उजाला अपने पास है, प्रातःकाल की बात है। हमने पहले ही विचार किया कि दस साल का अनुभव अपने को जाग्रत था, भीड़-भाड़ अवश्य होगी। इसलिए बड़े बाबा के मन्दिर में ना रहकर हमने छोटे बाबा का मन्दिर ही पसन्द किया और वहीं पर सामायिक, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय आदि कार्य निर्विघ्न सम्पन्न किए। आज वैसे ही नींद, रात्रि बारह बजे से खुल गई क्योंकि बीच-बीच में आप लोगों की भीड़ जा रही थी। मैंने सोचा एक-एक करके भर्ती हो रही है, गाड़ियाँ आने लगी हैं। क्षेत्र कमेटी वाले यदि आपको १२ बजे ही छुट्टी दे देते तो आप बारह बजे से ही आ जाते पर वह दी नहीं गई।

एक व्यक्ति ने हाथ में Torch ले रखी है। उसके माध्यम से वह प्रकाश प्राप्त कर रहा था। उस प्रकाश के माध्यम से जो वस्तु खो गई है, वह प्राप्त हो जाती है लेकिन उस समय Torch का मुँह किधर था वह उन्हें मालूम नहीं था, उन्होंने Button दबाया तो प्रकाश उनके मुँह पर पड़ा फलतः वह वस्तु जिसे, खोजना चाहते थे वह उन्हें प्राप्त नहीं हो सकी।

वह देख रहा है सुख को किन्तु वह सुख अंदर है; बाहर नहीं, अपने पास है। ज्ञान का उपयोग हम बाहरी पदार्थों की ओर कर रहे हैं। ज्ञान तो अपना कार्य कर रहा है। ज्ञेयभूत पदार्थों को लाकर

के आपके सामने रखेगा इसमें कोई संदेह नहीं, किन्तु हम उस ज्ञान का दुरुपयोग कर रहे हैं, इसलिए अनादिकाल से वह सुख हमारे पास होते हुए भी अज्ञात ही रहा है। हम बाहरी पदार्थों के ऊपर ही Torch मार रहे हैं और Torch का मारना ज्ञान का ही काम है। Torch का काम है दिखाना, वह तो पक्षपात नहीं रखता कि मैं-इसे दिखाऊँ और इसे ना दिखाऊँ। उसका काम है मात्र दिखाना। यही कारण है कि आप दूसरे पदार्थ से ही परिचित हो गए और स्वयं से अनभिज्ञ रहे क्योंकि कभी भी आपने अपने ऊपर उस Torch का प्रयोग नहीं किया। दीपावली मनाते हैं आप लोग। मराठी भाषा से विचार करने पर यह विदित होता है कि दिवाली आई... मैं उस भाषा की दृष्टि से यह कहना चाहूँगा कि दिवा अर्थात् दिन और अ का अर्थ है आई... क्या आई? दिवाली आई। भाषा ऐसी है कि वहाँ पर क्रियापद आली है। और दिवा अर्थात् दिन, उजाला। उस व्यक्ति केTorch मारने से मुझे चिंतन के लिए विषय मिला, उन सज्जन के लिए क्या मिला यह तो वे ही जानें उनको शायद आकुलता हो गई होगी कि अरे! महाराजजी ने देख लिया होगा और वे Torch बंद करके जल्दी-जल्दी चले गये।

आप लोग कहते हैं कि दीपावली आ गई.... ३६५ दिन के लिए विराग। क्या कहूँ भैया! जिसके बीच रात, उसकी क्या बात तो ३६५ दिन और रात की कौन कहे? तो वह Torch वाला व्यक्ति भूलकर भी अपने आपको देखना नहीं चाहता था। यही एकमात्र हमारे पुरुषार्थ की कमी है। आपके पास साधन होने पर भी आप उसका समुचित रूप से प्रयोग करना नहीं चाहते और इस ही कमी ने आपको ऐसा धोखा दिया है अनादिकाल से कि आपके पास अनंत-सुख होते हुए भी उससे वंचित रहना पड़ा है। यह त्रैकालिक सत्य है, जब तक हम अपने ऊपर Torch नहीं मारेंगे तब तक हमें बाहरी पदार्थों का अवलोकन ही मिलेगा अंदर का नहीं।

यह उस केवलज्ञान की भूमिका का ज्ञान है-

चेत चेतन चकित हो।
स्वचिंतन बस मुदित हो॥
यों कहता मैं भूला।
अब तक पर मैं फूला॥ (मुक्तक शतक)

जिस समय वह वैराग्यमयी ज्ञान किरण अपनी आत्मा में उद्भूत होती है उस समय की यह बात है, जब हम समस्त विश्व को भूल जाते हैं और अपने उपादेय भूत आत्म तत्त्व की आरती उतारना प्रारंभ कर देते हैं, वह पावन घड़ी आज तक आप लोगों को उपलब्ध नहीं हुई और ऐसा भी नहीं है कि वह घड़ी दूसरों को मिल जाए तो आपको भी मिल जाए। दूसरे का जीवन भिन्न रहेगा।

चूँकि इसका दृष्टिकोण भिन्न है, उसका आचार-विचार, उसका लक्ष्य, उसका केन्द्र बिन्दु सब कुछ पृथक् है। आप लोगों से मैं यही कहूँगा कि दूसरे की विशुद्धि, दूसरे का पुण्य आपके काम नहीं आने वाला है।

भगवान महावीर स्वामी ने जिस समय अपने ध्यान-चिंतन के फलस्वरूप अपने आत्मा को पाया, उस समय कई व्यक्ति वहाँ पर बैठे होंगे, कई व्यक्ति देखते होंगे लेकिन प्रत्येक के लिए उसका लाभ नहीं होता क्योंकि उसको आप खरीद नहीं सकते। दूसरे को प्राप्त हुई सुखद घड़ियों के ऊपर आपका कोई अधिकार नहीं है। उन्होंने प्रयास किया फलस्वरूप उन्हें आत्मा की उपलब्धि हुई ऐसी स्थिति में हमें सोचना चाहिए कि हमारी साधना में कहाँ पर कमी है? और है तो क्यों? और इसके उपरांत उस कमी की पूर्ति कैसे होगी? ये तीन प्रश्न आपके मन में हर बार उठना चाहिए, उठने के उपरांत आपको तदनुकूल प्रयास भी करना आवश्यक हो जाता है।

भगवान महावीर ने प्रयास किया था-

वैराग्य से तुम सुखी, भज के अहिंसा।
होता दुखी जगत है, कर राग हिंसा॥

जहाँ पर प्रभु विराजमान हैं वहीं पर सारा का सारा संसार विद्यमान है किन्तु वहाँ पर सुख यहाँ पर दुख है। वहाँ पर मुक्ति, यहाँ पर बंधन। दुख और सुख में कितना अंतर है ? बोलो.. महाराज दुः और सु का तो अंतर है। दुः और सु का तो अंतर है लेकिन यही अंतर जमीन आसमान का है। जमीन से आप आसमान को नापना चाहो तो कभी आकाश में विराम नहीं पा सकोगे, आकाश को नाप नहीं सकोगे। ठीक उसी प्रकार दुख की सुख के साथ तुलना नहीं कर सकते। क्योंकि वह संभव ही नहीं।

प्रभु महावीर का जीवन सुखमय था और संसारी जीवों का जीवन दुखमय है। हमारी साधनायें विपरीत चल रही हैं। उनकी साधना अहिंसा की थी और आपकी हिंसा की। उनकी साधना वीतरागता की है और आपकी सरागता की है।

संसार सकल त्रस्त है
पीड़ित व्याकुल विकल
इसमें है एक कारण
हृदय से नहीं हटाया राग को
हृदय में नहीं बिठाया वीतराग को
जो है शरण, तारण-तरण। (नर्मदा का नरम कंकर)

एक व्यक्ति की दस खण्ड की बिल्डिंग खड़ी है आपके पड़ोस में और आपकी भी वहीं पर Bulding (भवन) है पर जो उस दस खण्ड के मालिक को आनन्द आ रहा है, वह आपके लिए नहीं आ रहा है और दूसरी बात है उसी दस खण्ड के मकान में वह बीस घंटा गुजारता है। उसके मकान को देखकर आपका मन कहता है कि कब इस प्रकार की Bulding का निर्माण करूँ। निर्माण करके क्या करेंगे? उसकी छाया में रहेंगे ये ही तो है। उसी प्रकार आप महावीर भगवान् का निर्वाण महोत्सव मना करके भी उनके सुख को छीन नहीं सकते। उस सुख का आप एक कण भर भी अनुभव नहीं कर सकते। जिन्होंने अपने जीवन में साधना की है, उन्होंने ही इस प्रकार की सिद्धि प्राप्त की है। ऐसे आज तक अनन्तों सिद्ध परमात्मा हो चुके हैं, हो रहे हैं और आगे भी होंगे। यह त्रैकालिक सत्य है, कि साधना करने वाले ही हुए हैं और हो रहे हैं आगे होंगे। हमारी साधना विपरीत चल रही है बंधुओ!

वैराग्य से तुम सुखी, भज के अहिंसा।
होता दुखी जगत है, कर राग हिंसा॥
सत् साधना सहज, साध्य सदा दिलाती।
दुःसाधना दुखमयी विष ही पिलाती॥
(निरंजन शतक/२८)

यह विपरीत साधना ही आप लोगों के दुखों का Foundation (नींव) है और इसको छोड़े बिना सुख मिलना असंभव है। तीन काल में भी आपके मन के विचार साकार नहीं हो पायेंगे, क्योंकि! साधना के बल पर ही हम साध्य को प्राप्त कर सकते हैं। साधना आप लोगों की दुख की है। आप राग-द्वेष को, विषय-कषाय को हटाना नहीं चाह रहे हैं और वीतरागता की उपासना आप करना चाहते हैं। वह वीतरागता की उपासना फालतू है आपकी। वह उपासना नहीं कहलाती, वह एकमात्र अभिनय है। नाटक आप खेलते रहो-खेलते रहो, आपको आनंद नहीं आएगा। आप इन शब्दों के पास जाकर के कुछ अपना काम करना चाहो तो होने वाला नहीं है।

शब्द एक मात्र उस व्यक्ति को भाव तक पहुँचाने में सीढ़ी का काम करते हैं। लेकिन आप भाषा में ही अटक जाते हैं और प्रायः अपने ध्रुव बिन्दु को भूल जाते हैं। इस दुनियाँ का स्वभाव ध्रुव बिन्दु को भूल जाना ही बन चुका है। आप लोगों का लक्ष्य एक दिन तक ही चलता है दूसरे दिन लक्ष्य छूट जाता है।

भौतिक विषयों की चमक-दमक में उसका जो कोई भी लक्ष्य है वह छूट जाता है और भटक जाता है और ऐसा भटक जाता है कि वर्षों तक मालूम नहीं पड़ता। इसलिए सच्चा साधक कभी भी

बाधक कारणों को नहीं भूलता, सर्व प्रथम याद रखता है कि इसका फल क्या निकलेगा? दूसरी बात है कि जिसकी प्रत्येक श्वास में लक्ष्य सामने रहता है वही व्यक्ति वास्तविक साधक माना जाता है किन्तु जो उदयागत कर्मों की चपेट में आकर लक्ष्य को भूल जाता है वह कभी भी लक्ष्य को नहीं पा सकता।

भगवान् महावीर की उम्र उस समय ३० वर्ष की थी जिस समय उन्होंने दीक्षा धारण की थी। उन्होंने ऐसा कौन सा लक्ष्य बनाया जिससे बारह वर्ष के अथक परिश्रम के उपरान्त उन्हें केवल ज्ञान प्राप्त हुआ। आज भी तीस-तीस साल के नौजवान कई हैं तो तीस मिनट क्या तीस सैकेंड में उनका मन डायवर्ट हो जाता है। कुछ तो मन उछाल लेता है कि मैं भी ऐसा करूँ! करूँ कि नहीं? उसके पीछे-पीछे और भी संकल्प विकल्प जो भटकाने वाले हैं, वे सारे के सारे मिलकर उसे विचलित कर देते हैं। साधक की यह परिभाषा ध्यान रखने योग्य है-

उस पथिक! की क्या परीक्षा, पथ में शूल न हो।
उस नाविक! की क्या परीक्षा, धारा प्रतिकूल न हो॥

हम तट पर रह करके कुछ काम करना चाहते हैं और फल यह निकलता है कि थोड़ी सी भी कठिनाई आने पर कार्य करना बन्द कर देते हैं। फिर कार्य कैसे हो सकता है? जिस समय धारा प्रतिकूल रहती है उस समय वह नाविक अपनी चतुराई के साथ इस छोर से उस छोर तक चला जाए; यही एकमात्र उसकी परीक्षा है, परख है।

कई युवक आए मेरे पास उनमें कोई B.A. था, तो कोई M.A., कोई L.L.B. आदि-आदि। लेकिन जब उनके मुख से हड़तालों की आवाज सुनता हूँ तो दंग रह जाता हूँ कि ये संस्कार इनमें कैसे और कहाँ पड़े। जिस समय उनके Exam (परीक्षा) आती है, उस समय उनकी माँग होती है कि परीक्षा की तिथि बढ़ा दी जाये, नहीं तो हम हड़ताल करेंगे, अनशन करेंगे। भैया ३६५ दिन तो दिये हैं और फिर भी एक माह के लिए माँग, एक माह की कोई बात नहीं है वह पूरी हुई नहीं कि दूसरी माँग और अनेक माँगे साथ-साथ आ जाती हैं। इससे अच्छा तो यही है कि University में कोई ऐसी मशीन तैयार की जाए जो उन युवकों के लिए प्रमाण-पत्र वितरित कर दे। सीधी-सीधी बात तो यह है कि परीक्षा की भी क्या आवश्यकता है और अध्ययन की भी क्या आवश्यकता है अब जो चाहो वही कर लो। हम परिश्रम से डरते हैं, फल यह निकलता है यह अनायास की नीति हमें रसातल की ओर ले जाती है। विकास चाहते हुए भी उसका विनाश हो जाता है और वह विनाश इसलिए हो जाता है कि इसकी कोई साधना नहीं रहती।

भगवान महावीर ने सर्वप्रथम यह कहा है कि सत् साधना अनिवार्य है। उसमें देर भले ही लग जाये पर अन्धेर नहीं होना चाहिए और आप Readymade जीवन व्यतीत करने वाले हैं। सुबह

का शाम को नहीं...नहीं बहुत देर हो गई इतना अंतराल तो ठीक नहीं है। आप डॉक्टर के पास जाकर के कहते हैं कि दवाई लिख दो और बस! लिखते ही रोग दूर होना चाहिए, दवाई पीना तो दूर रहा। इसी कारण एक रोग के जाते ही दस और नये पैदा हो जाते हैं और आप यह जान नहीं पाते । विपरीत दिशा की ओर आप बहुत तेज गति से बढ़ते जा रहे हैं। इसका ध्यान ही नहीं रहा कि मील के पत्थर के ऊपर क्या लिखा है? इससे क्या मतलब है बस! अपने को जाना है। उसके साथ-साथ ये भी तो विचार करो कि मुझे कहाँ जाना है?

एक व्यक्ति ने बड़े विश्वास के साथ कलकत्ता से बॉम्बे जाने का टिकट खरीदा और वह मद्रास से आया था, सफर के कारण बहुत थका हुआ था। वह टिकट खरीद करके देहली वाली गाड़ी में बैठ गया कि अब तो सुबह जा करके उठना है और वह निश्चिंत होकर सो गया। गाड़ी जा रही है देहली की ओर उसे जाना था बॉम्बे, कोई भी व्यवधान नहीं है। ज्यों ही वह देहली के स्टेशन पर उतरता है, तो क्या बॉम्बे आ गया? जब साईन बोर्ड पर देहली देखता है तो कहता है कि अरे! यह तो देहली आ गई। अब तो मुश्किल हो गई क्योंकि उसके सारे के सारे रुपये खत्म हो गये थे, अब निर्वाह कैसे हो और दूसरी बात यह है कि वह चोर साबित हो गया। टिकट Checker ने कहा कि तुम्हारा टिकट कहाँ है ? वह टिकट देता है पर वह टिकट तो बॉम्बे का था, अतः वह टिकट Checker कहता है कि तुमने बदमाशी की है। वह व्यक्ति कहता है कि नहीं...नहीं मैंने बदमाशी नहीं की है। ठीक है यदि बदमाशी नहीं कि तो हजार मील की यात्रा की है, फिर भी आपको इतना ख्याल तो रखना चाहिए कि यह गाड़ी कहाँ तक जायेगी कम से कम पूछना तो चाहिए था वह कहता है मैंने टिकट तो खरीदा है? तो मात्र टिकट खरीदने से क्या मतलब है?

यात्री का स्टेशन पर आते ही कर्त्तव्य अनिवार्य हो जाता है कि यह गाड़ी किधर से आई है और किधर तक जाएगी और मुझे कहाँ जाना है और मैं कहाँ से आ रहा हूँ। हम यही तो भूल जाते हैं, सोचते हैं कि टिकट खरीद लिया है तो इसी के माध्यम से सब कुछ हो जायेगा किन्तु ऐसा नहीं है, जब तक कार्य सम्पन्न नहीं होता, तब तक साधक को परम सावधानी बरतना चाहिए यदि किसी प्रकार की वह असावधानी करता है तो वह बहुत जल्दी लक्ष्य से च्युत हो जाता है।

भगवान् महावीर ने यह ध्यान रखा था कि साधनों के क्षेत्र में अहिंसा ही एकमात्र पाथेय का काम कर सकती है और इसके विपरीत हिंसा, राग, द्वेष, मोह, मत्सर इसके लिए प्रतिकूल है। इनके माध्यम से यदि मैं चलूँगा तो तीन काल में काम नहीं होगा। दूसरी बात यह है, उन्होंने ये भी विशेषता बताई है कि साधना अपनाने से पहले बाधक कारणों को पहले हटाओ। बाधक कारणों को हटायेंगे तो साधक कारण अपने आप आ जायेंगे। साधक कारण अपने आप आ गये हैं लेकिन बाधक

कारणों का अभाव नहीं हुआ है तो भी ध्यान रखना, वह संसार से पार नहीं हो सकता है। जीवन में भगवान् महावीर का एक उद्देश्य रहा है कि उन्होंने अहिंसा को अपनाया इतना ही नहीं हिंसा का कोई काम भी नहीं किया बल्कि हिंसा का निषेध ही किया। हिंसा का जैसे-जैसे निषेध किया वैसे-वैसे अहिंसा उभरती गई उनके अंदर, कहीं बाहर से लाने की आवश्यकता नहीं पड़ी। बाहर से प्रकाश को लाने की आवश्यकता नहीं, मात्र अंधकार मिटाना है। जैसे-जैसे अंधकार मिटता जाएगा वैसे वैसे प्रकाश उद्भूत होता जायेगा।

कुछ साधन आपने रखे हैं लेकिन उनका समुचित प्रयोग करना आप नहीं जानते और जब तक समुचित रूप से प्रयोग नहीं होगा तब तक आप अपना कार्य सिद्ध नहीं कर सकेंगे। जब तक माइक बोलता रहता है तब तक आप कानों को इधर-उधर रखकर सभा में हल्ला-गुल्ला करते हैं, और जब वह बंद हो जाता है तब आप कान लगा करके सुनते हैं। आपने अपने जीवन को बहुत व्यस्त बना रखा है कि उसमें बहुत समय अनावश्यक चला जाता है। जीवन बहुत छोटा है और उस छोटे से जीवन में भी हमने इतना समय निकाल रखा है फालतू कामों के लिये कि उनकी कोई गिनती नहीं है।

भगवान महावीर ने कहा कि अपव्यय इस जीव को बहुत सताता है, व्यय नहीं सताता किंतु अपव्यय जीवन में आकुलता पैदा कर देता है। समय का अपव्यय, धन का अपव्यय, शारीरिक शक्ति का अपव्यय। अपव्यय बहुत प्रकार के होते हैं। आप लोगों को यह मालूम ही नहीं पड़ता कि हमारा सारा का सारा जीवन अपव्यय की कोटि में जा रहा है। इसलिये अंतिम समय में जाकर के वे पश्चाताप का अनुभव करते हैं और अंत में पश्चाताप करने से कुछ नहीं होता।

आधे दिन पाछे गए हरि से किया न हेत।
अब पछतावे होत क्या चिड़िया चुग गई खेत॥

एक महिला दूध तपा रही है। उसने ध्यान नहीं दिया कि दूध तप रहा है, करीब आधा घंटा हो गया। अग्नि के तेज होने से वह ऊपर आ रहा है, उस महिला ने यह नहीं देखा कि उसमें क्या प्रक्रिया हो रही है। जैसे ही पानी सूखा वैसे ही दूध पात्र से बाहर आ गया। उस समय वह महिला उसको फूँकने लग जाती है फिर भी फूँकते-फूँकते वह दूध ऊपर आ जाता हे वह रुकता नहीं है क्योंकि उसको जितनी ऊष्मा चाहिए थी उससे ज्यादा हो गई उसका अपव्यय हो गया। ऐसी स्थिति में हानि ही होगी। फूँकने से वह रुकेगा नहीं, वह नीचे नहीं जाएगा, बल्कि थोड़ी सी धारा छोड़ दो पानी की। घाटा पड़ जाता है, घाटा तो पड़ेगा ही, अपव्यय में घाटा नियम से पड़ता है। हमारा सारा का सारा जीवन आदि से अंत तक अपव्यय की कोटि में जा रहा है।

जिस व्यक्ति ने बाधक कारणों को नहीं हटाया और साधक कारणों के बारे में प्रयास कर रहा है उसे जीवन के अंत समय में पश्चाताप ही लगता है और कुछ नहीं। प्राय: जो विषय कषाय नहीं छोड़ते वे भी जीवन के अंतिम समय में पश्चाताप करते हैं। जब वे अपना इतिहास देखते हैं तो उन्हें रोना आ जाता है कि मैंने अपने जीवन में कुछ भी धार्मिक कार्य नहीं किया। अब मुझे नीचे जाना पड़ेगा इसलिए वह डरता है और रोता है। जिसने अच्छे कार्य किये हैं, उसे अंत समय में रोना नहीं आता वह पश्चाताप नहीं करता। वह अवश्य ही विजयी बनता है वह सोचता है कि मैंने साधना की है, अपने जीवन को अपव्यय से बचाया है। इस तरह मेरे जीवन में कोई भी कमी नहीं रही है अब आगे का जो जीवन होगा वह मेरे अनुरूप होगा। प्रयास भूमिका से ही प्रारंभ होना चाहिए, समीचीन साधना होनी चाहिए। यदि उतावली में आप कोई भी काम करोगे तो वह नियम से ठीक नहीं होगा। सावधानी के साथ कार्य करोगे तो अच्छा होगा। जो कुछ भी कार्य, साधना हो वह अहिंसापूर्वक हो, राग-द्वेष को कम करते हुए हो। अहिंसा किसी चिड़िया का नाम नहीं है, जिसको आप पाना चाहते हैं। किन्तु राग-द्वेष को हटाना ही अहिंसा है। जो राग-द्वेष से सहित है वह हिंसक है और वे बहुत ही जल्दी अपनी साधना के मार्ग से स्खलित हो जाते हैं। प्रति फलस्वरूप उन्हें राग-द्वेष एवं हिंसा ही हाथ लगती है।

महावीर स्वामी ने अपने आपको बहुत जल्दी राग-द्वेष से निवृत्त किया था। समीचीन साधनों को अपनाकर बहुत जल्दी बारह साल में ही उन्होंने अपना काम किया और उसमें ध्यान रखना बारह साल का समय प्रवाह की अपेक्षा से लगा था वैसे मात्र अंतर्मुहूर्त में ही उन्हें कैवल्य की उपलब्धि हो गई थी, लेकिन जब तक समीचीन साधना की पूर्ति नहीं हुई थी तब तक चराचर पदार्थों को जानने वाला वह केवलज्ञान उपलब्ध नहीं हुआ था। बंधुओ जिस समय साधना पूर्ण हुई उसी समय कैवल्य की अनुभूति प्राप्त हो गई। उन्हीं के अनुसार अपने को राग-द्वेष की प्रणाली से बचाते हुए, अहिंसा की गोद में अपने-आपको समर्पित करना है।

अनादिकाल से हमें अहिंसा की उपलब्धि नहीं हुई है और जब तक अहिंसा की उपलब्धि नहीं होगी तब तक हमारी जो साधनायें हैं, वे मात्र दुख देने वाली हैं। दुख को यदि मिटाना चाहते हो, तो यह ध्यान रखो! समीचीन साधनों का आलम्बन लेना परमावश्यक है। भगवान महावीर के बारे में कई लोगों की उल्टी धारणायें हैं। चूँकि जब से उन्होंने समीचीन पथ का आलम्बन लिया और उस पथ पर अपने आपके जीवन को चलाना प्रारंभ किया तब उनके जीवन की कोई ऐसी घटना नहीं है जो परोपकारमय हो, लेकिन आप लोग परोपकार को महत्त्व देते हैं। उसकी ओर हम ध्यान नहीं रख पाते कि, परोपकार से बढ़कर भी कोई चीज है और वह है स्व के ऊपर उपकार करना बस! यही महावीर भगवान का वास्तविक Foundation (नींव) है। स्व के ऊपर जो उपकार करेगा, उससे

बढ़कर और कोई परोपकार नहीं होगा। तो इससे यह सिद्ध हो जाता है कि जिस व्यक्ति ने पर से मुख मोड़ लिया, पर के प्रति जो बाधक कारण उपस्थित कर रहा था वह बिल्कुल Down (कम) हो गया। यह नहीं समझना चाहिए कि हम पर के लिए उपकार करते हैं तो उपकार नहीं करते हैं। यह लेन-देन चलता रहता है सेर भर देना और सवा सेर लेना यह आपका धंधा है। दिखता ऐसा ही है कि मैंने पर के ऊपर कुछ उपकार किया है किन्तु वह पर के ऊपर उपकार नहीं है। जो पर के लिए कुछ करता है वह अपने लिए स्वार्थ-सिद्धि की इच्छा तो रखता ही है। और जिस समय आप उपकार करते हैं, उस समय दूसरे को कोई बाधा नहीं होनी चाहिए आपके माध्यम से इसलिए आचार्यों ने उपकार करने से धर्म होता है ऐसा नहीं कहा किन्तु जो अपने ऊपर उपकार करना प्रारंभ कर देता है, उस समय उसके माध्यम से पर के ऊपर उपकार होता चला जाता है। आप दूसरे पर उपकार मत करो कोई बात नहीं! लेकिन तुम यदि उसके लिए बाधक कारण उपस्थित नहीं करोगे तो पर के प्रति आपका महान् उपकार माना जाएगा।

जिस समय आप प्रवृत्ति करोगे तो उस समय उसको कुछ न कुछ धक्का अवश्य लगेगा । मान लो कोई स्वर्णाभरण बनाना होंगे तो, स्वर्ण का आभरण अलग चीज है और स्वर्ण अलग चीज है। जिस समय आप स्वर्ण के बारे में पूछते हैं, तो वह बिल्कुल Pure (शुद्ध) रहेगा ज्यों ही उसको आभरण के रूप में देखना चाहोगे तो कुछ ना कुछ बट्टा अवश्य आएगा। उस बट्टे के बिना वह आभरण बन नहीं सकता क्योंकि सोने का गुण छुपाना है, थोड़ा सा भी धक्का लग जाए तो वह आभरण कंगन आदि टूट जाएगा। यदि आप उस सोने को, कंगन के रूप में देखना चाहोगे तो वह १०० टच नहीं रह सकेगा। उसमें कुछ न कुछ बट्टा अवश्य आएगा, मिलावट अवश्य आएगी तभी आप उस कंगन को धारण कर सकोगे। उसी प्रकार ज्यों ही आपने पर के प्रति उपकार करने की दृष्टि बनाई, त्यों ही उसमें बट्टा लग गया।

मरहम पट्टी बांधकर, वृण का कर उपचार।
ऐसा यदि ना बन सके, डंडा तो मत मार॥

(दोहा-दोहन)

हम करना यह चाहते हैं और यह कहकर के अपने आपको कृतार्थ बनाना चाहते हैं कि मैंने मरहम पट्टी की, ये किया, वो किया, मरहम पट्टी के माध्यम से उस व्यक्ति को हम बांधना चाहते हैं। घाव ठीक होने के उपरांत जब कभी भी वह मिल जाता है तो आप कहते हैं कि हमने तुम्हें उस दिन मरहम.. पट्टी... चिपका दी थी और इस माध्यम से आप उस व्यक्ति को मोल खरीदना चाहते हैं बल्कि उसका भावी जीवन भी बंध गया। आपकी मरहम पट्टी में वह बिक जायेगा। किसी को आप

एक रोटी भी खिलाते हैं तो बस! हो जाता है काम और उसको जीवन भर कहने के(टोकने के) आप अधिकारी हो जाते हैं। थोड़ा भी समय मिला और आप कह देते हैं कि देख लो क्या इतिहास था तुम्हारा अब चार दिन के लिए सेठ बन गये हो।

समीचीन अध्ययन आज तक हमने नहीं किया और निस्वार्थ सेवा भी नहीं की। किसी सज्जन ने एक बार मुझे सुनाया था कि एक व्यक्ति तालाब में डूब रहा था। वह जिस समय तालाब में डूब रहा था उस समय दूसरे व्यक्ति ने देख लिया, वह तैरना जानता था उसने अपनी मेहनत और परिश्रम से उस डूबते हुए व्यक्ति को बचाया, तालाब से बाहर निकाला और बाहर निकालने के उपरांत वह व्यक्ति जो डूब रहा था उस व्यक्ति की कृतज्ञता के प्रति नम्रीभूत होकर बोला-आपने मुझे जीवन प्रदान कर बहुत बड़ा उपकार किया और इसके लिये तो मैं कभी भूलूंगा नहीं। आप यदि कुछ सेवा मुझसे चाहो तो कहो, नहीं... नहीं, मुझे अभी आवश्यकता नहीं है। कुछ समय उपरांत जिसने बचाया था उस व्यक्ति ने कविता लिखना प्रारम्भ किया तो वह सोचता है मैं कविता तो लिखता हूँ अतः मेरा प्रचार-प्रसार भी अधिक होना चाहिए और जो व्यक्ति डूब रहा था वह किसी प्रसिद्ध पत्रिका का संपादक था, तो वह सोचता है कि मैं उससे जाकर के कह सकता हूँ। बात यह थी कि उसकी कविता कोई भी पत्रिका वाले मंजूर नहीं कर रहे थे, वह जाकर कहता है कि आज मेरा थोड़ा सा काम है; हाँ! हाँ! बोलो आपको तो कभी भूलूँगा नहीं, संपादक ने बड़ी नम्रतापूर्वक कहा। यह एक मौलिक कविता है जिसको मैंने लिखा है, कितनी अच्छी है देखो तो सही इस प्रकार अपने आप शाबाशी लेकर के कहा। संपादक कविता पढ़कर बोला कि भाई साहब आप ऐसा करो कि मुझे तालाब के पास ले चलो, जिसमें मैं डूबा था और आप मुझे डुबा दो! मुझे डूबना मंजूर है लेकिन आपकी यह कविता छापना मंजूर नहीं है।

आप लोगों ने अर्थ समझा होगा कोई व्यक्ति यदि उपकार करता है तो प्रत्युपकार की इच्छा से करता है। आप Balance में देखते रहते हैं कि मैंने इतने-इतने कार्य किये हैं, जब कभी भी प्रसंग आ जाए तो उतने-उतने उपकारों के आप दावेदार हैं। आपके पास Date (तारीख) तक लिखी रहती है कि जब कभी भी काम होगा तब पकड़ूँगा जाकर के उसकी Collar को। बन्धुओ! यह उपकार नहीं एक प्रकार का व्यवसाय है। इस प्रकार के व्यवहार से महावीर भगवान् कोसों दूर रहते थे। यदि हम किसी के ऊपर उपकार नहीं कर रहे हैं किन्तु जिसके पैर में घाव हुआ है, उस पर नमक भी नहीं डाल रहे हैं तो हम उसके प्रति महान् उपकार कर रहे हैं। यह रहस्य महावीर भगवान् के जीवन का रहा और राग-द्वेष उनके हृदय में जन्म नहीं ले पाये। राग-द्वेष पर की अपेक्षा से जन्म लेते हैं। स्व की अपेक्षा से राग-द्वेष कभी पैदा नहीं हुआ करते। हम वस्तु को छोटा, बड़ा, हल्का,

भारी कहते हैं। गौण रूप से छोटे के सामने बड़ा अवश्य है और हल्के के सामने भारी अवश्य है, गुणवान के सामने अवगुणी अवश्य है। इस प्रकार की तुलना जब तक होती रहेगी तब तक राग-द्वेष अवश्य रहेगा।

जो वस्तु को न बड़ा न छोटा कहता है, समता रखता है वही व्यक्ति भगवान महावीर के मार्ग पर अपने आपको नियुक्त कर पाता है। एक को अच्छा कह दें तो दूसरे को अपने आप धक्का लग जाता है। हम दूसरे को धक्का लगाने के लिए अच्छा बना लेते हैं अपने आपको। और ''जो कुछ है.. सो है'' उससे किसी को धक्का नहीं लगता, मेरा-तेरा समाप्त हो जाता है। प्रवचन तो हो ही जाएगा, प्रयास तो यही करूँगा। घड़ी तो बहुत जल्दी-जल्दी चल रही है क्या बात है? महावीर भगवान् का शासन समाप्त हो गया? मैं यह कह रहा हूँ जब तक यह संसारी प्राणी तेरा-मेरा करता रहेगा, तब तक राग-द्वेष होता रहेगा।

भगवान् महावीर ने कहा कि राग-द्वेष को हटाना मोक्ष-मार्ग में अनिवार्य है। तेरा-मेरा हटाकर के जो कुछ 'मैं रूप' सत्ता है उसे भी उन्होंने राग-द्वेष बढ़ाने की उपाधि दी है। कौन? क्या? इसके बारे में उपाधियाँ लग जाती हैं। प्रत्येक के लिए 'क' का प्रयोग है। और 'है' का प्रयोग जो है वह विशेष रूप से क्या करता है प्रत्येक की व्यवस्था करता है और उसमें किसी प्रकार का तेरा-मेरा नहीं होता और तेरा-मेरा नहीं होने से उस 'है' में कभी राग-द्वेष नहीं होता। भगवान् महावीर स्वामी ने अपने आपको 'है' के रूप में परिवर्तित कर दिया। और 'है' के रूप में परिवर्तित होते ही जो अनादिकाल से 'मैं, मैं', मेरा-तेरा समाप्त हो गया इसलिए वे केन्द्र तक पहुँच गये। केन्द्र तक पहुँचने के लिए परिधि का त्याग परमावश्यक है। प्रायः करके परिधि के ऊपर जो नाचता रहता है उसके लिए वह केन्द्र बिन्दु प्राप्त नहीं हो पाता। जो कुछ मजा है वह केन्द्र बिन्दु में है, परिधि में मजा नहीं है। केन्द्र में सुरक्षा है और परिधि में जीवन समाप्त।

एक बार की बात है पिताजी और पुत्र जा रहे थे। नाम तो आपको मालूम है, कबीरदास जी और उनका बेटा! कमाल! पिताजी कहते हैं कि देखो बेटा यह सारा का सारा संसार पिसता जा रहा है कोई सुखी नहीं है। संसार के सारे के सारे जितने भी जीव हैं सब दुखी हैं। और यह संसार दुख का अनुभव किस प्रकार कर रहा है उसके लिए वे चक्की का उदाहरण देते हैं।

जिस प्रकार चक्की के दोनों पाटों में धान के दाने पिस रहे हैं उसी प्रकार सारा का सारा संसार दुख और सुख रूपी चक्की में पिसता जा रहा है। यह सब बात सुनकर कमाल कहता है कि पिताजी! एक बात मैं कहना चाहता हूँ। वास्तव में बात तो आपने बहुत अच्छी कही है। पूरे सोलह आने तो मैं कह नहीं सकूँगा, किन्तु सत्य बात, रहस्य की बात यह है कि सारा का सारा संसार दुखी ही हो ऐसा कोई नियम नहीं है। किन्तु कुछ ऐसे भी प्राणी हैं जो सुख का अनुभव कर रहे हैं। आपने जो उदाहरण

दिया है, वह पूर्ण रूप से सिद्ध नहीं है। आपका उदाहरण भी स्ववचन से बाधित है, कैसे है ? एक बात मैं यहाँ पर बताना चाहूँगा कि गुरु और शिष्य में जिस समय वार्तालाप होता है, उस समय यदि शिष्य गुरु की थोड़ी सी भी गल्ती निकाल लेता है तो गुरु को बहुत आनंद होता है कि हाँ! अब इसके बारे में मुझे कोई चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि इसके ज्ञान में प्रौढ़ता आ गई है अब यह तैयार हो गया है। कबीर कहता है कमाल से कि बता दे बेटा! क्या बात है जिससे मैं भी शिक्षा ले सकूँ। तब वह कमाल कहता है कि पिताजी! आपका उदाहरण एक देश तो घटित हो रहा है सर्व देश नहीं, हाँ...हाँ बेटा! मैंने वही तो पूछा है कि कैसे नहीं सर्व देश घटता। इस चक्की में धान तो पिस रहे हैं, प्रायः सभी पिस रहे हैं लेकिन.....लेकिन! क्या? बोलो तो सही। जो केन्द्र में कील के सहारे धान है वे धान के दाने तीन काल में पिस नहीं सकते और मैं भी केन्द्र के बारे में बात कर रहा था। परिधि में सारे के सारे धान पिसते जा रहे हैं। उस चक्की को तो छोड़ दीजिये, महिलायें जब चक्की चलाती हैं तब जाकर के देख लीजिए, वह बार-बार धान तो डालती हैं पर अंगुलियों से यूँ यूँ करती जाती हैं। मैंने सोचा कि धान तो डाल दी अब ऐसा क्यों करती हैं हाथ हटाना चाहिए। तो मालूम पड़ा कि उसमें भी कुछ धान ऐसे मजबूत रहते हैं जो कीले को छोड़कर नहीं जा रहे थे और उस महिला को तो आटा बनाना है। कोई भी धान का दाना रह ना जाये इसलिए वह बार-बार ऐसे-ऐसे (अंगुली चलाकर इशारा) करती रहती थी। बिल्कुल ठीक है कीले के पास जो रहेगा वह भले ही चक्की एक घंटा भी चलती रहे तो भी वह धान का दाना पिसेगा नहीं। इसी प्रकार पिताजी! बात ऐसी है कि जो राग-द्वेष की परिधि के ऊपर नाच रहे हैं, पर्यायों के ऊपर नाच रहे हैं वे तो पिसेंगे और उनका आटा बनेगा। किन्तु जो राग-द्वेष नहीं करेगा तो उसकी पर्यायदृष्टि मिट जायेगी और पर्यायदृष्टि नहीं होगी तो उसी में वह साबुत रहेगा, उसको कौन मिटा सकता है।

संसारी प्राणी कभी सोचता है कि मैं राजा बन गया और जब तक प्रजा है तब तक राजा है। प्रजा पलटेगी तो फिर राजा खाजा बन जाएगा नाम तक नहीं रहेगा। खाजा का अर्थ क्या है? खाजा एक पकवान का नाम है। तो वह राजा तब तक रहता है जब तक प्रजा पलटी नहीं है यानि उसके अनुकूल है। तो उसी प्रकार जब तक हम राग-द्वेष करते रहेंगे तब तक मिटते रहेंगे और हमारा कोई अस्तित्व नहीं रहेगा। ऐसी स्थिति में वह खुशबू, वह महक हमें नहीं आ सकती। हमारा जीवन दुर्गन्धमय रहेगा। जीवन सड़ता ही जा रहा है, यह पर्यायबुद्धि का ही एकमात्र परिणाम है।

महावीर स्वामी ने आज के दिन अनादिकाल से जो पर्यायबुद्धि चल रही थी, उसे हटा दिया, और जो ध्रौव्य है जिसे केन्द्र बिन्दु कहना चाहिए उसे प्राप्त कर लिया। केन्द्र में रहने वाला व्यक्ति कभी पिसता नहीं है। अब जन्म, जरा, मृत्यु उन्हें कुछ भी नहीं है। जन्म तो समाप्त हो जाता है और मृत्यु की ही मृत्यु हो जाती है और अनंत काल के लिए मात्र जीवन रहता है। इसलिए जो जीवन जीना

चाहता है उस व्यक्ति के लिए यह अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि महावीर भगवान ने जो केन्द्र बिन्दु बनाई थी, वह है एकमात्र 'सत्ता'! जिस सत्ता में किसी प्रकार की प्रक्रिया नहीं होती और होते हुए भी वह प्रक्रिया उसे बाधक नहीं होती। एक मुक्तक के माध्यम से आप समझ सकते हैं-

व्यक्तित्व की सत्ता मिटा दे,
उसे महासत्ता में मिला दे।
आर-पार तदाकार
सत्ता मात्र निराकार। (मुक्तक-शतक)

ऐसा जीवन बन जाये, जो आर-पार हो जाये, अटके नहीं। किसी प्रकार की अटकन न हो तो भटकन भी न हो! अटके नहीं आर-पार हो जाये। हमारी दृष्टि अटकती है, कहाँ अटकती है? पर्यायों में अटकती है, इसलिए हम दुखी हो जाते हैं। Transfer होता चला जाए, प्रत्येक द्रव्य में अंदर चला जाये ऊपर नहीं क्योंकि झगड़ा आदि कार्य जो भी हैं वे सब ऊपर में ही हैं, अंदर नहीं हैं। वह कैसा है? अंदर-कंदर मंदर सुन्दर और अंदर का अर्थ बिल्कुल द्रव्य में और वहाँ पर ऐसा कंदर है बहुत गहराई में जाने पर कोई आवाज कानों तक नहीं आ पाती। वहाँ पर सुन्दर चेतनात्मकता दर्शन रूप आत्मा बैठा हुआ है।

एक पिक्चर देखी थी, उसमें एक व्यक्ति धन कमाकर अपने घर जा रहा था। उसका एक मंदिर था। पहले उसमें एक दरवाजा मिलता है, ५-६ कदम चलने पर दूसरा दरवाजा मिलता है इस प्रकार कई दरवाजे मिलते हैं। जैसे-जैसे वह अन्दर चला जाता है वैसे-वैसे वे दरवाजे बन्द होते चले जाते हैं। इसके उपरान्त वह एक गाना भी गाने लगता है। अंदर की आवाज बाहर तक नहीं आती। फिर अंतिम दरवाजा आता है तो वहाँ पर उसका साम्राज्य बिछा हुआ है, वहाँ पर उसकी धन दौलत थी। वह कभी ताला नहीं लगाता था। उसे देखकर वह आनंद का अनुभव कर रहा था। यह बहुत ठीक है अंदर, कंदर में वह ऐसी गहराई में जा रहा है बिल्कुल निर्भीक होकर के जहाँ पर कोई प्रवेश नहीं पा सकता और वह Revolving Chair (घमने वाली कुर्सी) पर घूम रहा था। मैंने कहा यह भी ठीक है इसी प्रकार महावीर भगवान् अंदर चले गये इतने अंदर चले गये कि वे अपने मंदर में आनंद के साथ घूम रहे हैं और अब अनंत काल तक उसी में घूमते हुए आनंद का अनुभव करेंगे।

बंधुओ! आज के इस प्रवचन से यही शिक्षा लेना है कि यदि किसी का उपकार नहीं कर सकते हो तो अपकार करने के भाव मत करो और वास्तविक सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाये तो अपने ऊपर उपकार करते जाना ही सही मायने में परोपकार करना है। जैसा कि महावीर भगवान् ने अपने छद्मस्थ काल में हमेशा अपनी साधना की ओर ध्यान दिया था। अपनी आत्मा का कल्याण करने में जो

साधक लगा हुआ है, अपने ऊपर ही उपकार करने में जो लगा हुआ है, वही व्यक्ति वास्तव में सभी जीवों के ऊपर उपकार (परोपकार) कर सकता है। भगवान् महावीर ने पहले आत्मकल्याण किया बाद में जनकल्याण किया। हमें भी भगवान् महावीर के समान ही आत्मकल्याण की ओर अग्रसर होना है और अन्त में एक मुक्तक कहकर समाप्त करता हूँ-

चेत चेतन चकित हो,
स्व चिंतन वश मुदित हो।
यों कहता मैं-भूला,
अब तक पर में-फूला ॥ (मुक्तक-शतक)

पर्व : पूर्व भूमिका

यदि धर्म का सेवन हम विषयों का विमोचन किये बिना करेंगे तो स्वाद नहीं आयेगा, शान्ति और तृप्ति नहीं मिलेगी। कम से कम धर्म को अंगीकार करने से पहले विषयों के प्रति रागभाव तो गौण होना ही चाहिए। उनके प्रति आसक्ति तो कम करनी ही चाहिए।

कल पर्वराज आ रहा है और आत्मा के धर्म अर्थात् स्वभाव के बारे में वह हमसे कुछ कहेगा। दस दिनों में आप तरह-तरह से आत्मा के स्वभाव की प्राप्ति के लिये प्रयास करेंगे। कोई बार-बार भोजन की आकांक्षा छोड़कर एक बार भोजन करेगा। कोई एकाशन करने वाला कभी-कभी उपवास करने का अभ्यास करेगा और किसी दिन जो जोड़ रखा है उसे छोड़ने का भाव लायेगा। कोई भी कार्य किया जाता है तो भूमिका बनाना आवश्यक होता है। नींव यदि कमजोर है तो उसके ऊपर महाप्रासाद निर्मित करना सम्भव नहीं होता। इसी प्रकार आगामी दस दिनों में आप जो भी अपने आत्म-विकास के लिये करना चाहें, उसकी आज से ही भूमिका मजबूत कर लेनी चाहिए।

एक रोगी व्यक्ति वैद्य के पास गया कि कुछ इलाज बताइये ताकि कमजोरी दूर हो और शान्ति मिले। तब वैद्य जी ने रोग का निदान करके औषधियाँ बना दीं और कह दिया कि इन सभी का हलुवा बनाकर सेवन करना। कुछ दिनों के उपरान्त इसके सेवन से शक्ति और शान्ति मिल जायेगी। सभी चीजों का अनुपात और बनाने की विधि भी बता दी। उस व्यक्ति ने ठीक वैसा ही किया लेकिन उससे वह पौष्टिकता देने वाला हलुवा ठीक से खाया नहीं गया। दो-तीन दिन तक प्रयास करने के उपरान्त जब उससे वह हलुवा नहीं खाया गया तो वह वैद्य जी के पास पहुँचा और कहा कि रोग में कोई लाभ नहीं हुआ। वह हलुवा जैसे तैसे खाया तो, लेकिन ठीक-ठाक खाया नहीं गया। आपने जैसा बताया था, वैसा ही किया। उसमें किसी बात की कमी नहीं रखी लेकिन उसके सेवन के उपरान्त मुझे जरा भी सुख, शान्ति या तृप्ति नहीं मिली। जैसा आस्वादन मिलना चाहिए वह भी नहीं मिला। वैद्य जी ने कहा यह सम्भव ही नहीं है। बताओ क्या क्या मिलाया था? सभी चीजें मंगाई गयीं। कहीं कोई कमी नहीं थी। सभी चीजें नपी-तुली थीं, अनुपात भी ठीक था, बनाने की विधि भी ठीक थी पर केशर की डिब्बी जब वैद्य जी ने उठाई तो समझ गये कि बात क्या है। पूछा कि यही केशर डाली थी। उस व्यक्ति ने कहा कि हाँ यही डाली थी। केशर तो असली है, उसमें गड़बड़ कैसे हो सकती है? वैद्य जी मुस्कराये कहा कि केशर तो असली है पर केशर रखने की डिबिया में पहले क्या था? तो मालूम पड़ा कि डिबिया में पहले हींग रखी थी। उस हींग के संस्कार के कारण पूरा का पूरा हलुवा बेस्वाद हो गया। यही गलती हो गयी। इसलिए शान्ति नहीं मिली और तृप्ति भी नहीं मिली।

बात आपके समझ में आ गई होगी। यदि धर्म का सेवन हम विषयों का विमोचन किये बिना करेंगे तो स्वाद नहीं आयेगा, शान्ति और तृप्ति नहीं मिलेगी। कम से कम धर्म को अंगीकार करने से पहले विषयों के प्रति रागभाव तो गौण होना ही चाहिए। हमारा धर्म महान् है जिसमें भगवान् आदिनाथ से लेकर महावीर स्वामी पर्यन्त चौबीस तीर्थंकर हुए। भरत जैसे चक्रवर्ती और बाहुबली जैसे कामदेव हुए। बाहुबली भगवान् का कोई चिह्न भले ही नहीं है लेकिन उनकी तपस्या से हर कोई उन्हें पहचान लेता है।

वे तप की मूर्ति हैं। त्याग की मूर्ति हैं। वे संयम की मूर्ति हैं। विदेशी पर्यटक भी श्रवणबेलगोल (हासन-कर्नाटक) में जाकर गोम्मटेश बाहुबली स्वामी की मूर्ति देखकर ताज्जुब करते हैं कि यह कैसी विशाल, भव्य और मनोज्ञ प्रतिमा है, जो बिना बोले ही शान्ति का उपदेश दे रही है। हमें कहने की आवश्यकता न पड़े और हमारा जीवन स्वयं ही उपदेश देने लगे, यही हमारा धर्म है। यही धर्म का माहात्म्य भी है।

विषय भोगों में उलझते रहने की वजह से ही हमारे उपयोग की धारा आज तक भटकती आ रही है। बँटती चली आ रही है और सागर तक नहीं पहुँच पाती, मरुभूमि में ही विलीन हो रही है। पञ्चेन्द्रिय के विषयों के बीच आसक्त रहकर आज तक किसी को धर्मामृत की प्यास नहीं जगी। आज तक आत्मा का दर्शन नहीं हुआ। दशलक्षण धर्म के माध्यम से हमें दुनियाँ की और कोई वस्तु प्राप्त नहीं करना है किन्तु जो पञ्चेन्द्रिय के विषय हैं, उनको छोड़ते जाना है। जिस रुचि के साथ ग्रहण किया है उसी के अनुरूप उसका विमोचन करना भी आवश्यक है। जिस प्रकार कचरे को व्यर्थ मानकर फेंक देते हैं उसी प्रकार पञ्चेन्द्रिय के विषयों को व्यर्थ मानकर उनका त्याग करना होगा। उनके प्रति आसक्ति कम करना होगी। धर्म की व्याख्या तो आप कल से सुनेंगे, लेकिन आज कम से कम धर्म की केशर की सुगन्ध लेने से पहले अपनी डिब्बी का पुराना संस्कार अवश्य हटा दें।

तो बात यह है कि वीतराग-धर्म सुनने से पूर्व उसके योग्य पात्रता बनाना भी आवश्यक है। जैसे सिंहनी का दूध स्वर्ण पात्र में ही रुकता है उसी प्रकार वीतराग धर्म का श्रवण करके उसे धारण करने की क्षमता भी सभी में नहीं होती। उसके लिये भावों की भूमि में थोड़ा भीगापन होना चाहिए तथा आर्द्रता होनी चाहिए, जिससे वीतरागता के प्रति आस्था और उत्साह जागृत हो सके। चारों ओर भोगोपभोग की सामग्री होते हुए भी इस काया के द्वारा उस माया को गौण करके भीतरी आत्मा को पहचानने और शरीर से पृथक् अवलोकन करने के लिये दश-लक्षण धर्म को सुनना मात्र ही पर्याप्त नहीं है, उसे प्राप्त करना भी अनिवार्य है।

जीवन का एक-एक क्षण उत्तम-क्षमा के साथ निकले। एक-एक क्षण मार्दव के साथ, विनय के साथ निकले। एक-एक श्वाँस हमारी वक्रता के अभाव में चले। ऋजुता और शुचिता के साथ चले। पूरा जीवन ही दश-धर्म मय हो जाये। दश धर्म की व्याख्या तो कोई भी सुना सकता है, लेकिन धर्म का वास्तविक दर्शन और अनुभव तो दिगम्बर वेश में ही सम्भव है। उसके प्रतिफल रूप मुक्ति भी इसी दिगम्बरत्व के साथ सम्भव है। जो व्यक्ति दश धर्म के श्रवण और दर्शन के माध्यम से एक समय के लिये भी जीवन में धर्म के प्रति संकल्पित होता है, उत्तम क्षमा धारण करने का भाव जागृत करता है, मैं समझता हूँ उसका यह भाव ही उसके लिए भूमिका का काम करेगा।

एक बार गुरु और शिष्य यात्रा के लिये निकले। छोटी सी कथा पढ़ी थी। आप लोगों को याद हो तो ठीक है अन्यथा पुनः याद ताजा कर लें। कैसा है संगी साथी का प्रभाव? गुरु और शिष्य दोनों चले जा रहे थे। चलते-चलते शाम हो गई। सामायिक ध्यान का काल हो गया। एक पेड़ के नीचे बैठ गये। आगे भयानक जंगल था। वह ध्यान में बैठे ही थे कि शिष्य की दृष्टि जंगल की ओर से आते हुए सिंह पर पड़ी। शिष्य घबरा गया कि अब बचना सम्भव नहीं है। गुरु जी को पुकारा पर गुरु जी तो भगवान् के ध्यान में तल्लीन थे। शिष्य चुपचाप उठा और धीरे से पेड़ पर चढ़कर ऊँचाई पर बैठ गया। वहीं से बैठे-बैठे उसने देखा कि सिंह गुरु जी के पास आया और सूंघ कर परिक्रमा लगाकर सब ओर से देखकर लौट गया। शिष्य तो थर-थर कांपने लगा कि पता नहीं क्या होने वाला है। जब सिंह चला गया तब दीर्घ श्वाँस लेकर वह नीचे उतरा और गुरु जी के चरणों में प्रणाम करके बैठ गया।

थोड़ी देर बाद जब गुरु जी ध्यान से बाहर आये और कहा कि चलो तब शिष्य को बड़ा आश्चर्य हुआ। शिष्य ने कहा कि गुरुजी आज तो बड़ा भाग्योदय था। बच गये। एक सिंह आया था और बिल्कुल आपके पास तक आया था। आपको सूंघा भी था। क्या आपको मालूम नहीं है? गुरुजी ने कहा कि नहीं मुझे नहीं मालूम। अब तो शिष्य और भी अचम्भे में पड़ा और श्रद्धा से पैरों पर गिर पड़ा कि अद्‌भुत है आपका धैर्य और आपकी दृढ़ता। गुरुजी ने अपनी प्रशंसा सुनकर अनसुनी कर दी और कहा कि चलो अभी और यात्रा करना है। दोनों फिर आगे यात्रा पर बढ़ गये। थोड़ी दूर चलने के उपरान्त एक घाटी में से गुजरते समय कुछ मधुमक्खियाँ आने लगीं और गुरुजी को एक-दो स्थान पर काट लिया। गुरुजी पीड़ा से कराहने लगे और वहीं बैठ गये। कहने लगे कि अब चलना सम्भव नहीं है।

शिष्य बड़ी दुविधा में पड़ गया कि आखिर बात क्या है? उसने पूछ ही लिया कि गुरुजी अभी अभी तो सिंह के आ जाने पर आप बिल्कुल विचलित नहीं हुए थे और अब इतनी छोटी-सी मधुमक्खियों से विचलित हो गये। कुछ समझ में नहीं आया? गुरुजी मुस्कराये और बोले उस समय

जब सिंह आया था तब मेरे साथ भगवान थे, मैं उन्हीं में लीन था। विचलित या भयभीत होने की बात ही नहीं थी लेकिन अब तो तू मेरे साथ है। भयभीत होना स्वाभाविक है। यह है संगति का असर।

आज चतुर्थ काल तो है नहीं। उत्तम संहनन का भी अभाव है। क्षायिक सम्यग्दर्शन भी होना सम्भव नहीं है। ऐसे विषम समय में विषयों की संगति में पड़ कर अपने स्वभाव को भूल करके कर्त्तव्य से च्युत होने की सम्भावना अधिक है। इसलिए समय-समय पर वर्ष भर में बीच-बीच में ऐसे पर्व रखे गये हैं, जिनसे श्रावकों के लिये तीन सौ पैंसठ दिन में कुछ दिन विषय-कषायों के सम्पर्क से बचने का और धर्म के निकट आने का अवसर मिलता है। दश-लक्षण पर्व इसीलिए महत्त्वपूर्ण पर्व हैं कि इनमें लगातार दस दिन तक विभिन्न प्रकार से धर्म का आचरण करके अपनी आत्मा के विकास का अवसर मिलता है, जो कि श्रावकों के लिये अनिवार्य है। मुनि महाराजों का तो जीवन ही दशलक्षण धर्ममय होता है। धर्म के प्रति संकल्पित होता है।

रावण ने एक बार मुनि महाराज के मुख से धर्म श्रवण किया। उसके साथी भी साथ में थे। जब अंत में सभी ने एक-एक करके मुनि महाराज से कुछ न कुछ व्रत लिये तब चारण-ऋद्धिधारी उन मुनिराज ने रावण को कहा कि हे अर्द्धचक्री रावण! तुम तो बलशाली हो। कौन सा व्रत लेते हो? ले लो। तब रावण ने कहा कि महाराज! आज मुझे अपने से बढ़कर कोई कमजोर नहीं लग रहा है। मैं आपसे अपनी कमजोरी कैसे कहूँ? एक छोटा-सा व्रत भी मेरे लिये पालन करना कठिन लगता है। इतना ही कर सकता हूँ कि जो स्त्री मुझे नहीं चाहेगी उसके साथ सम्बन्ध के लिये मैं जबरदस्ती उसे बाध्य नहीं करूँगा, यही मेरा व्रत रहा।

रावण ने सोचा था कि ऐसी कोई स्त्री नहीं होगी जो उसे नहीं चाहेगी। पर आपको ज्ञात ही है कि इस एक व्रत ने भी उसे बहुत अच्छी शिक्षा दी। सीता का हरण तो कर लिया लेकिन सीता को बाध्य नहीं कर सका। उसने जीवन को थोड़ा बहुत संस्कारित तो अवश्य किया। वैसे ही हमें भी व्रतों को अंगीकार करके स्वयं को संस्कारित करना चाहिए और व्रतियों को देखकर व्रतों के प्रति आकृष्ट होना चाहिए। सभी को व्रत, नियम, संयम के प्रति प्रोत्साहित भी करना चाहिए।

बन्धुओ! यदि एक बार शान्ति के साथ आप विषयों को गौण करके थोड़ा विचार करें, तो अपने आप ज्ञान होने लग जायेगा कि हमारा धर्म क्या है? हमारा स्वभाव क्या है? हमें विषय-कषायों की संगति नहीं करनी चाहिए। वीतरागी की संगति करनी चाहिए ताकि धर्म का वास्तविक स्वरूप समझ में आ सके। आज विलासिता दिनोंदिन बढ़ती जा रही है। आज तीर्थ-क्षेत्रों पर भी सुख-सुविधा के प्रबन्ध किये जा रहे हैं। पर ध्यान रखना, सुख-सुविधा से राग ही पुष्ट होता है, वीतरागता नहीं आती। वीतरागता प्राप्त करने के लिए, धर्म धारण करने के लिये थोड़ा कष्ट तो

सहन करने की क्षमता लाना ही चाहिए। स्वयं को संयत बनाने का भाव तो आना ही चाहिए। हिंसा से दूर रहकर अहिंसा का पालन करते हुए जो व्यक्ति इन दश धर्मों का श्रवण-चिन्तन-मनन करता है, उन्हें प्राप्त करने का भाव रखता है, वह अवश्य ही अपने जीवन में आत्म-स्वभाव का अनुभव करने की योग्यता पा लेता है और जीवन को धर्ममय बना लेता है।

❑ ❑ ❑

उत्तम क्षमा

कोहुप्पत्तिस्स पुणो बहिरंगं जदि हवेदि सक्खादं।
ण कुणदि किंचिवि कोहो तस्स खमा होदि धम्मोत्ति॥

क्रोध के उत्पन्न होने के साक्षात् बाहरी कारण मिलने पर भी थोड़ा भी क्रोध नहीं करता, उसे क्षमा धर्म होता है। (बारसाणुवेक्खा ७१)

अभी कार्तिकेयानुप्रेक्षा का स्वाध्याय चल रहा है, उसमें एक गाथा आती है-

धम्मो वत्थुसहावो, खमादिभावो स दसविहो धम्मो।
रयणत्तयं च धम्मो, जीवाणं रक्खणं धम्मो॥

अर्थात् वस्तु के स्वभाव को धर्म कहते हैं। दस प्रकार के क्षमादि भावों को धर्म कहते हैं। रत्नत्रय को धर्म कहते हैं और जीवों की रक्षा करने को धर्म कहते हैं।

यहाँ आचार्य महाराज ने धर्म के विविध स्वरूपों को बताया है। वस्तु के स्वभाव को धर्म कहा है और यह भलीभाँति ज्ञात है कि वस्तु की अपेक्षा देखा जाए तो जीव भी वस्तु है। पुद्‌गल भी वस्तु है। धर्म, अधर्म, आकाश और काल भी वस्तु है। सभी का अपना-अपना स्वभाव ही उनका धर्म है। अधर्म द्रव्य का भी कोई न कोई धर्म है। (हँसी) तो आज हम कौन से धर्म का पालन करें, कि जिसके द्वारा कम से कम दस दिन के लिए हमारा कल्याण हो। तब आचार्य कहते हैं कि स्वभाव तो हमेशा धर्म रहेगा ही, लेकिन इस स्वभाव की प्राप्ति के लिए जो किया जाने वाला धर्म है वह है- ''खमादिभावो या दसविहो धम्मो''- क्षमादि भाव रूप दस प्रकार का धर्म वह आज से प्रारम्भ होने जा रहा है। ध्यान रखना आप लोगों की अपेक्षा, विशेष अनुष्ठान की दृष्टि से आज से प्रारम्भ हुआ माना जा रहा है, साधुओं के तो वह हमेशा ही है।

यह दस प्रकार का धर्म रत्नत्रय के धारी मुनिराज ही पालन करते हैं। इसलिए गाथा में आगे कहा गया कि 'रयणत्तयं च धम्मो'- रत्नत्रय भी धर्म है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र रूप आत्मा की जो परिणति है उसका नाम भी धर्म है। लेकिन इतना कहकर ही बात पूरी नहीं की। इस रत्नत्रय की सुरक्षा किस तरह, किस माध्यम से होगी, यह भी बताना आवश्यक है। इसलिए कहा कि

'जीवाणं रक्खणं धम्मो'- जीवों की रक्षा करना धर्म है। जीव का परम धर्म यही अहिंसा है। जो उसे अपने आत्मस्वभाव-रूप धर्म तक पहुँचायेगा। इस अहिंसा धर्म के बिना कोई भी जीवात्मा अपने आत्म-स्वरूप को उपलब्ध नहीं कर सकता।

इस अहिंसा धर्म की व्याख्या आचार्यों ने विभिन्न प्रकार से की है। जो अहिंसा से विमुख हो जाता है उसके भीतर क्षोभ उत्पन्न होता है। जैसे कोई सरोवर शान्त हो और उसमें एक छोटा सा भी कंकर फेंक दिया जाये तो कंकर गिरते ही पानी में लहरें उत्पन्न होने लगती हैं। क्षोभ पैदा हो जाता है, सारा सरोवर क्षुब्ध हो जाता है और अगर कंकर फेंकने का सिलसिला अक्षुण्ण बना रहे तो एक बार भी वह सरोवर शान्त, स्वच्छ और उज्ज्वल रूप में देखने को नहीं मिल पाता। अनेक प्रकार की मलिनताओं में उसका शान्त स्वरूप खो जाता है। क्षोभ भी एक प्रकार की मलिनता ही है। मोह-राग-द्वेष रूप भाव भी एक मलिनता है। जैसे सरोवर का धर्म शान्त और निर्मल रहना है, लहरदार होना नहीं है, ऐसा ही आत्मा का स्वभाव समता परिणाम है जो लहर रूपी क्षोभ और मोह रूपी मलिनता से रहित है, जो निष्कम्प और निर्मल है।

सरोवर में कंकर फेंकने के उपरान्त उसमें हम जब जाकर देखेंगे तो अपना मुख देखने में नहीं आयेगा और न ही सरोवर के भीतर पड़ी निधि/वस्तु का अवलोकन कर सकेंगे। मान लीजिये सरोवर शान्त है तथा कंकर भी नहीं फेंका गया किन्तु कीचड़ उसमें बहुत है तो भी उस सरोवर के जल में मुख दिखने में नहीं आयेगा। आज मुझे यही कहना है आप लोगों से कि ऐसे ही हमारी आत्मा का सरोवर जब तक शान्त और मलिनता से रहित नहीं होगा तब तक हमें अपना उज्ज्वल स्वरूप दिखाई नहीं देगा। क्रोध के अभाव में ही क्षमा धर्म जीवन में प्रकट होगा। एक बार यदि यह क्षमा धर्म अपनी चरम सीमा तक पहुँच जाये और आत्मा से क्रोधादि कषायों का सर्वथा अभाव हो जाए तो लोक में होने वाला कोई भी विप्लव उसे प्रभावित नहीं कर सकता, उसे स्वभाव से च्युत नहीं कर सकता, नीचे नहीं गिरा सकता।

'काले कल्पशतैपि च गते शिवानां न विक्रिया लक्ष्या' अर्थात् सैकड़ों कल्पकाल भी बीत जायें तो भी सिद्धत्व की प्राप्ति के उपरान्त किसी भी तरह की विकृति आना सम्भव नहीं है। सरोवर का जल स्वच्छ होकर बर्फ बनकर जम जाये, उसमें सघनता आ जाये तो कंकर के फेंकने से कोई क्षोभ उत्पन्न नहीं कर सकता, ऐसा ही आत्मा के स्वभाव के बारे में समझना चाहिए। हमें आत्मा की शक्ति को पहचानकर उसे ऐसा ही सघन बनाना चाहिए कि क्षोभ उत्पन्न न हो सके। आत्मा को ज्ञान-घन रूप कहा गया है। हमारा ज्ञान, घन-रूप हो जाना चाहिए। अभी वह पिघला हुआ होने से छोटी-छोटी-सी बातों को लेकर भी क्षुब्ध हो जाता है। हमारे अंदर छोटी सी बात भी क्रोध-कषाय उत्पन्न कर देती है और हम क्षमा धर्म से विमुख हो जाते हैं।

अनन्त काल हो गया तब से हम इस क्रोध का साथ देते जा रहे हैं। क्षमा धर्म का साथ हमने कभी ग्रहण नहीं किया। एक बार ऐसा करो जैसा कि पाण्डवों ने किया था। पाण्डव जब तक महलों में पाण्डव के रूप में रहे तब तक कौरवों को देखकर मन में विचार आ जाता था कि ये भाई होकर भी हमारे साथ वैरी जैसा व्यवहार करते हैं अतः इनसे हमें युद्ध करना ही होगा। इन्हें धर्म-युद्ध के माध्यम से मार्ग पर लाना होगा। इस तरह कई प्रकार की बातें चलती थीं, संघर्ष चलता था। किन्तु जब वे ही पाण्डव गृहत्याग कर निरीह होकर ध्यान में बैठ गये तो यह विचार आया कि **'जीवाणं रक्खणं धम्मो'** जीवों की रक्षा करना, उनके प्रति क्षमा भाव धारण करना ही हमारा धर्म है। कौरव भी जीव हैं, अब उनके प्रति क्षमा भाव धारण करना ही हमारा कर्त्तव्य है। इसी क्षमा धर्म का पालन करते हुए जब उन पर उपसर्ग आया तो लोहे के गरम-गरम आभूषण पहनाने पर भी वे शान्त रहे, क्षुब्ध नहीं हुए, न ही मन में शरीर के प्रति राग-भाव आने दिया और न ही उपसर्ग करने वालों के प्रति द्वेष भाव को आने दिया। तप से तो तप ही रहे थे, ऊपर से तपे हुए आभूषण पहनाये जाने पर और अधिक तपने लगे। क्षमा-धर्म के साथ किये गये इस तप के द्वारा कर्मों की असंख्यात गुणी निर्जरा होने लगी। जैसे प्रोषधोपवास या पर्व के दिनों में आप लोग उपवास करते हैं या एकाशन करते हैं और भीषण गर्मी ज्येष्ठ मास की कड़ी धूप पड़ जाये तो कैसा लगता है? दोहरी तपन हो गयी। पर व्रत का संकल्प पहले से होने के कारण परीषह सहते हैं। ऐसे ही पाण्डव भी लोहे के आभूषण पहनाये जाने पर भी शान्त भाव से परीषह-जय में लगे रहे। कौरवों पर क्रोध नहीं आया क्योंकि जीवन में क्षमा-धर्म आ गया था। 'जीवाणं रक्खणं धम्मो' यह मन्त्र भीतर ही भीतर चल रहा था।

वे सोच रहे थे कि अब तो कोई भी जीव आकर हमारे लिए कुछ भी करे- उपसर्ग करे, शरीर को जला भी दे तो भी हम अपने मन में उसके प्रति हिंसा का भाव नहीं लायेंगे, क्रोध नहीं करेंगे और विरोध भी नहीं करेंगे। अब चाहे कोई प्रशंसा करने आये तो उसमें राजी भी नहीं होंगे और न ही किसी से नाराज होंगे क्योंकि अब हम महाराज हो गये हैं। महाराज हैं तो नाराज नहीं और नाराज हैं तो महाराज नहीं। लेकिन बात ऐसी है ध्यान रखना कि कभी-कभी लोगों के मन में बात आ जाती है कि महाराज जी तो नाराज हैं और आहार देते समय कह भी देते हैं कि महाराज तो हमसे आहार ही नहीं लेते, नाराज हैं। हमारी तरफ देखते तक नहीं हैं। अब उस समय हम कुछ जवाब तो दे नहीं सकते और ऐसा कहने वाले बाद में सामने आते भी नहीं हैं। कभी आ जायें तो हम फौरन कह देते हैं कि भइया, हम नाराज नहीं हुए और अगर आपकी दृष्टि में राजी नहीं होने का नाम ही नाराज होना कहलाता है तो आप अपनी जानो। आप तो इसी में राजी होंगे कि महाराज आप हमारे यहाँ रोज आओ।

संसारी प्राणी राग को बहुत अच्छा मानता है और द्वेष को अच्छा नहीं मानता। लेकिन देखा

जाये तो द्वेष पहले छूट जाता है फिर बाद में राग का अभाव होता है। दसवें गुणस्थान तक सूक्ष्म लोभ चलता है। मुनि महाराज तो प्रशंसा में राजी नहीं होते और न ही निन्दा से नाराज होते हैं, अपितु वे तो दोनों दशा में साम्य रखते हैं। राग और द्वेष दोनों में साम्य भाव रखना ही अहिंसा धर्म हैं, क्षमा धर्म है।

रागादीणमणुप्पा अहसगत्तं ति देसिदं समये।
तेस चे उप्पत्ती हसेति जिणेहि णिद्दिट्ठा॥

यह आचार्यों की वाणी है। रागद्वेष की उत्पत्ति होना हिंसा है और रागद्वेष का अभाव ही अहिंसा है। जीवत्व के ऊपर सच्चा श्रद्धान तो तभी कहलायेगा जब अपने स्वभाव के विपरीत हम परिणमन न करें अर्थात् रागद्वेष से मुक्त हों। क्रोधादि कषायों के आ जाने पर जीव का शुद्ध स्वभाव अनुभव में नहीं आता। संसारी दशा में स्वभाव का विलोम परिणमन हो जाता है। यही तो वैभाविक परिणति है, जो संसार में भटकाती है।

पाँचों पाण्डव ध्यान में लीन थे। सिद्ध परमेष्ठी के ध्यान में लीन थे। शरीर में रहकर शरीरातीत आत्मा का अनुभव कर रहे थे। वास्तव में यही तो उनकी अग्नि परीक्षा की घड़ी थी।

जह कणयमग्गितवियं पि कणयसहावं ण तं परिच्चयदि।
तह कम्मोदयतविदो ण जहदि णणी दु णाणित्तं॥

समयसार - १९१

जिस प्रकार स्वर्ण को तपा दिये जाने पर भी स्वर्ण अपनी स्वर्णता को नहीं छोड़ता बल्कि जितना आप तपाओगे उतनी ही कीमत बढ़ती जायेगी, उतने ही उसके गुणधर्म उभरकर सामने आयेंगे। स्वर्ण को जितना आप कसौटी पर कसोगे उतना ही उसमें निखार आयेगा, उसकी सही परख होगी। आचार्यों ने उदाहरण दिया है कि जिस प्रकार अग्नि में तपाये जाने पर स्वर्ण, स्वर्णपने को नहीं छोड़ता उसी प्रकार ज्ञानी भी उपसर्ग और परीषह के द्वारा खूब तपा दिये जाने पर भी अपने ज्ञानीपने को नहीं छोड़ता, 'पाण्डवादिवत्' यानि पाण्डवों के समान।

पाण्डवों का उदाहरण दिया, सौ कौरवों के साथ युद्ध करते समय के पाण्डवों का या राज्य सुख भोगते हुए पाण्डवों का उदाहरण नहीं दिया। बल्कि उन पाण्डवों का उदाहरण दिया जो राजपाट छोड़कर वीतरागी होकर ध्यान में लीन हैं और उपसर्ग आने पर भी '**जीवाणं रक्खणं धम्मो, रयणत्तयं च धम्मो**'- जीवों की रक्षा को धर्म मानकर, रत्नत्रय को धर्म मानकर उसी की सुरक्षा में लगे हुए हैं। वे क्षमाभाव धारण करते हुए विचार कर रहे हैं कि जानना-देखना ही हमारा स्वभाव है। जो कोई इस आत्मा के स्वभाव को नहीं जानता और अज्ञानी होता हुआ यदि बाधा उत्पन्न करता है, तो वह भी दया और क्षमा का पात्र है।

कोई यदि स्वर्ण की वास्तविकता के बारे में संदेह कर रहा हो तो यही उपाय है कि उसको तपाकर दिखा दिया जाए या कसौटी के पाषाण पर कस दिया जाए ताकि विश्वास प्रादुर्भूत हो जाए। पाण्डव ऐसी ही अग्नि परीक्षा दे रहे थे। आप भी यदि दूसरे के अंदर स्वभाव के प्रति श्रद्धान पैदा कराना चाहते हैं या स्वयं के ज्ञानीपने की परीक्षा करना चाहते हैं तो आपको भी ऐसी अग्निपरीक्षा से गुजरना पड़ेगा। अपने जीवत्व की रक्षा के लिए सभी जीवों की रक्षा का संकल्प पहले करना होगा। तुलसी दया न छोड़िये, जबलों घट में प्राण-जब तक घट में अर्थात् शरीर में प्राण हैं तब तक हम जीव दया अर्थात् जीवों की रक्षा करने रूप धर्म को नहीं छोड़ेंगे, ऐसा संकल्प होना चाहिए। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने बोधपाहुड में कहा है कि '**धम्मो दया विसुद्धो।**' धर्म, दया करके विशुद्ध होता है। इस दया-धर्म के अभाव में मात्र धर्म की चर्चा करने से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता।

आत्मा के स्वभाव की उपलब्धि रत्नत्रय में निष्ठा के बिना नहीं होती और रत्नत्रय में निष्ठा दया धर्म के माध्यम से, क्षमादि धर्मों के माध्यम से ही जानी जाती है। जहाँ रत्नत्रय के प्रति निष्ठा होगी वहाँ नियम से क्षमादि धर्म उत्पन्न होंगे। तभी आत्मा के शुद्ध स्वभाव की प्राप्ति होगी। दस प्राणों से अतीत (मुक्त) आत्मा ही अपनी वास्तविक ज्ञान-चेतना का अनुभव करती है। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं कि-

सव्वे खलु कम्मफलं थावरकाया तसा हि कज्जजुदं।
पाणित्तमदिक्कंता णाणं विंदंति ते जीवा॥

सभी स्थावर जीव शुभाशुभ कर्मफल के अनुभवन रूप कर्मफल चेतना का अनुभव करते हैं किन्तु त्रस-जीव उसी कर्मफल के अनुभव में विशेष रागद्वेष रूप कर्मचेतना का भी अनुभव करते हैं। यह कर्मचेतना तेरहवें गुणस्थान तक चलती है क्योंकि रागद्वेष का अभाव होने के बावजूद भी वहाँ अभी योग की प्रणाली चल रही है, कर्मों का सम्पादन हो रहा है। भले ही एक समय के लिए हो लेकिन कर्मबंध चल ही रहा है। चौदहवें गुणस्थान में यद्यपि अभी स्वभाव की पूर्णतः अभिव्यक्ति अर्थात् गुणस्थानातीत दशा की प्राप्ति नहीं हुई है तथापि तेरहवें गुणस्थान की अपेक्षा वह श्रेष्ठ है। वहाँ योग के अभाव में कर्म का सम्पादन नहीं हो रहा अपितु मात्र कर्मफल की अनुभूति अभी शेष है। इसके उपरान्त दस प्रकार के द्रव्य प्राणों से रहित सिद्ध भगवान् ही शुद्ध ज्ञान चेतना का अनुभव करते हैं।

ऐसे सिद्ध भगवान् के स्वरूप के समान हमारा भी स्वरूप है। '**शुद्धोऽहं, बुद्धोऽहं, निरञ्जनोऽहं, निर्विकार स्वरूपोऽहं**' आदि-आदि भावों के साथ पर्यायबुद्धि को छोड़कर पाण्डव ध्यान में लीन हैं। लेकिन प्रत्येक की क्षमता एक सी नहीं होती। क्षमा-भाव सभी धारण किये हैं,

पर देखो कैसा सूक्ष्म धर्म है कि अपने बारे में नहीं, अपने से बड़े भाईयों के बारे में जरा सा विचार आया कि मुक्ति में बाधा आ गयी। वे नकुल और सहदेव सोचने लगे कि 'हम तो अभी युवा हैं, यह परीषह सह लेंगे। लेकिन बड़े भाई तो वृद्ध होने को हैं, वे कैसे सहन कर पायेंगे। अरे! कौरवों ने अभी भी वैर नहीं छोड़ा' -ऐसा मन में विकल्प आ गया। कोई विरोध नहीं किया, मात्र विचार आया। क्षमा धर्म में थोड़ी कमी आ गयी और उस विकल्प का परिणाम ये हुआ कि उन्हें सर्वार्थसिद्धि की आयु बँध गयी, मुक्ति पद नहीं मिल पाया।

मान लीजिये, कोई अरबपति बनना चाहता है तो कब कहलायेगा वह अरबपति? तभी कहलायेगा जब उसके पास पूरे अरब रुपये हों। लेकिन ध्यान रखना यदि एक रुपया भी कम है तो भी अरबपति होने में कमी मानी जायेगी। एक पैसे की कमी भी कमी ही कहलायेगी। यही स्थिति उन अंतिम पाण्डवों की हुई। **'जीवाणं रक्खणं धम्मो'** जीवों की रक्षा तो की लेकिन अपने आत्म परिणामों की संभाल पूरी तरह नहीं कर पाये। शेष तीन पाण्डव निर्विकल्प समाधि में लीन होकर अभेद रत्नत्रय को प्राप्त करके साक्षात् मुक्ति को प्राप्त करने में सफल हुए।

भइया! क्रोध पर विजय पाने के लिए ऐसा ही प्रयास हमें भी करना चाहिए। आज तो सर्वार्थसिद्धि भी नहीं जा सकते, तो कम से कम सोलह स्वर्ग तक तो जा ही सकते हैं। सोलहवें स्वर्ग तक जाने के लिए सम्यग्दर्शन सहित श्रावक के योग्य अणुव्रत तो धारण करना ही चाहिए। आप श्रावक हैं तो इतनी क्षमा का अनुपालन तो कर ही सकते हैं कि कोई भी प्रतिकूल प्रसंग आ जाये तो भी हम क्रोधित नहीं होंगे। क्षमाभाव धारण करेंगे। रत्नत्रय हमारी सहज शोभा है और क्षमादि धर्म हमारे अलंकार हैं, इसी के माध्यम से हमारा जीवत्व निखरेगा। अनन्तकाल से जो जीवन संसार में बिखरा पड़ा है, उस बिखराव के साथ जीना, वास्तविक जीना नहीं है। अपने भावों की सम्भाल करते हुए जीना ही जीवन की सार्थकता है।

किसी कवि ने लिखा है कि **''असतो मा सद्गमय। तमसो मा ज्योतिर्गमय। और मृत्यो मां अमृतोगमय।''** जो असत् है या जो सत्य नहीं है, जो झूठ है, जो अपना नहीं है, जो सपना है, उससे मेरी बुद्धि हट जाये। मैं मोह की वजह से उस असत् को सत् मान रहा हूँ और अपने वास्तविक सत् स्वरूप को विस्मृत कर रहा हूँ। हे भगवन्! मुझे अज्ञान के अंधकार से बचा लें और जल्दी-जल्दी केवल ज्ञान रूप ज्योतिपुञ्ज तक पहुँचा दें। मेरा अज्ञानरूपी अंधकार मिट जाये और मैं केवलज्ञान में लीन हो जाऊँ।

हे भगवन्! यह जन्म, यह जरा, यह मृत्यु और मेरे कषाय भाव- यही हमारे वास्तविक जीवन की मृत्यु के कारण हैं। अमृत वहीं है जहाँ मृत्यु नहीं है। अमृत वहीं है जहाँ क्षुधा-तृषा की वेदना नहीं है। अमृत वहीं है जहाँ क्रोध रूपी विष नहीं है। इस तरह हम निरन्तर अपने भावों की सम्भाल

करें। रत्नत्रय धर्म, क्षमा धर्म या कहो अहिंसा धर्म यही हमें अमृतमय हैं। क्षमा हमारा स्वाभाविक धर्म है। क्रोध तो विभाव है। उस विभाव-भाव से बचने के लिए स्वभाव भाव की ओर रुचि जागृत करें। जो व्यक्ति प्रतिदिन धीरे-धीरे अपने भीतर क्षमा-भाव धारण करने का प्रयास करता है उसी का जीवन अमृतमय है। हम भगवान् से यही प्रार्थना करते हैं कि हे भगवन्! क्षमा धर्म के माध्यम से हम सभी का पूरा का पूरा कल्याण हो। जीवन की सार्थकता इसी में है।

❑ ❑ ❑

उत्तम मार्दव

कुलरूवजादिबुद्धिसु तवसुदसीलेसु गारवं किंचि।
जो ण वि कुव्वदि समणो मद्दवधम्मं हवे तस्स ॥

जो मनस्वी पुरुष कुल, रूप, जाति, बुद्धि, तप, शास्त्र और शीलादि के विषय में थोड़ा सा भी घमण्ड नहीं करता, उसके मार्दव धर्म होता है।

आज पर्व का दूसरा दिन है। कल उत्तम क्षमा के बारे में आपने सुना, सोचा, समझा और क्षमा भाव धारण भी किया है। वैसे देखा जाए तो ये सब दस धर्म एक में ही गर्भित हो जाते हैं। एक के आने से सभी आ जाते हैं। आचार्यों ने सभी को अलग-अलग व्याख्यायित करके हमें किसी न किसी रूप में धर्म धारण करने की प्रेरणा दी है। जैसे-रोगी के रोग को दूर करने के लिए विभिन्न प्रकार से चिकित्सा की जाती है। दवा अलग-अलग अनुपात के साथ सेवन करायी जाती है। कभी दवा पिलाते हैं, कभी खिलाते हैं और कभी इंजेक्शन के माध्यम से देते हैं। बाह्य उपचार भी करते हैं। वर्तमान में तो सुना है कि रंगों के माध्यम से भी चिकित्सा पद्धति का विकास किया जा रहा है। कुछ दवाएँ सुंघाकर भी इलाज करते हैं। इतना ही नहीं, जब लाभ होता नहीं दिखता तो रोगी के मन को सान्त्वना देने के लिए समझाते हैं कि तुम जल्दी ठीक हो जाओगे। तुम रोगी नहीं हो। तुम तो हमेशा से स्वस्थ हो अजर-अमर हो। रोग आ ही गया है तो चला जायेगा, घबराने की कोई बात नहीं है। ऐसे ही आचार्यों ने अनुग्रह करके विभिन्न धर्मों के माध्यम से आत्म-कल्याण की बात समझायी है।

प्रत्येक धर्म के साथ उत्तम विशेषण भी लगाया है। सामान्य क्षमा या मार्दव धर्म की बात नहीं है, जो लौकिक रूप से सभी धारण कर सकते हैं। बल्कि विशिष्ट क्षमा भाव जो संवर और निर्जरा के लिए कारण है, उसकी बात कही गयी है। जिसमें दिखावा नहीं है, जिसमें किसी सांसारिक ख्याति, पूजा, लाभ की आकांक्षा नहीं है। यही उत्तम विशेषण का महत्त्व है।

दूसरी बात यह है कि क्षमा, मार्दव आदि तो हमारा निजी स्वभाव है, इसलिए भी उत्तम धर्म है। इनके प्रकट हुए बिना हमें मुक्ति नहीं मिल सकती। आज विचार इस बात पर भी करना है कि

जब मार्दव हमारा स्वभाव है तो वह हमारे जीवन में प्रकट क्यों नहीं है? तो विचार करने पर ज्ञात होगा कि जब तक मार्दव धर्म के विपरीत मान विद्यमान है तब तक वह मार्दव धर्म को प्रकट नहीं होने देगा। केवल मृदुता लाओ, ऐसा कहने से काम नहीं चलेगा किन्तु इसके विपरीत जो मान कषाय है उसे भी हटाना पड़ेगा। जैसे हाथी के ऊपर बंदी का बैठना शोभा नहीं देता, ऐसे ही हमारी आत्मा पर मान का होना शोभा नहीं देता। यह मान कहाँ से आया? यह भी जानना आवश्यक है। जब ऐसा विचार करेंगे तो मालूम पड़ेगा कि अनन्त काल से यह जीव के साथ है और एक तरह से जीव का धर्म जैसा बन बैठा है। इससे छुटकारा पाने के दो ही उपाय है या कहो अपने वास्तविक स्वरूप को पाने के दो ही उपाय हैं। एक विधि रूप है तो दूसरा निषेध रूप है। जैसे रोग होने पर कहा जाए कि आरोग्य लाओ, तो आरोग्य तो रोग के अभाव में ही आयेगा। रोग के अभाव का नाम ही आरोग्य है। इसी प्रकार मृदुता को पाना हो तो यह जो कठोरता आकर छिपकर बैठी है उसे हटाना होगा। जानना होगा कि इसके आने का मार्ग कौन सा है, उसे बुलाने वाला और इसकी व्यवस्था करने वाला कौन है? तो आचार्य कहते हैं कि हम ही सब कुछ कर रहे हैं। जैसे अग्नि राख से दबी हो तो अपना प्रभाव नहीं दिखा पाती, ऐसे ही मार्दव धर्म का मालिक यह आत्मा कर्मों से दबी हुई है और अपने स्वभाव को भूलकर कठोरता को अपनाती जा रही है।

विचार करें, कि कठोरता को लाने वाला प्रमुख कौन है? अभी आप सबकी अपेक्षा ले लें। तो संज्ञी पंचेन्द्रिय के पाँचों इन्द्रियों में से कौन सी इन्द्रिय कठोरता लाने का काम करती है? क्या स्पर्शन इन्द्रिय से कठोरता आती है, या रसना इन्द्रिय से आती है, या घ्राण या चक्षु या श्रोत्र, किस इन्द्रिय से कठोरता आती है? तो कोई भी कह देगा कि इन्द्रियों से कठोरता नहीं आती। यह कठोरता मन की उपज है। एक इन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक कोई भी जीव ऐसे अभिमानी नहीं मिलेंगे जैसे कि मन वाले और विशेषकर मनुष्य होते हैं। थोड़ा सा भी वित्त-वैभव बढ़ जाए तो चाल में अन्तर आने लगती है। मनमाना तो यह मन ही है। मन के भीतर से ही माँग पैदा होती है। वैसे मन बहुत कमजोर है, वह इस अपेक्षा से कि उसका कोई अंग नहीं है लेकिन यह अंग-अंग को हिला देता है। विचलित कर देता है। जीवन का ढाँचा परिवर्तित कर देता है और सभी पाँचों इन्द्रियाँ भी मन की पूर्ति में लगी रहती हैं।

मन सबका नियन्ता बनकर बैठ जाता है। आत्मा भी इसकी चपेट में आ जाती है और अपने स्वभाव को भूल जाती है। तब मृदुता के स्थान पर मान और मद आ जाता है। इन्द्रियों को खुराक मिले या न मिले चल जाता है लेकिन मन को खुराक मिलनी चाहिए। ऐसा यह मन है। और इसे खुराक मिल जाये, इसके अनुकूल काम हो जाए तो यह फूला नहीं समाता और नित नयी माँगें पूरी करवाने में चेतना को लगाये रखता है। जैसे आज कल कोई विद्यार्थी College (महाविद्यालय)

जाता है। प्रथम वर्ष का ही अभी विद्यार्थी है अभी-अभी College (महाविद्यालय) का मुख देखा है। वह कहता है-पिताजी! हम कल से College (महाविद्यालय) नहीं जायेंगे। तो पिताजी क्या कहें? सोचने लगते हैं कि अभी एक दिन तो हुआ है और नहीं जाने की बात कहाँ से आ गयी? क्या हो गया? तो विद्यार्थी कहता है कि पिताजी आप नहीं समझेंगे नयी पढ़ाई है। College (महाविद्यालय) जाने के योग्य सब सामग्री चाहिए। कपड़े अच्छे चाहिए। Pocket (जेब) में पैसे भी चाहिए और University (विश्वविद्यालय) बहुत दूर है, रास्ता बड़ा चढ़ाव वाला है इसलिए स्कूटर भी चाहिए। उस पर बैठकर जायेंगे इसके बिना पढ़ाई सम्भव नहीं है।

यह कौन करवा रहा है? यह सब मन की ही करामात है। यदि इसके अनुरूप मिल जाए तो ठीक अन्यथा गड़बड़ हो जायेगी। जैसे सारा जीवन ही व्यर्थ हो गया, ऐसा लगने लगता है। कपड़े चाहिए ऐसे कि बिल्कुल टिनोपाल में तले हुए हों, हाँ जैसे पूरियाँ तलती है। यह सब मन के भीतर से आया हुआ मान-कषाय का भाव है। सब लोग क्या कहेंगे कि College (महाविद्यालय) का छात्र होकर ठीक कपड़े पहनकर नहीं आता। एक छात्र ने हमसे पूछा था कि सचमुच ऐसी स्थिति आ जाती है तब हमें क्या करना चाहिए? तो हमने कहा कि ऐसा करो टोपी पहन लेना और धोती कुर्ता पहनकर जाना, वह हँसने लगा। बोला यह तो बड़ा कठिन है। टोपी पहनना तो फिर भी सम्भव है लेकिन धोती वगैरह पहनूँगा तो सब गड़बड़ हो जायेगी। सब से अलग हो जाऊँगा। लोग क्या कहेंगे? हमने कहा कि ऐसा मन में विचार ही क्यों लाते हो कि लोग क्या कहेंगे? अपने को प्रतिभा सम्पन्न होकर पढ़ना है। विद्यार्थी को तो विद्या से ही प्रयोजन होना चाहिए।

आज यही हो रहा है कि व्यक्ति बाहरी चमक-दमक में ऐसा झूम जाता है कि सारी की सारी शक्ति उसी में व्यर्थ ही व्यय होती चली जाती है और वह लक्ष्य से चूक जाता है। यह सब मन का खेल है। मान कषाय है। मान-सम्मान की आकांक्षा काठिन्य लाती है और सबसे पहले मन में कठोरता आती है, फिर बाद में वचनों में और तदुपरान्त शरीर में भी कठोरता आने लगती है। इस कठोरता का विस्तार अनादिकाल से इसी तरह हो रहा है और आत्मा अपने मार्दव-धर्म को खोता जा रहा है। इस कठोरता का, मान कषाय का परित्याग करना ही मार्दव धर्म के लिए अनिवार्य है।

आठ मदों में एक मद ज्ञान का भी है। आचार्यों ने इसी कारण लिख दिया है कि -ज्ञानस्य फलं क? उपेक्षा, अज्ञाननाशो वा' उपेक्षा भाव आना और अज्ञान का नाश होना ही ज्ञान का फल है। उपेक्षा का अर्थ है रागद्वेष की हानि होना और गुणों का आदान (ग्रहण) होना। यदि ऐसा नहीं होता तो वह ज्ञान कार्यकारी नहीं है। **'ले दीपक कुएँ पड़े'** वाली कहावत आती है कि उस दीपक के प्रकाश की क्या उपयोगिता जिसे हाथ में लेकर भी यदि कोई कूप में गिर जाता है। स्व-पर का

विवेक होना ही ज्ञानी की सार्थकता है। पर को हेय जानकर भी यदि पर के विमोचन का भाव जागृत नहीं होता और ज्ञान का मद आ जाता है कि मैं तो ज्ञानी हूँ, तो हमारा यह ज्ञान एकमात्र बौद्धिक व्यायाम ही कहलायेगा।

ज्ञान का अभिमान व्यर्थ है। ज्ञान का प्रयोजन तो मान की हानि करना है, पर अब तो मान की हानि होने पर मानहानि का कोर्ट में दावा होता है। मार्दव धर्म तो ऐसा है कि जिसमें मान की हानि होना आवश्यक है। यदि मान की हानि हो जाती है तो मार्दव धर्म प्रकट होने में देर नहीं लगती।

आप शान्तिनाथ भगवान् के चरणों में श्रीफल चढ़ाते हैं तो भगवान् श्रीफल के रूप में आपसे कोई सम्मान नहीं चाहते न ही हर्षित होते हैं, बल्कि वे तो अपनी वीतराग मुद्रा से उपदेश देते हैं कि जो भी मान कषाय है वह सब यहाँ लाकर विसर्जित कर दो। यह जो मन, मान कषाय का Store (भण्डार) बना हुआ है, उसे खाली कर दो। जिसका मन, मान कषाय से खाली है वही वास्तविक ज्ञानी है। उसी के लिए केवलज्ञान रूप प्रमाण-ज्ञान की प्राप्ति हुआ करती है। वही तीनों लोकों में सम्मान पाता है।

हम पूछते हैं कि आपको केवलज्ञान चाहिए या मात्र मान-कषाय चाहिए? तो कोई भी कह देगा कि हमें केवलज्ञान चाहिए। लेकिन केवलज्ञान की प्राप्ति तो अपने स्वरूप की ओर, अपने मार्दव धर्म की ओर प्रयाण करने से होगी। अभी तो हम स्वरूप से विपरीत की प्राप्ति होने में ही अभिमान कर रहे हैं। वास्तव में देखा जाए तो इन्द्रिय ज्ञान, ज्ञान नहीं है। इन्द्रिय-ज्ञान तो पराश्रित ज्ञान है। स्वाश्रित ज्ञान तो आत्म-ज्ञान या केवलज्ञान है। जो इन्द्रिय ज्ञान और इन्द्रिय के विषयों में आसक्त नहीं होता, वह नियम से अतीन्द्रिय ज्ञान को प्राप्त कर लेता है, सर्वज्ञ दशा को प्राप्त कर लेता है।

''**मनोरपत्यं पुमान्निति मानवः**'' कहा गया है कि मनु की संतान मानव है। मनु को अपने यहाँ कुलकर माना गया है। जो मानवों को एक कुल की भाँति एक साथ इकट्ठे रहने का उपदेश देता है, वही कुलकर है। सभी समान भाव से रहें। छोटे-बड़े का भेदभाव न आवे तभी मानव होने की सार्थकता है। अपने मन को वश में करने वाले ही महात्मा माने गये हैं। मन को वश में करने का अर्थ मन को दबाना नहीं है, बल्कि मन को समझाना है। मन को दबाने और समझाने में बड़ा अन्तर है। दबाने से तो मन और अधिक तनाव-ग्रस्त हो जाता है, विक्षिप्त हो जाता है। किन्तु मन को यदि समझाया जाये तो वह शान्त होने लगता है। मन को समझाना, उसे प्रशिक्षित करना, तत्त्व के वास्तविक स्वरूप की ओर ले जाना ही वास्तव में, मन को अपने वश में करना है। जिसका मन संवेग और वैराग्य से भरा है वही इस संसार से पार हो पाता है। जैसे घोड़े पर लगाम हो तो वह सीधा अपने गन्तव्य पर पहुँच जाता है। ऐसे ही मन पर यदि वैराग्य की लगाम हो तो वह सीधा अपने गन्तव्य, मोक्ष तक ले जाने में सहायक होता है।

सभी दश धर्म आपस में इतने जुड़े हुए हैं कि अलग-अलग होकर भी संबंधित हैं। मार्दव धर्म के अभाव में क्षमा धर्म रह पाना संभव नहीं है और क्षमा धर्म के अभाव में मार्दव धर्म टिकता नहीं है। मान-सम्मान की आकांक्षा पूरी नहीं होने पर ही तो क्रोध उत्पन्न हो जाता है। मृदुता के अभाव में छोटी सी बात से मन को ठेस पहुँच जाती है और मान जागृत हो जाता है। जब मान जागृत होता है तो क्रोध की अग्नि भड़कने में देर नहीं लगती।

द्वीपायन मुनि रत्नत्रय को धारण किये हुए थे। वर्षों की तपस्या साथ थी। उस तपस्या का फल, चाहते तो मीठा भी हो सकता था किन्तु वे द्वारिका को जलाने में निमित्त बन गये। दिव्यध्वनि के माध्यम से जब उन्हें ज्ञात हुआ कि मेरे निमित्त से बारह वर्ष के बाद द्वारिका जलेगी तो यह सोचकर वे द्वारिका से दूर चले गये कि कम से कम बारह वर्ष तक अपने को द्वारिका की ओर जाना ही नहीं है। समय बीतता गया और बारह वर्ष बीत गये होंगे- ऐसा सोचकर वे विहार करते हुए द्वारिका के समीप एक बगीचे में आकर ध्यानमग्न हो गये। वहीं यादव लोग आये और द्वारिका के बाहर फेंकी गई शराब को पानी समझकर पीने लगे। मदिरापान का परिणाम यह हुआ कि यादव लोग नशे में पागल होकर द्वीपायन मुनि को देखकर गालियाँ देने लगे, पत्थर फेंकने लगे। जब बहुत देर तक यह प्रक्रिया चलती रही और द्वीपायन मुनि को सहन नहीं हुआ तो तैजस ऋद्धि के प्रभाव से द्वारिका जलकर राख हो गयी। तन तो सहन कर सकता था लेकिन मन सहन नहीं कर सका और क्रोध जागृत हो गया।

महाराज जी (आचार्य श्री ज्ञानसागरजी) ने एक बार उदाहरण दिया था। वही आपको सुनाता हूँ। एक गाँव का मुखिया था। सरपंच था। उसी का यह प्रपञ्च है। आप हँसिये मत। उसका प्रपञ्च दिशाबोध देने वाला है। हुआ यह कि एक बार उससे कोई गल्ती हो गयी और उन्हें दंड सुनाया गया। समाज गल्ती सहन नहीं कर सकती ऐसा कह दिया गया और लोगों ने इकट्ठे होकर उसके घर आकर सारी बात कह दी। घर के भीतर उसने भी स्वीकार कर लिया कि गल्ती हो गयी, मजबूरी थी। पर इतने से काम नहीं चलेगा। लोगों ने कहा कि यही बात मञ्च पर आकर सभी के सामने कहना होगी कि मेरी गलती हो गयी और मैं इसके लिए क्षमा चाहता हूँ। फिर दण्ड के रूप में एक रुपया देना होगा। एक रुपया कोई मायने नहीं रखता। वह व्यक्ति करोड़ रुपया देने के लिए तैयार हो गया लेकिन कहने लगा कि मञ्च पर आकर क्षमा मांगना तो सम्भव नहीं हो सकेगा। मान खण्डित हो जायेगा। प्रतिष्ठा में बट्टा लग जाएगा। आज तक जो सम्मान मिलता आया है वह चला जायेगा।

सभी संसारी जीवों की यही स्थिति है। पाप हो जाने पर, गलती हो जाने पर कोई अपनी गलती मानने को तैयार नहीं है। असल में भीतर मान कषाय बैठा है वह झुकने नहीं देता। पर हम

चाहें तो उसकी शक्ति को कम कर सकते हैं और चाहें तो अपने परिणामों से उसे संक्रमित (Transfer) भी कर सकते हैं। उसे अगर पूरी तरह हटाना चाहें तो आचार्य कहते हैं कि एक ही मार्ग है- समता भाव का आश्रय लेना होगा। अपने शांत और मृदु स्वभाव का चिन्तन करना होगा। यही पुरुषार्थ मान-कषाय पर विजय पाने के लिए अनिवार्य है।

आत्मा की शक्ति और कर्म की शक्ति इन दोनों के बीच देखा जाये तो आत्मा अपने पुरुषार्थ के बल से आत्म-स्वरूप के चिन्तन से मान कषाय के उदय में होने वाले परिणामों पर विजय प्राप्त कर सकता है। मान को जीत सकता है। इतना संयम तो कषायों को जीतने के लिए आवश्यक ही है। सम्यग्दर्शन तो जीव जन्म से ही लेकर आ सकता है लेकिन मुक्ति पाने के लिए सम्यग्दर्शन के साथ जो विशुद्धि चाहिए वह चारित्र के द्वारा ही आयेगी। वह अपने आप आयेगी, ऐसा भी नहीं समझना चाहिए। आचार्यों ने कहा है कि आठ साल की उम्र होने के उपरान्त कोई चाहे तो सम्यग्दर्शन के साथ चारित्र को अंगीकार कर सकता है। लेकिन चारित्र अंगीकार करना होगा, तभी मुक्ति का मार्ग प्रशस्त होगा और मुक्ति मिलेगी। कषायों पर विजय पाने रूप परिणाम, चरित्र को अंगीकार किये बिना आना/होना संभव नहीं है। आत्मा की अनन्त शक्ति भी सम्यक्चारित्र धारण करने पर ही प्रकट होती है।

एक बात और कहूँ कि सभी कषायें परस्पर एक दूसरे के लिए कारण भी बन सकती है। जैसे मान को ठेस पहुँचती है तो क्रोध आ जाता है। मायाचारी आ जाती है। अपने मान की सुरक्षा का लोभ भी आ जाता है। एक समय की बात है कि एक व्यक्ति एक सन्त के पास पहुँचा। उसने सुन रक्खा था कि सन्त बहुत पहुँचे हुए हैं। उसने पहुँचते ही पहले उन्हें प्रणाम किया और विनयपूर्वक बैठ गया। चर्चा वार्तालाप के बाद उसने कहा कि आप हमारे यहाँ कल का आतिथ्य स्वीकार करिये। अपने यहाँ हम आपको कल के भोजन के लिए निमन्त्रित करते हैं। सन्त जी निमन्त्रण पाने वाले रहे होंगे, इसलिए निमन्त्रण मान लिया। देखो निमन्त्रण 'मान' लिया, इसमें भी 'मान' लगा है।

दूसरे दिन ठीक समय पर वह व्यक्ति आदर के साथ उन्हें घर ले गया, अच्छा आतिथ्य हुआ। मान-सम्मान भी दिया। अन्त में जब सन्त जी लौटने लगे तो उस व्यक्ति ने पूछ लिया कि आपका शुभ नाम मालूम नहीं पड़ सका। आपका शुभ नाम मालूम पड़ जाता तो बड़ी कृपा होगी। सन्त जी ने बड़े उत्साह से बताया कि हमारा नाम शान्तिप्रसाद है। वह व्यक्ति बोला बहुत अच्छा नाम है। मैं तो सुनकर धन्य हो गया, आज मानों शान्ति मिल गयी। वह उनको भेजने कुछ दूर दस बीस कदम साथ गया और उसने फिर से पूछ लिया कि क्षमा कीजिये, मेरी स्मरण शक्ति कमजोर है। मैं भूल गया आपने क्या नाम बताया था? सन्त जी ने उसकी ओर गौर से देखा और कहा कि शान्तिप्रसाद,

अभी तो मैंने बताया था। वह व्यक्ति बोला हाँ ठीक-ठीक ध्यान आ गया आपका नाम शान्तिप्रसाद है। अभी जरा दूर और पहुँचे थे कि पुनः वह व्यक्ति बोला कि क्या करूँ? कैसा मेरा कर्म का तीव्र उदय है कि मैं बार-बार भूल जाता हूँ। आपने क्या नाम बताया था? अब की बार सन्त जी ने घूर कर उसे देखा और बोले शान्तिप्रसाद, शान्तिप्रसाद- मैंने कहा ना। वह व्यक्ति चुप हो गया और आश्रम पहुँचते-पहुँचते जब उसने तीसरी बार कहा कि एक बार और बता दीजिये आपका शुभ नाम। उसे तो जितनी बार सुना जाए उतना ही अच्छा है। अब सन्त जी की स्थिति बिगड़ गयी, गुस्से में आ गये। बोले क्या कहता है तू। कितनी बार तुझे बताया कि शान्तिप्रसाद, शान्तिप्रसाद! वह व्यक्ति मन ही मन मुस्कराया और बोला, मालूम पड़ गया है कि नाम आपका शान्तिप्रसाद है, पर आप तो ज्वालाप्रसाद हैं। अपने मान को अभी जीत नहीं पाये क्योंकि मान को जरा सी ठेस लगी और क्रोध की ज्वाला भड़क उठी।

बंधुओ! ध्यान रखो जो मान को जीतने का पुरुषार्थ करता है वही मार्दव धर्म को अपने भीतर प्रकट करने में समर्थ होता है। पुरुषार्थ यही है कि ऐसी परिस्थिति आने पर हम यह सोचकर चुप रह जायें कि यह अज्ञानी है। मुझसे हँसी कर रहा है या फिर सम्भव है कि मेरी सहनशीलता की परीक्षा कर रहा है। उसके साथ तो हमारा व्यवहार, माध्यस्थ भाव धारण करने का होना चाहिए। कोई वचन व्यवहार अनिवार्य नहीं है। जो विनयवान हो, ग्रहण करने की योग्यता रखता हो, हमारी बात समझने की पात्रता जिसमें हो, उससे ही वचन व्यवहार करना चाहिए। ऐसा आचार्यों ने कहा है। अन्यथा '**मौन सर्वत्र साधनम्**' मौन सर्वत्र/सदैव अच्छा साधन है।

द्वीपायन मुनि के साथ यही तो हुआ कि वे मौन नहीं रह पाये और यादव लोग भी शराब के नशे में आकर मौन धारण नहीं कर सके।'**मदिरापानादिभिः मनसः पराभवो दृश्यते**'- मदिरा पान से मन का पराभव होते देखा जाता है। पराभव से तात्पर्य है पतन की ओर चले जाना। अपने सही स्वभाव को भूलकर गलत रास्ते पर मुड़ जाना। गाली के शब्द तो किसी के भी कानों में पड़ सकते हैं लेकिन ठेस सभी को नहीं पहुँचती। ठेस तो उसी के मन को पहुँचती है जिसे लक्ष्य करके गाली दी जा रही है। या जो ऐसा समझ लेता है कि गाली मुझे दी जा रही है। मेरा अपमान किया जा रहा है।

द्वीपायन मुनि को भीतर तो यही श्रद्धान था कि मैं मुनि हूँ। मेरा वैभव समयसार है। समता परिणाम ही मेरी निधि है। मार्दव मेरा धर्म है। मैं मानी नहीं हूँ, लोभी नहीं हूँ। मेरा यह स्वभाव नहीं है। रत्नत्रय धर्म उनके पास था, उसी के फलस्वरूप तो उन्हें ऋद्धि प्राप्त हुई थी। लेकिन मन में पर्याय बुद्धि जागृत हो गयी कि गाली मुझे दी जा रही है। आचार्य कहते हैं कि 'पज्जयमूढ़ा हि

परसमया' जो पर्याय में मुग्ध हैं, मूढ़ है वह पर-समय है। पर्याय का ज्ञान होना बाधक नहीं है परन्तु पर्याय में मूढ़ता आ जाना बाधक है। पर्याय बुद्धि ही मान को पैदा करने वाली है। पर्याय बुद्धि के कारण उनके मन में आ गया कि वे मेरे ऊपर पत्थर बरसा रहे हैं, मुझे गाली दी जा रही है और उपयोग की धारा बदल गयी। उपयोग में उपयोग को स्थिर करना था, पर स्थिर नहीं रख पाये। उपयोग आत्म-स्वभाव के चिन्तन से हटकर बाहर पर्याय में लग गया और मान जागृत हो गया।

जो अपने आप में स्थित है, स्वस्थ है उसे मान-सम्मान सब बराबर है। उसे कोई गाली भी दे तो वह सोचता है कि अच्छा हुआ अपनी परख करने का अवसर मिल गया। मालूम पड़ जायेगा कि कितना मान कषाय अभी भीतर शेष है। यदि ठेस नहीं पहुँचती तो समझना कि उपयोग, उपयोग में है। ज्ञानी की यही पहचान है कि वह अपने स्वभाव में अविचल रहता है। वह विचार करता है कि दूसरे के निमित्त से मैं अपने परिणाम क्यों बिगाड़ूँ? अगर अपने परिणाम बिगाड़ूँगा तो मेरा ही अहित होगा। कषाय दुख का कारण है। पाप-भाव दुख ही है। आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र में कहा है '**दुखमेव वा**', आनन्द तो तब है जब दुख भी 'मेवा' हो जाये। सुख और दुख दोनों में साम्य भाव आ जाये।

मान कषाय का विमोचन करके ही हम अपने सही स्वास्थ्य का अनुभव कर सकते हैं, साम्य भाव ला सकते हैं। जैसे दूध उबल रहा है अब उसको अधिक नहीं तपाना है तब या तो उसे सिगड़ी से नीचे उतार कर रख दिया जाता है या फिर अग्नि को कम कर देते हैं। तब अपने आप वह धीरे-धीरे अपने स्वभाव में आ जाता है, स्वस्थ हो जाता है अर्थात् शान्त हो जाता है और पीने योग्य हो जाता है। ऐसे ही मान कषाय के उबाल से अपने को बचाकर हम अपने स्वास्थ्य को प्राप्त कर सकते हैं। मान का उबाल शान्त होने पर ही मार्दव धर्म प्राप्त होता है। मान को अपने से अलग कर दें या कि अपने को ही मान कषाय से अलग कर लें, तभी मार्दव धर्म प्रकट होगा।

अन्त में इतना ही ध्यान रखिये कि अपने को शान्तिप्रसाद जैसा नहीं करना है। हाँ, यदि कोई गाली दे, कोई प्रतिकूल वातावरण उपस्थित करें तो अपने को शान्तिनाथ भगवान् को नहीं भूलना है। अपने परिणामों को संभालना अपने आत्म-परिणामों की सँभाल करना ही धर्म है। यही करने योग्य कार्य है। जिन्होंने इस करने योग्य कार्य को सम्पन्न कर लिया वे ही कृतकृत्य कहलाते हैं। वही सिद्ध परमेष्ठी कहलाते हैं, जिनकी मृदुता को अब कोई खण्डित नहीं कर सकता। हम भी मृदुता के पिण्ड बनें और जीवन को सार्थक करें।

❑ ❑ ❑

उत्तम आर्जव

मोत्तूण कुडिलभावं णिम्मलहिदयेण चरदि जो समणो।
अज्जवधम्मं तइयो, तस्स दु संभवदि णियमेण॥

जो मनस्वी पुरुष कुटिल भाव वा मायाचारी परिणामों को छोड़कर शुद्ध हृदय से चारित्र का पालन करता है, उसके नियम से तीसरा आर्जव नाम का धर्म होता है।

'**योगस्यावक्रता आर्जवम्**' योगों की वक्रता न होना ही आर्जव धर्म है ऐसा श्री पूज्यपाद स्वामी ने अपने सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ में कहा है। मन, वचन और काय इन तीनों की क्रियाओं में वक्रता नहीं होने का नाम 'आर्जव' है। ऋजोर्भावो ऋजुता का भाव ही आर्जव है। ऋजुता का अर्थ है सीधापन। ध्यान करते समय ध्यान के काल में आनन्द कब आता है? कौन सी वह घड़ी है जो आनन्द लाती है? तो इतना अवश्य कहा जा सकता है कि घड़ी देखते हुए ध्यान करने वालों के जीवन में ऐसी घड़ी नहीं आयेगी क्योंकि आपका मन अपने में लीन नहीं है। अपनी सीमा का उल्लंघन कर रहा है। अपनी सीमा से वहाँ तात्पर्य है मन, वचन और काय की प्रवृत्ति को सीमित करना और उसमें वक्रता नहीं आने देना। सीधे होने के उपरान्त ही एकाग्रता सम्भव होती है और एकाग्रता आये तो आनन्द की प्राप्ति स्वत: होने लगती है।

ध्यान में एकाग्रता लाने के लिए ध्यान में बैठने से पहले समझाया जाता है कि रीढ़ की हड्डी सीधी करके बैठना। जिस व्यक्ति के अभी रीढ़ में सीधापन नहीं आया, शरीर में सीधापन नहीं आया, वह ध्यान में एकाग्रता कैसे ला पायेगा? जीवन की रीढ़ सीधी होनी चाहिए, क्योंकि चारित्र ही जीवन की रीढ़ है। यदि वह न हो अथवा हो पर वक्र हो, तब आर्जव धर्म नहीं आ पायेगा।

विषय-कषाय में उलझे हुए उपयोग को वहाँ से हटाकर योग की ओर ले आना और फिर योगों की व्यर्थ प्रवृत्ति को रोककर दृष्टि को अपने में स्थिर करना, सीधे अपने से सम्पर्क करना, एक पर टिक जाना, प्रकंपित नहीं होना, चंचल नहीं होना ही ऋजुता है। यही आर्जव-धर्म है। जैसे जल के पास शीतलता है, तरलता भी है, अग्नि बुझाने की क्षमता भी है और बहने का स्वभाव भी है। इसके अलावा कोई आकर उसमें अपना मुख देखना चाहे तो झाँकने पर मुख भी दिख जाता है। यह जल की विशेषता है। लेकिन यदि जल स्पन्दित हो, तरंगायित हो, हवा के झोंकों से उसमें लहरें उठ रही हों, तब आप उस जल के सामने जाकर भी अपना मुख नहीं देख पायेंगे। जल में क्षमता होते हुए भी उस समय वह प्रकट नहीं है क्योंकि जल तरंगित हो गया है। इस प्रकार भोगों के माध्यम से आत्मा में होने वाले परिस्पन्दन के समय आत्मा को उसके वास्तविक स्वरूप में अनुभव नहीं किया जा सकता।

एक बात और है कि यदि जल शान्त भी हो और हमारी दृष्टि चलायमान हो, तो भी जल के तल में पड़ी वस्तु देखने में नहीं आयेगी। लेकिन जो व्यक्ति जल की वक्रता होते हुए भी अपनी दृष्टि को निस्पंद कर लेता है तो वह लहरों को भेदकर भीतर की वस्तु को देखने में भी समर्थ हो जाता है। जिसकी दृष्टि में एकाग्रता रहती है, उसको नियम से उन लहरों में भी रास्ता मिल जाता है। इसी प्रकार साधक को अपने मन-वचन और काय की चञ्चलता के बीच एकाग्र होकर अपने आत्मस्वरूप का दर्शन करने का प्रयास करना चाहिए।

अपने यहाँ भेदविज्ञान की बड़ी विशेषता बतायी गयी है। भेदविज्ञान का अर्थ इतना ही नहीं है कि जो बहुत मिले-जुले पदार्थ हैं, उन्हें अलग-अलग करना, किन्तु भेदविज्ञान का अर्थ यह भी है कि भेद करके भीतर पहुँच जाना। लहरों के कारण वस्तु हमें ऊपर देखने में नहीं आती, लेकिन यदि हम भीतर डूब जायें तो ऊपर उठने वाली लहरों के कारण भीतर किसी भी प्रकार की बाधा नहीं पहुँच सकती। जो व्यक्ति एक बार वस्तु के स्वरूप में डूब जाता है तो फिर बाह्य में पर्याय की चंचलता उसे बाधक नहीं बनती। अभी जिसकी दृष्टि में भेदने की क्षमता नहीं आयी तो वह ऊपर उठने वाली लहरों के समान पर्यायों को ही देखेगा और उन्हीं में उलझता रहेगा। उन्हीं को लेकर रागद्वेष करता रहेगा। वह जितना-जितना रागद्वेष के माध्यम से उलझेगा, उतना-उतना स्वयं को देख नहीं पायेगा। वह कहेगा अवश्य कि देख रहा हूँ, लेकिन मात्र सतह को ही देख पायेगा।

किसी को बुखार आ जाता है तो कोई हकीम-वैद्य की तरह हाथ की नब्ज़ देखने लगे, तो क्या देखेगा? केवल नाड़ी की फड़कन को ही देख पायेगा। फड़कन देखना तो आसान है, उसे सभी देख लेते हैं लेकिन भीतर कहाँ क्या रोग हुआ है, इसका ज्ञान तो नाड़ी के विशेषज्ञ को ही हो सकता है, क्योंकि नाड़ी का स्पन्दन भीतर की व्याधि की सूचना देता है। अकेले नाड़ी की फड़कन को देखना जैसे पर्याप्त नहीं है इसके माध्यम से भीतर की व्याधि को जानना भी आवश्यक है, इसी प्रकार '**भेदं कृत्वा यद् विज्ञानं तद् भेदविज्ञानम्**' या कहो कि '**भेदस्य यद्विज्ञानं तद् भेदविज्ञानम्**' भेद करके जो जानता है वह भेदविज्ञानी है अथवा भेद को अर्थात् भीतरी रहस्य को जो जानता है वह भेदविज्ञानी है।

जिन परमपैनी सुबुधि छैनी, डारि अंतर भेदिया ।
वर्णादि अरु रागादि तैं निज-भाव को न्यारा किया॥

छहढाला

भेदविज्ञानरूपी अत्यन्त पैनी छैनी के द्वारा, जो एक जैसा दिखाई पड़ रहा है, वह पृथक्-पृथक् हो जाये। उसका भेद समझ में आ जाये, तो अपने निज-स्वभाव को उससे पृथक् किया जा

सकता है। एक हंस होता है तथा एक बगुला होता है। दोनों सफेद होते हैं और दोनों की चोंच होती है लेकिन हंस की चोंच के भीतर ऐसी विशेषता है कि वह दूध और जल को पृथक् -पृथक् बना देता है और दूध का आसानी से सेवन करता रहता है और जल को छोड़ता जाता है? तात्पर्य यह हुआ कि जिसके पास भेद-विज्ञान आ जाता है वह सीधे अपनी निजी वस्तु तक पहुँच जाता है और व्यर्थ के रागद्वेष में नहीं उलझता।

जब तक हम इस रागद्वेष में उलझते रहेंगे तब तक हम अपने भीतर वहाँ नहीं पहुँच पायेंगे जहाँ ऋजुता का पारावार है। वास्तव में देखा जाये तो दूसरे की ओर जाना ही टेढ़ापन है। रागद्वेष करना ही उलझना है। अपनी ओर आना हो तो सीधेपन से ही आना सम्भव है। रागद्वेष के अभाव में ही सुलझा जा सकता है। जैसे सीधी तलवार हो तो ही म्यान में जायेगी किन्तु यदि टेढ़ी हो तो नहीं जायेगी। ऐसे ही यदि ज्ञान का विषय सीधा ज्ञान ही बन जाये तो नियम से समझना काम हो जायेगा। किन्तु यदि ज्ञान का विषय हम अन्य किसी को बनाते हैं और बाह्य पदार्थों के साथ अपने ज्ञान को जोड़ते हैं तो वक्रता नियम से आयेगी, रागद्वेष रूपी उलझन खड़ी हो जायेगी।

जैसे सीधे देखते हैं तो कोई Angle (कोण) नहीं बनता, टेढ़ापन नहीं आता। यदि थोड़ा भी अपने सिवाय कोई आजू-बाजू की वस्तुओं पर दृष्टिपात करता है तो आँख को मोड़ना पड़ेगा और कोण बन जायेगा अर्थात् दृष्टि में वक्रता आ जायेगी। इसी प्रकार मोह-माया के वशीभूत होकर यह जीव अपने-आत्म स्वभाव की ओर जब तक दृष्टिपात नहीं करता जो कि बिल्कुल सीधा है, तो नियम से वक्रता आती है। अपने स्वभाव से स्खलित होना पड़ता है। आर्जव धर्म अपने स्वभाव की ओर सीधे गमन करने पर ही सम्भव है।

बच्चों को आनन्द तभी आता है जब वे सीधे-साधे न भागकर टेढ़े-मेढ़े भागते हैं। यही दशा वैभाविक दशा में संसारी प्राणी की है। उसे टेढ़ेपन में ही आनन्द आता है जबकि वह आनन्द नहीं है। वह तो मात्र सुखाभास है, जो दुख रूप ही है। विभाव रूप परिणति का नाम ही एक प्रकार से वक्रता है। जल में कोई चीज डालो तो सीधी नहीं जाती, यहाँ-वहाँ होकर नीचे जाती है। वैसे ही संसार में जब तक जीव रागद्वेष-मोह के साथ है तब तक वह चलेगा भी, तो जल में डाली गयी वस्तु के समान ही टेढ़ा चलेगा, सीधा नहीं चलेगा। उसका कोई भी कार्य सीधा नहीं होता। आप देख लीजिये आपके देखने में टेढ़ापन, आपके चलने में टेढ़ापन, आपके खाने-पीने, उठने-बैठने में टेढ़ापन, बोलने और यहाँ तक कि सोचने में भी टेढ़ापन है। सोचना स्वयं ही स्पन्दन रूप है अर्थात् विभाव है और विभाव ही टेढ़ापन है। वास्तव में परमार्थ से देखा जाये तो ऋजुता के स्वभाव में किसी भी प्रकार की विक्रिया सम्भव नहीं होती और विभाव के स्वभाव में किसी भी प्रकार की प्रक्रिया बिना विक्रिया के संभव नहीं होती।

आपने युद्ध का वर्णन पुराणों में पढ़ा होगा। देखा-सुना भी होगा। दो तरह के आयुध होते हैं। कुछ जो फेंककर युद्ध में प्रयुक्त करते हैं वे 'अस्त्र' कहलाते हैं और कुछ हाथ में लेकर ही लड़ायी की जाती है वे 'शस्त्र' कहलाते हैं। धनुष बाण अस्त्र हैं। बाण से निशाना साधने वाला कितना ही दक्ष क्यों न हो यदि वह बाण टेढ़ा है तो लक्ष्य तक/ मंजिल तक नहीं पहुँच पायेगा। पहले बाण का सीधा होना आवश्यक है फिर सीधा बाण लेकर जब निशाना साधते हैं तो दृष्टि में निस्पंदता होनी चाहिए और हाथ भी निष्कम्प होना चाहिए। हृदय में धैर्य होना चाहिए। अब तो समय के साथ सब कुछ बदल गया। धनुष के स्थान पर बंदूकें आ गयीं क्योंकि हृदय में, हाथ में और दृष्टि में सभी में चंचलता आती जा रही है। भय आता जा रहा है। आज तो छुप-छुप कर लड़ाई होती है। यह क्षत्रियता नहीं है, यह वीरता नहीं है बल्कि यह तो कायरता है। यह ऋजुता नहीं बल्कि वक्रता का परिणाम है।

आज का जीवन भय से इतना त्रस्त हो गया है कि किसी के प्रति मन में सरलता नहीं रही। आज आणविक-शक्ति का विकास हो रहा है। दूसरे पर निगाह रखने के लिए Radar का उपयोग किया जा रहा है लेकिन यह सब चंचलता का सूचक है। जिस दिन यह चंचलता अधिक बढ़ जायेगी उसी दिन विस्फोट हो जायेगा और विनाश होने में देर नहीं लगेगी। बंधुओ! सुरक्षा तो सरलता में है। एकाग्रता में है। वक्रता या चंचलता में सुरक्षा कभी सम्भव नहीं है।

आपने दीपक की लौ देखी होगी उससे प्रकाश होता रहता है और ऊष्मा भी निकलती रहती है। लेकिन यदि दीपक को लौ स्पन्दित हो तो प्रकाश में तेजी नहीं रहती। आप इस प्रकाश में पढ़ना चाहें तो आसानी से पढ़ नहीं सकते और दूसरी बात यह है कि उस समय ऊष्मा भी कम हो जाती है। सीधी निस्पंद जलती हुई लौ पर हाथ रखो तो फौरन जलन होने लगेगी। लेकिन यदि लौ हिल रही हो, प्रकम्पित हो तो हाथ रखने पर एकदम नहीं जलता। कुछ गर्माहट तो होती है लेकिन तीव्र जलन नहीं होती। कारण यही है कि लौ में एकाग्रता होने पर उसमें प्रकाश और ऊष्मा की सामर्थ्य अधिक बढ़ जाती है। लेकिन हवाओं के माध्यम से जब वही लौ चंचल हो जाती है, स्पन्दित होने लगती है, उसमें टेढ़ापन आ जाता है, वक्रता आ जाती है तो उसकी सामर्थ्य कमजोर पड़ जाती है। इसी प्रकार जब तक हमारा ज्ञान, माया रूपी हवाओं से स्पन्दित होता रहता है तब तक उसमें एकाग्र होने और जलाने की क्षमता अर्थात् कर्मों को जलाने या कर्मों की निर्जरा करने की क्षमता नहीं आ पाती। इसलिए हमें अपने ज्ञान को एकाग्र अर्थात् सीधा बनाना चाहिए। ज्ञान की वक्रता यही है कि वह पर पदार्थों को अपना मानकर उनकी ओर मुड़ने लग जाता है। उनमें उलझने लग जाता है और यदि वह पर पदार्थों को पकड़ने की जगह अपने में स्तब्ध, स्थिर एवं एकाग्र हो जाये तो वही ज्ञान कर्मों की निर्जरा में सहायक हो जाता है।

ज्ञान का दूसरे की ओर ढुलक जाना ही दीनता है.. और ज्ञान का ज्ञान की ओर वापिस आना ही स्वाधीनता है। धन्य है वह ज्ञान जो पर पदार्थों की आधीनता स्वीकार नहीं करता, धन्य है वह ज्ञान जो बिल्कुल टंकोत्कीर्ण एक मात्र ज्ञायक पिण्ड की तरह रहा आता है। धन्य है वह ज्ञान जिस ज्ञान में तीन लोक पूरे के पूरे झलकते हैं, लेकिन फिर भी जो अपने आत्म आनन्द में लीन हैं।

सकल ज्ञेय ज्ञायक तदपि, निजानन्द रसलीन ।
सो जिनेन्द्र जयवन्त नित, अरि-रज-रहस-विहीन ॥

संसारी प्राणी ज्ञान की चंचलता के कारण या कहें संसार में भटकने और उलझने की इच्छा के कारण त्रस्त हो रहा है और दीन-हीन हो रहा है। अपने स्वभाव की ओर देखने का पुरुषार्थ करें तो सुलझने में देर नहीं लगेगी। जिस प्रकार खाया हुआ अन्न देह में, रग-रग में मिलकर रुधिर बन जाता है, उसी प्रकार हमारे जीवन में सरलता या सुलझापन हमारा अभिन्न अंग बन जाये तो जीवन धन्य एवं सार्थक हो जायेगा।

अपव्यय के रूप में उस कार में से एक बूँद भी पेट्रोल नीचे नहीं गिरा। मशीन भी ठीक काम कर रही थी पर देखा गया कि कार रूक गयी। उसमें एक बूँद पेट्रोल भी नहीं बचा। अपने गन्तव्य तक पहुँचने के लिए जितना पेट्रोल आवश्यक था उतना उसमें डाला गया था, लेकिन वह पहले ही कैसे समाप्त हो गया? तब उसे चलाने वाले ने कहा कि कार तो और अधिक भी चल सकती थी, लेकिन रुकने का कारण यही है कि रास्ते की वक्रता के कारण पेट्रोल अधिक खर्च हुआ और दूरी कम तय की गयी। अगर रास्ता सीधा हो तो इतने ही पेट्रोल से अधिक दूरी तक कार को ले जाया जा सकता था। यदि सरल-पथ हो तो वह लाभ मिल सकता है।

बंधुओ! आज आर्जव-धर्म की बात है। ऋजुता के अभाव में जब जड़ पदार्थ भी ठीक काम नहीं कर सकता, तो फिर चेतन को तनाव तो होता ही है[२]। वक्रता तनाव उत्पन्न करती है। हमारे उपयोग में वक्रता होने के कारण मन में वक्रता, वचन में वक्रता और काय-चेष्टाओं में भी वक्रता आ जाती है। जैसा हम चाहते हैं, जैसा मन में विचार आता है, वैसा ही हम उपयोग को बदलना प्रारम्भ कर देते हैं। लेकिन यह ठीक नहीं है। यही तनाव का कारण बनता है। वास्तव में जैसा हम चाहते हैं उसके अनुसार नहीं, बल्कि जैसी वस्तु है उसके अनुसार हम अपने उपयोग को बनाने की चेष्टा करें तो ऋजुता आयेगी। हमें जानना चाहिए कि उपयोग के अनुरूप वस्तु का परिणमन नहीं होता। किन्तु ज्ञेयभूत वस्तु के अनुरूप ज्ञान जानता है, अन्यथा वह ज्ञान अप्रमाणता की कोटि में आ जाता है।

विचार करें वक्रता कैसे आती है और क्यों आती है? तो बात ऐसी है कि जिस प्रकार के जीवन को हम जीना चाहते हैं या जिस जीवन के आदी बन चुके हैं उसी के अनुसार ही सब कुछ

होता चला जाता है। जैसे किसी पौधे को कोई कुछ प्रबन्ध करके सीधा ऊपर ले जाने की चेष्टा करें तो वह पौधा सीधा ऊपर बढ़ने लगता है। यदि कोई प्रबन्ध नहीं किया जाए तो नियम से पौधा विभिन्न शाखा-प्रशाखाओं में बँटकर यहाँ-वहाँ फैलने लग जाता है और उसकी ऊर्ध्वगति रुक जाती है। इसी प्रकार यदि हम अपनी शक्ति को इधर-उधर नहीं दौड़ाते तो हमारी यह शक्ति एक ही दिशा में लगकर अधिक काम कर सकती है। लेकिन आज टेढ़ा-मेढ़ा चलना ही संसारी प्राणी का स्वभाव जैसा हो गया है और निरन्तर इसी में शक्ति का अपव्यय हो रहा है। वक्रता बढ़ती जा रही है। वक्रता का संसार दिनोंदिन और मजबूत होता जा रहा है।

सरलता की शक्ति को पहचानना होगा। सरलता की शक्ति अद्‌भुत है। आज जो कार्य यन्त्र नहीं कर सकता, पहले वही कार्य मनुष्य मन्त्र के माध्यम से अपनी शक्ति को एक दिशा में लगाकर कर लेता था। बात ऐसी है कि धारणा के बल पर जिस क्षेत्र में हम बढ़ने लग जाते हैं वहाँ पर बहुत कुछ साधना अपने आप होती चली जाती है। वस्तुतः यह एक दृष्टिकोण का कार्य है। एक आपने विचार बना लिया, या जिस रूप में धारणा बना ली, उसी रूप में वह वस्तु देखने में आने लगती है। जिस दिशा में हमारी दृष्टि सीधी-साफ होती है उसी दिशा में सफलता मिलना प्रारम्भ हो जाती है। वक्रता का अभाव और ऋजुता का सद्‌भाव होना चाहिए। जैसे आपकी दृष्टि किसी वस्तु को या मान लीजिये पाषाण को देखने में लगी है। और उसे साधना के बल से अनिमेष देखने लगे, तो सम्भव है कि उस दृष्टि के द्वारा पाषाण भी टूट सकता है और लोहा भी पिघल सकता है। इतनी शक्ति आ सकती है। किन्तु आवश्यकता इस बात की है कि दृष्टि को सीधा रखा जाए और प्राण-प्रण से उसी में लगाया जाए।

मान लीजिये, आप बैठे हैं और जगह ऐसी है कि इधर-उधर जाने की कोई गुञ्जाइश नहीं है। अचानक एक बड़ा सा काला बिच्छू पास बैठा हुआ दिख जाए तो मैं पूछना चाहता हूँ कि आप अपने शरीर के किसी भी अंग-उपांग को हिलायेंगे-डुलायेंगे क्या? नहीं हिलायेंगे, बल्कि एकदम स्तब्ध से होकर बैठे रह जायेंगे, जैसे कि कोई योगी ध्यान में बैठा हो।

सम्यक् प्रकार निरोध मन-वच-काय आतम ध्यावतें।
तिन सुथिर मुद्रा देखि मृग गण उपल खाज खुजावते॥

छहढाला (छठवीं ढाल)

मन-वचन-काय की क्रियाओं का भली प्रकार निरोध करके जैसे कोई योगी अपनी आत्मा के ध्यान में लीन हो जाता है। उसकी स्थिर-मुद्रा को देखकर वन में विचरण करने वाले हिरण लोग उसे चट्टान समझकर अपने शरीर को रगड़ने लग जाते हैं। ऐसी ही दशा उस समय आपकी हो जायेगी। आपके पास यह शक्ति इस समय कहाँ से आ गयी? वह कहीं अन्यत्र से नहीं आती, अपितु

यह शक्ति तो पहले से ही विद्यमान थी। पर आप उस समय हिल जाते तो बिच्छू ही आपको हिला देता। इसलिए प्राणों की रक्षा की बात आते ही आपने अपनी ऋजुता की शक्ति का पूर्ण निर्वाह किया। अपनी शक्ति का सही उपयोग किया।

प्रत्येक क्षेत्र में यही बात है। आप चाहें तो धर्म के क्षेत्र में भी यही बात अपना सकते हैं। शारीरिक, मानसिक, आर्थिक और शैक्षणिक आदि सभी विधाओं के लिए एकमात्र दृष्टि की ऋजुता ही उपयोगी है। यदि एक ही वस्तु पर ध्यान केन्द्रित हो जाए तो नियम से क्रांति घटित हो जायेगी। एक व्यक्ति बहुत ही प्रेम-भाव के साथ देखता है। उसकी दृष्टि में सरलता होती है तो सामने वाला व्यक्ति भी उसकी और सहज ही आकृष्ट हो जाता है। कोई व्यक्ति जिसकी दृष्टि में वक्रता है, जिसके भावों में कुटिलता है तो उसे देखकर हर कोई उससे बचना प्रारम्भ कर देता है। जैसे मुस्कराती हुई माँ की दृष्टि ज्यों ही सीधी बच्चे के ऊपर पड़ती है तो वह बच्चा रोना भूल जाता है और देखने लगता है। इतना सरल हो जाता है कि सब कुछ भूलकर उसी सुख में लीन हो जाता है। यही सरलता की बात है।

जब हम Geometry (ज्यामिति) पढ़ते थे, उस समय की बात है। उसमें कई प्रकार के कोण बनाये जाते थे। एक सरल-कोण होता था। एक सौ अस्सी अंश के कोण को सरल-कोण बोलते हैं। सरल कोण क्या है? वह तो एक सीधी रेखा ही है। हमारी दृष्टि में आज भी इतनी सरलता आ सकती है कि उसमें सरल-कोण बन जाये। हम सरलता के धनी बन सकते हैं। जिसकी दृष्टि में ऐसा सरल कोण बन जाता है तो वह श्रमण बन जाता है। वह तीन-लोक में पूज्य हो जाता है। लेकिन हमारे जीवन में ऐसे बहुत कम समय आ पाते हैं, जबकि दृष्टि में सरल कोण बने और दृष्टि में सरलता आये।

आँख के उदाहरण के माध्यम से हम और समझें कि हमारी दोनों आँखों को दोनों ओर दायें-बायें अपनी विपरीत दिशा की ओर भेज करके सरल कोण बनाना चाहें तो यह संभव नहीं है। दो आँखों से हम दो काम नहीं कर सकते। जब वस्तु के ऊपर दोनों आँखों की दृष्टि पड़ती है और दृष्टि चंचल नहीं हो तो ही वस्तु सही ढंग से दिखायी पड़ सकती है, अन्यथा नहीं। बहुत कम व्यक्ति ऐसे होते हैं जो अपनी दृष्टि को स्थिर रख पाते हैं और सूक्ष्म से सूक्ष्म जानकारी प्राप्त कर लेते हैं। नासाग्र दृष्टि ही ऐसी सरल दृष्टि है जहाँ विपरीतता समाप्त हो जाती है और समता आ जाती है। दृष्टि वहाँ दृष्टि में ही रह जाती है। दृष्टि का एक अर्थ यहाँ प्रमाण-ज्ञान से भी है और दृष्टि कोण का अर्थ नय ज्ञान से है।

'नयन' शब्द में देखा जाए तो नय+न अर्थात् नयों के पार जो दृष्टि है वही वास्तव में शांत निर्विकल्प और सरल दृष्टि है। नयनों को विश्राम देना हो, आराम देना हो, उनकी पीड़ा दूर करना

हो तो एक ही उपाय है कि दृष्टि को नासाग्र रखो। भगवान् कैसे बैठे हैं? 'छवि वीतरागी नग्न मुद्रा दृष्टि नासा पे धरें।' हमारी यानि छद्मस्थों की दृष्टि वह मानी जाती है जो पदार्थ की ओर जाने का प्रयास करती है। और सर्वज्ञ की दृष्टि वह है जिसमें पूरे के पूरे लोक के जितने पदार्थ हैं-भूत, अनागत और वर्तमान वे सब युगपत् दर्पण के समान झलक जाते हैं। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय का मंगलाचरण देखिए-

तज्जयति परं ज्योतिः, समं समस्तैरनन्तपर्यायैः।
दर्पणतल इव सकला, प्रतिफलति पदार्थमालिका यत्र॥

उमास्वामी महाराज ने अपने तत्त्वार्थसूत्र में कहा है कि '**एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्**' और एकाग्रता का अर्थ बताते हुए अकलंक स्वामी अपने तत्त्वार्थवार्तिक में लिखते हैं कि '**व्यग्रतानिवृत्यर्थम् एकाग्रताशब्दस्य प्रयोगः**' एकाग्रता शब्द का प्रयोग व्यग्रता के निरोध के लिए आया है। जहाँ पदार्थ को देखने की व्यग्रता नहीं है, वहीं दृष्टि सरल है। केवलज्ञान के लिए ऐसे ही ध्यान की आवश्यकता है। ऐसी ही एकाग्र अर्थात् सरल दृष्टि की आवश्यकता है वस्तु को जानने के लिए। व्यग्र हुए ज्ञान के द्वारा केवलज्ञान नहीं होगा। जब ज्ञान स्थिर हो जायेगा उसमें व्यग्रता रूप वक्रता का अभाव हो जाएगा, वह ध्यान में ढल जायेगा तभी केवलज्ञान की उत्पत्ति में सहायक होगा।

पूरे आगम ज्ञान का अध्येता भी क्यों न हो वह भी, तब तक मुक्ति का अधिकारी नहीं बन सकता, अपनी आत्मा की अनुभूति में लीन नहीं हो सकता जब तक कि उसकी व्यग्रता नहीं मिटती। जब तक कि दृष्टि रागद्वेष से मुक्त होकर सरल नहीं होती। व्यग्रता दूर करने के लिए ध्यान की एकाग्रता उपाय है। ध्यान के माध्यम से हम मन-वचन-काय की चेष्टाओं में ऋजुता ला सकते हैं और इन योगों में जितनी-जितनी ऋजुता/सरलता आती जायेगी, उपयोग में भी उतनी-उतनी व्यग्रता/वक्रता धीरे-धीरे मिटती जायेगी।

आचार्यों ने वक्रता को माया-कषाय के साथ भी जोड़ा है और माया को तिर्यंच आयु के लिए कारण बताया है। माया तैर्यग्योनस्य। तिर्यक् शब्द का एक अर्थ तिरछा या वक्र भी है। इधर-उधर दृष्टि का जाना ही दृष्टि की वक्रता है। इधर-उधर कौन देखता है? वही देखता है जिसके भीतर कुछ डर रहता है। आपने कबूतर को देखा होगा। एक दाना चुगता है लेकिन इस बीच उसकी दृष्टि पता नहीं कितनी बार इधर-उधर चली जाती है। मायाचारी व्यक्ति को दिशा जल्दी नहीं मिलती। मायाचारी, तिर्यञ्च गति का पात्र इसी से बनता है।

माया अर्थात् वक्रता भी कई प्रकार की है अनंतानुबंधी जन्य वक्रता अलग है, अप्रत्याख्यान तथा प्रत्याख्यान कषायजन्य वक्रता अलग है और सञ्ज्वलन की वक्रता अलग है। आचार्यों ने अनन्तानुबन्धी जन्य वक्रता के लिए बाँस की जड़ का उदाहरण दिया है। गांठों में गाठें इस प्रकार

उलझी रहती हैं कि उनको सीधा करना चाहो तो सीधी न हों। अप्रत्याख्यान जन्य वक्रता के लिए मेढ़े के सींगों का उदाहरण दिया है। मेढ़े के सींग घुमावदार होते हैं। प्रत्याख्यान जन्य वक्रता खुरपे के समान है। जरा से ताप के द्वारा उसे सीधा किया जा सकता है। अब हमें देख लेना चाहिए कि हमारी उपयोग की स्थिति कैसी है? उसमें वक्रता कितनी है और किस तरह की है, उसमें कितने घुमाव और कितने मोड़ हैं?

इस वक्रता को निकालने के लिए पहले मृदुता की बड़ी आवश्यकता है। मृदुता के अभाव में ऋजुता नहीं आती। जैसे किसी लोहे की सलाई में वक्रता आ जाये तो उसको ताप देने के उपरान्त जब उसमें थोड़ी मृदुता आ जाती है तब एक दो बार घन उसके ऊपर पटक दिया जाए तो उसमें सीधापन आ जाता है। इसी प्रकार कषायों की वक्रता निकालने के पहले रत्नत्रय धर्म को अंगीकार करके तप करना होगा। तभी ऋजुता आयेगी और आर्जव धर्म फलित होगा। घर बैठे-बैठे उपयोग में ऋजुता लाना संभव नहीं है। सलाई को लुहार के पास ले जाना होगा अर्थात् घर छोड़ना होगा। ऐसे ही तीर्थक्षेत्र पर आकर अपने उपयोग को गुरुओं के चरणों में समर्पित करना होगा और वे जो तप इत्यादि बतायें उसे ग्रहण करके कषायों पर घन का प्रहार करना होगा, तभी उपयोग में सरलता आयेगी।

आपने शुक्लपक्ष में धीरे-धीरे उगते चन्द्रमा को देखा होगा। शुक्लपक्ष में प्रतिपदा के दिन चन्द्रमा की एक कला खुलती है। लेकिन उसे देखना सम्भव नहीं है। दूज के दिन देखने मिले तो मिल सकता है। दूज के चन्द्रमा को कभी-कभी कवि लोग बंकिम-चन्द्रमा भी कहते हैं। अर्थात् अभी चन्द्रमा में वक्रता है, टेढ़ापन है और जैसे-जैसे चन्द्रमा अपने पक्ष को पूर्ण करता जाता है, वैसे-वैसे उसकी वक्रता कम होती जाती है, जब पक्ष पूर्ण हो जाता है तब वह बंकिम चन्द्रमा नहीं बल्कि पूर्ण चन्द्रमा कहलाने लगता है। इसी प्रकार हमारे भीतर जो ग्रन्थियाँ पड़ी हैं, उन ग्रंथियों का विमोचन करके हम पूर्णता को प्राप्त कर सकते हैं। महावीर भगवान् का पक्ष अर्थात् उनका आधार लेकर जब हम धीरे-धीरे आगे बढ़ेंगे, तभी पूर्ण सरलता की प्राप्ति होगी। ग्रन्थियों का विमोचन करना अर्थात् निर्ग्रन्थ होना, चारित्र को अंगीकार करना पहले अनिवार्य है। बारहभावना में पं. दौलतराम जी कहते हैं कि -

जे भाव मोह तैं न्यारे, दृग-ज्ञान-व्रतादिक सारे।
सो धर्म जबै जिय धारै, तब ही सुख अचल निहारै॥

छहढाला (पाँचवी ढाल)

सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र रूपी धर्म को धारण करके सभी प्रकार की अंतरंग और बहिरंग

ग्रन्थियों का विमोचन करके ही अचल सुख को पाया जा सकता है। अकेले किताबी ज्ञान से कुछ नहीं होगा।

जीवन की प्रत्येक क्रिया में धर्म का ध्यान रखना होगा। जिसके पास क्षमा धर्म है, वही क्रोध का वातावरण मिलने पर भी शान्त रहेगा। जिसके पास मान कषाय नहीं है वही लोगों के माध्यम से अपनी प्रशंसा सुनकर भी समता-भाव धारण कर सकेगा। यथाजात निर्ग्रन्थ होकर ही कोई जीवन में वास्तविक ऋजुता का दर्शन कर सकता है। किताबों में, कोशों में या मात्र शब्दों के माध्यम से धर्म का दर्शन नहीं हो सकता। इतना अवश्य है कि कुछ संकेत मिल सकते हैं। धर्म का दर्शन तो जीवन में धर्म को अंगीकार करने पर ही होगा या जिन्होंने धर्म को धारण कर लिया है उनके समीप जाने पर ही होगा। बालक अपनी माँ के पास बैठकर अपने हृदय की हर बात बड़ी सरलता से कह देता है उसी प्रकार सरल हृदय वाला साधक जब यथाजात होकर सभी ग्रन्थियाँ खोल देता है और सीधा-सीधा अपने मार्ग पर चलना प्रारम्भ कर देता है तो उसके जीवन में धर्म का दर्शन होने लगता है। वह स्वयं भी धर्म का दर्शन करने लग जाता है।

माया जब तक रहेगी, ध्यान रखना इस जीवन में और अगले जीवन में भी वह शल्य के समान चुभती रहेगी। मायावी व्यक्ति कभी सुख का अनुभव नहीं कर सकता। जिस समय काँटा चुभ जाता है उस समय तत्काल भले ही दर्द अधिक न हो लेकिन बाद में जब तक वह भीतर चुभा रहता है तब तक वह आपको चैन नहीं लेने देता। स्थिति ऐसी हो जाती है कि न रोना आता है, न हँसा जाता है, न भागा जाता है और न ही सोया जाता है, कुछ भी वह करने नहीं देता। निरन्तर पीड़ा देता है। ऐसे ही माया कषाय मायावी व्यक्ति के भीतर-भीतर निरन्तर घुटन पैदा करती रहती है।

बंधुओ! अपने उपयोग को साफ-सुथरा और सीधा बनाओ। जीवन में ऐसा अवसर बार-बार आने वाला नहीं है। जैसे नदी बह रही हो, समीप ही साफ-सुथरी शिला पड़ी हो और साफ करने के लिए साबुन इत्यादि भी साथ में हो, फिर भी कोई अपने वस्त्रों को साफ नहीं करना चाहे तो बात कुछ समझ में नहीं आती। कितनी पर्यायें एक-एक करके यूँ ही व्यतीत हो गयीं। अनन्तकाल से आज तक आत्मा कर्ममल से मलिन होती आ रही है। उसे साफ-सुथरा बनाने का अवसर मिलने पर हमें चूकना नहीं चाहिए। कषायों का विमोचन करना चाहिए। बच्चे के समान जैसा वह बाहर और भीतर से सरल है, उसी प्रकार अपने को बनाना चाहिए। यथाजात का यही अर्थ है कि जैसा उत्पन्न हुआ, वैसा ही भीतर और बाहर निर्विकार होना चाहिए।

यही यथाजात रूप वास्तव में ऋजुता का प्रतीक है। यही एकमात्र व्यग्रता से एकाग्रता की ओर जाने का राजपथ है। इस पथ पर आरूढ़ होने वाले महान् भाग्यशाली हैं। उनके दर्शन प्राप्त करना दुर्लभ है। उनके अनुरूप चर्या करना और भी दुर्लभ है।

रहे सदा सत्संग उन्हीं का ध्यान उन्हीं का नित्य रहे ।
उन ही जैसी चर्या में यह चित्त सदा अनुरक्त रहे ॥
(मेरीभावना)

ऐसी भावना तो हमेशा भाते रहना चाहिए। तिर्यञ्च भी सम्यग्दर्शन को प्राप्त करके एक देश संयम को धारण करके अपनी-अपनी कषायों की वक्रता को कम कर लेते हैं तो हम मनुष्य होकर संसार, शरीर और भोगों से विरक्त होकर यथाजात रूप को धारण क्यों नहीं कर सकते? कर सकते हैं। यथाजात रूप को धारण करने की भावना भी भा सकते हैं। जो उस यथाजात रूप का बार-बार चिन्तन करता रहता है, वह अपने उपयोग की सरलता के माध्यम से नियम से मुक्ति की मञ्जिल की ओर बढ़ता जाता है और एक दिन नियम से मञ्जिल को पा लेता है।

❑ ❑ ❑

उत्तम शौच

कंखाभावणिवित्तिं, किच्चोवेरग्गभावणाजुत्तो।
तस्स दु धम्मे हवे सोच्चं॥

जो परम मुनि इच्छाओं को रोककर और वैराग्य रूप विचारधारा से युक्त होकर आचरण करता है उसको शौच धर्म होता है।

जब मैं बैठा था वह समय, सामायिक का था और एक मक्खी अचानक सामने देखने में आयी। उसके पंख थोड़े गीले से लग रहे थे। वह उड़ना चाहती थी पर उसके पंख सहयोग नहीं दे रहे थे। वह अपने शरीर पर भार अनुभव कर रही थी और उस भार के कारण उड़ने की क्षमता होते हुए भी उड़ नहीं पा रही थी। जब कुछ समय के उपरान्त पंख सूख गये तब वह उड़ गयी। मैं सोचता रहा कि वायुयान की रफ्तार जैसी उड़ने की पूरी की पूरी शक्ति ही मानों समाप्त हो गयी। थोड़ी देर के लिए उसे हिलना-डुलना भी मुश्किल हो गया। यही दशा संसारी-प्राणी की है। संसारी-प्राणी ने अपने ऊपर अनावश्यक न जाने कितना भार लाद रखा है और फिर भी आकाश की ऊँचाईयां छूना चाहता है। प्रत्येक व्यक्ति ऊपर उठने की उम्मीद को लेकर नीचे बैठा है। स्वर्ग की बात सोच रहा है लेकिन अपने ऊपर लदे हुए बोझ की ओर नहीं देखता जो उसे ऊपर उठने में बाधक साबित हो रहा है।

वह यह नहीं सोच पाता कि क्या मैं यह बोझ उठाकर कहीं ले जा पाऊँगा या नहीं? वह तो अपनी मानसिक कल्पनाओं को साकार रूप देने के प्रयास में अहर्निश मन-वचन और काय की चेष्टाओं में लगा रहता है। अमूर्त स्वभाव वाला होकर भी वह मूर्त सा व्यवहार करता है। यूँ कहना

चाहिए कि अपने स्वरूप को भूलकर स्वयं भारमय बनकर उड़ने में असमर्थ हो रहा है। ऐसी दशा में वह मात्र लुढ़क सकता है, गिर सकता है और देखा जाए तो निरन्तर गिरता ही आ रहा है। उसका ऊँचाई की ओर बढ़ना तो दूर रहा देखने का साहस भी खो रहा है।

जैसे जब हम अपने कन्धों पर या सिर पर भार लिये हुए चलते हैं तो केवल नीचे की ओर ही दृष्टि जाती है। सामने भी ठीक से देख नहीं पाते। आसमान की तरफ देखने की तो बात ही नहीं है। ऐसे ही है संसारी प्राणी के लिए मोह का बोझा। मोह उसके सिर पर इतना लदा है, कहो कि उसने लाद रखा है कि मोक्ष की बात करना ही मुश्किल हो गया है।

विचित्रता तो ये है कि इतना बोझा कन्धों पर होने के बाद भी वह एक दीर्घ श्वांस लेकर कुछ आराम जैसा अनुभव करने लगता है और अपने बोझ को पूरी तरह नीचे रखने की भावना तक नहीं करता। बल्कि उस बोझ को लेकर ही उससे मुक्त हुए बिना ही मोक्ष तक पहुँचने की कल्पना करता है। भगवान के समाने जाकर, गुरुओं के समीप जाकर अपना दुख व्यक्त करता है कि हमें मार्गदर्शन की आवश्यकता है। आप दीनदयाल हैं। महती करुणा के धारक हैं। दया-सिन्धु, दयापालक हैं। करुणा के आकार हैं, करुणाकार हैं। आपके बिना कौन हमारा मार्ग प्रदर्शित कर सकता है?

उसके ऐसे दीनता भरे शब्दों को सुनकर और आँखों से अश्रुधारा बहते देखकर सन्त लोग विस्मय और दुख का अनुभव करते हैं। वे सोचते हैं कि कैसी यह संसार की रीत है कि परिग्रह के बोझ को निरन्तर इकट्ठा करके स्वयं दीन-हीन होता हुआ यह संसारी प्राणी संसार से मुक्त नहीं हो पाता।

'शुचेर्भावः शौच्यम्।' शुचिता अर्थात् पवित्रता का भाव ही शौचधर्म है। अशुचि भाव का विमोचन किये बिना उसकी प्राप्ति सम्भव नहीं है। शुचिता क्या है और अशुचिता क्या है? यही बतलाने के लिए आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने रत्नकरण्डक श्रावकाचार में एक कारिका के माध्यम से सम्यग्दर्शन के आठ अंगों का वर्णन करते हुए कहा है कि-

स्वभावतोऽशुचौ काये, रत्नत्रयपवित्रिते।
निर्जुगुप्सा गुणप्रीतिर्मता निर्विचिकित्सिता॥

(रत्नकरण्डक श्रावकाचार-१३)

शरीर तो स्वभाव से ही अपवित्र है, उसमें पवित्रता यदि आती है तो रत्नत्रय से आती है। रत्नत्रय ही पवित्र है। इसलिए रत्नत्रय रूपी गुणों के प्रति प्रीतिभाव रखना चाहिए। रत्नत्रय को धारण करने वाले शरीर के प्रति विचिकित्सा नहीं करना चाहिए।

चिकित्सा का अर्थ ग्लानि से है। या कहें कि एक प्रकार से प्रतिकार का भाव ही चिकित्सा

है और विचिकित्सा का अर्थ विशेष रूप से चिकित्सा या ग्लानि लिया गया है। विचिकित्सा का अभाव होना ही 'निर्विचिकित्सा-अंग' है। जीवन में शुचिता इसी अंग के पालन करने से आती है। शरीर तो मल का पिटारा है, घृणास्पद भी है। हमारा ध्यान शरीर की ओर तो जाता है लेकिन उसकी वास्तविक दशा की ओर नहीं जाता। इसी कारण शरीर के प्रति राग का भाव या घृणा का भाव आ जाता है। वासना की ओट में शरीर की उपासना अनादिकाल से यह संसारी प्राणी करता आ रहा है। लेकिन उसी शरीर में बैठे हुए आत्मा की उपासना करने की ओर हमारी दृष्टि नहीं जाती।

विषयों में सुख मानकर यह जीव अपनी आत्मा की उपासना को भूल रहा है। आचार्य कुन्दकुन्दस्वामी ने प्रवचनसार में कहा है कि-

कुलिसायुहचक्कहरा सुहोवओगप्पगेहिं भोगेहिं।
देहादीणं वड्ढी करेंति सुहिदा इवाभिरदा॥

(प्रवचनसार-७७)

अर्थात् इन्द्र और चक्रवर्ती पुण्य के फलस्वरूप भोगों के द्वारा देहादि की पुष्टि करते हैं और भोगों में लीन रहते हुए सुखी जान पड़ते हैं, लेकिन वास्तविक सुख वह नहीं है।

लोभ के वशीभूत हुआ संसारी प्राणी विषय रूपी वासना में लिप्त होने के कारण आत्मिक सुख से वञ्चित हो रहा है। चार कषायों के द्वारा चार गतियों में निरन्तर भटक रहा है। नरकों में विशेष रूप से क्रोध के साथ, तिर्यञ्चों में माया के साथ, मनुष्यों में मान के साथ और देवों में लोभ के साथ यह जीव उत्पन्न होता है। वैचित्र्य तो यह है कि और लोभी बनकर आज यह संसारी प्राणी देव बनना चाहता है। एक तरह से और लोभी ही होना चाहता है। देखा जाए तो स्वर्ग में भी सागरोपम आयु वाले इन्द्र और अहमिन्द्र को भी विषय कषाय के अभाव में होने वाली आत्मानुभूति का अनुभव क्षण भर को भी नहीं होता। भले ही उन्हें सुखानुभूति मनुष्यों की अपेक्षा अधिक रही आवे।

प्रत्येक असंयमी संसारी प्राणी की स्थिति जोंक की तरह है। जैसे जोंक किसी जानवर या गाय/भैंस के थनों (स्तनों) के ऊपर चिपक जाता है और वह सड़े-गले खून को ही चूसता रहता है। 'वैसे ही स्वर्ग के सुखों की भी ऐसी ही उपमा दी गयी है।' आचार्यों ने हमारे लोभ के भिन्न-भिन्न उपाय करते हुए भिन्न-भिन्न उपदेश दिये हैं। किसी भी तरह लोभ का विरेचन हो जाये, यही मुख्य दृष्टिकोण रहता है लेकिन इतने पर भी ऐसा उदाहरण सुनकर भी संसारी प्राणी लोभ का विरेचन करने के लिए तैयार न हो, तो उसका कल्याण कौन कर सकेगा? जिस लोभ को छोड़ना था, उसी लोभ के वशीभूत हुआ आज संसारी-प्राणी अपनी ख्याति, पूजा, लाभ और यश-कीर्ति चाह रहा है।

स्वर्गों में सम्यग्दृष्टि के लिए भी ऐसी उपमा देने के पीछे आशय यही है कि विषय भोगों की लालसा यदि मन में है तो वह मुक्ति में बाधक है। आज प्रगति का युग है, विज्ञान का युग है। लेकिन देखा जाये तो दुर्गति का भी युग है। क्योंकि आज आत्मा में निरन्तर कलुषता आती जा रही है। लोभ-लालसा दिनों-दिन बढ़ती जा रही है। जितने सुविधा के साधन जुटाये जा रहे हैं, उतना ही व्यक्ति में तृष्णा और असन्तोष बढ़ रहा है। कीचड़ के माध्यम से कीचड़ धोना सम्भव नहीं है। कीचड़ को धोने के लिए तो वर्षा होनी चाहिए। पवित्र-जल की वर्षा से ही पवित्रता आयेगी।

समसंतोसजलेणं जो धोवदि तिव्वलोहमलपुंजु।
भोयणगिद्धिविहीणो तस्स सउच्चं हवे विमलं॥

निर्मल शौच धर्म उसे ही होता है, जो समता और संतोष रूपी जल के द्वारा अपने तीव्र लोभ रूपी मल के पुञ्ज को धोता है और भोजनादि अन्य पदार्थों में अत्यन्त आसक्त नहीं होता। स्वर्गों में देव पूरी तरह विषय भोगों का परित्याग तो नहीं कर सकते जैसा कि मनुष्य जीवन में कर पाना सम्भव है। लेकिन वे देव भी जहाँ-जहाँ भगवान् के पंचकल्याणक होते हैं वहाँ-वहाँ अवश्य जाते हैं और परिवार सहित विषय-भोग को गौण करके उन महान् आत्माओं की सेवा, आराधना करके अपने आत्मा-स्वरूप की ओर देखने का प्रयास करते हैं।

भगवान की वीतराग-छवि और वीतराग स्वरूप की महिमा देखकर वे मन ही मन विचार भी करते हैं कि हे भगवन्! आपकी वीतरागता का प्रभाव हमारे ऊपर ऐसा पड़े कि हमारा रागभाव पूरा का पूरा समाप्त हो जाए। आपकी वीतराग छवि से समत्व की ऐसी वर्षा हो कि हम भी थोड़ी देर के लिए शान्ति का अनुभव कर सकें और राग की तपन से बच सकें। यदि देवगति में रहकर देव लोग इस प्रकार की भावना कर सकते हैं तो आप लोग तो देवों के इन्द्र से भी बढ़कर हो। क्योंकि आप लोगों के लिए तो उस मनुष्य काया की प्राप्ति हुई है जिसे पाने के लिए देव लोग भी तरसते हैं। आपकी यह मनुष्य काया की उपलब्धि कम नहीं है, क्योंकि यह मुक्ति का सोपान बन सकती है। लेकिन यह उसे ही सम्भव है जो विषय-भोगों से विराम ले सकें। जब तक हम विषय-भोगों से विराम नहीं लेंगे तब तक आत्मा का साक्षात् दर्शन सम्भव नहीं है। पवित्र-आत्मा का दर्शन विषय-भोगों के विमोचन के उपरान्त ही सम्भव है।

यदि कषायों का पूरी तरह विमोचन नहीं होता तो कम से कम उनका उपशमन तो किया ही जा सकता है। आचार्य कुन्दकुन्द और समन्तभद्र जैसे महान् आचार्य धन्य हैं, जिन्होंने इस भौतिक युग में रहते हुए भी जल से भिन्न कमल के समान स्वयं को संसार से निर्लिप्त रखा और विषय-कषाय से बचते हुए अपनी आत्मा की आराधना की। विषय कषाय से बचते हुए वीतराग प्रभु के

द्वारा प्रदर्शित पथ पर चलने का प्रयास किया। रात-दिन अप्रमत्त रहकर, जागृत रहकर उस जागृति के प्रकाश में अपने खोये हुए, भूले हुए आत्मतत्त्व को ढूँढ़ने का प्रयास किया।

इतना ही नहीं ऐसे महान् आचार्यों ने हम जैसे मोही, रागी, द्वेषी, लोभी और अज्ञानी संसारी प्राणियों के लिए, जो कि अंधकार में भटक रहे हैं, अपने ज्ञान के आलोक से पथ प्रकाशित करके हमारी आँखें खोलने का प्रयास भी किया है-

अज्ञानतिमिरान्धानाम् ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरून्मीलितं येन, तस्मै श्रीगुरूवे नमः॥

ज्ञानरूपी अञ्जन-शलाका से हमारी आँखों को खोलकर अज्ञान रूपी अंधकार का नाश कर दिया है। ऐसे परम गुरुओं को हमारा नमस्कार होवे। उनके अपार उपकार का स्मरण करना चाहिए। ऐसे महान् आचार्यों के द्वारा ही हजारों-लाखों वर्षों से चली आ रही अहिंसा-धर्म की परम्परा आज भी जीवन्त है। वस्तुतः ध्वनियाँ क्षणिक हैं, लेकिन जो भीतरी आवाज है, जो दिव्यध्वनि है, जो जिनवाणी है, वही शाश्वत और उपकारी है। एक बार यदि हम अपना उपयोग उस ओर लगा दें तो बाह्य-ध्वनियों की कोई आवश्यकता नहीं पड़ेगी। इस भीतरी ध्वनि के सामने दुनियाँ की सारी बाहरी शक्ति फीकी पड़ जाती है। जैसे प्रभाकर के सामने जुगनू का प्रकाश फीका है, कार्यकारी नहीं है, इस प्रकार उत्तम शौच का पान करने वाले मुनियों के लिए बाह्य-सामग्री कार्यकारी मालूम नहीं पड़ती और वे निरन्तर उसका विमोचन करते रहते हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने समयसार का मंगलाचरण करते हुए कहा है कि-

वंदित्तु सव्वसिद्धे धुवमचलमणोवमं गदिं पत्तो।
वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुदकेवली भणिदं॥

हे भव्यजीव! मैं शाश्वत, अचल और समस्त उपमाओं से रहित ऐसी पञ्चमगति को प्राप्त सब सिद्धों को नमस्कार करके श्रुत-केवली भगवान् के द्वारा कहे गये समयप्राभृत ग्रन्थ को कहूँगा। उपनिषदों में शुद्ध तत्त्व का वर्णन करते हुए जो बात नहीं लिखी गयी, वह आचार्य कुन्दकुन्द महाराज ने लिख दी कि एक सिद्ध भगवान् को नहीं, सारे सिद्ध भगवानों को प्रणाम करके ग्रन्थ का प्रारम्भ करता हूँ। सिद्ध एक ही नहीं हैं, अनन्त हैं। सभी में, प्रत्येक जीवात्मा में सिद्धत्व की शक्ति विद्यमान है। आचार्य महाराज ने भीतर बैठी इसी शुद्धात्मा की शक्ति को दिखाने का प्रयास किया है और कहा है कि यदि थोड़ा-थोड़ा भी, धीरे-धीरे भी लोभ का मल कम करके भीतर झाँकने का प्रयास करोगे तो जैसे दूध में घृत के दर्शन होते हैं, सुगंधी का पान करते हैं, रस का अनुभव आता है, ऐसे ही शुद्धात्मा का दर्शन, पान और अनुभवन सम्भव है।

आप दूध तपाकर मावा बनाते हैं। उसे कहीं-कहीं खोवा या खोया भी कहते हैं। वस्तुतः वह खोया ही है। दूध को 'खोया' तभी मिला खोया। (हँसी) यूँ कहो कि जो खो गया था, वह मिल गया। हमारा आत्म-तत्त्व मानों खो गया है और कषायों के नीचे दब गया है यदि हम लोभ को खो दें, तो हमारा खोया हुआ आत्म-तत्त्व हमें मिल जायेगा। तब खोया मिल जायेगा। लोभ की स्थिति बड़ी जटिल है। इसके माध्यम से ही सभी कषायों की सेना आती है। आचार्यों ने लिखा है कि क्रोध, मान, माया और लोभ ये सभी क्रम-क्रम से उपशम या क्षय को प्राप्त होती हैं। सबसे अन्त में लोभ जाता है। लोभ की पकड़ भीतर बहुत गहरी है। इस लोभ के पूरी तरह क्षय होते ही वीतरागता आने में और भगवान बनने में देर नहीं लगती।

मन में यह जागृति आ जाये कि- ''जानूँ कि मैं कौन हूँ'' तो सारी सांसारिक लोभ, लिप्सा समाप्त होने लग जाती है। भीतर प्रज्ज्वलित होने वाली आत्म-ज्ञान की ज्योति में अपने स्वभाव की ओर दृष्टि जाने लगती है। हमें ज्ञात हो जाता है कि भले ही मेरी आत्मा के साथ कर्म एकमेक हुए के समान हों और वह शरीरादि बाह्य सामग्री नोकर्म के रूप में मुझे मिली हो। रागद्वेषादि भाव मेरे साथ मिलजुल गये हों। लेकिन इन सभी कर्म, नोकर्म और भाव-कर्म से मैं भिन्न हूँ। वास्तव में, बाहरी संबंधों में अपने को मुक्त कर लेने के उपरान्त हमारी आत्मा की दशा ऐसी हो जाती है कि फिर बाह्य वस्तुओं को पहचानना भी मुश्किल सा लगने लगता है। एक निर्मोही की दृष्टि में बाह्य पदार्थों की जानकारी पाने के लिए उत्सुकता शेष नहीं रह जाती।

संसारी प्राणियों में बहुत सारी विचित्रताएँ देखने में आती हैं। मनुष्य की विचित्रता यह है कि वह सब कुछ जानते हुए भी अपने जीवन में कल्याण की बात नहीं सोचता। मैं पूछता हूँ आप सभी लोगों से कि आपने कभी परिग्रह को पाप समझा या नहीं? आपने वस्तुओं के प्रति अपने मूर्छा भाव को पाप समझा है या नहीं? आप सभी यह मानते हैं कि हिंसा को हमारे यहाँ अच्छा नहीं माना गया, झूठ भी पाप है। चोरी करना भी हमारे यहाँ ठीक नहीं बताया। कुशील की तो बात ही नहीं है। इस तरह आप चारों पापों से दूर रहने का दावा करते हैं किन्तु जो पापों का सिरमौर है, जो परम्परा से चला जा रहा है परिग्रह, उसे आप पाप नहीं मानते।

बात यह है कि उसके माध्यम से सारे के सारे कार्य करके हम अपने आपको धर्म की मूर्ति बताने में सफल हो जाते हैं। भगवान का निर्माण करा सकते हैं, मन्दिर बनवा सकते हैं चार लोगों के बीच अपने को बड़ा बता सकते हैं। इस तरह आपने परिग्रह को पाप का बाप कहा अवश्य है, लेकिन माना नहीं है। बल्कि परिग्रह को ही सब कुछ मान लिया है। सोचते हैं कि यह जब तक है तभी तक हम जीवित हैं या कि तभी तक घर में दीपक जल रहा है। हमें लगता है कि धन के बिना

धर्म भी नहीं चल सकता। देखने में भी आता है कि अच्छा मञ्च बनाया है, बड़ा पण्डाल लगाया है तभी तो घण्टों बैठकर प्रवचन सुन पा रहे हैं।

लेकिन ध्यान रखना धर्म की प्रभावना के लिए धन का उतना महत्त्व नहीं है जितना कि धन को छोड़ने का महत्त्व है। यह भगवान् महावीर का धर्म है जिसमें कहा गया है कि जब तक धन की आकांक्षा है, धन की महिमा गायी जा रही है, तब तक धर्म की बात प्रारम्भ ही नहीं हुई है। किसी आँग्ल कवि (इंग्लिश पोयट) ने कहा है कि सुई के छेद से ऊँट पार होना सम्भव है, लेकिन धन के संग्रह की आकांक्षा रखने वाले व्यक्ति को मुक्ति सम्भव नहीं है।

हमारे यहाँ धर्म के अर्जन की बात कही गयी है, धन के अर्जन की बात नहीं कही गयी, बल्कि धन के विसर्जन की बात कही गयी है। हम इस मनुष्य पर्याय की दुर्लभता को समझें और यह भी समझें कि हम इस दुर्लभ वस्तु को किस तरह कौड़ियों के दाम बेच रहे हैं। किस तरह धन के पीछे हम अपना मूल्यवान आत्म-धन नष्ट कर रहे हैं। जैसे कोई हमेशा अंधकार में जीता रहे तो उसे कभी दिन का भान नहीं हो पाता, उसे पूर्व और पश्चिम दिशा का ज्ञान भी नहीं हो पाता। ऐसे ही जो व्यक्ति हमेशा धन की आकांक्षा में और विषय भोगों की लालसा में व्यस्त रहता है उसे यह पहचान ही नहीं हो पाती कि भगवान् वीतराग कैसे हैं? उन्होंने किस तरह परिग्रह का विमोचन करके तथा लोभ का त्याग करके पवित्रता, वीतरागता पायी है। ध्यान रखना वीतरागता कभी धन के माध्यम से या लोभ के माध्यम से नहीं मिलती।

''**परितः समन्तात् गृह्णाति आत्मानम् इति परिग्रहः**'' जो आत्मा को चारों ओर से अपनी चपेट में ले, वह परिग्रह है। लोग कहते हैं ग्रह दशा ठीक नहीं चल रही, तो मैं सोचता हूँ कि परिग्रह से बड़ा भी कोई ग्रह है, जो हमें ग्रसित करे? परिग्रह रूपी ग्रह ही हमें ग्रसित कर रहा है। इसी के कारण हम परमार्थ को भूल रहे हैं और जीवन के वास्तविक सुख को भूलकर इन्द्रिय सुखों को ही सब कुछ मान रहे हैं। जिसके पास जितना परिग्रह है या आता जा रहा है, वह मान रहा है कि परिग्रह (बाह्य पदार्थों का संग्रह) हमारे हाथ में है और हम उसके मालिक हैं। लेकिन ध्यान रखना परिग्रह आपके वश में नहीं है बल्कि आप ही परिग्रह के वशीभूत हैं, परिग्रह ने ही आपको सब ओर से घेर रखा है। तिजोरी के अन्दर धन-सम्पदा बन्द है और आप पहरेदार की तरह पहरा दे रहे हैं और सेठ जी कहला रहे हैं। क्या पहरा देने वाला सेठ जी हो सकता है? वह तो पहरेदार ही कहलायेगा वह मालिक नहीं नौकर ही कहलायेगा। धन संपत्ति मालिक बनी हुई है और आराम से तिजोरी में राज्य कर रही है, आप उसी की आरती उतार रहे हैं और स्वयं को धन्य मान रहे हैं। दीपावली के दिन भगवान महावीर को मोक्ष लक्ष्मी की प्राप्ति हुई थी, लेकिन आज आप लोग परिग्रह रूपी धन-संपत्ति को लक्ष्मी मानकर उसी की पूजा कर रहे हैं, जो अज्ञानता का ही प्रतीक है।

आचार्यों ने परिग्रह संज्ञा को संसार का कारण बताया है और संसारी प्राणी निरन्तर इसी परिग्रह के पीछे अपने सर्वश्रेष्ठ मानव जीवन को गँवा रहा है। जिस आत्मा में परमात्मा बनने की, पतित से पावन बनने की क्षमता है वही आत्मा परिग्रह के माध्यम से, लोभ-लिप्सा के माध्यम से संसार में रुल रहा है। एक बार यदि आप अपने भीतरी आत्म-वैभव का दर्शन कर लें तो आपको ज्ञात हो जायेगा कि अविनश्वर सुख-शांति का वैभव तो हमारे भीतर ही है। अनन्त गुणों का भण्डार हमारे भीतर ही है और हम बाहर हाथ पसार रहे हैं।

कम से कम आज आप ऐसा संकल्प अवश्य लेकर जाइये कि हम अनन्त-काल से चले आ रहे इस अनंतानुबंधी संबंधी अनन्त लोभ का विमोचन अवश्य करेंगे और अपने पवित्र स्वरूप की ओर दृष्टिपात करेंगे। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने समयसार में आत्मा के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा है कि-

अरसमरूवमगंधं, अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं, जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं॥

(समयसार- ५४)

जो रस रहित है, जो रूप-रहित है, जिसकी कोई गन्ध नहीं है, जो इन्द्रियगोचर नहीं है, चेतना-गुण से युक्त है, शब्द रहित है, किसी बाहरी चिह्न या इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण नहीं होता और जिसका आकार बताया नहीं जा सकता, ऐसा यह जीव है आत्मतत्त्व है।

जिन आचार्य कुन्दकुन्द, आचार्य समन्तभद्र और आचार्य पूज्यपाद जैसे महान् निष्परिग्रही आत्माओं के द्वारा इस आत्मस्वरूप की उपासना की गयी है, उन्हीं निष्परिग्रही आत्माओं के हम भी उपासक हैं, होना भी चाहिए। अभी जैसे आप स्वयं ही अनुभव कर रहे हैं कि देह रूपी परिग्रह तक का ध्यान भूलकर किस तरह तन्मय होकर धर्मलाभ लिया जा सकता है। भाई! अपने जीवन को इसी प्रकार लोभ-मल से बचाकर पवित्र होने का, शौच-धर्म प्राप्त करने का उपाय करना ही सच्चा पुरुषार्थ है।

आज सीप का नहीं, मोती का, आज दीप का नहीं, ज्योति का स्वागत करना है और अपने जीवन को, आदर्श भास्वत करना है। संसारी प्राणी इस रहस्य को नहीं जान पा रहा है कि शुचि क्या है और अशुचि क्या है? इन दोनों के बीच भेद क्या है? यह क्रम अनादि से चला आ रहा है, लेकिन संसारी प्राणी जैसे इस बात से अनभिज्ञ हैं। जहाँ पर कमल उगता है वही देखा जाए तो नीचे कीचड़ भी देखने में आता है। सीप में से मोती निकलता है और दीप में ज्योति जलती है, प्रकाश होता है। मोती मूल्यवान है तथा प्रकाश की महत्ता है। भगवान् के चरणों में चक्रवर्ती जैसे महापुरुष अञ्जुलि भर-भर कर मोती ही चढ़ाते हैं। कीचड़ में उगने वाला कमल भगवान् के चरणों में चढ़ाया जाता

है। कीचड़ को कोई छूना भी नहीं चाहता। किन्तु आज उस कमल का, उस ज्योति का और मोती का अनादर किया जा रहा है और अशुचि रूप कीचड़ में ही जीवन लथपथ हो रहा है।

संसारी प्राणी मोती को छोड़कर सीप में ही चाँदी की कल्पना करके फंसता जा रहा है। इसी प्रकार अशुचि का भण्डार यह शरीर भी है। हम शरीर को ही आदर देते जा रहे हैं। अस्सी साल का वृद्ध भी दिन-भर में कम से कम एक बार दर्पण देखने का अवश्य इच्छुक रहता है। किन्तु आत्म-तत्त्व देखने के लिए आज तक किसी ने विचार नहीं किया। यह कोई नहीं सोचता कि ऐसा कौन सा दर्पण खरीद लूँ जिसमें मैं अपने आपका वास्तविक रूप देख सकूं। आकर्षण का केन्द्र शरीर न होकर उसमें रहने वाली आत्मा ही आकर्षण का केन्द्र हो जाये। लेकिन संसार की रीत बड़ी विपरीत है। बहुत कम लोगों की दृष्टि इस ओर है।

गगन का प्यार, धरा से हो नहीं सकता और मदन का प्यार कभी जरा से हो नहीं सकता। यह भी एक नियति है, सत्य है कि सज्जन का प्यार कभी सुरा से हो नहीं सकता। विधवा को कभी अंगराग रुचता नहीं, कभी सधवा को भी संग त्याग रुचता नहीं, संसार से विपरीत रीत, विरलों की ही होती है कि भगवान् को कभी भी राग दाग रुचता नहीं?

मैं मानता हूँ अशुचिता से अपने आपके जीवन को ऊपर उठाना, हँसी-खेल नहीं है। लेकिन खेल नहीं होते हुए भी उस ओर दृष्टिपात तो अवश्य करना चाहिए। ऐसे-ऐसे व्यक्ति देखने में आते हैं कि खेल Commentary सुनने में दिन-रात लगा देते हैं और भूख-प्यास सब भूल जाते हैं। शरीर की ओर दृष्टि नहीं जाती। यह एक भीतरी लगन की बात है। जैसे खेल नहीं खेलते हुए भी खेल के प्रति आस्था, आदर और बहुमान होने के कारण यह व्यवहार हो जाता है। उसी प्रकार यदि आज हम स्वयं आत्मतत्त्व का दर्शन नहीं भी कर पाते, उसे नहीं पहचानते तो कोई बात नहीं। किन्तु जिन्होंने उस आत्म-तत्त्व को पहचाना है उनके प्रति आस्था, आदर और बहुमान रखकर उनकी बात तो कम से कम सुनना ही चाहिए।

माँ उस समय चिन्तित हो जाती है, जब लड़का अच्छा खाना नहीं खाता और खेलकूद के लिए भाग जाता है। उसी प्रकार सारे विश्व का हित चाहने वाले आचार्यों को भीतर ही भीतर उस समय चिन्ता और दुख होता है, जब संसारी प्राणी अपने उस स्वभाव से जिसमें वास्तविक आनन्द है जो वास्तविक सम्पदा है, उससे एक समय के लिए भी परिचित नहीं हुआ। आचार्य समन्तभद्र महाराज, जो दर्शन (फिलासफी) के प्रति गहरी रुचि और आस्था रखते थे और जिनकी सिंह गर्जना के सामने हाथियों के समान प्रवादियों का मद (अहंकार) गल जाता था। वे कहते हैं संसारी प्राणी ने आज तक पवित्रता का आदर नहीं किया है और अपवित्रता को ही गले लगाया है। यही कारण

है कि उसे आत्म-तत्त्व का परिचय नहीं हुआ। अशुचिमय शरीर में बैठे हुए आत्मा का जो ज्ञानदर्शन लक्षण वाला है, दर्शन नहीं हुआ।

कीचड़ के संयोग से लोहा जंग खा जाता है लेकिन स्वर्ण, कीचड़ का संयोग पाकर भी अपने स्वर्णत्व को नहीं छोड़ता। ऐसे ही शरीर के साथ रहकर भी आत्मा अपने ज्ञान-दर्शन गुण को नहीं छोड़ता। हाँ, इतना अवश्य है कि स्वर्ण-पाषाण की भाँति हमारा आत्मा अभी अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त नहीं कर पाया है। जैसे स्वर्ण पाषाण में स्वर्ण है और उसे विधिवत् निकाला जाये तो निकल सकता है, उसी प्रकार आत्म-तत्त्व को कर्म-मल के बीच से निकालना चाहें तो निकाला जा सकता है। वास्तविक मल तो सही कर्म-मल है जो अनादिकाल से आत्मा के साथ चिपका हुआ है और आत्मा में विकार उत्पन्न करता है।

बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा ये आत्मा की विभिन्न दशाएँ हैं। इनमें से अपनी परमात्म-दशा को विधिवत् निकाल लेना ही सच्चा पुरुषार्थ है और जो ऐसा करता है वह फिर शरीर को महत्त्व नहीं देता। बल्कि आत्मा को बचाकर पवित्र बनाने का प्रयास करने में जुट जाता है। शरीर का इतना ही महत्त्व है कि उसके माध्यम से आत्म-तत्त्व को प्राप्त करना है यह ज्ञानी जानता है और शरीर को सावधानी पूर्वक सुरक्षित रखकर आत्म-तत्त्व को प्राप्त करने में लग जाता है। हमें जानना चाहिए कि आत्म-तत्त्व के द्वारा ही शरीर को महत्त्व मिलता है अन्यथा उसे कोई नहीं चाहता। वह अशुचिमय है और आत्मा से पृथक् है। हमारा कर्त्तव्य है कि हम उसकी अशुचिता को समझें और उसके प्रति आसक्ति को छोड़कर रत्नत्रय से पवित्र आत्मा के प्रति अनुरक्त हों।

वीतराग यथाजात दिगम्बर रूप ही पवित्र है, क्योंकि इसी के माध्यम से आत्मा चार प्रकार की आराधना करके मुक्ति को प्राप्त होती है और पवित्र होती है। वस्तुतः पवित्रता शरीराश्रित नहीं है लेकिन यदि आत्मा शरीर के साथ रहकर भी धर्म को अंगीकार कर लेती है तो शरीर भी पवित्र माना जाने लगता है, क्योंकि तब उसमें राग नहीं है और उसमें द्वेष भी नहीं है। वह सप्त-धातु से युक्त होते हुए भी पूज्य हो जाता है। शरीर के साथ जो धर्म के द्वारा संस्कारित आत्मा है, उसका मूल्य है और उस संस्कारित आत्मा के कारण ही शरीर का भी मूल्य बढ़ जाता है।

जैसे कोई व्यक्ति धागे को गले में नहीं लटकाता किन्तु फूलों की माला के साथ या मोती की माला के साथ वह धागा भी गले में शोभा पाता है और फूल सूख जाने पर फिर कोई उसे धारण नहीं करता। इसी प्रकार यदि धर्म साथ है तो शरीर भी शोभा पाता है। धर्म के अभाव में जीवन शोभा नहीं पाता। उसे कोई मूल्य नहीं देता तथा उसे कोई पूज्य भी नहीं मानता। हमारे यहाँ जड़ का आदर नहीं किया गया। आदर तो चेतना का ही किया जाता है। जो इस चेतना का आदर करता है, उसका परिचय प्राप्त कर लेता है, वही वास्तविक आनन्द को प्राप्त कर लेता है। वही तीन लोक में पूज्यता को प्राप्त होता है।

जैसे कोई अन्धा हो या आँख मूँद कर बैठा हो तो उसे प्रकाश का दर्शन नहीं होता और वह सोच लेता है कि प्रकाश कोई वस्तु नहीं है, अंधकार ही अंधकार है। उसी प्रकार संसारी प्राणी लोभ के कारण अन्ध हुआ है उसे आत्म-तत्त्व प्रकाशित नहीं हो रहा है। उसे रत्नत्रय का दर्शन नहीं हो पा रहा है और उसका जीवन अंधकारमय हो रहा है। वह सोचता है कि जीवन में आलोक सम्भव ही नहीं है। लेकिन जो आँख खोल लेता है, लोभ को हटा देता है, विकारों पर विजय पा लेता है, उसे प्रकाश दिखायी पड़ने लग जाता है और उसका जीवन आलोकित हो जाता है। शरीर के प्रति रागभाव हटते ही शरीर में चमकने वाला आत्म-तत्त्व का प्रकाश दिखायी पड़ने लगता है और वह आत्मा उस औदारिक अशुचिमय शरीर से युक्त होकर परम-औदारिक शरीर को प्राप्त कर लेता है। परम पावन हो जाता है।

बन्धुओ! आज अशुचि का नहीं, शुचिता का आदर करना है। सीप का नहीं, मोती का आदर करना है। दीप का नहीं, ज्योति का स्वागत करना है और अपने जीवन को प्रकाशित करना है। ब्रह्मचर्य प्रतिमा धारण करने वाले के लिए समन्तभद्र आचार्य ने रत्नकरण्डक श्रावकाचार में लिखा है कि वह शरीर के बारे में ऐसा विचार करें-

मलबीजं मलयोनिं गलन्मलं पूतिगन्धि बीभत्सं।
पश्यन्नङ्गमनङ्गाद्विरमति यो ब्रह्मचारी सः॥

(रत्नकरण्डक श्रावकाचार-१४३)

ब्रह्मचारी वह है, जो शरीर को मल का बीज मानता है, मल की उत्पत्ति का स्थान मानता है और दुर्गंध तथा घृणास्पद चीजों का ढेर मानकर उससे राग नहीं करता। उससे विरक्त रहकर अपने ब्रह्म अर्थात् आत्म-तत्त्व का ही अवलोकन करने में आनन्द मानता है।

जिस शरीर को शुद्ध बनाने के लिए, सुगंधित बनाने के लिए हम नाना प्रकार के उपाय करते हैं, वह शरीर कैसा है उसका विचार करें तो मालूम पड़ेगा कि-

केशर चन्दन पुष्प सुगंधित वस्तु देख सारी।
देह परसते होय अपावन निशदिन मलझारी॥

(मंगतरायकृत बारहभावना)

केशर लगाओ, चाहे चन्दन छिड़को या सुगंधित फूलों की माला पहनाओ, यह सब करने के उपरान्त भी शरीर अपावन ही बना रहता है। ये सभी चीजें शरीर का सम्पर्क पाकर अपावन हो जाती है। ऐसा यह शरीर है। शरीर की अशुचिता के बारे में ऐसा विचार किया जाए तो शरीर को सजाने-सँवारने के प्रति लोभ कम होगा और आत्म-तत्त्व की ओर रुचि जागृत होगी।

शरीर की अशुचिता और आत्मा की पवित्रता का चिन्तन करना ही उपादेय है। आप शरीर की सुन्दरता और गठन देखकर मुग्ध हो जाते हैं और कह देते हैं कि क्या पर्सनालिटी है लेकिन वास्तव में देखा जाए तो व्यक्तित्व, शरीर की सुन्दरता या सुडौलता से नहीं बनता, वह तो भीतरी आत्मा के संस्कारों की पवित्रता से बनता है। अशुचिता हमारे भावों में हो रही है, उसे तो हम नहीं देख रहे हैं और शरीर की शुचिता में लगे हैं। हमें भावों में शुचिता लानी चाहिए। भावों में निर्मलता लानी चाहिए। भावों में मलिनता का कारण शरीर के प्रति बहुत आसक्त होना ही है। इसी की सोहबत में पड़कर आत्मा निरन्तर मलिन होती जा रही है। आत्मा की सुगन्धि खोती जा रही है और आत्मा निरन्तर वैभाविक परिणमन का ही अनुभव कर रही है।

सम्यग्दृष्टि शरीर को गौण करके आत्मा के रत्नत्रय रूप गुणों को मुख्य बनाता है। वह जानता है कि जब तक शरीर के प्रति आसक्ति बनी रहेगी, आत्मा का दर्शन उपलब्ध नहीं होगा। इसलिए शरीर के संबंधों को, शरीर के रूप लावण्य को, शरीर के आश्रित होने वाले जाति और कुल के अभिमान को, लोभ को गौण करके एक बार आत्मा के निर्मल दर्पण में झाँकने का प्रयास करना ही श्रेयस्कर है। सिद्ध परमेष्ठी तो पारदर्शी काँच के समान हैं और अर्हन्त भगवान काँच के पीछे चाँदी का Polish (लेप) लगे हुए दर्पण के समान हैं। लेकिन यह संसारी प्राणी तो दर्प का पुतला बना हुआ है। लोभ का पुतला बना हुआ है। शरीर के प्रति जो दर्प (अभिमान) है उसे छोड़ने के उपरान्त ही दर्पण के समान निर्मल अर्हन्त पद की प्राप्ति सम्भव है।

दर्पण स्वयं कह रहा है कि मुझमें दर्प न अर्थात् अहंकार नहीं रहा। सब उज्ज्वल हो गया। जैसा है वैसा दिखायी पड़ने लगा। बन्धुओ! शरीरवान होना तो संसारी होना है। शरीर से रहित अवस्था ही मुक्ति की अवस्था है। शरीर से रहित अवस्था ही वास्तव में पवित्र अवस्था है। अशरीरी सिद्ध परमात्मा ही वास्तव में परम पवित्रात्मा है। छहढाला की तीसरी ढालमें कहा है-

ज्ञानशरीरी त्रिविधकर्ममल वर्जित सिद्ध महन्ता।
ते हैं निकल अमल परमातम भोगैं शर्म अनन्ता॥

ज्ञान ही जिनका शरीर है, जो तीनों प्रकार के कर्ममल-द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म अर्थात् शरीर रूपी मल से रहित हैं ऐसे सिद्ध परमात्मा ही अत्यन्त निर्मल हैं और अनंत सुख का उपभोग करते हैं। हमें भी आगे आकर अपने सिद्धस्वरूप को, आत्मा की निर्मलता को प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए।

❑ ❑ ❑

उत्तम सत्य

परसंतावयकारण, वयणं मोत्तूण सपरहिदवयणं।
जो वददि भिक्खु तुरियो तस्स दु, धम्मो हवे सच्चं॥

जो मुनि दूसरे को क्लेश पहुँचाने वाले वचनों को छोड़कर अपने और दूसरे के हित करने वाले वचन कहता है, उसके चौथा सत्य धर्म होता है

आज 'उत्तम-सत्य' के बारे में समझना है। पिता जी बड़े हैं या पुत्र बड़ा है। पति बड़े हैं कि पत्नी बड़ी है? नाती बड़ा है या दादाजी बड़े हैं ? तब लौकिक-व्यवहार में कहने में आता है कि पुत्र छोटा है और पिता जी बड़े हैं। पत्नी छोटी है और पति बड़े हैं। नाती छोटा है दादाजी बड़े हैं। यह सब सापेक्ष सत्य है। चूँकि जिस समय पुत्र हुआ उस समय पिता की उम्र पच्चीस-तीस वर्ष होगी इसलिए पुत्र को छोटा कह दिया। लेकिन देखा जाए तो जिस समय पुत्र का जन्म हुआ, उसी समय पिता का भी जन्म हुआ। इससे पहले उस व्यक्ति को कोई पिता नहीं कहता था। वह पुत्र होते ही पुत्र की अपेक्षा पिता कहलाने लगा। इस तरह दोनों एक साथ उत्पन्न हुए। पिता और पुत्र समान हो गये। इसी प्रकार दादाजी और नाती के सम्बन्ध में कहा जायेगा। जिस समय विवाह हुआ उसी समय पति और पत्नी ऐसा कहने में आयेगा। तब दोनों का एक ही मुहूर्त्त में जन्म हुआ।

यही बात जीव के सम्बन्ध में भी है। कौन सा जीव बड़ा है और कौन सा जीव छोटा है? चींटी छोटी है और छिपकली उससे बड़ी है। परन्तु छिपकली छोटी भी है क्योंकि सर्प उससे भी बड़ा है और हाथी उससे भी बड़ा है। तो सत्य क्या है? इतिहास देखें, सभी जीवों का तो निर्णय करना और मुश्किल होगा कि बड़ा कौन है और छोटा कौन है? अगर जीव का लक्षण देखा जाए तो सभी जीवों में समान रूप से घटित होगा। '**नित्यावस्थितान्यरूपाणि**' -द्रव्य नित्य है, अवस्थित है और पुद्‌गल को छोड़कर शेष सभी द्रव्य अरूपी हैं। नित्य हैं अर्थात् हमेशा से हैं और रहेंगे। सभी जीव हमेशा से है और रहेंगे। इस अपेक्षा देखा जाए तो कौन बड़ा और कौन छोटा? प्रवाह की अपेक्षा सभी समान हैं। सभी अनादि काल से चले आ रहे हैं और शेष जितनी भी सम्भावनाएँ हैं वे सब सापेक्ष हैं।

जीव के बाह्य रूप में संसार उलझा है और अपने आप के बड़प्पन को सिद्ध करने के लिए वह दूसरे से संघर्ष करता आ रहा है कि मैं बड़ा हूँ या कि तुम छोटे हो। यह विसंवाद चल रहा है। जो वास्तव में देखा जाए तो असत्य है।

सत्ता नहीं उपजती उसका न नाश, पर्याय का जनन केवल और ह्रास।
पर्याय है लहर वारिधि सत्य सत्ता, ऐसा सदैव कहते गुरुदेव वक्ता॥

निजानुभवशतक (आचार्य विद्यासागर)

सत्ता क्या चीज है? द्रव्य क्या चीज है और पर्याय क्या चीज है? यदि ऐसा पूछा जाए तो भगवान् कहते हैं कि सत्ता या द्रव्य तो वह है जिसका कभी नाश नहीं होता और न ही जो कभी उत्पन्न होती है। वह तो शाश्वत है। पर्याय की उत्पत्ति और नाश अवश्य देखने में आते हैं।

पर्याय तो सागर में उठती लहरों के समान है, जो क्षणभंगुर है। उठती और मिटती रहती है। शाश्वत सत्य सत्ता तो सागर के समान है। पर इस सत्य, सत्ता को देखना सहज सम्भव नहीं है। इसे देखने के लिए श्रद्धा की आँखें खोलने का प्रयास करना होगा। सत्य, श्रद्धा की आँखों से ही दिखायी देता है। लोक व्यवहार में कहा जाता है कि मैं सत्य बोलता हूँ या तुम असत्य बोलते हो। लेकिन वास्तव में बोलने में सत्य आता ही नहीं है और जब सत्य बोलने में नहीं आता तो असत्य भी बोलने में नहीं आ सकता। फिर भी व्यवहार की कुछ सीमाएँ बनायी गयीं हैं। उसी के माध्यम से सत्य और असत्य का व्यवहार चलता है। जैसे आप सागर के तट पर खड़े हैं तब देखने में क्या आ रहा है? लहरें देखने में आ रहीं हैं वे वहीं उठती हैं और वहीं समाती जाती हैं। कोई बालक यदि वहीं हो तो वह उन्हें पकड़ना चाहेगा। सीधा-सीधा दौड़कर हाथों से पकड़ने का प्रयास करेगा। जो कोई वहाँ Secnery (दृश्यावली) देखने आये हैं वे उस दृश्य को आँखों के माध्यम से या कैमरे के माध्यम से पकड़ना चाहेंगे। कोई यदि कवि होगा तो वह शब्दों के माध्यम से कविता बनाकर उसे पकड़ने का प्रयास करेगा और आनन्दित होगा।

कोई ऐसा भी होगा जो सारे दृश्य को परख रहा होगा। इन सबके माध्यम से यदि पकड़ में आयेगा तो कथञ्चित् सत्य ही पकड़ में आयेगा। मैं पकड़ना भी एक तरह से कथंचित् सत्य कह रहा हूँ क्योंकि इसमें भी छोड़ना और ग्रहण करना है। वास्तव में सत्य तो छोड़ने और ग्रहण करने से परे है। लहर अच्छी लगती है, तो सोचो मात्र अच्छी लगती है या वास्तव में अच्छी है। लहर तो लहर है, वह बनती है और मिटती भी है। उसको सत्य सत्ता नहीं कहा जा सकता क्योंकि सत्ता तो अविनश्वर है। उसे पकड़ना भी सम्भव नहीं है। जो पकड़ में आ रहा है, वह पूरी तरह सत्य नहीं है, एक प्रकार से असत्य है और इसलिए दुखदायी है। सत्य ही एकमात्र सुखदायी है।

बालक लहरों को पकड़ना चाहता है तब उसे पालक (आप लोग) समझाते हैं कि पकड़ो नहीं, मात्र परखो। 'परखो' का एक अर्थ यह भी है कि 'पर' यानि दूसरा और 'खो' यानि खोना। अर्थात् जो पर है, दूसरा है उसे खो दो। ऐसा परखना यदि हो जाए तो असत्य खो जायेगा। असत्य को खोना ही वास्तव में परखना है। मोह को छोड़कर ही परखना सम्भव है। तभी सत्य हाथ आयेगा। वस्तु-तत्त्व को यदि आप परखना चाहो तो हमेशा मध्यस्थ होकर ही परखना होगा।

किसका स्वभाव क्या है? किसका क्या रूप है? क्या सत्य है और क्या असत्य है? यह जानने

की कला तभी आ सकती है जब मोह का उपशम हो और माध्यस्थ भाव आये। जैसे स्वर्ण पाषाण में कितना स्वर्ण है और कितना पाषाण है यह बात उस विषय का ज्ञान रखने वाला परीक्षक या वैज्ञानिक जान लेता है और सब बता देता है। इसी प्रकार प्रत्येक द्रव्य को परखने की क्षमता हमारे पास है, उसे प्रकट करना आवश्यक है तभी सत्य का दर्शन होगा। सत्य सामने आ जाए तो हर्ष-विषाद नहीं होता। पिताजी सोचते हैं कि मैंने पुत्र को बड़ा किया, खिलाया-पिलाया और अज्ञानी से ज्ञानी बना दिया, अतः हम बड़े हैं। लेकिन जो सम्यग्दृष्टि होगा वह द्रव्य के प्रवाह को देखेगा कि यह तो अनादिकाल से चला आ रहा है। इतना ही नहीं जिस लड़के का पालन-पोषण किया जा रहा है, सम्भव है वही पूर्व में उसका पिता भी रहा हो। पुराणों में भी ऐसी बात (कथा) आती है। अध्यात्म भी यही कहता है।

'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' (तत्त्वार्थसूत्र)

उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त है सत्ता। एक बार एक विद्वान् हमारे पास आये थे। कुछ दिन रहने के बाद जब जाने लगे तो कहा कि महाराज जी! मैं जा रहा हूँ। तो हमने कहा पण्डित जी, आना-जाना तो लगा हुआ है। वे हँसने लगे। बात समझ में आ गयी कि 'आना' तो हुआ 'उत्पाद', 'जाना' अर्थात् 'व्यय', लगा हुआ है यही द्रव्य की ध्रुवता है। यही सत् का लक्षण है। यह अनुभव में आ जाए तो बनने-मिटने पर हर्ष-विषाद नहीं होगा। छोटे-बड़े की बात नहीं आयेगी। कौन किसका पिता है? कौन किसका पुत्र है? यह मात्र पर्याय की ओर दृष्टिपात करने पर ही दिखायी देता है। यह मोह का परिणाम है। यही मोह छूट जाये तो वास्तविकता मालूम पड़ने लगती है कि शरीर का अवसान होने पर यह सारे सम्बन्ध छूट जाते हैं। शरीर यहीं पड़ा रह जाता है और जीव क्षण भर में कहाँ पहुँच जाता है, किस रूप में उत्पन्न हो जाता है पता भी नहीं पड़ता। जिसके मरण के उपरान्त आप यहाँ रो रहे होते हैं, वह कहीं और उत्पन्न होने की तैयारी कर रहा है।

कैसा वैचित्र्य है। एक नाटक की तरह रंगमञ्च पर जैसे विभिन्न पात्र आ रहे हैं, जा रहे हैं और देखने वाला जान रहा है कि यह सब नाटक है, फिर भी उसमें हर्ष विषाद करने लगता है। इसी प्रकार यह सारा संसार रंगमंच की तरह है। जो संसार से विरक्त है ऐसे वीतराग सम्यग्दृष्टि में यह सब नाटक की भाँति दिखायी पड़ने लगता है। वह सत्य को जान लेता है और पर्याय में मुग्ध नहीं होता। हर्ष-विषाद नहीं करना। हम थोड़ा सा भीतर देखने का प्रयास करें और अपना इतिहास समझें कि मैं कौन हूँ? किस तरह छोटे से बड़ा हो गया और एक दिन मरण के उपरान्त सारे के सारे लोग इस देह को जला आयेंगे मैं फिर भी नहीं जलूँगा। यह सत्य है।

जिनवाणी में इसी सत्य का प्ररूपण किया गया है। 'काल अनन्त निगोद मंझार, बीत्यो एकेन्द्रिय तन धार।' अनन्तकाल हमने निगोद में व्यतीत कर दिया और एक इन्द्रिय की पर्याय धारण

की। विचार करें तो अपने आप आँखें खुलने लग जायेंगी। निगोद की बात आयी तो यह घटना स्मृति में आ गयी कि चक्रवर्ती को चिन्ता हो गयी कि मेरे ये पुत्र तीर्थंकर के वंश में पैदा हुए और इस प्रकार गूँगे-बहरे कैसे हो सकते हैं? यहाँ तो भगवान् की वाणी गलत सिद्ध हो जायेगी। तब भगवान् ने कहा कि हे चक्री! तुम्हें मोह ने घेर रखा है इसलिए सत्य दिखाई नहीं पड़ता। सत्य यह है कि ये सभी भव्य हैं और निकट भव्य हैं। ये तुम्हारे ही सामने दीक्षित होकर मुक्ति को प्राप्त हो जायेंगे।

चक्रवर्ती सुनकर दंग रह गये और वही हुआ भी। सभी ने भगवान् ऋषभदेव के चरणों में दीक्षा का निवेदन कर दिया और बोले कि सभी से क्या बोलना, हम तो सिर्फ आप ही से बोलेंगे। सभी से बोलने के लिए हम गूँगे हैं। दीक्षित होकर उन्होंने तप के द्वारा केवलज्ञान की प्राप्ति की और मुक्ति का सम्पादन कर दिया। चक्रवर्ती भरत ने पूछा कि भगवन्! यह सब कैसे हुआ? इनका इतिहास क्या है? तब भगवान् ने बताया कि ये सभी जीव निगोद से आकर सीधे मनुष्य-भव धारण करके तुम्हारे पुत्र बनकर उत्पन्न हुए हैं। इनका वैराग्य इतना था कि किसी से नहीं बोले और इन्होंने अपना कल्याण कर लिया। तुम यहाँ समवसरण में चार-चार बार दिव्य ध्वनि सुन रहे हो और चार-चार बार लोगों को प्रवचन सुना रहे हो। पर इतने मात्र से क्या होगा? उन्होंने कमाल कर दिया। निगोद से सीधे निकलकर आठ साल के भीतर-भीतर अपने-आपको सँभाला और आठ वर्ष में ही दीक्षित होकर मुक्ति प्राप्त कर ली।

कहीं-कहीं पर निगोद से आकर बीच में एक पर्याय इन्द्रगोपादि भी धारण की है, ऐसी चर्चा भी आती है लेकिन सीधे निगोद से आये हों, ऐसा भी सम्भव है। निगोद भी दो तरह का है- एक तो नित्य-निगोद है जहाँ से जीव आज तक नहीं निकला और दूसरा इतर-निगोद है जहाँ से जीव निकलकर चारों गतियों में भ्रमण कर चुका है। हमें सीखने की बात यही है कि सत्य को जानने वाला फालतू बोलता नहीं है। वे सभी चक्रवर्ती के पुत्र दीक्षित होने तक दीक्षा से पूर्व किसी से नहीं बोले। उन्होंने सोचा कि जो संसार से विरक्त नहीं है उनसे एक विरक्त व्यक्ति का बोलने का प्रयोजन ही क्या है? सत्य तो बोलने से प्राप्त नहीं होगा। पाप-क्रियाओं से मौन लेकर ही सत्य को प्राप्त किया जा सकता है।

आज तो सारा संसार जिसमें कोई प्रयोजन सिद्ध होने वाला नहीं है, उसी के पीछे पड़ा है। सत्य का बोध नहीं करता है। जल के अथाह समूह को सागर कहा जाता है उसमें कितनी भी लहरें उठें या मिटें लेकिन वह सागर बनता मिटता नहीं है। वह ज्यों का त्यों रहा आता है। कोई लहरों को देखकर खेद करता है, बालक हो तो देखकर हर्षित होता है, लेकिन जो संसार से विरक्त है, सत्य को जानता है, वह सोचता है कि जीवन भी इस प्रकार लहरों की तरह प्रतिपल मिटता जा रहा है।

अनन्तकाल यूँ ही व्यतीत हो गया। अनन्त सुखों का भण्डार यह आत्मा अज्ञानता के कारण सत्य को नहीं समझ पा रहा है।

दुनिया में सभी लोग दुनिया को देख रहे हैं। दुनिया को पहचानने की चेष्टा में लगे हैं लेकिन सत्य को पहचानने की जिज्ञासा किसी के अन्दर नहीं उठती। बार-बार कहने-सुनने के उपरान्त भी ज्ञान नहीं होता, तो यह मोह की प्रबलता का ही प्रभाव समझना चाहिए। इस मोह से बचने का उपाय यही है कि हम संसार से विरक्त होकर वस्तु तत्त्व का चिन्तन करें। वस्तु-तत्त्व की वास्तविकता का चिन्तन ही हम लोगों के कल्याण के लिए एकमात्र आधारशिला है।

'जगत्कायस्वभावौ वा संवेगवैराग्यार्थम्' (तत्त्वार्थसूत्र)

जगत् के स्वभाव के बारे में सोचो तो संवेग आयेगा अर्थात् संसार के दुखों से बचने का भाव उत्पन्न होगा और शरीर के स्वभाव के बारे में विचार करोगे तो वैराग्य आयेगा। शरीर के प्रति, भोगों के प्रति निरीहता भी आ जायेगी। यही सम्यग्ज्ञान का माहात्म्य है। आज तो मात्र ज्ञान की चर्चा है लेकिन अकेले ज्ञान और सम्यग्ज्ञान में अन्तर है। शरीर के बारे में सम्यग्ज्ञान यदि हो तो ही निरीहता आयेगी। अकेले शरीर की जानकारी कर लेने मात्र से कुछ नहीं होता। कोई M.B.B.S. का करने वाला शरीर के एक-एक अंग के बारे में जानता है और कोई-कोई तो एक-एक अंग विशेष में Specialist (विशेषज्ञ) भी हो जाते हैं। लेकिन इतना सब जान लेने के बाद भी उसी नश्वर शरीर में रमे रहते हैं। ऐसा कैसा ज्ञान है कि भीतरी सभी घृणास्पद पदार्थों को देख लेने के बाद भी उससे विरक्ति नहीं होती। असत्य को जान कर भी उसे छोड़ने का भाव नहीं आता। बल्कि असत्य के सम्पादन में ही लोग अपना ज्ञान लगाते हैं। कोई दुकान में असत्य का सम्पादन कर रहा है, तो कोई वकील बनकर कोर्ट में कर रहा है और कोई डॉक्टर बनकर अस्पताल में कर रहा है। प्रत्येक का लक्ष्य मात्र पैसा हो गया है। विषयों का सम्पादन हो रहा है।

लौकिक दृष्टि से भले ही उन्हें प्रबुद्ध कहा जाता है, अनुभवी और शोध करने वाला कहा जाता है। लेकिन सभी की चेष्टा यही रहती है कि पैसा किस तरह कमाया जाए और दुनिया को किस तरह आकर्षित किया जाए। किन्तु परमार्थ की दृष्टि से यह ज्ञान कार्यकारी नहीं है। सही ज्ञान-कला तो वह है जिसके द्वारा आत्मिक शान्ति मिलती है। 'क' यानि आत्मसुख और 'ला' यानि लाने वाली, अर्थात् आत्मसुख लाने वाली कला ही वास्तविक 'कला' है। सांसारिक जितनी भी कलाएँ है वे सब संसार के पदार्थों को जानने-परखने और आत्मा को दुख के गर्त में ले जाने वाली हैं। इस सत्य का भान आज किसे है?

इसीलिए आचार्य कहते हैं कि छोटा-बड़ा कोई नहीं है। सभी समान हैं। यही सत्य है और

जहाँ पर यह समानता की दृष्टि आ जाती है वहाँ पर सभी प्रकार के झगड़े समाप्त हो जाते हैं। जहाँ-विषमताएँ हैं वहीं पर झगड़ा है, विसंवाद है और विषमता तो बुद्धिजन्य है। विषमता वस्तुजन्य नहीं है। वस्तु न अपने में बड़ी है न छोटी है, वह तो अपने में समान है। जैसे देवों में ऊपर जो अहमिन्द्र हैं उनके वहाँ कलह नहीं है। वे बहुत शान्त हैं, क्योंकि सभी समान-रूप से इन्द्र हैं। कोई किसी से कम या अधिक पद वाला नहीं है।

समानता रूपी इस सत्य के साथ ही सुख और शान्ति का स्रोत फूट जाता है। हम सभी यदि पर्यायों की विषमता को गौण करके द्रव्य की समानता को मुख्यता दें तो यहाँ किसी जीव के प्रति बैर और किसी के प्रति राग हो ही नहीं सकता। सत्त्यार्थयुक्तं सत्यम्-जो सत् से युक्त है वही सत्य है और असत् से युक्त है अर्थात् जो है ही नहीं, उसकी कल्पना में जो उलझा है वह असत्य है। वस्तुतः वस्तु अच्छी बुरी नहीं होती, हमारी कल्पना के द्वारा ही उसमें अच्छे बुरे का भेद आ जाता है। किसी जीव का लक्षण मूर्ख या बुद्धिमान, छोटा या बड़ा हो, ऐसा कहीं नहीं आता। **उपयोगो लक्षणम्** जीव का लक्षण, उपयोगवान् होना है अर्थात् जो ज्ञानदर्शन से युक्त है, वह जीव है। प्रत्येक समय हमें इस सत्य की ओर ही दृष्टिपात करना चाहिए।

मोह के प्रभाव से संसारी जीव स्वयं को-

मैं सुखी-दुखी मैं रंक राव, मेरे धन गृह गोधन प्रभाव।
मेरे सुत तिय मैं सबल दीन बेरूप सुभग मूरख प्रवीन॥

छहढाला (द्वितीयढाल)

ऐसा मानता है और इसी मोह चक्र में फँसा प्रत्येक जीव संसार में निरन्तर चक्कर काटता रहता है, घूमता रहता है। लेकिन जो सम्यग्दृष्टि और सम्यग्ज्ञानी है, जो वैराग्यवान हैं वे संसार के स्वभाव को जानते हैं और संसार में रहते हुए भी मोह के चक्कर में नहीं आते। जैसे मेले में आपने हिण्डोलना देखा होगा। बच्चे बड़े सभी उसमें बैठ जाते हैं और हिण्डोलना वाला उसे घुमाता है। सभी का मनोरञ्जन होता है लेकिन हिण्डोलना घुमाने वाला मात्र घूमते हुए हिण्डोलने को देखता रहता है, उसमें मनोरञ्जन नहीं मानता। उसी प्रकार आप लोग भी चाहें तो जो दुनियाँ में हिण्डोलने में बैठे हैं, उन्हें बैठे रहने दें और स्वयं को मात्र देखने जानने वाला बनाये रखने का प्रयास करें। तो संसार का चक्कर धीरे-धीरे समाप्त कर सकेंगे।

बंधुओ! पर्यायमूढ़ता तो बच्चों जैसा घूमने वाला खेल है और द्रव्य के स्वरूप में लीन होना अर्थात् जानने-देखने रूप स्वभाव में स्थिर होना इस हिण्डोलना घुमाने वाले जैसा काम है। द्रव्य तो प्रतिक्षण परिणमनशील है। परिवर्तन प्रतिक्षण हो रहा है लेकिन उस परिवर्तन में हम अपने आप को

मिटने वाला या उत्पन्न होने वाला समझ लेते हैं। यही हमारी गलती है। जन्म होने में सुख और मरण में दुख का अनुभव करने का अर्थ यही है कि अभी हिण्डोलने में बैठने का खेल चल रहा है। वह मोह की चपेट जब तक है तब तक सुख शान्ति मिलने वाली नहीं है।

जैसे पीपल का पत्ता बिना हवा के ही हिलता रहता है, लेकिन पीपल का तना, तूफान आने पर भी नहीं हिलता। इसी प्रकार द्रव्य कभी अपने स्वभाव में हिलता डुलता नहीं है, पर्यायें झूलती रहती हैं और झूलती हुई पर्यायों में आप भी यूँ ही झूलने लगते हैं और भूल जाते हैं कि यह सारा का सारा परिणमन द्रव्य का ही है। द्रव्य का परिणमन कभी रुकता नहीं है वह तो प्रतिक्षण इतनी तीव्रता से होता रहता है कि उसकी सूक्ष्मता को पकड़ पाना सहज सम्भव नहीं है। उसे पकड़ पाने के लिए बड़ी पैनी दृष्टि चाहिए। वह दृष्टि तभी आयेगी जब हमारी दृष्टि बाह्य जगत् से हटकर सूक्ष्मता की ओर देखने का प्रयास करेगी। पाषाण में स्वर्ण उसी को दिखता है जिसे स्वर्ण की जानकारी है और जो पाषाण को स्वर्ण से पृथक् जानता है।

संसार में सब कुछ देखते हुए भी कोई चाहे तो शान्त और माध्यस्थ रह सकता है। पर इसके लिए संसार के प्रत्येक पदार्थ के प्रति अपनी दृष्टि को समीचीन बनाना होगा। कई दिन से लगातार उपदेश सुनते-सुनते एक व्यक्ति को संसार के प्रति वैराग्य हो गया और उसने जाकर अपनी पत्नी से कहा कि संसार की यथार्थता मुझे ज्ञात हो गयी है, इसलिए मैं जा रहा हूँ। अपना कल्याण करूँगा। पत्नी बोली बहुत अच्छा। हम भी यहाँ रहकर क्या करेंगे। हम भी साथ चलते हैं। उस व्यक्ति ने समझाया कि यह तो कोई बात नहीं हुई। मुझे तो उपदेश सुनकर वैराग्य हुआ है। तुमने तो उपदेश कुछ सुना ही नहीं है। पत्नी बोली कोई बात नहीं, उपदेश सुनने वाले आपको देखना ही पर्याप्त है। आपका वैराग्य ही मेरे वैराग्य में कारण बन गया है।

दोनों प्राणी घर से विरक्त होकर जंगल की ओर चल पड़े। पति आगे-आगे चल रहा था और पत्नी पीछे-पीछे चल रही थी। चलते-चलते पति को सामने कुछ दिखायी पड़ गया और उसने झुककर थोड़ी धूल उस पर डाल दी। उसी समय पीछे से आकर पत्नी ने देख लिया और पूछ लिया कि क्या बात है? क्या था? पति ने सोचा बताना ठीक नहीं है। पता नहीं बताने से उसके मन में लालच न आ जाये इसलिए कह दिया कि कुछ नहीं था। पत्नी को हँसी आ गयी, बोली मैंने सोचा था कि आपका वैराग्य पूरा है पर लगता है अभी कुछ कमी है। तभी तो मिट्टी के ऊपर मिट्टी डाल रहे थे। सम्यग्दृष्टि की दृष्टि में तो सोने की डली भी मिट्टी ही है। कोई मिट्टी काली होती है, यह पीली मिट्टी है। यह सुनकर पति चकित रह गया और कहने लगा कि मैंने तो समझा था कि स्त्रियों को स्वर्ण के आभूषणों का लालच कुछ अधिक ही रहता है इसलिए तुम्हें नहीं बताया, पर तुमने तो

मुझे भी पीछे छोड़ दिया। आप स्वयं को पुरुष मान रहे हैं और मुझे स्त्री मान रहे हो। अभी आप तीन लोक के पति नहीं हो सकते। अभी तो आपका वैराग्य कमजोर है। वैराग्य की बात करना और वैराग्य से बात करना, इन दोनों में बहुत अन्तर है। वस्तु तत्त्व जिसको सही मायने में पकड़ में आ गया है वही सत्य के माध्यम से वैराग्य से कभी नहीं डिगता।

यह वस्तु के उत्पन्न होने में हर्ष और नाश में विषाद नहीं करता बल्कि वह सत्य को जानता है। आज 'उत्तम-सत्य' के दिन मैं आपसे यही कहना चाहूँगा कि संसार को आप एक बार सत्य की दृष्टि से देखें। केवल मिटने के अलावा संसार कुछ भी तो नहीं है। जो स्थायी है वह दिखने में नहीं आता और जो दिखने में आ रहा है, वह निरन्तर मिट रहा है। यही संसार है। हम संयोगज पर्यायों से दृष्टि को हटाकर मूल की ओर देखें। तो तेरा-मेरा, छोटा-बड़ा आदि सभी विचार आपों आप शान्त हो जायेंगे। सभी के प्रति समान भाव आने से परस्पर उपकार का भाव आयेगा। सभी परस्पर एक दूसरे के निकट आयेंगे, और इस बहाने वस्तु तत्त्व को और अच्छे ढंग से समझना सरल हो जाएगा।

जैसे आप भोजन करते हैं तो भोजन करते हुए भी बीच-बीच में साँस लेना आवश्यक है, लेते भी हैं। पानी पीते हैं तो साँस भी लेते रहते हैं। ऐसा नहीं है कि पानी पीना छोड़कर अलग से साँस लें, फिर पानी पियें। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि मोक्षमार्ग में आरूढ़ होने के उपरान्त खुद भी धर्मामृत पीता रहता है और यदि कोई दूसरा आ जाता है तो उसे भी पिलाता है। जो सत्य को जान लेता है वह स्वयं भी लाभान्वित होता है, साथ ही दूसरों को भी उसके माध्यम से सत्य का दर्शन होने लगता है। यही सत्य है और यही सत्य की महिमा भी है।

❑ ❑ ❑

उत्तम संयम

वदसमिदिपालणाए, दंडच्चाएण इंदियजएण।
परिणममाणस्स पुणो, संजमधम्मो हवे णियमा॥

व्रत व समितियों का पालन, मन-वचन-काय की प्रवृत्ति का त्याग, इन्द्रियजय यह सब जिसको होते हैं, उसको नियम से संयम धर्म होता है।

'अनाश्रिता लता स्वयमेव लीयते' आश्रयहीन बेल अपने जीवन की अन्तिम बेला आने से पूर्व स्वयमेव ही समाप्त हो जाती है। वह स्वयं अपनी शक्ति के द्वारा जमीन से रस खींचकर अपना विकास करती है। इसके उपरान्त भी वह बहुत जल्दी समाप्त हो जाती है, क्योंकि वह अनाश्रित होती है। किन्तु बाग का होशियार माली जब उस बेल के फैलते ही उसे लकड़ी का सहारा देकर

हल्के से बाँध देता है तब वह ऊर्ध्वगामी होकर बहुत ऊँचाई पर पहुँच जाती है। हल्का सा वह बाँधा गया, बंधन उसे उन्नति में बाधक नहीं बनता अपितु ऊँचे बढ़ने में साधक ही बनता है।

अगर विचार करें, तो ज्ञात होगा कि यह जो सहारा दिया गया उस बेल को, वह सहारा अपने आप में है और बेल का बढ़ना अपने आप में है। फिर भी यदि सहारा नहीं मिलता तब वह बेल निश्चित ही ऊर्ध्वगामी न होकर अधोगामी हो जाती और शीघ्र ही मरण को प्राप्त हो जाती। या यूँ कहिये कि उसका असमय में ही जीवन समाप्त हो जाता। यह तो एक उदाहरण है, आप समझ गये होंगे सारी बात। जिस दिशा की ओर बढ़ने की हमारी भावना हो तथा जो हमारी दृष्टि या लक्ष्य हो, उसके अनुरूप फल पाने के लिए हमें एक सशक्त सहारे की और हल्के से बंधन की आवश्यकता तो होती है। आज का संयम धर्म आलम्बन और बंधन दोनों रूपों में है।

मोहतिमिरापहरणे, दर्शनलाभादवाप्तसंज्ञानः।
रागद्वेषनिवृत्त्यै, चरणं प्रतिपद्यते साधुः ॥४७॥

आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने रत्नकरण्डक श्रावकाचार में बहुत अच्छी बात हमारे लिए कहकर गये हैं कि जिसका मोहरूपी अंधकार समाप्त हो गया है, जिसे सम्यग्दर्शन का लाभ होने से सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति सहज हो गयी है, इसके उपरान्त वह क्या करे? जब तक अंधकार का अभाव नहीं हुआ था, सम्यक्त्व का सूर्य नहीं उगा था, तब तक बिस्तर पर पड़े-पड़े वह सोच रहा था और सोचना उसका ठीक भी था कि ज्यों ही सूरज का उदय होगा, अंधकार हटेगा त्यों ही उसके कदम आगे अपने लक्ष्य की ओर बढ़ जायेंगे। अब जब प्रकाश हो गया, अंधकार हट गया तो अब क्या करें? अब यह कहने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए कि क्या करें? जीवन की उन्नति का विचार रखने वाले के लिए प्रकाश अपने आप बता देता है कि क्या करना आवश्यक है? ठीक ऐसे ही जैसे कि मंदाग्नि समाप्त होने पर भूख लगती है और अपने आप ज्ञात हो जाता है कि मुझे क्या करना है? सम्यग्दृष्टि को तो यह पूछने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती कि अब क्या करना है?

शान्तिनाथ भगवान् की स्तुति करते हुए पूज्यपाद स्वामी ने कहा है कि-

न स्नेहाच्छरणं प्रयान्ति भगवन्! पादद्वयं ते प्रजा,
हेतुस्तत्र विचित्र-दुःख-निचयः, संसार घोरार्णवः।
अत्यन्त-स्फुरदुग्र - रश्मि-निकर,-व्याकीर्ण-भूमण्डलो,
ग्रैष्मः कारयतीन्दु-पाद-सलिलच्-,छायानुरागं रविः॥

(शान्तिभक्ति-१)

हे भगवन्! मैंने जो आपके चरणों की शरण गही है वह मात्र यह सोचकर नहीं कि आपके चरण बहुत सुन्दर हैं, बहुत अच्छे हैं, बहुत उपकारी हैं, उनके प्रति स्नेह करना चाहिए और न ही

आपके चरणों ने मुझे आपके पास आने का कोई सन्देश भेजा है पर फिर भी मैं आपके ही पास आया हूँ, अन्यत्र नहीं गया। इसका कारण तो एक मात्र यह विचित्र कर्मों के समूह से सहित संसार रूपी भयंकर समुद्र है क्योंकि अत्यन्त प्रचण्ड किरणों से धरती को तपा देने वाला ग्रीष्मकाल का सूर्य स्वयमेव ही चन्द्रमा की किरणों से, पानी से और छाया से अनुराग करा देता है। कहने की आवश्यकता नहीं पड़ती। अनादिकाल की प्यास और पीड़ा ही मुझे यहाँ तक ले आयी है। आपके प्रति अनुराग सहज ही हो गया। इसी प्रकार सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का उदय होते ही चरण शीघ्र ही, मञ्जिल की ओर चल पड़ते हैं। राग-द्वेष की निवृत्ति के लिए साधु-पुरुष चारित्र का आश्रय सहज ही ले लेते हैं।

आज संयम का दिन है। उत्तम संयम का दिन है। आप लोगों के लिए अभी तक संयम एक प्रकार से बंधन ही लगा करता है। लेकिन जैसे उस लता के लिए लकड़ी आलम्बन और बंधन के रूप में उसके अपने विकास के लिए आवश्यक है। उसी प्रकार दर्शन और ज्ञान को अपनी चरम सीमा अर्थात् मोक्ष तक पहुँचाने वाला ही संयम का आलम्बन और बंधन है। उसका सहारा लेते समय ध्यान रखना कि जैसे योग्य खाद्य और पानी देना भी पौधों के लिए अनिवार्य है, अकेले सहारे या बंधन से काम नहीं चलेगा, वैसे ही संयम के साथ शुद्ध भाव करना भी अनिवार्य है।

आज तक संयम के अभाव में ही इस संसारी-प्राणी ने अनेक दुख उठाये हैं। जो उत्तम संयम को अंगीकार कर लेता है, साक्षात् या परम्परा से वह मोक्ष अवश्य पा लेता है। आत्मा का विकास संयम के बिना सम्भव नहीं है। संयम वह सहारा है जिससे आत्मा उर्ध्वगामी होती है। पुष्ट और सन्तुष्ट होती है। संयम को ग्रहण कर लेने वाले की दृष्टि में इन्द्रिय के विषय हेय मालूम पड़ने लगते हैं। लोग उसके संयमित जीवन को देखकर भले ही कुछ भी कह दें, पागल भी क्यों न कह दें, तो भी वह शान्त भाव से कह देता है कि आपको यदि खाने में सुख मिल रहा है तो मुझे खाने के त्याग में आनन्द आ रहा है। मैं क्या करूँ? यह तो अपनी-अपनी दृष्टि की बात है। सम्यग्दृष्टि संयम को सहज स्वीकार करता है। इसलिए वह सब कुछ छोड़कर भी आनन्दित होता है।

प्रारम्भ में तो संयम बंधन जैसा लगता है लेकिन बाद में वही जब हमें निर्बन्ध बना देता है, हमारे विकास में सहायक बनता है, हम ऊपर उठने लगते हैं और अपने स्वभाव को प्राप्त करके आनन्द पाते हैं, तब ज्ञात होता है कि यह बंधन तो निर्बन्ध करने का बंधन था। प्रारम्भ में मन और इन्द्रियों की स्वच्छंदता को दूर करने के लिए संयम का बंधन स्वीकार करना हमारे हित में है।

जब हम बचपन में साइकिल चलाते थे, तब साइकिल चलाना तो आता नहीं था और मन करता था कि साइकिल चलायें और पूरी गति से चलायें, तभी आनन्द आयेगा। साइकिल बड़ी थी

और सीट पर हम बैठ नहीं पाते थे, क्योंकि शरीर की ऊँचाई कम थी और यदि सीट पर बैठ भी जायें तो पैर पैडिल तक पहुँच नहीं पाते थे। तब पहले-पहले पीछे कोई व्यक्ति पकड़ता था और आगे भी एक हाथ से हैण्डिल पकड़ता था। धीरे-धीरे हैण्डिल पकड़ना आने लगा लेकिन बिना सहारे चला नहीं पाते थे। फिर पैरों में जब अभ्यास हुआ और हाथ से पकड़ने की क्षमता भी आ गयी और अपने बोझ को सँभालने का साहस भी आ गया तो हमने कहा कि भइया! तुम पकड़ते क्यों हो? छोड़ दो। लेकिन कुछ दिन वह पीछे से सहारा देकर पकड़े रहता था। कभी जरा छोड़ता था तो गिरने की नौबत आ जाती थी। फिर उसने कहा कि देखो मैं इस तरह पकड़े हूँ कि तुम्हें चलाने में बाधा नहीं आती। पीछे पकड़कर मैं खींचता नहीं हूँ, मैं तो मात्र सहारा दिये रहता हूँ।

यही संयम का बंधन ऐसा ही सहारा देने वाला है। फिर जब पूरी तरह अपने बल पर चलने की क्षमता आ गयी तो उसने अपने आप छोड़ दिया। लेकिन समझा दिया कि ध्यान रखना मोड़ आने पर या किसी के सामने आ जाने पर Brake (रोधक) का सहारा अभी भी लेना पड़ेगा। संयम के पालन में निष्णात हो जाने पर भी प्रतिकूल परिस्थितियों में विशेष सावधानी की आवश्यकता पड़ती है।

एक बार आनन्द लेने के लिए गाड़ी को हम चढ़ाव पर लेकर गये, फिर उसके उपरान्त उतार पर गाड़ी को लगा दिया और पाँच-छह पैडिल भी तेज-तेज चला दिया। गति ऐसी आ गयी कि अब सँभालना मुश्किल लगने लगा। आगे एक मोड़ था और सँभालना नहीं आ रहा था। अचानक ब्रेक लगाऊं तो गिरने का डर था। तब एक पगडण्डी जो सड़क के बाजू से जाती थी, जो थोड़ी चढ़ाव वाली थी। बस! हमने उस और हैण्डिल मोड़ दिया और गाड़ी उस पगडण्डी पर जाकर धीरे-धीरे थम गयी। अगर ऐसे ही छोड़ देता तो नियम से गिरना पड़ता। अर्थ यह हुआ कि संयम के साथ सावधानी की बड़ी आवश्यकता है।

आप लोग तो अभी Brake (रोधक) लगाये बिना ही गाड़ी को दौड़ा रहे हैं और नीचे जाते हुए भी आँख मींचे बैठे हैं। अनन्तकाल यूँ ही व्यतीत हो गया। आप सोचते हैं कि हम सुरक्षित रह जायेंगे, लेकिन आप स्वयं सोचो, क्या संयम के बिना जीवन सुरक्षित रह पायेगा? जैसे गाड़ी सीखने-समझने के उपरान्त भी संयम और सावधानी की बड़ी आवश्यकता है, ऐसे ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान हो जाने के उपरान्त भी संयम की बड़ी आवश्यकता है। कोई चैम्पियन भी क्यों न हो, उसे भी वाहन चलाते समय संयम रखना पड़ता है अन्यथा दुर्घटना होने में देर नहीं लगती। सड़क के नियमों का पालन न करें तो भी दुर्घटना हो सकती है। जैसे सड़क पर चलने वाले हर यात्री को सड़क के नियमों का पालन करना अनिवार्य होता है, उसी प्रकार मोक्ष के मार्ग में चलने वाले के लिए नियम-संयम का पालन अनिवार्य है।

लेटे हुए व्यक्ति को कोई विशेष सावधानी की आवश्यकता नहीं पड़ती, पर बैठे हुए व्यक्ति को थोड़ी सावधानी की आवश्यकता है। क्योंकि बैठे-बैठे भी असावधानी होने से गिरना सम्भव है। इसके उपरान्त यदि कोई व्यक्ति एक स्थान पर खड़ा हो जाये और आँख मींच ले, तब तो बड़ी सावधानी रखने की आवश्यकता होती है। ऐसे ही मोक्षमार्ग में स्थित होकर नियम-संयम से चलने वाले को सावधानी रखने की बड़ी आवश्यकता है।

आचार्यों ने कहा है कि खड़े होकर साधक यदि ध्यान लगाये या महाव्रती आहार ग्रहण करें तो इस बात का ध्यान रखे कि दोनों पञ्जों के बीच में लगभग बारह अंगुल का और दोनों पैरों की एड़ियों के बीच कम से कम चार अंगुल का अन्तर बनाये रखें। तभी संतुलन (Balance) अधिक देर तक बना रह सकेगा, अन्यथा गिरना भी सम्भव है। यह तो खड़े होने की बात कही। यदि आप चल रहे हैं और मान लीजिये बहुत सकरे रास्ते से चल रहे हैं तब तो और भी सावधानी रखनी होगी। शिखरजी में चन्द्रप्रभु भगवान् की टोंक पर चढ़ते समय सकरी पगडण्डी से चलना पड़ता है। सीढ़ियाँ नहीं हैं, उबड़-खाबड़ रास्ता है, तो वहाँ सन्तुलन आवश्यक हो जाता है। वैसे ही सभी जगह सन्तुलन आवश्यक है।

अभी आप यहाँ सुन रहे हैं। सुनने के लिए भी सन्तुलन की आवश्यकता है। जरा भी ध्यान यहाँ-वहाँ हुआ कि शब्द छूट जायेंगे। बात पूरी समझ में नहीं आ पायेगी। अभी थोड़ी देर पहले हम बोलते-बोलते रुक गये थे। आप पूछ सकते हैं कि ऐसा क्यों हुआ? तो बात ये है भइया! कि आचार्यों ने हमारे लिए भाषा-समिति पूर्वक बोलने का आदेश दिया है। आचार्यों ने कहा कि हमेशा संयम का ध्यान रखना। असंयमी के बीच बैठकर भी असंयम का व्यवहार नहीं करना। जिस समय बोलना सहज रूप से सम्भव हो उसी समय बोलना। यदि बोलते समय किसी व्यवधान के कारण बोलने में विशेष शक्ति लगानी पड़े तो भाषा-समिति भंग होने की संभावना रहती है। अभी ऊपर पण्डाल पर पानी की बूँदों के गिरने की तेज आवाज आ रही थी और माइक होते हुए भी आवाज आप तक नहीं पहुँच रही थी अतः तेज आवाज में बोलना ठीक नहीं था, इसलिए चुप रह गया।

'प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा।' प्रमाद पूर्वक प्राणों का घात करने से नियम से हिंसा होती है।

अतः संयम सभी क्षेत्रों में रखना होगा। संयम से व्यक्ति का स्वयं बचाव होता है और दूसरे का बचाव भी हो जाता है। जब आप लौकिक कार्यों में भी संयम का ध्यान रखते हैं तो आचार्य कहते हैं कि जिस मोक्षमार्ग पर मुमुक्षु चलता है उसके लिए तो चौबीसों घण्टे या जीवन पर्यन्त ही सावधानी की, संयम की बड़ी आवश्यकता होती है। थोड़े समय के लिए भी यदि असंयम भाव आ

जायेगा तो नियम से वह गुणस्थान से नीचे गिर जायेगा अर्थात् परिणामों से पतित हो जायेगा। तब जहाँ निर्जरा होना अपेक्षित थी, वहाँ निर्जरा न होकर बंध होना प्रारम्भ हो जायेगा। असंयम के द्वारा जो बंध होता है वह कभी भी पूरी तरह निर्जरित नहीं हो सकता और मुक्ति भी नहीं मिलती। संयम के साथ जो संवर पूर्वक निर्जरा होती है उसी से निर्बन्ध दशा की प्राप्ति होती है। संयम के द्वारा प्रतिक्षण असंख्यात गुणी कर्म निर्जरा होती रहती है।

तत्त्वार्थसूत्र (९/४५) में एक सूत्र आया है– ''**सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजक-दर्शनमोह-क्षपकोपशमकोपशान्तमोहक्षपक-क्षीणमोहजिनाः क्रमशोसंख्येयगुणनिर्जराः**'' इसमें कहीं भी असंयम के द्वारा असंख्यातगुणी निर्जरा होने का उल्लेख नहीं आया। सम्यग्दर्शन के साथ भी मात्र उत्पत्ति के समय असंख्यातगुणी निर्जरा होती है, उसके उपरान्त नहीं। जीवन पर्यन्त सम्यग्दृष्टि अकेले सम्यक्त्व के द्वारा असंख्यात गुणी निर्जरा नहीं कर सकता। लेकिन यदि वह देशसंयम को अंगीकार कर लेता है अर्थात् श्रावक के व्रत अंगीकार कर लेता है, तो उसे असंख्यात गुणी निर्जरा होने लगती है। एक अव्रती क्षायिक सम्यग्दृष्टि मान लीजिये सामायिक के काल में सामायिक करने बैठा है तो भी उसकी असंख्यात गुणी निर्जरा नहीं होगी और वहीं एक देशव्रती भोजन कर रहा है तो भी उसकी असंख्यात गुणी निर्जरा हो रही है। आचार्य कहते हैं कि यही तो संयम का लाभ है तथा संयम का महत्त्व है। यदि कोई सकल-संयम को धारण करके महाव्रती बन जाता है तो उसकी असंख्यात गुणी निर्जरा और बढ़ जाती है। एक देशसंयमी श्रावक सामायिक में जितनी कर्म-निर्जरा करता है उससे असंख्यात गुणी निर्जरा एक मुनि महाराज आहार लेते समय भी कर लेते हैं। इसका कारण यही है कि जिसने संयम की ओर जितने कदम ज्यादा बढ़ाये हैं उसकी कर्म-निर्जरा भी उतनी ज्यादा होगी। इतना ही नहीं, जिसने संयम की ओर कदम बढ़ाये उसके लिए बिना मांगे ऐसा अपूर्व-पुण्य का सञ्चय भी होने लगता है जो असंयमी के लिए कभी सम्भव ही नहीं है।

संयम वह है जिसके द्वारा अनन्तकाल से बने संस्कार भी समाप्त हो जाते हैं। तीर्थंकर भगवान भी घर में रहकर मुक्ति नहीं पा सकते। वे भी संयम लेने के उपरान्त निर्जरा करके सिद्धत्व को प्राप्त करते हैं। सम्यग्दर्शन का काम इतना ही है कि हमें प्रकाश मिल गया। अब मञ्जिल पाने के लिए चलना हमें ही है। उद्यम हमें करना है और उस उद्यम में जितनी गति होगी उतनी ही जल्दी मञ्जिल समीप आ जायेगी।

संयम के माध्यम से ही आत्मानुभूति होती है। संयम के माध्यम से ही हमारी यात्रा मञ्जिल की ओर प्रारम्भ होती है और मञ्जिल तक पहुँचती है। यात्रा-पथ तो संयम का ही है। देशसंयम और सकल संयम ही पथ बनाते हैं क्योंकि चलने वाले से ही पथ का निर्माण होता है। बैठा हुआ व्यक्ति

पथ का निर्माण नहीं कर सकता। वह पथ को अवरुद्ध अवश्य कर सकता है। असंयम के संस्कार अगर देखा जाए तो अनादिकाल से हैं तभी तो आज तक आप कभी भी, भूलकर भी, स्वप्न में भी दीक्षित नहीं हुए होंगे। कभी मुनि महाराज बनने का स्वप्न नहीं देखा होगा। हाँ, महाराजों को आहार देने का स्वप्न अवश्य देखा होगा।

जिसकी संयम में रुचि गहरी है वह स्वप्न में भी अपने को संयमी ही देखता है। जिसका मन अभी दिन में भी भगवान् की पूजा, भक्ति और संयम की ओर नहीं लगता वह रात्रि में स्वप्न में भगवान् की पूजा करते हुए या संयम पूर्वक आचरण करते हुए स्वयं को कैसे देख पायेगा? बन्धुओ! अगर अपना आत्मकल्याण करना हो तो संयम कदम-कदम पर अपेक्षित है। लेकिन ध्यान रखना, संयम के माध्यम से किसी लौकिक चीज की अपेक्षा मत रखना। अन्यथा वह बाह्य तप या अकाम-निर्जरा की कोटि में ही आयेगा।

समन्तभद्र स्वामी ने स्वयम्भू-स्तोत्र में शीतलनाथ भगवान् की स्तुति करते हुए लिखा है कि-

अपत्यवित्तोत्तरलोकतृष्णया तपस्विनः केचन कर्म कुर्वते।
भवान्पुनर्जन्मजराजिहासया त्रयीं प्रवृत्तिं समधीरवारुणत् ॥४॥

हे शीतलनाथ भगवन्! आपने जो संयम धारण किया, आपने जिस चारित्र को अंगीकार किया उसका उद्देश्य साधारण नहीं था। अन्य तपस्वियों की तरह आपने 'अपत्य-तृष्णया' अर्थात् पुत्र-रत्न की प्राप्ति की वाञ्छा से या 'वित्त-तृष्णया' अर्थात् धन-प्राप्ति की आकांक्षा से या 'उत्तरलोकतृष्णया' अर्थात् परलोक या कदाचित् इहलोक के सुखों की प्राप्ति की आकांक्षा से संयम धारण नहीं किया, अपितु जन्म-जरा और मृत्यु का नाश करने के लिए संयम को अंगीकार किया है। यही आपकी असाधारण विशेषता है। आप रात-दिन अपनी आत्मा में लीन रहे। कभी प्रमाद को अंगीकार नहीं किया तथा कषाय को भी अंगीकार नहीं किया। आपकी प्रत्येक क्रिया में सावधानी ही नजर आती है। चलते समय आप सावधान रहे, भोजन करते समय भी आपने सावधानी को नहीं छोड़ा। अतः आप जैसे संयमी की चर्या से चौबीसों घण्टे उपदेश मिलता रहता है।

संयमी का पूरा जीवन ही उपदेशमय हो जाता है। दौलतरामजी ने बारह-भावना का उपसंहार करते हुए पाँचवी-ढाल में लिखा है कि-

सो धर्म मुनिन करि धरिये, तिनकी करतूति उचरिये।
ताको सुनिये भवि प्रानी, अपनी अनुभूति पिछानी॥

और आचार्य पूज्यपाद स्वामी भी सर्वार्थसिद्धि के प्रारम्भ में कहते हैं कि अवाक्-विसर्ग वपुषा निरूपयन्तं मोक्षमार्ग-वचन बोले बिना, कुछ कहे बिना, जिनके दर्शन मात्र से मोक्षमार्ग का

निरूपण होता रहता है, ऐसे सकल-संयम के धारी वीतरागी आचार्य ही भव्य जीवों का कल्याण करने में सहायक होते हैं।

जिसके भीतर संयम के प्रति रुचि है वह तो संयमी के दर्शन मात्र से ही अपने कल्याण के पथ को अंगीकार कर लेता है। जिसे अभी आत्मतत्त्व के बारे में जिज्ञासा ही नहीं हुई कि हम कौन हैं? कहाँ से आये हैं? ऐसे कब से हैं? और ऐसे ही क्यों हैं? हमारा वास्तविक स्वरूप क्या है? वह मोक्षमार्ग पर कैसे कदम बढ़ायेगा। जिसके मन में ऐसी जिज्ञासा होती है, वही संयम के प्रति और संयमी के प्रति भी आकृष्ट होता है। वह ही सच्चा मुमुक्षु है।

यह तो भीतरी बात हुई, पर बाहर का भी प्रभाव कम नहीं है। एक संयमी व्यक्ति के संयमित आचरण को देखकर दूसरा भी संयम की ओर कदम बढ़ाने लग जाता है। जैसे क्लास में एक विद्यार्थी प्रथम श्रेणी में प्रथम स्थान पर आ जाये तो सारे के सारे विद्यार्थियों की दृष्टि उस ओर चली जाती है और मास्टर को कहने की आवश्यकता नहीं पड़ती कि तुम सभी को और मेहनत पढ़ाई में करनी चाहिए। विद्यार्थी अपने आप पढ़ने में मेहनत करने लग जाते हैं। एक राजा यदि संयम ग्रहण कर लेता है तो अन्य प्रजाजनों के मन में भी संयम के प्रति अभिरुचि अवश्य जागृत होने लगती है। वीतरागता की सुगन्ध अपने आप सभी तरफ फैलकर अपना प्रभाव डालती है और स्वयमेव ज्ञात होने लगता है कि आत्मोपलब्धि के लिए संयम की बड़ी आवश्यकता है।

संयम का एक अर्थ इन्द्रिय और मन पर लगाम लगाना भी है और असंयम का अर्थ बेलगाम होना है। बिना ब्रेक की गाड़ी और बिना लगाम का घोड़ा जैसे अपनी मञ्जिल पर नहीं पहुँचता उसी प्रकार असंयम के साथ जीवन बिताने वाले को मञ्जिल नहीं मिलती। एक नदी मञ्जिल तक तभी पहुँच सकती है, सागर तक तभी जा सकती है जब कि उसके दोनों तट मजबूत हों। यदि तट भंग हो जायें तो नदी वहीं-कहीं मरुभूमि में विलीन हो जायेगी। उसी प्रकार संयम रूपी तटों के माध्यम से हम अपने जीवन की धारा को मञ्जिल तक ले जाने में सक्षम होते हैं। अकेला सम्यग्दर्शन विषयों की ओर जाते हुए इन्द्रिय और मन को रोक नहीं पाता। उसके साथ सम्यक्चारित्र का होना भी नितान्त आवश्यक है।

संयमी व्यक्ति ही कर्म के उदय रूपी थपेड़े झेल पाता है। जैसे बिजली के वायर में भारी से भारी करेण्ट क्यों न हो, लेकिन एक जीरो वॉट का बल्ब लगा दिया जाए तो वह सारे के सारे करेण्ट को सँभाल देता है और धीमा-धीमा प्रकाश बाहर आ पाता है। जबकि उसी स्थान पर अगर सौ वॉट का बल्ब लगा दिया जाये तो पूरा प्रकाश बाहर आने लगता है इसी प्रकार भीतरी कर्म के उदय को सँभालने के लिए संयम जीरो वॉट के बल्ब की तरह काम करता है। वह उदय आने पर विचलित नहीं होने देता। संयम बनाये रखता है। कर्म अपना प्रभाव पूरा नहीं दिखा पाता।

कर्म के वेग और बोझ को सहने की क्षमता असंयमी के पास नहीं है। वह तो जब चाहे तब जैसा कर्म का उदय आया, वैसा कर लेता है। खाने की इच्छा हुई और खाने लगे। देखने की इच्छा हो गयी तो देख लिया। सुनने की इच्छा हुई तो सुन लिया। वास्तव में देखा जाये तो इन्द्रियाँ कुछ नहीं चाहती। वे तो खिड़कियों के समान हैं। भीतर बैठा हुआ मन ही उन खिड़कियों के माध्यम से काम करता रहता है। कभी कर्णेन्द्रिय के माध्यम से शब्द की ओर आकृष्ट होता है, कभी आँख के द्वारा रूप को देखकर मुग्ध हो जाता है, कभी नासिका के द्वारा सूँघ लेता है, कभी वह रसना इन्द्रिय के द्वारा रस चखने की आकांक्षा करता है, तो कभी स्पर्श इन्द्रिय के माध्यम से बाह्य पदार्थों के स्पर्श में सुख मानता है। जो उस मन पर लगाम लगाने का आत्म पुरुषार्थ करता है, वही संयमी हो पाता है और वही कर्म के उदय को, उसके आवेग को झेल पाता है।

वह संयमी विचार करता है कि इन्द्रियों के विषयों की ओर जाना आत्मा का स्वभाव नहीं है। मेरा/आत्मा का स्वभाव तो मात्र अपनी ओर देखना और अपने को जानना है। संयमी ही ऐसा विचार कर पाता है और संयमी ही आत्म पुरुषार्थ के बल पर अपने स्वभाव को प्राप्त कर लेता है।

न भूत की स्मृति, अनागत की अपेक्षा, भोगोपभोग मिलने पर भी उपेक्षा।
ज्ञानी जिन्हें विषय तो विष दीखते हैं, वैराग्य-पाठ उनसे हम सीखते हैं॥

(समयसार-गाथा का हिन्दी पद्यानुवाद आचार्य विद्यासागर कृत)

संयमी ही वास्तव में ज्ञानी है। जिसे पूर्व में भोगे गये इन्द्रिय विषयों की स्मृति करना भी नहीं रुचता और आगे भोगोपभोग की सामग्री मिले, ऐसी लालसा भी मन में नहीं आती। वह तो विषयों को विष मानकर छोड़ देता है और निरन्तर हमें/संसारी प्राणियों को वैराग्य का पाठ सिखाता है। वैराग्य का पाठ सिखाने वाला संयमी के अलावा और कोई नहीं हो सकता। आप चाहो कि संयम के अभाव में मात्र सम्यग्दर्शन में यह काम हो जाये तो सम्भव नहीं है।

मैं पूछता हूँ कि यदि धर्म का फल मुक्ति है, ऐसा मजबूत श्रद्धान आपका है तो मोक्षमार्ग पर चलने का साहस क्यों नहीं है? रात्रि में खाते नहीं हैं, पर रात्रि भोजन का त्याग भी नहीं है। तात्पर्य यही हुआ कि कभी खाने का अवसर आया तो खा भी लेंगे। रास्ते से चलते समय आप देखकर चलते हैं, क्योंकि कंकर-पत्थर या काँटा लगने का भय है, लेकिन नीचे देखकर चलने के पीछे चींटी आदि को बचाने का भाव कभी नहीं आता। खाने-पीने की चीजें देखकर खाते पीते हैं कि कहीं भीतर जाकर शरीर के लिए बाधक न बन जायें। वहाँ दृष्टि आगम की अपेक्षा शोधन करने की नहीं है। अभिप्राय में यही अन्तर असंयम का प्रतीक है।

एक बार पन्द्रह अगस्त की बात है। जिस समय हम स्कूल जाते थे। स्कूल में सुबह पहले

प्रभात फेरी निकाली गयी फिर बाद में ध्वजारोहण किया जाना था। प्रबन्ध सब हो गया। ध्वजारोहण के साथ ही पुष्पवृष्टि की व्यवस्था भी की गयी थी। जब ध्वजारोहण के लिए डोर खींची गयी तो पुष्पवृष्टि नहीं हुई और ध्वजा भी नहीं फहरायी। बात यह हुई कि असावधानी हो गयी। ऐसी गाँठ ध्वजा की डोर में लगा दी कि समय पर डोर खींचने से खुली नहीं और ध्वजा के साथ पुष्पवृष्टि भी नहीं हुई।

दुनियाँ के बंधन सब ऐसे ही हैं। तब हमने उसी समय समझ लिया कि भइया! ऐसे बंधन में नहीं बँधना है कि जिसके द्वारा जीवन में पुष्पवृष्टि रुक जावे। धर्म का फल मुक्ति है, ऐसा श्रद्धान होते ही संयम में इस ढंग से बँधो कि धर्म-ध्वजा ऊपर भी पहुँच जाये और ऊपर पहुँचकर फहराये तथा पुष्पों की वर्षा भी हो। बिना बंधे तो ध्वजा ऊपर नहीं जायेगी और न ही पुष्प ऊपर जा पायेंगे, इसलिए बंधन तो अनिवार्य है, पर ऐसा बंधन कि डोर खींचते ही ध्वजा फहराये और पुष्पों की वर्षा हो। गाँठ इतनी ढीली भी न हो कि बीच में ही खुल जाये और पुष्प गिर जायें। अकाल वृष्टि भी ठीक नहीं, अतः समय पर वृष्टि हो और वातावरण में सुगन्ध फैल जाये।

बन्धुओ! संयम ऐसा होना चाहिए जो जीवन में सुगन्धि पैदा कर दे। संयम के माध्यम से व्यक्ति अपने जीवन में आदि से लेकर अन्त तक पुष्पवृष्टि के द्वारा अभिषिक्त होता रहता है। उसके जीवन में कभी विषाद या विकलांगता या दीनता-हीनता नहीं आती। वह तो राजाओं से बढ़कर अर्थात् महाराजा बनकर निश्चिन्तता को पा लेता है। उसे किसी बात की चिन्ता नहीं रहती। वह हमेशा खुश रहता है। ध्यान रखना-खुश्क नहीं रहता, खुश रहता है। (हँसी) हाँ ऐसा ही खुश। उसके वचन भी खुश करने वाले रहते हैं। जीवन भी खुश रहता है। सभी कुछ खुश रहता है और इस खुशहाली का कारण उत्तम-संयम ही है।

सारे बंधनों से मुक्त होकर, सभी कुछ छोड़कर एक मात्र सच्चे देव-गुरु-शास्त्र से बंधना होता है, तभी जीवन में स्वतन्त्रता आती है। जीवन में उच्छृंखलता ठीक नहीं है। भारत को स्वतन्त्रता पाये आज लगभग अड़तीस वर्ष हो गये, लेकिन स्वतन्त्रता जैसा अनुभव यदि कोई नहीं कर पाता तो उसका कारण यही है कि संयम को प्राप्त नहीं किया। वैसे तो स्वतन्त्रता को प्राप्त करना ही कठिन है, लेकिन स्वतन्त्रता के द्वारा आनन्द का अनुभव करना बिना संयमित जीवन के सम्भव नहीं है।

संयम के साथ यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि जीवन में सुगन्ध आ रही है या नहीं? जीवन में संयम के साथ सुगन्ध तभी आती है, जब हम संयम को प्रदर्शित नहीं करते बल्कि अंतरंग में प्रकाशित करते हैं। प्रायः करके यही देखने में आ जाता है कि संयम का प्रदर्शन करने वालों के जीवन में खुशबू न देखकर अन्य लोग भी संयम से दूर हटने लग जाते हैं। उन्हें समझना चाहिए कि

कागज के बनावटी फूलों से खुशबू आ कैसे सकती है? संयम प्रदर्शन की चीज नहीं है। दिखावे की चीज नहीं है।

अष्टपाहुड में आचार्य कुन्दकुन्द महाराज ने मुनियों के लिए भावपाहुड में लिखा है कि '**भावेण होई णग्गो**' यानि भाव से नग्न हो। भाव से नग्नता ही जीवन को सुवासित करेगी, मात्र बाह्य नग्नता से काम नहीं चलेगा। साथ ही, यह भी कह दिया कि सकल संयम का धारी मुनि अपने आप में स्वयं तीर्थ है। उसे अन्य किसी तीर्थ पर जाना अनिवार्य नहीं है। लेकिन वह प्रमाद भी नहीं करता यानि तीर्थ के दर्शन मिलते हैं तो अवश्य करता है और नहीं मिलने पर अपने लिए जिन-बिम्ब का निर्माण भी नहीं कराता।

बड़ी सावधानी का काम है। जो भगवान् को अपने हृदय में स्थापित कर लेता है वह तो प्रतिक्षण उनके दर्शन करता ही रहता है। स्वयम्भूस्तोत्र में नमिनाथ भगवान् की स्तुति करते हुए आचार्य समन्तभद्र स्वामी लिखते हैं कि-

स्तुतिः स्तोतुः साधोः कुशल-परिणामाय स तदा,
भवेन्मा वा स्तुत्यः फलमपि ततस्तस्य च सतः।
किमेवं स्वाधीन्याज्जगति सुलभे श्रायसपथे,
स्तुयान्न त्वां विद्वान्सततमभिपूज्यं नमिजिनम्॥१॥

हे नमि जिन! आप यहाँ हो तो ठीक और यहाँ नहीं हो तो भी ठीक। कुशल परिणामों के द्वारा की गयी आपकी स्तुति फलदायिनी हुए बिना रह नहीं सकती। आपके द्वारा बताया गया श्रेयस्कर मार्ग स्वाश्रित और सहज सुलभ है। इसी से तो विद्वान्-जन आपके चरणों में नतमस्तक होते हैं और आपकी ही स्तुति करते हैं। यह है संयमी की आस्था। आस्था के साथ संयमपूर्वक भक्ति की क्रिया चलती है। इसलिए तो संयमी को कहा कि तुम स्वयं चैत्य हो। तुम स्वयं तीर्थ हो। धर्म की मूर्ति भी तुम स्वयं हो। तुम्हें देखकर अनेक को दिशाबोध मिल जाता है।

ऐसा यह जिनलिंग धारण करने वाले संयमी महाव्रती का माहात्म्य है। जिसने तिल तुष मात्र भी परिग्रह नहीं रखा, आरम्भ और विषय कषाय सब छोड़ दिया। हाथ से भी छोड़ दिया और मन से भी छोड़ दिया। इस जिनलिंग को धारण करने वाले हे मुनि! अब स्मरण रखना कि कभी जोड़ने का भाव न आ जाये। भाव से भी नग्न रहना। अन्यथा संयम का बाना मात्र प्रदर्शन होकर रह जायेगा। संयम तो दर्शन की वस्तु है, उसे प्रदर्शन की वस्तु नहीं बनाना।

संयम वह है जिसके द्वारा जीवन स्वतन्त्र और स्वावलम्बी हो जाता है। ऐसा संयम प्राप्त करना सरल भी है, और कठिन भी। जो चौबीसों घण्टे अपने में लीन रहे, अपने आत्मा के आनन्द

को पान करे उसे तो सरल है और जब कोई अपने अकेले होने से आनन्द के स्थान पर दुख का अनुभव करने लगे तो यही उसे कठिन हो जाता है। जैसे कि बारात घर से चली जाती है तो घर में ऐसा लगता है कि भाग चलो यहाँ से। हमारी निधि ही मानों यहाँ से चली गयी हो। संयमी व्यक्ति जब संयोग और वियोग सभी में समान भाव से रहता है तो संयम का मार्ग सरल लगने लगता है। अपने में लीनता आना ही सरलता की ओर जाना है। संयमित जीवन में प्रतिक्षण आत्मा का अध्ययन चलता रहता है।

आचार्य कुन्दकुन्द महाराज ने मुनियों के २८ मूलगुणों में षट् आवश्यक के अन्तर्गत अलग से स्वाध्याय नहीं रखा। नियमसार ग्रन्थ में कह दिया कि प्रतिक्रमण ही स्वाध्याय है। जो चौबीसों घण्टे अपने आवश्यकों में मन को लगाये रखता है, उसका स्वाध्याय तो निरन्तर चलता ही रहता है। ईर्यासमिति पूर्वक चलना, एषणा-समिति पूर्वक आहार ग्रहण करना, भाषा समिति पूर्वक बोलना, आदान-निक्षेपण समिति को ध्यान में रखते हुए उठना-बैठना, उपकरणों को उठाना-रखना तथा मलमूत्र के विसर्जन के समय प्रतिष्ठापन-समिति का पालन करना, इन सभी के माध्यम से जो निरन्तर सावधानी बनी रहेगी, जागरूकता और अप्रमत्तता बनी रहेगी, वही तो स्वाध्याय है।

संयोग-वियोग में जो समता परिणाम बनाये रखता है तथा अनुकूलता और प्रतिकूलता में हर्ष-विषाद नहीं करता, ऐसा संयमी व्यक्ति ही सच्चा स्वाध्याय करने वाला है। अब तो कोई संयम पूर्वक ग्रन्थ की उपयोगी बातों को हृदयंगम नहीं करते, मात्र दूसरे को बताने की दृष्टि से समयसार आदि महान् ग्रन्थों को मुखाग्र कर लेते हैं। कहें कि मात्र शिरङ्गम कर लेते हैं और इसी को स्वाध्याय मानकर बैठ जाते हैं।

बन्धुओ! वास्तव में तो स्वाध्याय अपनी प्रत्येक क्रिया के प्रति सजग रहने में है। 'स्व' का निकट से अध्ययन करने में है। संयमपूर्वक प्रत्येक घड़ी, असंख्यात गुणी निर्जरा करते हुए समय का सदुपयोग करना ही कल्याणकारी है और इसी में मनुष्य जीवन की सार्थकता है।

❑ ❑ ❑

उत्तम-तप

विसयकसायविणिग्गह, भावं काऊण झाणसिज्झीए।
जो भावई अप्पाणं, तस्स तवं होदि णियमेण॥

पाँचों इन्द्रियों के विषयों को तथा चारों कषायों को रोककर शुभध्यान की प्राप्ति के लिए जो अपनी आत्मा का विचार करता है उसके नियम से तप-धर्म होता है।

आम अभी हरा-भरा डाल पर लटक रहा है। अभी उसमें से कोई सुगन्ध नहीं फूटी है और

रस भी चखने योग्य नहीं हुआ है, किन्तु बगीचे के माली ने उस आम्रफल को तोड़ा और अपने घर में लाकर पलाश के पत्तों के बीच रख दिया है। तीन-चार दिन के उपरान्त देखा तो वह आम्रफल पीले रंग का हो गया, उसमें मीठी-मीठी सुगन्ध फूट गयी है और रस में भी मीठापन आ गया, कठोरता के स्थान पर कोमलता आ गयी। खाने के लिए आपका मन ललचाने लगे, मुख में पानी आ जाये ऐसा इतना अविलम्ब परिवर्तन उसमें कैसे आ गया? तो माली ने बता दिया कि यह सब अतिरिक्त ताप/ऊष्मा का परिणाम है। तप के सामने कठोरता को भी मुलायम होना पड़ता है और नीरस भी सरस हो जाता है। सुगन्धी फूटने लगती है और खटाई, खटाई में पड़ जाती है। अर्थात् मीठापन आ जाता है।

आज तप का दिन है। बात आपके समझ में आ गयी होगी। अनादि-काल से संसारी प्राणी इसी तरह कच्चे आम्रफल के रूप में रह रहा है। तप के अभाव में चाहे वह संन्यासी हो, चाहे वनवासी हो या भवनवासी हो अर्थात् महलों में रहने वाला हो, उसका पकना सम्भव नहीं है। तप के द्वारा भी पूर्व सञ्चित कर्म पककर खिर जाते हैं, मंगतराय की 'बारह भावना' में निर्जरा-भावना के अन्तर्गत कुछ पंक्तियाँ आती हैं-

उदय भोग सविपाक समय, पक जाय आम डाली ।
दूजी है अविपाक पकावै पाल विषैं माली ॥

जैसे वह माली पलाश के पत्तों में पाल लगाकर आम्रफल को समय से पहले पकाने की प्रक्रिया करता है और बाहरी हवा से बचाये रखता है। तब वह आम्रफल मीठा होकर, मुलायम होकर सुगन्ध फैलाने लगता है, यही स्थिति यहाँ परमार्थ के क्षेत्र में भी है। आत्मा के स्वभाव का स्वाद लेने के लिए कुन्दकुन्द आचार्य जैसे महान् आचार्य हमें सम्बोधित करते हैं कि हे भव्य! यदि रत्नत्रय को धारण कर लो तो शीघ्र ही तप के माध्यम से तुम्हारे भीतर आत्मा की सुगन्धी फूटने लगेगी और आत्मा का निजी स्वाद आने लगेगा। रत्नत्रय के साथ किया गया तपश्चरण ही मुक्ति में कारण बनता है।

तपश्चरण करना अर्थात् तपना जरूरी है और तपने की प्रक्रिया भी ठीक-ठीक होनी चाहिए। जैसे किसी ने हलुआ की प्रशंसा सुनी तो सोचा कि हम भी हलुआ खायेंगे। पूछा गया कि हलुआ कैसे बनेगा? तो किसी ने बताया कि हलुआ बनाना बहुत सरल है। तीन चीजें मिलानी पड़ती हैं। आटा चाहिए, घी और शक्कर चाहिए। तीनों को मिला दो तो हलुआ बन जाता है। उस व्यक्ति ने जल्दी-जल्दी से तीनों चीजें मिलाकर खाना प्रारम्भ कर दिया, लेकिन स्वाद नहीं आया। आनन्द नहीं आया। कुछ समझ में नहीं आया कि बात क्या हो गयी? फिर से पूछा कि जैसा बताया था उसी के अनुसार तैयार किया है लेकिन स्वाद क्यों नहीं आया? जैसा सुना था वैसा आनन्द नहीं आया।

तो वह बताने वाला हँसने लगा, बोला कि अकेले तीनों को मिलाने से स्वाद नहीं आयेगा। हलुआ का स्वाद तो तीनों को ठीक-ठीक प्रक्रिया करके मिलाने पर आयेगा और इतना ही नहीं, अग्नि पर तपाना भी होगा। फिर तीनों जब धीरे-धीरे एकमेक हो जाते हैं, स्वाद तभी आता है और सुगन्ध तभी फूटती है।

''जहँ ध्यान-ध्याता-ध्येय को न विकल्प वच भेद न जहाँ'' (छहढाला, छठवीं ढाल)

ध्यान में पहुँचकर ऐसी स्थिति आ जाती है। चेतना इतनी जागृत हो जाती है कि ध्यान करने वाला, ध्यान की क्रिया और ध्येय, तीनों एकमेक हो जाते हैं। बिना अग्नि-परीक्षा के तीनों का मिलना सम्भव नहीं है। ध्यान की अग्नि में तपकर ही परम पद का स्वाद पाया जा सकता है। मिलना ऐसा हो कि जैसे हलुआ में यह शक्कर है, यह घी है और यह आटा है- ऐसा अलग-अलग स्वाद नहीं आता, एकमात्र हलुआ का ही स्वाद आता है, ऐसा ही आत्मा का स्वाद ध्यान में एकाग्रता आने पर आता है।

किसी को पकौड़ी या बड़ा खाने की इच्छा हुई तो वह क्या करेगा? सारी सामग्री अनुपात से मिलाने के उपरान्त कड़ाही में तलना पड़ेगा। बड़ा बनाने के लिए बड़े को अग्नि परीक्षा देनी होगी। बिना अग्नि में तपे बड़ा नहीं बन सकता। इसी प्रकार केवलज्ञान की प्राप्ति रत्नत्रय के साथ एक अन्तर्मुहूर्त तक ध्यानाग्नि में तपे बिना सम्भव नहीं होती। रत्नत्रय के साथ पूर्व कोटि व्यतीत हो सकते हैं, लेकिन मुक्ति पाने के लिए चतुर्विध आराधना करनी होगी। ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना अर्थात् रत्नत्रय की आराधना के साथ ही साथ, चौथी तप आराधना करना भी आवश्यक है।

जिस समय कोई दीक्षित हो जाता है, श्रमण बन जाता है तो उसे रत्नत्रय या पञ्चाचार का पालन करना होता है। किन्तु ध्यान रखना, उसके साथ ही साथ उसके लिए एक तप और विशेष रूप से दिया जाता हैं। इसलिए कि तप का अनुभव वह साधक यहीं से प्रारम्भ कर दे और रत्नत्रय का स्वाद उसे आने लगे। साक्षात् मुक्ति रत्नत्रय से युक्त होकर तप के द्वारा ही होती है। अकेले रत्नत्रय से अर्थात् भेद रत्नत्रय से मुक्ति परम्परा से होती है। जैसे दुकान पर तुरन्त लाभ पाने के लिए आप कड़ी मेहनत करते हैं, ऐसे ही मोक्षमार्ग में तुरन्त मुक्ति पाने के लिए आचार्यों ने तप को रखा है।

परमात्म प्रकाश में योगीन्दु देव ने लिखा है कि-

जे जाया झाणग्गियएँ कम्म-कलंक डहेवि।
णिच्च-णिरंजण-णाण-मय ते परमप्प णवेवि॥३॥

उन परमात्मा को हम बार-बार नमस्कार करते हैं, जिन्होंने परमात्मा बनने से पहले ध्यान रूपी अग्नि में अपने को रत्नत्रय के साथ तपाया है और स्वर्ण की भाँति तपकर अपने आत्म-स्वभाव की शाश्वतता का परिचय दिया है। स्वर्ण की सही-सही परख अग्नि में तपाने से ही होती है। उसमें

बट्टा लगा हो तो निकल जाता है और सौ टंच सोना प्राप्त हो जाता है। जैसे पाषाण में विद्यमान स्वर्ण से आप अपने को आभूषित नहीं कर सकते, लेकिन अग्नि में तपाकर उसे पाषाण से पृथक् करके, शुद्ध करके, उसके आभूषण बनाकर आभूषित हो जाते हैं। इसी प्रकार तप के माध्यम से आत्मा को विशुद्ध करके परम पद से आभूषित हुआ जा सकता है। यही तप का माहात्म्य है।

दक्षिण भारत में कर्नाटक के आसपास विशेष रूप से बेलगाँव जिले में ज्वार की खेती प्रायः अधिक होती है। वहाँ कुछ लोग पानी गिर जाने के डर से समय से पूर्व आठ-दस दिन पहले ही यदि ज्वार को काटकर छाया में रख लेते हैं, तो घाटे में पड़ जाते हैं। लेकिन जो अनुभवी किसान हैं, वे जानते हैं कि यदि मोती जैसी उज्ज्वल ज्वार चाहिए हो तो उसे पूरी तरह पक जाने पर ही काटना चाहिए। इसलिए वे पानी की चिन्ता नहीं करते और पूरी की पूरी अवधि को पार करके ही ज्वार काटते हैं। जो पूरी की पूरी सीमा तक तपन देकर ज्वार काटता है, उसके ज्वार घुँघरू की तरह आवाज करने वाले और आटे से भरपूर रहते हैं। वे वर्ष भर रखे भी रहें तो भी कीड़े वगैरह नहीं लगते। खराबी नहीं आती। इसी प्रकार पूरी तरह तप का योग पाकर रत्नत्रय में निखार आता है, फिर कैसी भी परिस्थिति आये, वह रत्नत्रय का धारी मुनि हमेशा अपनी विशुद्धि बढ़ाता रहता है। संक्लेश परिणाम नहीं करता। जो आधा घण्टे सामायिक करके जल्दी-जल्दी उठ जाते हैं, वे जल्दी थक भी जाते हैं, विचलित हो जाते हैं। लेकिन जो प्रतिदिन दो-दो, तीन-तीन घण्टे सामायिक और ध्यान में लीन रहने का अभ्यास करते हैं, उनकी विशुद्धि हमेशा बढ़ती ही जाती है। इधर-उधर के कामों में उनका मन नहीं भटकता और वे एकाग्र होकर अपने में लगे रहते हैं।

तप की महिमा अपरम्पार है। दूध को तपाकर मलाई के द्वारा घी बनाते हैं। तब उसका महत्त्व अधिक हो जाता है। घी के द्वारा प्रकाश और सुगन्धी, दोनों ही प्राप्त किये जा सकते हैं। वह पौष्टिक भी होता है। घी की एक और विशेषता है कि घी को फिर किसी भी तरल पदार्थ में डुबोया नहीं जा सकता। घी को दूध में भी डाल दो तो भी वह दूध के ऊपर-ऊपर तैरता रहता है। इसी प्रकार तप के माध्यम से विशुद्ध हुई आत्मा लोक के अग्र भाग पर जाकर विराजमान होती है।

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा कि जब भी मुक्ति मिलेगी, तप के माध्यम से ही मिलेगी। विभिन्न प्रकार के तपों का आलम्बन लेकर जो समय-समय पर आत्मा की आराधना में लगा रहता है, उसे ही मोक्षपद प्राप्त होता है। जब कोई परम योगी, जीव रूपी लोह-तत्त्व को सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र रूपी औषधि लगाकर तप रूपी धौंकनी से धौंक कर तपाते हैं, तब वह जीव रूपी लोह-तत्त्व स्वर्ण बन जाता है। संसारी प्राणी अनन्त काल से इसी तप से विमुख हो रहा है और तप से डर रहा है कि कहीं जल न जायें। पर वैचित्र्य यह है कि आत्मा के अहित करने वाले विषय-कषायों में निरन्तर जलते हुए भी सुख मान रहा है। 'आतम हित हेतु विराग ज्ञान। ते लखें आपको कष्ट

दान।' जो आत्मा के हितकारी ज्ञान और वैराग्य हैं, उन्हें कष्टकर मान रहा है। बन्धुओ! जब भी कल्याण होगा ज्ञान, वैराग्य और तप के माध्यम से ही होगा।

आचार्यों ने तप के दो भेद कहे हैं- एक भीतरी अंतरंग तप और दूसरा बाह्य तप। बाहरी तप एक प्रकार से साधन के रूप में है और अंतरंग तप की प्राप्ति में सहकारी है। बाहरी तप के बिना भीतरी तप का उद्‌भव सम्भव नहीं है। जैसे दूध को तपाना हो तो सीधे अग्नि पर तपाया नहीं जा सकता। किसी बर्तन में रखकर ही तपाना होगा। दूध को बर्तन में तपाते समय कोई पूछे कि क्या तपा रहे हो, तो यही कहा जायेगा कि दूध तपा रहे हैं। कोई भी यह नहीं कहेगा कि बर्तन तपा रहे हैं। जबकि साथ में बर्तन भी तप रहा है। पहले बर्तन ही तपेगा फिर बाद में भीतर का दूध तपेगा। इसी प्रकार बाहरी तप के माध्यम से शरीर रूपी बर्तन तपता है और बाहर से तपे बिना भीतरी तप नहीं आ सकता। भीतरी आत्म-तत्त्व को तप के माध्यम से तपाकर सक्रिय करना हो तो शरीर को तपाना ही पड़ेगा। पर वह शरीर को तपाना नहीं कहलायेगा, वह तो शरीर के माध्यम से भीतरी आत्मा में बैठे विकारी भावों को हटाने के लिए, विकारों पर विजय पाने के लिए किया गया तप ही कहलायेगा।

जो सही समय पर इन तपों को अंगीकार कर लेते हैं, वास्तव में वह समय के ज्ञाता हैं और समय-सार के ज्ञाता भी हैं। ऐसे तप को अंगीकार करने वाले विरले ही होते हैं। तप के ऊपर विश्वास भी विरलों को ही हुआ करता है, उसकी चर्चा भी विरले लोग ही सुन पाते हैं। यह सभी दुर्लभ से दुर्लभ बातें हैं। कल्पना करें कि कैसा होता होगा, जब साक्षात् भगवान् के समवसरण में तप की देशना होती होगी और भव्य आत्माएँ भगवान् के सम्मुख समवसरण में दीक्षित होकर तप को अंगीकार करती होंगी। इतना ही नहीं, बल्कि तप को अंगीकार करके अल्पकाल में ही अपनी विशुद्ध आत्मा का दर्शन भी कर पाते होंगे। आप लोग यहाँ थोड़ा बहुत Programe (कार्यक्रम) बना लेते हैं। दस दिन के लिए घर द्वार छोड़कर तीर्थ-क्षेत्र पर धर्म ध्यान करते हैं, तब सब भूल जाते हैं। लगता है, संसार छूट गया और मोक्ष की ओर जा रहे हैं। दस-अध्यायों में भी देखा जाए तो क्रम-क्रम से मोक्ष-तत्त्व की ओर जा रहे हैं।

ज्यों-ज्यों भावनाएँ पवित्र होती जाती हैं तो आत्मा को विशुद्ध बनाने की भावना भी प्रबल होती जाती है। इसी के माध्यम से क्रम-क्रम से एक न एक दिन हमें भी तप की शरण मिलेगी और मुक्ति का मार्ग प्रशस्त होगा। जैसे रोगी की जठराग्नि मन्द हो जाने पर पहले धीरे-धीरे मूंग की दाल का पानी देते हैं। बहुत भूख लग जाये तो भी एक दो चम्मच मूंग की दाल के पानी से अधिक नहीं देते, फिर बाद में थोड़ी शक्ति आने पर रोटी वगैरह देना प्रारम्भ कर देते हैं। उसी प्रकार हम भी पुराने

मरीज हैं। एक साथ तप की बात बहुत मुश्किल लगती है तो धीरे-धीरे चारित्र को धारण करके हम अपने तप की अग्नि को बढ़ाते जाएँ और जितनी-जितनी तप में वृद्धि होती जायेगी, उतना-उतना आनन्द आयेगा और यही आनन्द तप में वृद्धि के लिए सहायक बनता जाएगा।

विशुद्धि के साथ किया गया तप ही कार्यकारी होता है। इसलिए आचार्यों ने कहा है कि अणुव्रतों को धारण करके क्रम-कम से विशुद्धि बढ़ाते हुए आगे महाव्रतों की ओर बढ़ना चाहिए। विशुद्धि हो तो विदेह क्षेत्र भी यहीं पर आ सकता है और विशुद्धि न हो तो विदेह भी लुप्त हो सकता है। जहाँ निरन्तर तीर्थंकर का सान्निध्य बना रहता है वहाँ भी यदि विशुद्धि नहीं है तो तीन-तीन बार दिव्यध्वनि सुनने वाला भी उतनी निर्जरा नहीं कर सकता जितनी कि यहाँ व्रतों के माध्यम से विशुद्धि बढ़ाकर निर्जरा की जा सकती है। बहुत कम लोग ही अवसर का लाभ उठा पाते हैं। संसारी प्राणी की यही विचित्रता है कि जब तक नहीं मिलता तब तक अभाव खटकता है और मिल जाने के उपरान्त वह गौण हो जाता है। उसका सदुपयोग करने की भावना नहीं बनती। जो निकट भव्य-जीव होते हैं वे नियम से तप का अवसर मिलते ही पूरा का पूरा लाभ लेकर अपना कल्याण कर लेते हैं।

आप लोगों से मेरा इतना ही कहना है कि तप एक निधि है, जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र को अंगीकार करने के उपरान्त प्राप्त करना अनिवार्य है। बिना तप का अनुष्ठान किये मुक्ति का साक्षात्कार सम्भव नहीं है। जैसे दीपक की लौ आदि टिमटिमाती हो और स्पन्दित हो, चंचल हो तो न ही प्रकाश ठीक हो पाता है और न ही उससे पर्याप्त ऊष्मा ही मिल पाती है। इसी प्रकार रत्नत्रय के साथ जब तक ज्ञान स्थिर नहीं होता और जब तक उसमें एकाग्रता नहीं आती, तब तक अपने स्व-पर प्रकाशक स्वभाव को वह ज्ञान अनुभव नहीं कर सकता। अर्थात् मुक्ति में साक्षात् सहायक नहीं बन सकता। चेतना की धारा एक दिशा में बहना चाहिए, और ध्याता और ध्येय की एकरूपता होनी चाहिए।

बन्धुओ! दुनियाँदारी की चर्चा में अपना समय व्यतीत नहीं करना चाहिए, उससे कोई भी लाभ मिलने वाला नहीं है। सही वस्तु का आलोढ़न करने से ही उपलब्धि होती है। दस किलो दूध के दही से आप किलो, दो किलो नवनीत निकालो तो निकल भी आयेगा, लेकिन उससे चौगुनी मात्रा में भी पानी को मथकर नवनीत चाहो तो जरा भी नहीं निकलेगा। आप लोग दस दिन तक सुबह से शाम जिस प्रकार धार्मिक, आध्यात्मिक कार्य में लगे रहते हैं, उसी प्रकार का कार्यक्रम हमेशा चलता रहना चाहिए। तब कहीं जाकर आत्मा में पवित्रता आना प्रारम्भ होगी। जितना समय इसमें देंगे उतना ही कल्याण का मार्ग प्रशस्त होगा।

यावत् स्वास्थ्यं शरीरस्य, यावत् इन्द्रियसंपदा।
तावत् युक्तं तपश्कर्म वार्धक्ये केवलं श्रमः॥

जब तक शरीर स्वस्थ है, इन्द्रिय सम्पदा है, ज्ञान है और तप करने की क्षमता है तब तक तप को एकमात्र कार्य मानकर कर लेना चाहिए। क्योंकि वृद्धावस्था में जब शरीर साथ नहीं देता, इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं और ज्ञान काम नहीं करता, तब हाथ क्या आता है? केवल पश्चात्ताप ही हाथ आता है। यह शरीर भोगों के लिए नहीं मिला और न ही देखने के लिए मिला है, इसके द्वारा तो आत्मा का मन्थन करके अमृत पा लेना चाहिए। आज तो मात्र खाओ, पिओ और मौज करो वाली बात हो रही है। इसके बीच भी यदि कोई विषय-कषाय से विरक्त तप की ओर अग्रसर होता है तो यह उसका सौभाग्य है। इतना ही नहीं, उसका सान्निध्य भी जिसे मिलता है वह भी सौभाग्यशाली है। संसारी प्राणी ने आज तक दृढ़ता के साथ तपश्चरण को स्वीकार नहीं किया। और तो सैकड़ों कार्य सम्पादित किये लेकिन एक यही कार्य नहीं किया। परिणाम यह हुआ कि दुख में ही सुख का आभास करने का संस्कार दृढ़ होता गया। आप पूजन करते समय देवशास्त्रगुरु-पूजा की जयमाल में बोलते अवश्य हैं कि-

संसार महादुख सागर के, प्रभु दुखमय सुख आभासों में।
मुझको न मिला सुख क्षण भर भी, कञ्चन-कामिनी प्रासादों में॥

लेकिन भीतर इस बात का अनुभव नहीं हो पाता। तप में दुख जैसा प्रतीत होता है और इन्द्रिय विषयों में सुख जैसा लगता है। पर वास्तव में देखा जाए तो सच्चा सुख तो तप में ही है। इन्द्रिय-सुख तो मात्र सुखाभास है।

आत्मा की शक्ति अनन्त है। इस श्रद्धान के साथ जो व्यक्ति अपने इस जीवन को अविनश्वर सुख की खोज में लगा देता है उसका जीवन सार्थक हो जाता है। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने मोक्षपाहुड में कहा है कि-

अज्ज वि तिरयणसुद्धा अप्पा झाएवि लहदि इंदत्तं।
लोयंतियदेवत्तं तत्थ चुआ णिव्वुदिं जंति॥ ७७॥

आज भी रत्नत्रय की आराधना करके आत्म-ध्यान में लीन होकर इन्द्रत्व को प्राप्त कर सकते हैं, लौकान्तिक देव बन सकते हैं। इतना ही नहीं, वहाँ से नीचे आकर मनुष्य होकर नियम से मुक्ति पा सकते हैं। बन्धुओ! शेष जीवन न जाने किसका कितना रहा? अगर चाहें तो कम समय में भी पूरी की पूरी कर्म-निर्जरा अपने आत्म-पुरुषार्थ और आत्मबल के द्वारा कर सकते हैं। जो व्यक्ति निमित्त पाकर भी अपने उपादान को जागृत नहीं करता, वह अभी निमित्त-उपादान के वास्तविक ज्ञान से विमुख है। निमित्त में कार्य नहीं हुआ करता, कार्य तो उपादान में ही होता है, लेकिन निमित्त के बिना उपादान का कार्य रूप परिणाम भी न हुआ और न कभी होगा।

रत्नत्रय के साथ बाह्य और अंतरंग दोनों प्रकार के तपों का आलम्बन लेकर साधना करने वाला ही मुक्ति सम्पादन कर सकता है। यही एक मुक्ति का मार्ग है। ❑ ❑ ❑

उत्तम त्याग

णिव्वेगतियं भावइ, मोहं चइऊण सव्वदव्वेसु ।
जो तस्स हवेच्चागो, इदि भणिदं जिणवरदेह॥

जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है कि जो जीव सारे परद्रव्यों के मोह को छोड़कर संसार, देह और भोगों से उदासीन परिणाम रखता है, उसके त्याग धर्म होता है।

उत्तम त्याग की बात है। दान और त्याग-ये दो शब्द आते हैं। दोनों में थोड़ा सा अन्तर है। रागद्वेष से अपने को छुड़ाने का नाम 'त्याग' है। वस्तुओं के प्रति रागद्वेष के अभाव को 'त्याग' कहा गया है। दान में भी रागभाव हटाया जाता है किन्तु जिस वस्तु का दान किया जाता है, उसके साथ किसी दूसरे के लिए देने का भाव भी रहता है। दान पर के निमित्त को लेकर किया जाता है किन्तु त्याग में पर की कोई अपेक्षा नहीं रहती। किसी को देना नहीं है, मात्र छोड़ देना है। त्याग 'स्व' को निमित्त बनाकर किया जाता है।

दान-रूप त्याग के द्वारा जो सुख प्राप्त होता है वह अकेले 'स्व' का नहीं, 'पर' का भी होता है। 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' ग्रन्थ में आया है कि **'स्वपरानुग्रहहेतोः'** 'स्व' के ऊपर अनुग्रह और 'पर' के ऊपर भी अनुग्रह जिससे हो वही दान रूप त्याग धर्म है। जो धर्म में स्खलित हो गये हों, मोक्षमार्ग से च्युत होने को हों, संकट में फँसे हुए हों, उनको सही मार्ग पर लगाना यह तो हुआ 'पर' के ऊपर अनुग्रह और 'स्व' के ऊपर अनुग्रह। इस माध्यम से होने वाला पुण्य का संचय है। पूज्यपाद स्वामी ने सर्वार्थसिद्धि में कहा है कि **'परोपकारः सम्यग्ज्ञानादिवृद्धिः स्वोपरोकारः पुण्यसञ्चयः'** जिन्हें दान दिया जाता है उनके सम्यग्दर्शन, ज्ञानादि की वृद्धि होती है, यही 'पर' का उपकार है और दान देने से जो पुण्य का सञ्चय होता है वह अपना उपकार है।

आचार्यों ने दान, पूजा शील और उपवास को श्रावक के प्रमुख कर्त्तव्यों में गिना है। अतिथि सत्कार करना भी प्रत्येक श्रावक का कर्त्तव्य है। यह सभी शुभ क्रियाएँ लोभ को शिथिल करने के लिए हैं। जो लोभ कर्म हमारे आत्मप्रदेशों पर मजबूती से चिपक गया है, जिससे संसारी की निःश्रेयस और अभ्युदय की गति रुक गयी है, उस लोभ-कर्म को तोड़ने का काम यही त्याग धर्म करता है।

त्याग और दान का सही-सही प्रयोजन तो तभी सिद्ध होता है, जब हम जिस चीज का त्याग कर रहे हैं या दान कर रहे हैं, उसके प्रति हमारे मन में किसी प्रकार का मोह या मान-सम्मान पाने का लोभ न हो। क्योंकि जिस वस्तु के प्रति मोह के सद्भाव में कर्मों का बंध होता है, वही वस्तु मोह के अभाव में निर्जरा का कारण बन जाती है। बंधन से मुक्ति की ओर जाने की सरलतम उपाय यदि कोई है तो वह यही त्याग धर्म और दान है।

'आतम के अहित विषय कषाय, इनमें मेरी परिणति न जाय' (दौलतराम कृत-जिनेन्द्रस्तुति) सामान्य व्यक्ति भी अहितकारी वस्तुओं को सहज ही छोड़ देता है। विष को जिस प्रकार सभी प्राणी सहज ही छोड़ देते हैं, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि विषय-भोग की सामग्री को अहितकर जानकर छोड़ देते हैं। विषयों को छोड़ने से नियम से भीतर पड़ा हुआ कषाय का संस्कार शिथिल हो जाता है। 'पद्मनंदी-पञ्चविंशतिका' द्वितीय अध्याय में तो एक स्थान पर यह उल्लेख किया है कि **अतिथि के दर्शन से जो अहोभाव होता है, उसके निमित्त से मोह का बंधन ढीला पड़ जाता है। सत्पात्र को दान देकर वह निरन्तर अपने मोह को कम करने में लगा रहता है।**

दान के माध्यम से 'स्व' और 'पर' के अनुग्रह में विशेषता यह है कि 'पर' यानि दूसरा तो निमित्त है, उसका अनुग्रह हो भी और नहीं भी, लेकिन 'स्व' के ऊपर अर्थात् स्वयं के ऊपर अनुग्रह तो नियम से होता ही है। मान लीजिये, जैसे तालाब में बाँध बना दिया जाता है और पानी जब तेजी से उसमें भरने लगता है तो लोगों को चिंता होने लगती है कि कहीं पानी के वेग से बाँध टूट न जाये, क्योंकि संग्रहित हुए पानी की शक्ति अपेक्षाकृत बढ़ जाती है। जो बाँध बनाते हैं वे लोगों को समझा देते हैं कि हमने पहले से ही व्यवस्था बना रखी है। घबराने की कोई बात नहीं है। हमारे पूर्वजों ने पहले ही हमें शिक्षा दे रखी है कि कहीं प्रवेश करो तो बाहर आने का रास्ता पहले ही देख लेना चाहिए, नहीं तो भीतर जाकर अभिमन्यु की तरह स्थिति हो सकती है।

तालाब को बाँधते समय ही पानी के निकालने की व्यवस्था कर दी जाती है। मोरी (गेट) बना देते हैं, तब पानी अधिक होने पर उसमें से अपने आप बाहर निकलने लगता है। आपको 'जयपुर' की घटना याद होगी। कैसी भयानक स्थिति बन गयी थी? राजस्थान में हमेशा पानी की कमी रहती है पर उस समय ऐसी वर्षा हुई कि लगातार दो दिन तक पानी ही पानी हो गया और भारी क्षति हुई। कारण यही था कि पानी तो आता गया, लेकिन निकलने का मार्ग नहीं था। आप समझ गये होंगे कि संग्रह ही संग्रह करते जायेंगे तो क्या स्थिति बनेगी? परिग्रह की सीमा होनी चाहिए। दान करने की आवश्यकता उसी परिग्रह को सीमित बनाये रखने के लिए है।

आप यहाँ तीर्थ क्षेत्र पर बैठे हैं। सुबह से शाम तक धर्मध्यान चल रहा है। यहाँ पर किसी प्रकार की द्विविधा नहीं है। सभी रागद्वेष से बचकर वीतराग धर्म की उपासना में लगे हैं। यही यदि आप किसी बड़े शहर में करना चाहते तो दुनियाँ भर की परेशानियाँ आतीं। नगर-पालिका से या और लोगों से जगह के लिए स्वीकृति (परमीशन) की आवश्यकता पड़ती। वहाँ शोरगुल के बीच धर्मध्यान करना संभव नहीं हो पता। लेकिन यहाँ इस तरह की कोई परेशानी नहीं है। यहाँ बंध नहीं है। यहाँ तो धर्मध्यान के द्वारा असंख्यात गुणी निर्जरा ही हो रही है। तीर्थक्षेत्र का यही प्रभाव है, या

कहिये श्रावक के चार धर्मों- **''दाणं-पूजा-सीलमुववासो सावयाणं चउव्विहो धम्मो''**(कसायपाहुड) दान, पूजा, शील और उपवास में से विशिष्ट दान का सुफल है।

महापुराण में आचार्य जिनसेन लिखते हैं कि भूदान, ग्रामदान, आवासदान, यह सभी दान अभयदान के अन्तर्गत आते हैं। 'पाड़ाशाह' ने यहाँ मन्दिर का निर्माण कराया। शान्तिनाथ भगवान की मनोज्ञ विशाल प्रतिमा जी की स्थापना करायी, जिससे आज तक लाखों लोग यहाँ पर आकर दर्शन-वंदन का लाभ ले रहे हैं। अभिषेक और पूजन करके अपने पापों का विमोचन कर रहे हैं। वीतराग-छवि के माध्यम से वीतरागता का पाठ सीख रहे हैं। पूर्व में कैसे-कैसे उदार-दाता थे, यह बात इन तीर्थों को देखकर सहज ही समझ सकते हैं। त्याग हमारा परम धर्म है। कितनी अच्छी पंक्तियाँ कवि दौलतराम जी ने छहढाला में लिखी हैं-

यह राग आग दहे सदा तातैं समामृत सेइये।
चिर भजे विषयकषाय अब तो त्याग निजपद बेइये ॥

संसारी प्राणी अपने जीवन के बारे में न जाने कितने तरह के कार्यक्रम बनाता है, पर अहित के कारणभूत रागद्वेष-भाव को त्याग करने का कोई कार्यक्रम नहीं बनाता। बन्धुओ! विषय-कषाय का त्याग ही इस संसार के भीषण दुखों से बचने का एकमात्र उपाय है।

इमि जानि, आलस हानि, साहस ठानि, यह सिख आदरौ।
जबलौं न रोग जरा गहै तबलौं झटिति निज हित करो ॥

कितनी भीतरी बात कही है तथा कितनी करुणा से भरकर कही गयी है कि संसार की वास्तविकता को जानकर अब आलस मत करो, साहस करके इस शिक्षा को ग्रहण करो कि जब तक शरीर नीरोग है, बुढ़ापा नहीं आया, तब तक जल्दी-जल्दी अपने हित की बात कर लो। भविष्य के भरोसे बैठना ठीक नहीं है। भविष्य का कोई भरोसा भी नहीं है। अगले क्षण क्या होगा, कहा नहीं जा सकता। बाढ़ आती है और देखते-देखते लोग सँभल भी नहीं पाते और सब बाढ़ में बह जाते हैं। भूकम्प आते हैं और क्षण भर में हजारों की संख्या में जनता मारी जाती है। बन्धुओ! मृत्यु के आने पर कौन कहाँ चला जाता है, पता भी नहीं लगता। सारी की सारी सम्पदा यहीं की यहीं धरा पर धरी रह जाती है। नाम-पता सब यहीं पर पड़ा रह जाता है। इस बीच यदि कोई अपने मन में त्याग का संकल्प कर लेता है तो उसके आगामी जीवन में सुख-शान्ति की सम्भावना बढ़ जाती है।

जीवंधरकुमार और उनके पिता राजा सत्यंधर की कथा बहुत रोचक है। प्रेरणास्पद भी है। जीवंधर के पिता जीवंधर के जन्म से पहले विलासिता में इतने डूबे रहते थे कि राज्य का काम-काज कैसा चल रहा है, ध्यान ही नहीं रख पाते थे। मन्त्री ने सोचा-अच्छी सन्धि (अवसर) है। उसने भीतर ही भीतर राज्य हड़पने की योजना बना ली और किसी को कुछ पता ही नहीं चला। जब

मालूम पड़ा तो राजा सत्यंधर सोच में पड़ गये कि अब क्या किया जाए? जीवंधर की माँ गर्भवती थी और जीवंधर कुमार गर्भ में थे। वंश का संरक्षण करना आवश्यक है, इसलिए पहले जल्दी-जल्दी उनको केकी (मयूर) यन्त्र चालित विमान में बिठाकर दूर भेज दिया और स्वयं युद्ध की तैयारी में लग गये। अपने ही मन्त्री काष्ठांगार से युद्ध करते-करते राजा सत्यंधर के जीवन का अन्त समय जब निकट आ गया तो वे विचार मग्न हो गये-

सर्वं निराकृत्य विकल्प - जालं, संसार-कान्तार-निपातहेतुम्।
विविक्तमात्मान-मवेक्षमाणो, निलीयसे त्वं परमात्मतत्त्वे॥ २९॥

(अमितगति आचार्य कृत भावना-द्वात्रिंशतिका)

पहले राजा लोग बड़े सजग होते थे। पुत्र रत्न की प्राप्ति होते ही घर द्वार छोड़कर तपस्या के लिए वन में जाकर दीक्षा धारण कर लेते थे। यदि आकस्मिक मृत्यु का अवसर आ जाता तो तत्काल सब छोड़कर आत्म-कल्याण के लिए संकल्पित हो जाते थे। यही राजा सत्यंधर ने किया। वे रणांगण में ही दीक्षित होकर सद्गति को प्राप्त हुए। त्याग जीवन का अलंकार है, क्योंकि गृहस्थावस्था में भले ही राग भाव से विभिन्न प्रकार के अलंकार धारण किये जाते हैं, लेकिन मुनि अवस्था में त्याग भाव ही अलंकार है।

पहले श्रावक होते हुए भी पण्डित वर्ग में त्याग की भावना कूट-कूट कर भरी थी। पं. दौलतराम जी के बारे में कहा जाता है कि वे छोटा सा वस्त्रों की रँगाई का काम करते थे। लेकिन 'छहढाला' का निर्माण किया, जिसे पढ़ने पर स्वतः ही मालूम पड़ जाता है कि कैसी भीतरी त्याग की भावना रही होगी। 'कब मिल हैं वे मुनिराज' जैसी भजन की पंक्तियाँ लिखीं मिलती हैं, क्योंकि उस समय उनको मुनिदर्शन का अभाव खटकता होगा। शास्त्र में जैसे त्याग तपस्या के उदाहरण लिखे हैं, उनको पढ़कर वे गद्गद् हो जाते थे और उसी की ओर अग्रसर होने की भावना रखते थे। तभी तो भजन के माध्यम से उन्होंने ऐसे भाव व्यक्त किये।

एक बात और ध्यान रखने योग्य है कि त्याग की साक्षात् जीवित मूर्ति के समागम के बिना त्याग के मार्ग में अग्रसर होना सम्भव नहीं है। जैसे कहा जाता है कि खरबूजे को देखकर खरबूजा रंग बदलता है अर्थात् पकने लगता है, ऐसे ही त्यागी-व्रती को देखकर त्याग के भाव सहज ही जागृत हो जाते हैं।

बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ च॥ ३७॥ तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ५

बन्ध होते समय दो अधिक शक्त्यंश वाला, दो हीन शक्त्यंश वाले का परिणमन कराने वाला होता है। कोई त्यागी ऐसा अद्भुत त्याग कर देता है कि जिसे देखकर रागी के मन में भी त्याग भाव

आ जाता है। लेकिन यह भी ध्यान रखना कि त्याग स्वाधीन है अर्थात् अपने आधीन है। त्याग की भावना उत्पन्न होना स्वाश्रित है। निमित्त को लेकर उसमें तेजी आ जाती है। इसी अपेक्षा यह बात कही गयी है।

आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने रत्नकरण्डक श्रावकाचार में कहा है कि-

कर्मपरवशे सान्ते, दु:खैरन्तरितोदये ।
पापबीजे सुखेऽनास्था, श्रद्धानाकाङ्क्षणा स्मृता॥ १२॥

सांसारिक सुखों की वाञ्छा व्यर्थ है, क्योंकि सांसारिक सुख सब कर्माधीन हैं। कर्म का उदय कैसे-कैसे परिवर्तन लायेगा, कहा नहीं जा सकता। एक ही रात में नदी अपना रास्ता बदल लेती है और सब तहस-नहस हो जाता है। सुन्दर उपवन के स्थान पर रेगिस्तान होने में देर नहीं लगती। चले जा रहे हैं रास्ते में और अचानक जीप पलट गयी। जीवन का अन्त हो गया, तो जीप क्या पलटी, वह तो भीतरी कर्म ही पलट गया। यही तो कर्माधीन होना है। सांसारिक सुखों की आकांक्षा दुख लेकर आती है, और दुख का बीज छोड़कर जाती है। ऐसे सांसारिक सुखों में निकांक्षित सम्यग्दृष्टि आस्था नहीं रखता। सम्यग्दृष्टि तो अर्थ (सम्पत्ति) में नहीं, परमार्थ में आस्था रखता है।

जैसे सांसारिक मामलों में सही व्यापारी वही माना जाता है, जो अपने व्यापार में दिन-दूनी रात-चौगुनी वृद्धि करता है और अर्थ के माध्यम से अर्थ कमाता है। ऐसे ही परमार्थ के क्षेत्र में परमार्थ का विकास परमार्थ के माध्यम से होता है अर्थात् अर्थ के त्याग के माध्यम से होता है। जितना-जितना आप अर्थ के बोझ से मुक्त होंगे, अर्थ का त्याग करते जायेंगे, उतना-उतना परमार्थ भाव के द्वारा ऊपर उठते जायेंगे। परमार्थ भाव से दिया गया दान अकेले पुण्यबंध का कारण नहीं है, वह परम्परा से मुक्ति में भी सहायक बनता है। वह यहाँ भी सुखी बनाता है और जहाँ भी जाना हो, वहाँ भी सुख की ओर अग्रसर कराने वाला होता है।

यहाँ प्रसंगवश कहना चाहूँगा कि 'दौलत' का अर्थ निकालें तो ऐसा भी निकल सकता है कि जो आते समय व्यक्ति के सामने सीने पर लात से आघात करती है तो अहंकारवश व्यक्ति का सीना फूल जाता है। वह अकड़कर चलने लगता है। लेकिन वही दौलत जाते समय मानों अपनी दूसरी लात व्यक्ति की पीठ पर मारकर चली जाती है और व्यक्ति की कमर झुक जाती है। वह मुख ऊपर उठाकर नहीं चल पाता। यही दौलत की सौबत का परिणाम है। ज्ञानी वही है, जो वर्तमान में मिलने वाली विषय भोगों की सामग्री (धन-सम्पदा आदि) के प्रति हेय-बुद्धि रखता है। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने समयसार जी में कहा है कि-

उप्पण्णोदयभोगे वियोगबुद्धीय तस्स सो णिच्चं।
कंखामणागदस्स य उदयस्स ण कुव्वदे णाणी॥२२८॥

ज्ञानी के सदा ही वर्तमान काल के कर्मोदय का भोग, वियोग बुद्धि अर्थात् हेय बुद्धि से होता है और ज्ञानी भावी भोगों की आकांक्षा भी नहीं करता।

दान इत्यादि के प्रति ज्ञानी की हेय बुद्धि नहीं होती। पूजा, अभिषेक के प्रति भी हेय बुद्धि नहीं होती। अपने षट्-आवश्यकों के प्रति भी हेय-बुद्धि नहीं आती, मात्र विषयभोगों के प्रति हेयबुद्धि आ जाती है। दान आदि के माध्यम से जो पुण्य का अर्जन होता है, उसके प्रति भी हेयबुद्धि नहीं होती, किन्तु पुण्य के फलस्वरूप मिलने वाली सांसारिक सामग्री के प्रति उसकी हेय बुद्धि अवश्य होती है। सम्यग्दृष्टि जैसे-जैसे भोगों का त्याग करता जाता है, वैसे-वैसे ही उसे भोग सामग्री और अधिक प्राप्त होने लगती है लेकिन वह उसे त्याज्य ही मानता है और ग्रहण नहीं करता।

भगवान् अभिनिष्क्रमण करते हैं, राजपाट और राजभवन के समस्त वैभवों का त्याग कर देते हैं और दीक्षा ले लेते हैं। तब राज्य के सभी जन उनकी सेवा के लिए साथ चलने को तत्पर हो जाते हैं। इन्द्र सेवा में आकर खड़ा हो जाता है, लेकिन भगवान् किसी की ओर आँख उठाकर भी नहीं देखते। वे अपनी आत्मा की खोज में वन की ओर गमन कर देते हैं और भीतर ही भीतर आत्मध्यान में लीन होते जाते हैं। उपसर्ग आने पर भी प्रतिकार करने के लिए बाहर नहीं आते और न ही किसी की अपेक्षा रखते हैं। तब जाकर ही कैवल्य की प्राप्ति होती है, और अभी इतना ही नहीं, समवसरण की रचना होने लगती है। तीन लोक में सर्वश्रेष्ठ समझी जाने वाली दैवीय सम्पदा समवसरण की रचना में लगायी जाती है। लेकिन भगवान्...भगवान् तो उस विशाल समवसरण के एक कण को भी नहीं छूते, वे तो कमलासन पर भी चार अंगुल ऊपर अन्तरिक्ष में विराजमान रहते हैं। यही हमारे वीतराग भगवान् की पहचान है।

संसारी प्राणी जिस सम्पदा के पीछे दिन-रात भाग-दौड़ कर रहा है, वही सम्पदा भगवान् के पीछे आकृष्ट हो रही है और उन्हें अपनी ओर आकृष्ट करने की चेष्टा कर रही है। तभी तो केवलज्ञान के उपरान्त भी उनके नीचे, आगे-पीछे चारों तरफ समवसरण के रूप में सम्पदा बिछी हुई है। अन्त में जब भगवान् योग-निग्रह अर्थात् मन-वचन-काय की सूक्ष्म क्रियाओं का भी निरोध करने चल देते हैं तो समवसरण की वह सम्पदा भी पीछे छूट जाती है। यह त्याग की अन्तिम परम घड़ी है। इसके उपरान्त ही उन्हें मुक्ति का लाभ मिल जाता है।

बन्धुओ! आज तक त्याग के बिना किसी को मुक्ति नहीं मिली और मिलना भी सम्भव नहीं है। जब भी मुक्ति मिलेगी, त्यागपूर्वक ही मिलेगी। सोचो, सुमेरु पर्वत और सौधर्म स्वर्ग के प्रथम पटल के बीच बाल मात्र का अन्तर होते हुए भी कोई विद्याधर चाहे कि स्वर्ग के विमानों में चला जाऊँ तो छलाँग मारकर जा नहीं सकता। यही बात मुक्ति के विषय में है कि कोई बिना त्याग के,

यूँ ही छलाँग लगाकर सिद्ध शिला पर पहुँचना चाहे और सिद्धत्व का अनुभव करना चाहे तो नहीं कर सकता। त्याग के बिना यह सम्भव ही नहीं है।

ध्यान रखना, त्याग के द्वारा जो अतिशय-पुण्य का सञ्चय सम्यग्दृष्टि को होता है, वह पुण्य का सञ्चय मोक्षमार्ग में कभी भी बाधक नहीं बन सकता। पुण्य के फल में राग भाव होना बाधक बने तो बन सकता है। क्योंकि पुण्य के फल में हर्ष-विषाद की सम्भावना होती है। पूज्यपाद स्वामी ने सर्वार्थसिद्धि में पुण्य की परिभाषा कही है कि **'पुनाति आत्मानं पूयतेनेन इति वा पुण्यम्'**जो आत्मा को पवित्र बना दे या जिसके द्वारा आत्मा पवित्र होता है वह 'पुण्य' है। घातिया-कर्मों के क्षय करने के लिए यही सातिशय पुण्य आवश्यक है। तभी केवलज्ञान की प्राप्ति करके आत्मा स्व-पर प्रकाशक होकर पवित्र होती है।

इस तरह का पुण्य चाहने से नहीं मिलता। पुण्य के फल के प्रति निरीहता आने पर अपने आप मिलता है। जैसे किसी व्यक्ति का पैर फिसल जाए और वह कीचड़ में गिर जाये तो सारा शरीर कीचड़ से लथपथ हो जाता है, तब उस कीचड़ से मुक्त होने के लिए उसे जल की आवश्यकता महसूस होती है। जल उस कीचड़ को साफ करके स्वयं भी शरीर के ऊपर अधिक नहीं टिकता। जो दो चार बूंदें रह भी जाती हैं, वे मोती के समान चमकती रहती हैं और कुछ देर में वे भी समाप्त हो जाती हैं। यही स्थिति पुण्य की है। पाप-पंक से मुक्त होने के लिए पुण्य के पवित्र जल की आवश्यकता पड़ती है। जो त्याग के फलस्वरूप स्वतः मिलता जाता है।

भगवान् की भक्ति पाप के क्षय में तो निमित्त है ही, साथ ही साथ, कर्त्तव्य-बुद्धि से की जाने पर पुण्य के सञ्चय में भी कारण बनती है। उसे तात्कालिक उपादेय मानकर करते जाइये तो वह भी मोक्षमार्ग में साधक है। केवल शुद्धोपयोग से ही संवर होता है या निर्जरा होती है, ऐसी धारणा नहीं बनानी चाहिए। शुभोपयोग को भी आचार्यों ने संवर और निर्जरा का कारण कहा है। उसे भी परंपरा से मुक्ति का कारण आचार्यों ने माना है। इसलिए दान और त्यागादि शुभ क्रियाओं के द्वारा केवल पुण्य बंध ही होता है, ऐसा एकान्त नहीं है। इन शुभ-क्रियाओं द्वारा और शुभ भावों के द्वारा संवरपूर्वक असंख्यात गुणी निर्जरा संयमी व्यक्ति को निरन्तर होती है। व्रत के माध्यम से, भक्ति और स्तुति के माध्यम से तथा षडावश्यक क्रियाओं के माध्यम से संयमी व्यक्ति संवर और निर्जरा दोनों ही करता है, तभी दानादि क्रियाएँ 'पर' के साथ-साथ 'स्व' का अनुग्रह करने वाली कहीं गयी हैं।

एक उदाहरण याद आ गया। युधिष्ठिर जी पांडवों में सबसे बड़े थे। दानवीर माने जाते थे। एक बार एक याचक ने आकर उनसे दान की याचना की। वे किसी कार्य में व्यस्त थे तो कह दिया कि थोड़ी देर बाद आना या कल ले जाना। भीम जी को जब मालूम पड़ा तो वे आये और बोले भइया! ये भी कोई बात हुई। क्या आपने मृत्यु को जीत लिया है? क्या अगले क्षण का आपको

भरोसा है कि बचेंगे ही? अभी दे दो। अन्यथा विचार बदलने में भी देर नहीं लगती। बन्धुओ! त्याग का भाव आते-आते भी राग का भाव आ सकता है क्योंकि राग का संस्कार अनादिकाल का है, इसलिए 'शुभस्य शीघ्रम्' वाली बात होना चाहिए। ताकि त्याग का संस्कार आगे के लिए भी दृढ़ होता जाये।

राग के द्वारा संसार के बंधन का विकास होता है तो वीतराग भावों के द्वारा संसार से मुक्त होने के मार्ग का विकास होता है। जो वीतराग बने हैं, जिन्होंने उत्तम त्यागधर्म को अपनाया है, उनके प्रति हमारा हार्दिक अनुराग बना रहे। उनकी भक्ति, स्तुति और उनका नाम स्मरण होता रहे, यही संसार से बचने का एकमात्र सरलतम उपाय है, प्रशस्त मार्ग है।

❑ ❑ ❑

उत्तम आकिञ्चन्य

होऊण य णिस्संगो, णियभाव णिग्गहित्तु सुहदुहदं॥
णिद्दंदेण दु वट्टदि, अणयारो तस्स कचण्हं॥

जो मुनि सर्व प्रकार के परिग्रहों से रहित होकर और सुख-दुख के देने वाले कर्मजनित निज भावों को रोककर निर्द्वन्द्वता से अर्थात् निश्चिन्तता से आचरण करता है, उसके आकिञ्चन्य धर्म होता है।

विहाय यः सागरवारिवाससं, वधूमिवेमां वसुधावधूं सतीम्।
मुमुक्षुरिक्ष्वाकु-कुलादिरात्मवान्, प्रभुः प्रवव्राज सहिष्णुरच्युतः॥ ३॥

आदि तीर्थंकर भगवान आदिनाथ की स्तुति करते हुए आचार्य समन्तभद्र स्वामी कहते हैं कि जिन्होंने सागर तक फैली हुई वसुंधरा को, अपने समस्त राजवैभव को और यशस्वती और सुनन्दा जैसी वधुओं (पत्नियों) को छोड़ दिया और मुमुक्षु बनकर एकाकी वन में विचरण करने का संकल्प ले लिया, संन्यासी हो गये, प्रव्रज्या को अंगीकार कर लिया ऐसे आत्मवान् भगवान इक्ष्वाकु वंश के प्रमुख थे। आपका धैर्य सराहनीय था। आप सहिष्णु थे तथा अपने मार्ग से कभी विचलित नहीं हुए।

तीर्थंकर का यह एक और नियम होता है कि दीक्षा के उपरान्त जब तक केवलज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो जाती, तब तक वे किसी से बोलते नहीं है। मौन-साधना में ही उनका काल व्यतीत होता है। आदिनाथ भगवान का काल भी ऐसा ही आत्म-साधना में एकाकी मौन रहकर बीता। एकाकी होकर मुक्ति के मार्ग पर चलना, यही सही प्रव्रज्या है।

इसी बीच कुछ दिनों के बाद कहते हैं कि नमि और विनमि जो उनके पौत्र थे, वे आये और प्रार्थना करने लगे कि हे पितामह! हमें आपने कुछ नहीं दिया। हम तो कुछ भी पाने से वञ्चित रह

गये। हमें भी कुछ दीजियेगा। हमें भी कुछ कहियेगा। जब बहुत देर तक कोई उत्तर नहीं मिला तो सोचा कि ये अपने ध्यान में होंगे, अतः एकदम बार-बार पूछना ठीक नहीं है और अभी जब ध्यान से उठेंगे तो पूछ लेंगे। ऐसा सोचकर वे कहीं बैठ गये और संकल्प कर लिया कि कुछ लेकर ही उठेंगे। लेकिन भगवान तो भगवान हैं। वे ध्यान में लीन रहे, कुछ नहीं बोले और कोई संकेत भी नहीं किया। समय बीतता गया। वे दोनों पौत्र भी वहीं बैठे रहे।

कहते हैं कि इन्द्र देव का सिंहासन हिल गया। वह आया और सारी बात समझकर बोला- सुनो कुमार! आप देर से आये। भगवान तो ध्यानस्थ हो गये हैं। अब वे बोलेंगे भी नहीं, पर दीक्षा लेने से पहले वे हमसे कह गये हैं कि तुम दोनों के आने पर कह देना कि भगवान् तुम्हें विजयार्ध का राज्य दे गये हैं। ऐसा इन्द्र ने उन्हें समझा दिया। जैसे आप लोग बोल देते हैं चौके में आकर कि महाराज! हम तो इतईं के आयें। बात जम गयी और दोनों ने सोचा कि भगवान की आज्ञा शिरोधार्य करना चाहिए और वे उठकर विजयार्ध की श्रेणी में पहुँच गये। इन्द्र ने सोचा-चलो, अच्छा हुआ, अन्यथा भगवान् की तपस्या में विघ्न हो जाता। हमने विघ्न नहीं आने दिया।

लेकिन भगवान् तो इस सबसे बेखबर अपने ध्यान में लीन थे। एकत्व-भावना चल रही थी। कोई भी चला आये, मन में बोलने का भाव नहीं आया। यहाँ जब किञ्चित् भी मेरा नहीं है तो किसी से क्या कुछ कहना। यही है उत्तम-आकिञ्चन्य भावना।

आप अकेला अवतरै मरै अकेला होय।
यूँ कबहुँ इस जीव को साथी सगा न कोय॥

भूधरदास कृत बारहभावना

अकेले उत्पन्न हुए और अकेले ही मर जाना है। यदि तरना चाहें तो अकेले ही तरना भी है। अकेले होने की बात और मरने की बात ये दोनों बातें संसारी प्राणी को नहीं रुचतीं।

एक व्यक्ति ज्योतिषी के पास गया और पूछा कि मेरी उम्र कितनी है बताइये? ज्योतिषी ने हाथ देखकर कहा कि क्या बतायें आपकी उम्र तो इतनी लम्बी है कि आपके सामने देखते-देखते आपके परिवार के सभी सदस्य मृत्यु को प्राप्त हो जायेंगे। सुनकर वह व्यक्ति बड़ा नाराज हुआ कहने लगा कि कैसा बोलते हो? और बिना पैसे दिये ही चला आया। पुनः वही दूसरे ज्योतिषी के पास पहुँचा और सारी बात बताकर पूछा कि मेरी उम्र-ठीक-ठीक बताइये, कितनी है? दूसरा ज्योतिषी समझ गया कि सत्य को यह सीधे सुनना नहीं चाहता। इसलिए उसने कहा कि भाई! आपकी उम्र बहुत लम्बी है। आपके घर में ऐसी लम्बी उम्र और किसी को नहीं मिली है, वह व्यक्ति सुनते ही बड़ा प्रसन्न हुआ और उसे पैसे देकर खुशी-खुशी घर लौट आया।

बन्धुओ! ऐसी ही दशा प्रत्येक संसारी प्राणी की है। वह एकाकी होने से डरता है। वह मरण के नाम से डरता है। लेकिन अनन्तकाल से इस संसार में अकेला ही आ-जा रहा है। अकेला ही जन्म-मरण कर रहा है। आचार्य शुभचन्द्र जी हुए हैं जो ध्यान के महावेत्ता और ध्याता भी थे। उन्होंने अपनी ध्यान की अनुभूतियों को लिखते हुए ज्ञानार्णव में कहा है कि पर्यायबुद्धि अर्थात् शरीर में ममत्व-बुद्धि को छोड़कर साधक को ऐसी धारणा बनाना चाहिए कि मैं अकेला हूँ, नित्य हूँ, अवस्थित हूँ और अरूपी हूँ। 'नित्य' इसलिए क्योंकि आत्मा कभी मिटने वाली नहीं है। 'अवस्थित' का अर्थ है- अस्तित्व कभी घटेगा-बढ़ेगा नहीं। एक रूप ही रहेगा और रूप भी वैसा कि अरूपी स्वरूप होगा। ऐसी धारणा बनाने वाला तथा आकिंचन्य भाव को भाने वाला ही ध्यान के द्वारा मुक्ति पा सकता है।

मन में विचार उठ सकता है कि जब पूरा का पूरा परिग्रह छोड़ दिया, उसका त्याग हो गया एवं अकेले रह गए, तो क्या सोचना चाहिए तथा क्या धारणा बनाना चाहिए? तो कहा गया है कि अग्नि-धारणा, वायु-धारणा और जल-धारणा के माध्यम से ध्यान करना चाहिए। अग्नि-धारणा के माध्यम से कर्मों का ईंधन जल गया है। वायु उसे उड़ा ले गयी है और जल की वृष्टि होने से सारा का सारा वातावरण स्वच्छ हो गया है। आत्मा विशुद्ध हो गयी है। कुछ भी उस पर शेष नहीं रह गया है। एक अकेली आत्मा का साक्षात् अनुभव हो रहा है।

एगो मे सस्सदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥ भावपाहुड, ५९॥

मैं एक अकेला शाश्वत आत्मा हूँ, जानना-देखना मेरा स्वभाव है, शेष जो भी भाव हैं, वे सब बाहरी हैं तथा संयोग से उत्पन्न हुए हैं।

एक सेठ जी थे। किसी ने मुझे सुनाया था कि वे बड़े अभिमानी थे। उन्होंने दस-बारह खण्ड के भवन का निर्माण कराया। एक बार कोई एक साधु जी उनके यहाँ आये। अतिथि की तरह उनका स्वागत हुआ और भोजन के उपरान्त सेठ जी बड़े चाव से उन्हें साथ लेकर पूरा का पूरा भवन दिखाने लगे और अन्त में दरवाजा आया तो सभी बाहर निकल आये। साधु जी के मुख से अचानक निकल गया कि एक दिन सभी दरवाजे के बाहर निकाल दिये जाते हैं, तुम भी निकाल दिये जाओगे। सेठ जी हतप्रभ खड़े रह गये। साधु जी चले गये। सेठ जी अकेले खड़े-खड़े सोचते रहे कि क्या मुझे भी एक दिन बाहर निकल जाना होगा? भइया! स्वर्ण की नगरी लंका नहीं रही, रावण नहीं रहा, अयोध्या का वैभव नहीं रहा। कृष्णजी नारायण थे लेकिन उनका भी अवसान हुआ, सो वह भी जंगल में। दुनियाँ में सैकड़ों आये और चले गये। ऐसे ही सभी को अकेले-अकेले ही यहाँ से चले जाना होता है।

चक्रवर्ती दिग्विजय के उपरान्त विजयार्ध पर्वत के उस ओर वृषभगिरि के ऊपर अपनी विजय की प्रशस्ति और अपना नाम लिखने जाते हैं, तब वहाँ पहुँचकर मालूम पड़ता है कि हमसे पहले सैकड़ों चक्रवर्ती हो चुके हैं। पूरे पर्वत पर कोई स्थान खाली नहीं मिलता जहाँ अपना नाम लिखा जा सके। यह संसार ऐसा ही है। अनादिकाल से यह चल रहा है। **''जीव अरु पुद्‍गल नाचै यामैं कर्म उपाधि है'' (**मंगतराय-कृत बारहभावना)इस रहस्य को समझना होगा। इसकी कथा इतनी लम्बी-चौड़ी है कि तीर्थंकर भगवान् ही केवलज्ञान से विभूषित होकर इसे जान सकते हैं। इस रहस्य को थोड़ा बहुत जानकर के अपने आपको अकेला समझने का प्रयास करना चाहिए।

संसार एक ऐसा स्वप्न है जो सत्य सा मालूम पड़ता है। जैसे कोई व्यक्ति नाटक में कोई भी वेश धारण करता है तो उसी रूप में अपने को मानने लगता है और खुश होता है। कभी-कभी वह नाना वेश बदल-बदल कर लोगों के सामने आता है, तब अपने वास्तविक रूप को उस क्षण पहचान नहीं पाता। ऐसे ही संसारी प्राणी संसार में सारे वेषों से रहित होकर अकेले अपने रूप का अनुभव नहीं कर पाता। स्वभाव की ओर दृष्टिपात करने वाला कोई विरला ही अपने इस आकिञ्चन्य भाव का अनुभव कर पाता है।

घटमौलिसुवर्णार्थी, नाशोत्पादस्थितिष्वयम्।
शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम्॥ देवागमस्तोत्र (आप्तमीमांसा)

देवागम स्तोत्र में आचार्य समन्तभद्र स्वामी आप्त की मीमांसा करते हुए अन्त में अध्यात्म की ओर ले जाते हैं। शान्ति आत्मा के भीतर जाने में ही है। बाह्य परिधि में चक्कर लगाते रहने से शान्ति नहीं मिलती। स्वर्ण की विभिन्न पर्यायों की अपेक्षा जो देखता है, वह पर्याय में हर्ष या विषाद को प्राप्त होता है। एक को स्वर्ण के कुम्भ की आवश्यकता थी और दूसरे को स्वर्ण के मुकुट की आवश्यकता थी। मान लीजिये, अभी स्वर्ण, कुम्भ के रूप में था और अब सुनार ने उसे मिटाकर मुकुट का रूप धारण करा दिया तो कुम्भ या घड़ा जिसे चाहिए था वह रोने लगा कि मेरा कुम्भ फूट गया। जिसे मुकुट चाहिए था वह हँसने लगा कि मुझे मुकुट मिल गया। किन्तु जिसे स्वर्ण की आवश्यकता थी, वह दोनों ही स्थितियों में न हँसा न रोया, क्योंकि उसे जो स्वर्ण चाहिए था, वह तो मुकुट हो या कुम्भ हो, दोनों में विद्यमान था। यही तो स्वभाव की ओर दृष्टिपात करने का फल है।

हमें विचार करना चाहिए, कि बाहर यह जो कुछ भी दिख रहा है

सो मैं नहीं हूँ

और वह

मेरा भी नहीं है

ये आँखें मुझे
(आत्मा)को
देख नहीं सकतीं
मेरे पास देखने की शक्ति है.....

(मूकमाटी महाकाव्य)

इन आँखों से केवल बाहरी वातावरण ही देखने में आता है। जो इन आँखों से देख रहा है, वह नहीं दिख पाता। उसे ये आँखें देख नहीं पाती। देख भी नहीं सकतीं। तब फिर जो दिखाई पड़ रहा है, आँखों से, वह मैं कैसे हो सकता हूँ और वह मेरा कैसे हो सकता है?

अहमिक्को खलु सुद्धो, दंसणणाणमइओ सदा रूवी।
णावि अत्थि मज्झ किंचिवि, अण्णं परमाणुमित्तंपि॥ समयसार ४३॥

मैं अकेला हूँ। शुद्ध हूँ। आतमरूप हूँ। मैं ज्ञानवान और दर्शनवान हूँ। मैं रूप, रस, गन्ध और स्पर्श रूप नहीं हूँ। सदा अरूपी हूँ। कोई भी अन्य परद्रव्य परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है। इस प्रकार की भावना जिसके हृदय घर में हमेशा भरी रहती है, ध्यान रखना, उसका संसार का तट बिल्कुल निकट आ चुका है। इसमें कोई सन्देह नहीं है।

इस भावना को निरन्तर भाते रहने से ही हमें वैराग्य आ सकता है। इस भावना के द्वारा ही हमारे भीतर के कर्म के बंधन छूट सकते हैं। संसार में कर्तृत्व बुद्धि और भोक्तृत्व बुद्धि, स्वामित्व बुद्धि, इन तीनों प्रकार की बुद्धियों के द्वारा ही संसारी प्राणी की बुद्धि समाप्त हो गयी है। वह बुद्धिमान होकर भी बुद्धू जैसा व्यवहार कर रहा है। अनन्तों बार जन्म-मरण की घटना घट चुकी है और अनन्तों बार जन्म-मरण के समय एकाकी ही इस जीव ने अपनी संसार की यात्रा की है। आज अपने को समझदार मानने वाला भी मझधार में ही है।

थोड़ा विचार करें तो ज्ञात होगा कि कितनी पर्यायें, कितनी बार हमने धारण की और कितनों का संयोग-वियोग हमारे जीवन में हुआ है। जिसके वियोग में यहाँ पर हम रोते हैं, वह मरण के उपरान्त एक समय में ही अन्यत्र कहीं पहुँचकर जन्म ले लेता है और वहीं रम जाता है। विष्टा का कीड़ा विष्टा में राजी वाली बात है। उसके वियोग में हमारा रोना अज्ञानता ही है। आचार्य कहते हैं कि यह सब पराये को अपना मानने का तथा पर-पदार्थों में एकत्व-बुद्धि रखने का ही परिणाम है। पर के साथ एकत्व बुद्धि छोड़ना ही एक मात्र पुरुषार्थ है। छोड़ते समय जिसे ज्ञान और विवेक जागृत हो जाता है उस की आँख खुल गयी है, ऐसा समझना चाहिए।

दुनियाँ के सारे संबंधों के बीच भी मैं अकेला हूँ, यही भाव बना रहना आकिञ्चन्य धर्म का

सूचक है। 'सागर' में एक बार बोली लग रही थी, तब तक बोली तेरा सौ एक रुपये में गयी। हमने तो वही विचार किया कि अच्छा रहस्य खुल गया 'तेरा सो एक' अर्थात् हमारा यदि कुछ है तो वह हमारा यही एकाकी भाव है। इस संसार में किसी का कोई साथी-सगा नहीं है।

आप अकेला अवतरै, मरे अकेला होय।
यूँ कबहुँ इस जीव को, साथी सगा न कोय॥ भूधरदास कृत बारहभावना

बन्धुओ! समझ लो एवं सोच लो। यह जो ऊपर पर्याय दिख रही है, यह वास्तव में हमारी नहीं है। हम इसी के लिए निरन्तर अपना मानकर परिश्रम कर रहे हैं, और दुख उठा रहे हैं। विवेक के माध्यम से इस पर्याय को अपने से पृथक् मानकर के यदि इस जीवन को चलाया जाये, जो जीवन आज दुखमय बना है, वही आनन्दमय हो जाएगा। जिसकी तत्त्व पर दृष्टि चली जाती है, वह फिर पर्याय को अपना आत्म-तत्त्व नहीं मानता और न ही पर्याय में होने वाले सुख-दुख को भी अपना मानता है। यही आध्यात्मिक उपलब्धि है। इसके अभाव में ही जीव संसार में यहाँ-वहाँ भटकता रहता है और निरन्तर दुखी होता है।

हमारी इस प्रवृत्ति को देखकर आचार्यों को करुणा आ जाती है। छहढाला की पहली ढाल में कहा है - **'कहें सीख गुरु करुणा धारि'** -वे करुणा करके हमें उपदेश देते हैं, शिक्षा देते हैं कि पाँच मिनट के लिए ही सही लेकिन अपनी ओर, अपने आत्म-तत्त्व की ओर दृष्टि उठाकर तो देखो, जो कुछ संसार में दिखाई दे रहा है, वह सब कर्म का फल है। अज्ञान का फल है। आत्मा के स्वभाव का फल तो जिन्होंने आत्म-स्वभाव को प्राप्त कर लिया है, उसके चरणों में जा कर ही जाना जा सकता है। बाहर के जगत् में सिवा दुख के और कुछ हाथ नहीं आता। भीतर जगत् में जाकर देखें कि भीतर कैसा खेल चल रहा है। कर्म किस तरह आत्मा को सुख-दुख का अनुभव करा रहा है।

यह आत्म-दृष्टि पाना एकदम सम्भव नहीं है। यह मात्र पढ़ने या सुनने से नहीं आती। इसे प्राप्त करने के लिए जो रत्नत्रय से युक्त हैं, जो वीतरागी हैं, जो तिल-तुष मात्र भी परिग्रह नहीं रखते, उनके पास जाकर बैठिये। पूछिये भी मत, मात्र पास जाकर बैठिये तो भी अपने आप ज्ञान हो जायेगा कि वास्तव में सुख तो अन्यत्र कहीं नहीं है। सुख तो अपने भीतर एकाकी होने में है। नियमसार में आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है कि-

सम्मत्तस्स णिमित्तं, जिणसुत्तं तस्स जाणया पुरिसा।
अंतरहेऊ भणिदा, दंसणमोहस्स खयपहुदी॥ ५३॥

अर्थात् सम्यग्दर्शन का अंतरंग हेतु तो दर्शन मोहनीय कर्म का क्षय, उपशम या क्षयोपशम

होता है लेकिन उसके लिए बहिरंग हेतु तो जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहे सूत्र- वचन और उन सूत्रों के जानकार ज्ञाता-पुरुषों का उपदेश श्रवण है। इसके सिवाय और कोई ऐसा उपाय नहीं है जिसके माध्यम से हम दर्शन मोहनीय या चारित्र मोहनीय को समाप्त कर सकें और अपने आत्म-स्वरूप को प्रकट कर सकें।

रागद्वेष रूपी रसायन के माध्यम से यदि कर्मों का बंध होता है, संसार का निर्माण होता है तो वीतराग भावरूपी रसायन के माध्यम से सारे के सारे कर्मों का विघटन भी सम्भव है। वीतरागी के चरणों में जाकर हमें अपने रागभाव को विसर्जित करना होगा, 'पर' पदार्थों के प्रति आसक्ति को छोड़ना होगा, तभी एकत्व की अनुभूति हो सकेगी।

अकेले इच्छा करने मात्र से कोई अकेलेपन को अर्थात् मुक्ति को प्राप्त नहीं कर सकता। इच्छा मात्र से सुख की प्राप्ति नहीं होती और न ही मृत्यु से डरते रहने से कोई मृत्यु से बच पाता है। आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने सुपार्श्वनाथ भगवान् की स्तुति करते हुए लिखा है कि-

बिभेति मृत्योर्न ततोऽस्ति मोक्षो, नित्यं शिवं वाञ्छति नास्य लाभः।
तथापि बालो भयकामवश्यो, वृथा स्वयं तप्यत इत्यवादीः॥ ४॥

देखो, यह संसारी प्राणी कितना अज्ञानी है कि मृत्यु से हमेशा डरता है। लेकिन मृत्यु से डरने मात्र से कभी मृत्यु से बचा नहीं जा सकता और सुख की इच्छा हमेशा रखता है लेकिन सुख की इच्छा मात्र से सुखी भी नहीं हो सकता। फिर भी यह संसारी प्राणी भय और कामवासना के वशीभूत होकर व्यर्थ ही स्वयं को पीड़ा में डाल देता है।

असल में जब तक यह ज्ञान नहीं होता कि शरीर मेरा नहीं है तब तक इस के प्रति रागभाव बना रहता है। यही रागभाव हमारी मुक्ति में बाधक है। इसी के कारण मृत्यु से हम मुक्त नहीं हो पाते और न ही हमें शिव-सुख की प्राप्ति होती है।

एक बार यदि यह संसारी प्राणी वीतरागी के चरणों में जाकर अपने को अकेला मानकर उनकी शरण को स्वीकार कर ले और भीतर यह भाव जागृत हो जाये कि '**अन्यथा शरणं नास्ति त्वमेव शरणं मम**' एकमात्र वीतरागता के सिवाय, आकिञ्चन्य धर्म के सिवाय मेरे लिए और कोई शरण नहीं है। शरण यदि संसार में है तो एकमात्र यही है। तब संसार का अभाव होने में देर नहीं लगेगी।

राग सहित जग में रुल्यो, मिले सरागी देव।
वीतराग भेट्यो अबै मेटो राग कुटेव॥ विनयपाठ

अभी तक संसार में राग सहित रुलता रहा, भटकता रहा और सरागता को ही अपनाता रहा। रागी व्यक्ति राग को ही खोज लेता है और उसी को अपनाता जाता है। उसी में शरण या सुरक्षा मान

लेता है, उसी को अपना संगी-साथी और हितैषी मानकर संसार में रुलता रहता है। अगर मन में ऐसा विचार आ जाये कि संसार में मैं भी सरागता के कारण रुल रहा हूँ। आज बड़े सौभाग्य से वीतरागता का दर्शन हुआ है। वीतरागी के चरण सान्निध्य का सौभाग्य मिला है। वीतरागी से भेंट हो गयी है। अब यही वीतरागता मेरी राग की ओर बार-बार जाने वाली आदत को मिटाने में सहायक होगी तो कल्याण होने में देर नहीं।

सभी के प्रति रागभाव से मुक्त होकर, एकाकी होकर अपने वीतराग स्वरूप का चिन्तन करना ही आज के आकिञ्चन्य धर्म की उपलब्धि होगी। हमारा क्या है? ऐसा विचार करें तो ज्ञात होगा कि हमारा तो सिद्धत्व है। हमारा तो ज्ञानपना है, दर्शनपना है। हमारा परिवार हम स्वयं ही है। हमारे पिता और माता भी हमीं हैं। हमारी सन्तान, पुत्र आदि भी हमीं हैं। इस संसार में कोई 'पर' पदार्थ हमारा नहीं है और हो भी कैसे सकता है? ऐसा भाव आप बनाते जाइये, एक समय आयेगा कि जब यह ऊपर का दिखाई पड़ने वाला सम्बन्ध मिट जायेगा और अनन्तकाल के लिए हम एकाकी होकर अपने आत्म-आनन्द में लीनता का अनुभव करेंगे।

❑ ❑ ❑

उत्तम ब्रह्मचर्य

सव्वंगं पेच्छंतो, इत्थीणं तासु मुयादि दुब्भावं।
तो बम्हचेरभावं, सुक्करि खलु दुद्धरं धरदि॥

जो पुण्यात्मा स्त्रियों के सुन्दर अंगों को देखकर भी उनमें रागरूप बुरे परिणाम करना छोड़ देता है वही दुर्द्धर ब्रह्मचर्य को धारण करता है।

मनोज और मनोरमा अर्थात् 'कामदेव' और उसकी संगी-साथी 'रति' दोनों घूमने जा रहे थे। कामदेव अपना प्रभुत्व दिखाने के लिए रति से कहता है कि मेरा कितना प्रभाव है कि तीन-लोक को मैंने अपने वश में करके रखा है और रति भी उसकी हाँ में हाँ मिलाती जा रही थी कि अचानक सामने बैठे दिगम्बर- मुनि पर दृष्टि पड़ते ही रति ने कामदेव से पूछ लिया-हे नाथ! यह यहाँ कौन बैठा है ? कामदेव की उस ओर दृष्टि पड़ते ही रति ने कामदेव से पूछ लिया- हे नाथ ! यह यहाँ कौन बैठा है? कामदेव की उस ओर दृष्टि पड़ते ही वह निष्प्रभ हो गया। रति चकित होकर पूछने लगी कि नाथ! क्या बात हो गई? आप अभी तक सतेज थे, अब आपका सारा तेज कहाँ चला गया? मन्दी क्यों आ गयी? तब कामदेव उदास भाव से बोला कि क्या बताऊँ? हमने बहुत प्रयास किया, सभी प्रकार की नीति अपनायी लेकिन यही एक पुरुष ऐसा देखा जिस पर मेरा वश नहीं चला। पता नहीं इसका मन कैसा है? इसका प्रभुत्व कैसा है? इसमें ऐसा क्या प्रभाव है कि यह मेरे प्रभाव में नहीं आया?

आखिर यह कौन सी शक्ति है जो काम वासना को भी अपने वश में कर लेती है। बड़े-बड़े पहलवान कहलाने वाले भी जिस काम वासना के आगे घुटने टेक देते हैं, वही काम इस व्यक्ति की शक्ति के सामने घुटने टेक रहा है।

अन्तकः क्रन्दको नृणां, जन्मज्वरसखा सदा।
त्वामन्तकान्तकं प्राप्य,व्यावृत्तः कामकारतः॥ ८॥

अरनाथ भगवान् की स्तुति करते हुए समन्तभद्र आचार्य कहते हैं कि हे भगवन्! पुनर्जन्म और ज्वर आदि व्याधियों का साथी और हमेशा मनुष्यों को रुलाने वाला मृत्यु का देवता यम भी मृत्यु का नाश करने वाले आपको पाकर अपनी प्रवृत्ति ही भूल गया अर्थात् आपके ऊपर यम का कोई प्रभाव नहीं पड़ रहा है। आपकी इस वीतराग शक्ति के सामने आकर सभी नतमस्तक हो जाते हैं और अन्त में रति के साथ कामदेव भी उन वीतरागी के चरणों में नतमस्तक हो गया। ठीक भी है।

चित्रं किमत्र यदि ते त्रिदशाङ्ग -नाभिर्-
नीतं मनागपि मनो न विकार - मार्गम् ।
कल्पान्त -काल - मरुता चलिताचलेन,
किं मन्दराद्रि-शिखरं चलितं कदाचित्॥१५॥

आचार्य मानतुंग महाराज ने भक्तामर स्तोत्र में भी वृषभनाथ भगवान् की स्तुति करते हुए इस श्लोक में इस भीतरी आत्म-शक्ति का प्रभाव बताया है। वे कहते हैं कि हे भगवन्! जैसे प्रलय काल के पवन से सामान्य पर्वत भले ही हिल जाये लेकिन सुमेरु पर्वत जो पर्वतों का राजा है, शैलेश है, उसका शिखर कभी चलायमान नहीं हो सकता। अनन्तकाल व्यतीत हो गया लेकिन सुमेरु पर्वत को हिलाया नहीं जा सका। उसी प्रकार तीन-लोक की सुन्दर से सुन्दर अप्सराएँ भी क्यों न आ जायें, आपके मन को विचलित नहीं कर सकती हैं। राजभवन में सिंहासन पर बैठे राजा वृषभदेव के सामने जब इन्द्र ने नीलाञ्जना को नृत्य के लिए बुलाया था तब वे भले ही उससे प्रभावित होकर नृत्य देखते रहे हों, लेकिन वे ही अप्सराएँ पुनः यदि अब भगवान् वृषभनाथ के सामने आकर नृत्य के द्वारा उन्हें प्रभावित या विचलित करना चाहें, तो असंभव है। अब तो उनका मन सुमेरु की तरह अडिग हो गया है। वे ब्रह्मचर्य में लीन हो गये हैं। इस ब्रह्मचर्य की शक्ति के सामने कामदेव भी नतमस्तक हो जाता है।

अपनी आत्मा पर विजय पाने वालों की गौरव-गाथा जितनी गायी जाये, उतनी ही कम है। वे महान् आत्माएँ अपनी आत्मशक्ति का प्रदर्शन नहीं करतीं, वे तो अपनी शक्ति के माध्यम से अपने आत्मा का दर्शन करती है। एक पंक्ति अंग्रेजी में हमने पढ़ी थी कि 'You can live as you like-अर्थात् आप जैसा रहना चाहें रह सकते हैं। रागद्वेष और विषय-भोगमय जीवन

बनाकर रहना चाहें तो रह सकते हैं और रागद्वेष तथा विषय-भोग से मुक्त जीवन जीना चाहें तो भी जी सकते हैं। हमारे चौबीस तीर्थंकरों में पाँच तीर्थंकर ऐसे भी हुए हैं जिन्होंने गृहस्थी तक नहीं बसायी। वे कुमार अवस्था में ही दीक्षित होकर तपस्या में लीन हो गये। वासुपूज्य भगवान्, मल्लिनाथ भगवान्, नेमिनाथ भगवान्, पार्श्वनाथ भगवान् और महावीर भगवान्, ये पाँचों इसी कारण 'बालयति' कहे जाते हैं। इनके आदर्शों पर हम चलना चाहें तो चल सकते हैं। संसार में संसारी प्राणी जिन विषय भोगों में फँसकर पीड़ित हैं, दु:खित हैं और चिन्तित भी हैं, उसी संसार में इन पाँच-बालयतियों ने विषय भोगों की ओर देखा तक नहीं और अपने आत्मकल्याण के लिए निकल गये। यही तो आत्मा की शक्ति है। जो इस शक्ति को जागृत करके इसका सदुपयोग कर लेता है, वह संसार से पार हो जाता है।

सब संसारी प्राणियों का इतिहास पापमय रहा है। आहार, भय, मैथुन और परिग्रह रूप चार संज्ञायें (इच्छाएं) प्रत्येक संसारी प्राणी में विद्यमान हैं। सोलहवें स्वर्ग से ऊपर के देवों में जो अप्रवीचार कहा है, उसका अर्थ यह नहीं है कि वे काम वासना से रहित हो गये हैं। चारों संज्ञायें उनके भी हैं। विषय भोगों का त्याग करने वाले वीतरागी के लिए जो सुख मिलता है, उसका अनन्तवाँ भाग अप्रवीचारी होने के बाद भी उन देवों को नहीं मिलता। जब कभी गुरुओं के उपदेश से, जिनवाणी के श्रवण करने से, संसारी प्राणी यह भाव जागृत कर ले कि आत्मा का स्वभाव तो विषयातीत है, इन्द्रियातीत है तथा अपने में रमण करना है तो फिर उसके मोक्षमार्ग में आगे बढ़ने का मार्ग प्रशस्त होने में देर नहीं लगती। आज का यह अन्तिम ब्रह्मचर्य धर्म तब उसके जीवन में आने लगेगा।

कभी विचार करें तो मालूम पड़ेगा कि जीवन में निरन्तर कितने उत्थान-पतन होते रहते हैं। शरीरकृत, क्षेत्र और कालकृत, तो फिर भी कम हैं किन्तु भावकृत परिवर्तन तो प्रतिक्षण होते ही रहते हैं और यह संसारी आत्मा निरन्तर उसी में रचती-पचती रहती है। हमने सुना था कि छत्तीसगढ़ के कुछ आदिवासी क्षेत्रों में लोगों को अभी भी चावल (भात) अत्यन्त प्रिय है। वह चावल भी ऐसा नहीं जैसा आप लोग खाते हैं। उनका चावल तो ऐसा है कि सुबह पकने रख देते हैं एक मटकी में पानी डालकर और फिर जब भूख लगती है या प्यास लग आती है तो उसमें से चावल का पानी (क्या बोलते हैं आप माँड), हाँ, वही निकालकर पी लेते हैं और एक दो लोटा पानी और उसी में डालकर पकने देते हैं। यही स्थिति संसारी प्राणी की है। प्रति समय मानों एक लोटा पानी वही सड़ा-गला पी लेता है और पुन: उसमें दो एक लोटा पानी और डाल देता है। जैसे पकते-पकते वह चावल का पानी पौष्टिक और मादक हो जाता है, ऐसे ही संसारी प्राणी का मोह और पुष्ट होता जाता है तथा अधिक मोहित करने वाला हो जाता है।

यह निरन्तरता अरहट (रहट) या घटीयन्त्र के समान बनी रहती है। एक मटकी खाली नहीं हो पाती और दूसरी भरने लगती है। क्रम नहीं टूटता। शृंखला बनी रहती है। बन्धुओ! इस संसार की निःसारता के बारे में और अपने वास्तविक स्वभाव के बारे में आपको विचार अवश्य करना चाहिए।

दस दिन से धर्म का विश्लेषण चल रहा है। धर्म के विभिन्न नाम रखकर आचार्यों ने हमारे स्वभाव से हमारा परिचय कराने का प्रयास किया है। पहले दिन हमने 'धम्मो वत्थु सहावो' की बात कही थी। उसी की प्राप्ति के लिए यह सब प्रयास है। दस दिन तक आपने मनोयोग से सुना है। कल हो सकता है, आपके जाने का समय आ जाये। आप चले जायेंगे लेकिन जहाँ-कहीं भी जायें, इस बात को अवश्य स्मरण करते रहिये कि यह आना-जाना कब तक लगा रहेगा? वस्तु का स्वभाव परिणमनशील अवश्य है, पर संसार में आना-जाना और भटकना स्वभाव नहीं है।

एक उदाहरण याद आ गया। 'कबीरदास' अपने पुत्र 'कमाल' के साथ चले जा रहे थे। कबीरदास अध्यात्म के भी रसिक थे। सन्त माने जाते थे। चलते-चलते अपने बेटे से उन्होंने कहा कि बेटे! संसार की दशा तुमसे क्या कहें, उधर देखो जैसे चलती चक्की में दो पाटों के बीच में धान्य पिस रहे हैं, कोई भी धान्य साबुत नहीं बच पा रहा है, ऐसी ही दशा संसारी प्राणी की भी है। संसार में कुछ भी सार नहीं है। कहते हैं कि बेटा सुनकर मुस्करा दिया और बोला-पिताजी! यह तो है ही, लेकिन इस चलती चक्की में भी कुछ धान्य ऐसे हैं जो दो पाटों के बीच में पिसने से बच जाते हैं। जरा ध्यान से सुनना, धान्य की बात है और ध्यान की भी बात है। (हँसी) जो धान्य चक्की में दो पाटों के बीच में जाने से पहले ध्यान रखता है कि अपने को कहाँ जाना है? अगर पिसने से बचना है तो एक ही उपाय है कि कील के सहारे टिक जाएं। तब फिर चक्की सुबह से शाम तक भी क्यों न चलती रहे, वे धान्य कील के सहारे सुरक्षित रहे आते हैं।

'**धम्मं सरणं पव्वज्जामि**' संसार में धर्म की शरण ऐसी ही है, जिसके सहारे संसार में सुरक्षित रहा जा सकता है। धर्म रूपी कील की शरण में संसारी प्राणी रूपी धान्य आ जावे तो वह कभी संसार में पिस नहीं सकता। कबीरदास सुनकर गद्‌गद् हो गये कि सचमुच कमाल ने कमाल की बात कही है। (हँसी)

बन्धुओ! संसार से डरने की आवश्यकता नहीं है और कर्मों के उदय से भी डरने की आवश्यकता नहीं है। तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ७, सूत्र १२ में -**जगत्कायस्वभावौ या संवेग-वैराग्यार्थम्।** जगत् के स्वभाव को जानना 'संवेग' का कारण है और शरीर के स्वभाव को पहचानना 'वैराग्य' में कारण है। जो निरन्तर संवेग और वैराग्य में तत्पर रहने वाली आत्माएँ हैं, उनको कर्मों के उदय से डरने की आवश्यकता नहीं है। संसार का गर्त कितना भी गहरा क्यों न हो, संवेगवान और

वैराग्यवान जीव कभी उसमें गिर नहीं सकता। यह बिल्कुल लिखकर रखिये कि जब कभी भी संसार से मुक्ति मिलेगी तो उसी संवेग और वैराग्य से ही मिलेगी।

मैं आज यही कहना चाह रहा हूँ कि पाँचों इन्द्रियों के विषयों से विरक्त होने का नाम ही 'ब्रह्मचर्य धर्म' है। व्यवहार रूप से तो यह है कि स्त्री-पुरुष परस्पर राग-जन्य प्रणय संबंधों से विरक्त रहें, परन्तु वास्तव में तो 'पर' पदार्थ-मात्र के प्रति विरक्ति का भाव आना चाहिए। पदार्थ के साथ, सम्बन्ध अर्थात् पर के साथ सम्बन्ध होना ही 'संसार' है। जो अभी 'पर' में संतुष्ट है, इसका अर्थ है कि वह अपने आप में सन्तुष्ट नहीं है। वह अपने आत्म-स्वभाव में निष्ठ नहीं होना चाहता। तभी तो, पर-पदार्थ की ओर आकृष्ट है। ज्ञानी तो वह है जो अपने आप में है, स्वस्थ है। अपनी आत्मा में ही लीन है। उसे स्वर्ग के सुखों की चाह नहीं है और न ही संसार की किसी भी वस्तु के प्रति लगाव है। वह तो ब्रह्म में अर्थात् आत्मा में ही सन्तुष्ट है।

युक्त्यनुशासन में आचार्य समन्तभद्रस्वामी ने एक कारिका लिखी है, वह मुझे अच्छी लगती है-

दयादमत्यागसमाधिनिष्ठं, नयप्रमाणकृतांजसार्थम्।
अधृष्यमन्यैरखिलैः प्रवादै र्जिन स्वदीयं मतमद्वितीयम्॥६॥

हे वीर भगवन्! आपका मत-दया, दम, त्याग और समाधि की निष्ठा को लिए हुए है। नयों और प्रमाण के द्वारा सम्यक् तत्त्व को बिल्कुल स्पष्ट करने वाला है और दूसरे सभी प्रवादों से अबाधा है यानि बाधा रहित है, इसलिए अद्वितीय है। 'दया' अर्थात् प्राणिमात्र के प्रति करुणा का भाव, अपने दस-प्राणों की रक्षा करना भी अपने ऊपर दया है। प्राणों की रक्षा तो महाव्रतों को धारण करने से ही होगी। इन्द्रिय-संयम का पालन करने से होगी।

'दम' का अर्थ है, इन्द्रियों को अपने वश में करना। इच्छाओं का शमन करना। जिसकी दया में निष्ठा होगी, वही दम को प्राप्त कर सकेगा। इन्द्रियों के ऊपर विजय प्राप्त किये बिना दया सफलीभूत नहीं होती। त्याग क्या चीज है? तो कहते हैं कि विषय-कषायों को छोड़ने का नाम 'त्याग' है। त्याग के उपरान्त ही समाधि की प्राप्ति होती है। 'समाधि' तो उस दशा का नाम है जब हम आधि, व्याधि और उपाधि से मुक्त होते हैं। मानसिक पीड़ा या वेदना का नाम 'आधि' है और शरीरकृत वेदना को 'व्याधि' कहा गया है। 'उपाधि' एक प्रकार का बौद्धिक आयाम है, जिसमें स्वयं को लोगों के बीच बड़ा बताने का भाव होता है। मेरा नाम हो इस बात की चिन्ता ही 'उपाधि' है। 'समाधि' इन तीनों से रहित अवस्था का नाम है।

समाधि का अर्थ ही यह है कि सभी प्रकार से समत्व को प्राप्त होना। एक लौकिक शब्द आता है समधी, इससे आप सभी परिचित हैं। (हँसी) पर इसके अर्थ से बहुत कम लोग परिचित होंगे। जिसकी 'धी' अर्थात् बुद्धि, सम अर्थात् शान्त हो गयी है वह 'समधी' है। अभी तो लौकिक

रूप से समधी कहलाने वालों का मन जाने कहाँ-कहाँ जाता है? एक-सा शान्त कहीं ठहरता ही नहीं है। जब सभी बाहरी सम्बन्ध बिल्कुल छूट जाएं और आत्मा अपने में लीन हो जाए वह दशा 'समाधि' की है।

सुनते हैं जब हार्ट-अटैक वगैरह कोई हृदय संबंधी रोग हो जाता है तो डॉक्टर लोग कह देते हैं कि 'कम्पलीट बेड रेस्ट' यानि पूरी तरह बिस्तर पर आराम करना होगा। आना-जाना तो क्या, यहाँ तक कि अधिक सोचना और बोलना भी बन्द कर दिया जाता है। समय पर मात्र औषधि और पथ्य दिया जाता है, तब जाकर स्वास्थ्य की प्राप्ति होती है। ऐसा ही तो समाधि में आवश्यक है। सन्तुलन आना चाहिए। शान्त भाव आना चाहिए। तभी स्वास्थ्य मिलेगा। जीवन में वास्तविक ब्रह्मचर्य की प्राप्ति भी तभी होगी।

मन-वचन-काय की चेष्टा से जब परिश्रम अधिक हो जाता है, तो विश्राम आवश्यक हो जाता है। यह तो लौकिक जीवन में भी आप करते हैं। ऐसे ही संसार से विश्राम की दशा का नाम 'ब्रह्मचर्य' है। आपे में रहना अर्थात् स्वभाव में रहना। जैसे पिताजी से बात करनी हो तो बेटा डरता है और देख लेता है कि अभी तो पिताजी का मन बेचैन है, शान्त नहीं है। तो वह उनके पास भी नहीं जाता। यदि कोई कहे भी कि चले जाओ, पूछ आओ तो वह कह देता है कि अभी नहीं, बाद में पूछ लूँगा। अभी पिताजी आपे में नहीं हैं अर्थात् अपने शान्त स्वभाव में नहीं हैं। कहीं-कहीं पर ब्रह्मचर्य के लिए 'शील' शब्द भी आता है, शील का अर्थ ही स्वभाव है।

लौकिक व्यवहार में कुशील शब्द स्त्री-पुरुष के बीच अनैतिक या विकारी संबंधों को सूचित करने के लिए आता है। लेकिन परमार्थ की अपेक्षा आचार्य कुन्दकुन्द महाराज, समयसार में कहते हैं कि-

कम्ममसुहं कुसीलं सुहकम्मं चावि जाणह सुसीलं।
किह तं होदि सुसीलं जं संसार पवेसेदि ॥१५२॥

अशुभ कर्म कुशील हैं और शुभ कर्म सुशील हैं, ऐसा सभी जानते हैं, लेकिन परमार्थ की अपेक्षा देखा जाए तो सुशील तो वह है जो संसार से पार हो चुका है। कुशील का अर्थ है जो अपने शील/स्वभाव से दूर है। जैसे म्यान में तलवार तभी रखी जायेगी जब वह एकदम सीधी हो। थोड़ा भी टेढ़ापन हो तो रखना सम्भव नहीं है। उसी प्रकार आत्मा अपने स्वभाव में विचरण करे तो ही सुशील है। कर्मों के बंधन के रहने पर वह सुशील नहीं मानी जायेगी।

अपने इस सुशील को सुरक्षित रखना चाहो तो विकार के प्रति राग मत रखो। अपने से जो भी पृथक् है पर है उसके संसर्ग से दूर रहो क्योंकि कुशील के साथ संसर्ग और राग करने से अपने स्वाधीन सुख का विनाश होता है। बहुत दिनों पहले हिन्दी में एक छन्द लिखा था-

क्या हो गया समझ में मुझको न आता, क्यों बार-बार मन बाहर दौड़ जाता।
स्वाध्याय, ध्यान करके मन रोध पाता, पै श्वान सा मन सदा मल शोध लाता

(निजानुभव-शतक-४९)

मन को अच्छी से अच्छी चीज भी दो लेकिन बुरी चीजों की ओर जाने की उसकी आदत है, वह उसे नहीं छोड़ता। ऐसे इस मन को काबू में रखने का आसान तरीका यही है कि पहले उसके स्वभाव को समझा जाए। मन का तो ऐसा है कि जैसे सितार के तार जरा ढीले हो जाएँ तो संगीत बिगड़ जाता है और अगर जोर से खींच दिये जाएं, कस दिये जायें तो टूट जाते हैं। उन्हें तो ठीक से सन्तुलित कर दिये जाने पर ही अच्छा संगीत सुनायी देता है। ऐसा ही मन को सन्तुलित करके रखा जाए तो उस पर काबू पाना आसान है।

मन तो ज्ञान की एक परिणति है। उसे सँभालना अनिवार्य है। जैसे ही पञ्चेन्द्रिय की विषय-सामग्री सामने आती है या स्मृति में आती है, वैसे ही तुरन्त मन उस ओर दौड़ जाता है। वस्तुतः, देखा जाए तो ज्ञान का यह परिणमन इतना अभ्यस्त हो गया है और विश्वस्त हो गया है कि वह 'इसी सामग्री के माध्यम से सुख मिलेगा' यह मान बैठा है और संस्कारवश उसी ओर ढुलक जाता है। बन्धुओ! पञ्चेन्द्रिय के विषयों में सुख नहीं है। अगर सुख होता तो जो सुख एक लड्डू खाने में आता है उतना या उससे अधिक दूसरे में भी आना चाहिए और तृप्ति हो जानी चाहिए। लेकिन अभी तक किसी को भी तृप्ति नहीं हुई। यह बात समझ में आ जाये तो मन को जीतना आसान हो जायेगा।

एक विद्यार्थी की कथा सुनाकर आपको जागृत करना चाहता हूँ। एक गुरुकुल में बहुत सारे विद्यार्थी अपने गुरु के पास वर्षों से विद्याध्यन कर रहे थे। साधना भी चल रही थी। एक बार गुरुजी के मन में आया कि परीक्षा भी लेनी चाहिए, प्रगति कहाँ तक हुई है? परीक्षा ली गयी। कई प्रकार की साधना विद्यार्थियों को करायी गयी, पर एक विशेष साधना में सारे विद्यार्थी एक के बाद एक Fail (निष्फल) होते गये। गुरुजी को लगा कि शायद अब कोई परीक्षा में Paas (सफल) नहीं हो पायेगा। सिर्फ एक विद्यार्थी और शेष रह गया। उसकी परीक्षा अभी ली जाना थी। उसे बुलाया गया । परीक्षा यह थी कि मुख में एक चम्मच बूरा (शक्कर) रखना है, और परीक्षा हो जायेगी। विद्यार्थी ने आज्ञा का पालन किया और गुरुजी के कहने पर मुख खोल दिया और उसमें एक चम्मच बूरा डाल दिया गया। गुरुजी एकटक होकर उसकी मुख मुद्रा देखते रहे। उस विद्यार्थी के चेहरे पर शान्ति छायी थी और मुख में बूरा ज्यों का त्यों रखा था।

विद्यार्थी ने उसे खाने की चेष्टा भी नहीं की क्योंकि आज्ञा तो मात्र बूरे को मुख में रखने की थी, वह तो हो गया, स्वाद लेने या खाने का भाव ही नहीं आया। यह देखकर गुरुजी का मुख खिल गया। वे बोले-तुम परीक्षा में पास हो गये। जितेन्द्रिय होना ही ब्रह्मचर्य की सही पहचान है। यही

सच्ची साधना और अध्ययन का फल है। बड़ी-बड़ी पोथी पढ़ने वाले भी इसमें हार जाते हैं। आज अधिकांश लोग इसी में लगे हैं। बड़ी-बड़ी पोथी पढ़ने वाले भी इसमें हार जाते हैं। आज अधिकांश लोग इसी में लगे हैं। एक-एक भाषा के कई-कई कोष तैयार हो रहे हैं। शोधग्रन्थ लिखे जा रहे हैं, लेकिन इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने की ओर किसी का ध्यान नहीं है। इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने वाले विरले ही लोग हैं।

आज का युग भाषा-विज्ञान में उलझ रहा है और भीतर के तत्त्व को पकड़ ही नहीं पा रहा है। जो ज्ञान, साधना के माध्यम से जीवन में आता है वह भाषा के माध्यम से कैसे आ सकता है? साहित्य की सही परिभाषा तो यही है कि जो हित से सहित हो, जो हित से युक्त हो वही 'साहित्य' है। जिसके अवलोकन से आत्मा के हित का सम्पादन हो सके, वही 'साहित्य' है। ऐसा साहित्य ही उपादेय है जो हमें साधना की ओर अग्रसर करे। ज्ञानी भी वही है, जो खाते हुए भी नहीं खाता, जो पीते हुए भी नहीं पीता, देखते हुए भी नहीं देखता। जैसे जब, जिस चीज की ओर हमारा उपयोग नहीं होता तब वह करते हुए भी हम उसमें नहीं रचते-पचते। यही स्थिति ज्ञानी की है। वह पाँचों पापों का पूर्णरूप से त्याग करके महाव्रतों को धारण करता है। संसार के कार्य वह अनिच्छापूर्वक करता है। पाँचों इन्द्रियों के विषयों से मन को हटाकर अपने आत्म-ध्यान में लगना ही ज्ञानीपने का लक्षण है।

बन्धुओ! छोटी-छोटी बात का संकल्प लेकर भी हम अपने जीवन में साधना कर सकते हैं और आत्मा को पवित्र बना सकते हैं। आत्मा की पवित्रता ही 'ब्रह्मचर्य' है। आप आज दशलक्षण धर्म का अन्तिम दिन मत समझिये। दशलक्षण धर्म तो तभी सम्पन्न हुए माने जायेंगे जब हम जितेन्द्रिय होकर शैलेषी दशा को प्राप्त कर लेंगे। मेरु के समान अपने शील-स्वभाव में निश्छल होंगे। तभी लोक के अग्र भाग पर अनन्त काल के लिए आत्मा में रमण करेंगे। आत्मा में रमना ही सच्चा 'ब्रह्मचर्य' है जिसके उपरान्त किसी भी प्रकार की विकृति या विकारी भावों का प्रादुर्भाव होना सम्भव नहीं है।

निज माहिं लोक आलोक गुण परजाय प्रतिबिम्बित भये।
रहिहैं अनन्तानन्त काल यथा तथा शिव परिणये॥
धनि धन्य हैं जे जीव नरभव पाय यह कारज किया।
तिन ही अनादि भ्रमण पञ्च प्रकार तजि वर सुख लिया ॥१३॥

कवि ने सिद्ध भगवान् की स्तुति करते हुए 'छहढाला' छठवीं ढाल के अन्त में कहा है कि वे धन्य हैं जिन्होंने मनुष्य जन्म पाकर ऐसा कार्य किया कि पुनः अब किसी भी कार्य को करने की आवश्यकता नहीं रही। संसार के परिभ्रमण से मुक्त होकर उन्होंने उत्तम-सुख को अर्थात् मोक्ष-सुख

को पा लिया। मोक्ष लक्ष्मी का वरण कर लिया। अथवा यूँ कहिये कि मोक्ष लक्ष्मी ने स्वयं आकर उनके गले में मुक्ति रूपी माला पहना दी। हमेशा से ही होता आया है कि भोक्ता का वरण भोग्या द्वारा किया जाता है। 'जयोदय महाकाव्य' में जयकुमार और सुलोचना स्वयंवर का मार्मिक चित्रण आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज ने किया है। यह स्वयंवर की परम्परा आदिब्रह्मा आदिनाथ के समय की है। यहाँ भी यही बात परिलक्षित होती है कि स्त्री ने पुरुष का वरण किया।

आज ब्रह्मचर्य के दिन मैं यही कहना चाह रहा हूँ कि वस्तुतः, भोग्य पदार्थ की ओर झुका हुआ पुरुष वासना का दास बनकर संसार बढ़ाता है और भोग्य पदार्थ जब स्वयं उसकी ओर देखने लगें अर्थात् उसका वरण करने को उत्सुक हो जाएँ तो वह पुरुष तीन-लोक का नाथ बन जाता है। आज पुरुष की दृष्टि भोग्य पदार्थों की ओर जा रही है। यही विकृति है, विकार है। पदार्थों की ओर होने वाली दौड़ ही व्यक्ति को कंगाल बनाती है। जो अपने में है, स्वस्थ है, उसके पास ही मौलिक सम्पदा आज भी है।

जिसकी नासिका को देखकर निशि गन्धा भी लज्जा को प्राप्त हो रही है, जिसके नयन नीलकमल के समान सुन्दर हैं, जिसकी भृकुटियाँ देखकर इन्द्रधनुष भी अपने धन को खोता हुआ सा लग रहा है, जिसके विशाल भाल की शोभा बृहस्पति की शोभा को फीका कर रही है, जिसके केशों का घुंघरालापन देखकर माया भी चकित है, जिसके अधर पल्लवों को देखकर मूँगा भी गूँगा सा होकर बैठ गया है, जिसके चरणों को देखकर सकल चराचर झुकने को तत्पर हो गये हैं, जिनके पद-नख की आभा के सामने चन्द्रमा की चाँदनी भी फीकी पड़ रही है, जिसके सुन्दर रूप को देखकर अप्सराएँ भी मोहित हो जाती हैं और जिसके कर रूपी पल्लव संसार को अभयदान देने की सामर्थ्य वाले हैं, ऐसे अद्‌भुत रूप सौन्दर्य को लिये एक पुरुष श्मशान में कायोत्सर्ग में लीन है।

उसका एकमात्र ध्येय मुक्ति-लक्ष्मी है। शेष सारा संसार इन क्षणों में उसे हेय है। पर उसके रूप की ख्याति सुनकर मुग्ध हुई वहाँ के राजा की रानी का चित्त महल में भी विकल हो रहा है। चतुर्दशी का दिन था। रात्रि आधी बीत गयी थी। श्मशान में निर्भय होकर तपस्या में लीन वह पुरुष अपने मनुष्य जीवन को सार्थक बना रहा है कि अचानक रानी की परिचारिका आकर कहती है कि हे सुन्दर पुरुष! मेरे साथ चलो। अभी यह तप करने का समय नहीं है। यह तो भोग-विलास का समय है। अपने सुकुमार शरीर को इस तरह कष्ट मत दो। उठो और जल्दी करो, रानी तुम्हें याद कर रही हैं। तुम्हें क्या इस बात की तनिक भी खबर नहीं है? वास्तव में वह पुरुष कान होते हुए भी जैसे सुनायी न पड़ा हो, ऐसा अपने में लीन अडिग है। ठीक भी है। परमार्थ के क्षेत्र में कान खुले रहना चाहिए, लेकिन विषय-भोग के क्षेत्र में तो कान बहरे ही होना चाहिए। परमार्थ के क्षेत्र में आँखें खुली रहनी चाहिए। और विषय-वासना के क्षेत्र में अन्धा होकर रहना चाहिए। परमार्थ के क्षेत्र में

कर्मों पर विजय पाने के लिए बाहुओं में शक्ति और प्रताप होना चाहिए, लेकिन दूसरे के ऊपर प्रहार करने के लिए बलहीन होना चाहिए। ऐसी ही अवस्था उस समय उस पुरुष की थी। जब दासी ने देखा कि यह तो अपने में अडिग है, तो उसने उसे पूर्व नियोजित योजना के अनुसार उठवाकर महलों में ले जाने का प्रबन्ध कर लिया और वह पुरुष रानी के महल में पहुँचा दिया गया।

वहाँ रानी सारे उपाय करके थक गयी पर वह पुरुष ध्यान से विचलित नहीं हुआ। एक तरफ वासना थी तो दूसरी ओर उपासना थी। एक तरफ निश्चल पुरुष था तो दूसरी ओर चञ्चल प्रकृति थी। जीत उसी की होती है जो अपनी इन्द्रियों और मन को जीतने में लगा होता है, जो अपने में लीन है, जो उपासना में लगा है अर्थात् अपने समीप आने में लगा है। ठीक भी है, अपने भीतर पहुँचने के उपरान्त तो अपना ही राज्य है, अपना ही देश है, अपना ही वेश है, अपना ही आदेश है और अपने ही सन्देश भी प्रचारित हो रहे हैं। (हँसी) वहाँ किसी बाहरी सत्ता का प्रवेश सम्भव कैसे हो सकता है?

उपासना के सामने वासना को घुटने टेकने ही पड़ेंगे। रानी ने घुटने टेक दिये फिर भी पुरुष ने स्वीकार नहीं किया। जहाँ श्रीकार हो वहाँ स्वीकार या नकार की बात कैसे सम्भव है? 'श्री' का अर्थ है अंतरंग लक्ष्मी अर्थात् अपना ही आत्म-वैभव। जो अपने आत्म-वैभव को पाने में लगा है वह बाह्य लक्ष्मी की चाह क्यों करेगा? अपने को हारता देखकर वासना बौखला गयी। वासना की मूर्ति बनी रानी ने अपने वस्त्र फाड़ लिये। अपने हाथों अपने ही शरीर को नोंच लिया और शोर मचाने लगी। राजा को खबर पहुँचायी गयी। राजा सुनकर क्रोधित हो गया। तब रानी और चीख-चीख कर रोने लगी। सभी को विश्वास हो गया कि यह सारी करामात इस पुरुष की है। यह ध्यान में लीन होने का ढोंग कर रहा है। यह सब मायाचारी है।

बन्धुओ! यह है दुनियाँ की दृष्टि। जो मायाचारी कर रहा है, वह सच्चा साबित हो रहा है और सत्य को झूठा बनाया जा रहा है, लेकिन अन्त में जीत सत्य की ही होती है। जब प्राणदण्ड के लिए उस पुरुष को शूली पर चढ़ाया जाता है तो देवता आकर शूली के स्थान पर फूलों की माला बना देते हैं। तब रहस्य खुलता है कि दोष इसका नहीं है, दोषी तो रानी है। यह पुरुष कोई और नहीं, अपने ही नगर का महान् चारित्रवान नागरिक 'सेठ सुदर्शन' है। गृहस्थ होते हुए भी आस्था और आचरण में दृढ़ है। यही तो ब्रह्मचर्य धर्म के पालन में सच्ची निष्ठा है। कि "**मातृवत् परदारेषु परद्रव्येषु लोष्ठवत्, आत्मवत्सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः**" यही तो वास्तव में वैराग्य है कि गृहस्थ भी परस्त्री को अपनी माता के समान मानता है और दूसरे के द्वारा सञ्चित धन सम्पत्ति को कंकर-पत्थर की तरह अपने लिए हेय समझता है।

महाराज जी (आचार्य ज्ञानसागरजी) कहा करते थे कि गृहस्थ को व्रत अवश्य लेना चाहिए। व्रत कोई भी छोटा नहीं होता। आज सुदर्शन सेठ का परस्त्री के त्याग का व्रत भी महाव्रत के समान हो गया। सभी ओर जय-जयकार होने लगी। सुदर्शन सेठ सोच में डूबे हैं कि देखो, कैसा वैचित्र्य है। मैं जिस शरीर से मुक्त होना चाह रहा हूँ, संसार के लोग उसी शरीर को चाह रहे हैं। उसके क्षणिक सौन्दर्य से प्रभावित हो रहे हैं और अपने शाश्वत आत्म सौन्दर्य को भूल रहे हैं।

बन्धुओ! विचार करो कि एक अणुव्रती गृहस्थ श्रावक की दृढ़ता कितनी है। उसकी आस्था कितनी मजबूत है। उसका आचरण कैसा निर्मल है। पापों का एक देश त्याग करने वाला भी संसार से पार होने की क्षमता और साहस रखता है। जिसने एक बार अपने स्वभाव की ओर दृष्टि डाल दी, उसकी दृष्टि फिर विकार की ओर आकृष्ट नहीं होती।

एक घटना याद आ गयी। एक युवक विरक्त हो गया और घर से जंगल की ओर चल पड़ा। पिता उसके पीछे-पीछे चले जा रहे हैं कि अगर यह मान गया तो वापस घर ले आयेंगे। रास्ते में एक सरोवर के किनारे कन्याएँ स्नान कर रहीं थीं। युवक थोड़ा आगे था। अत: वह पहले निकल गया। तब वे स्त्रियाँ ज्यों की त्यों स्नान करती रहीं और जब पीछे उसके पिता को आते देखा तो सभी अपने वस्त्र सँभालने लगीं। पिता चकित होकर रुक गया और उसने पूछा कि बात क्या है? अभी-अभी मेरा जवान बेटा यहाँ से निकला था, तब तुम सब पूर्ववत् स्नान करती रहीं, लेकिन मैं इतना वृद्ध हूँ फिर मुझे देखकर क्यों लज्जावश अपने वस्त्र सँभालने लगीं। वे कन्याएँ समझदार थीं, बोलीं- बाबा। यह जवान था और आप वृद्ध हैं, यह हम नहीं जानते। हम तो दृष्टि की बात जानते हैं। वह अपने में खोया था, उसकी दृष्टि में पुरुष या स्त्री का भेद ही नहीं था। वह तो सब कुछ देखते हुए भी मानों कुछ नहीं देख रहा था। लेकिन आपकी दृष्टि में अभी ऐसी वीतरागता नहीं आयी। आपको तो अभी भेद दिखायी दे रहा है।

कहीं एक कविता पढ़ी थी उसकी कुछ पंक्तियाँ मुझे बहुत अच्छी लगीं। पूरी तो ध्यान नहीं है, प्रसंगवश सुनाता हूँ...

''अभी तुमने
आग के रंग के
कपड़े पहने हैं
योग की आग में
तुम्हारा काम अभी
पूरा जला नहीं है

अभी तुम्हें
स्त्री और पुरुष के बीच
फर्क नजर आता है
स्त्री के पीछे भागना
और स्त्री से दूर भागना
बात एक ही है
जब तक ये यात्रा जारी है
समझो अभी
संन्यास की यात्रा शुरू नहीं हुई।''

आचार्य कुन्दकुन्द महाराज ने नियमसार में कहा है कि-

दट्ठूण इच्छिरूवं वांछाभावं णिवत्तदे तासु।
मेहुणसण्णविवज्जिय परिणामो अहव तुरीयवदं॥५९॥

स्त्रियों के रूप को देखकर उनके प्रति वांछा भाव की निवृत्ति होना अथवा मैथुन-संज्ञा रहित जो परिणाम हैं, वह चौथा ब्रह्मचर्य व्रत है। अर्थात् परिणामों की उज्ज्वलता ब्रह्मचर्य के लिए बहुत आवश्यक है।

देखना भी दो प्रकार से हो सकता है। एक देखना तो सहज भाव से होता है, वीतराग भाव से होता है तो दूसरा विकार भाव से या राग-भाव से देखना होता है। वीतरागी के परिणामों में जो निर्मलता आती है, उस पर फिर किसी विकार का प्रभाव नहीं पड़ता। जो विकार से बचना चाहता है उसका कर्त्तव्य सर्वप्रथम यही है कि वीतरागता की ओर वह दृष्टि-पात करे। स्वभाव की ओर देखे, केवल संन्यास-व्रत धारण करना या स्वाध्याय करना ही पर्याप्त नहीं है। अपने उपयोग की सँभाल प्रतिक्षण करते रहना भी आवश्यक है। अपने उपयोग की परीक्षा हमेशा करते रहना चाहिए कि उसमें कितनी निर्मलता और दृढ़ता आयी है। उपयोग की निर्मलता और दृढ़ता के सामने तीन-लोक की सम्पदा भी फीकी लगने लगती है। उपयोग को विकारों से बचाकर, राग से बचाकर वीतरागता में लगाना चाहिए, यही ब्रह्मचर्य धर्म है।

❑ ❑ ❑

प्रारम्भ

दरबार में आसीन है चक्रवर्ती सिंहासन के ऊपर, प्रसन्न मुद्रा में आसीन एक सेवक आनंद विभोर होता हुआ नतमस्तक होकर कहता है कि प्रभो! आपका पुण्य अतुलनीय है, आप महान् भाग्यशाली हैं और हम भी भाग्यशाली हैं कि आप जैसे भाग्यशाली पुण्य का उपभोग करने वाली आत्मा को देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। तब चक्रवर्ती पूछता है कि बताओ आखिर बात क्या है? ऐसी कौन सी घटना घट गयी, तो सेवक कहता है कि आपको काम-पुरुषार्थ के उपरान्त वह सफलता प्राप्त हुई है कि आपको पुत्र-रत्न की प्राप्ति हुई है। आप आदेश दीजिये कि हम उत्सव मना सकें। क्षणभर व्यतीत हुआ कि दूसरा सेवक उससे भी ज्यादा प्रशंसा के साथ गद्गद् होता हुआ आकर कहता है कि यह तो महलों के भीतर की बात हो गयी। हम तो बताने आये हैं कि आपका यश, आपकी कीर्ति, आपकी ख्याति सब ओर फैलने वाली है।

आयुध शाला में अर्थ पुरुषार्थ के फलस्वरूप आपको चक्ररत्न की प्राप्ति हुई है। अब आप चक्रेश हो गये, नरेश हो गये। अभी तक सुनते थे हम कि ३२ हजार मुकुट बद्ध राजा जिनके चरणों में आकर अभिवादन करते हैं, वह चक्रवर्ती कहलाते हैं। आप ऐसे ही चक्रवर्ती हो गये।

और अगले ही क्षण भागता-भागता हुआ एक सेवक आ जाता है कि क्या बतायें, हम शास्त्रों में पढ़ते थे, सुनते थे और भगवान् से प्रार्थना करते थे कि आँखें उस दृश्य को साक्षात् देखकर कब पवित्र होंगी। साक्षात् दिव्यध्वनि सुनकर कान कब पवित्र होंगे। आप भाग्यशाली हैं कि आपके जीवनकाल में ऐसा महोत्सव देखने को मिल रहा है। मुक्ति मानो साक्षात् आकर खड़ी हो गयी है। आदिनाथ भगवान् को केवल ज्ञान प्राप्त हो गया है। (तालियां)

आप तालियाँ बजाकर हर्ष प्रकट कर रहे हैं। ठीक भी है। एक भव्यात्मा को केवल ज्ञान प्राप्त हो जाता है तो उसके प्रकाश में सारा अंधकार भी अंतर्धान हो जाता है और चलने का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। अभी तक तो उस प्रकाश की बात सुनी थी, आज तो प्रकाश में स्नपित होने का अवसर आया है। केवल ज्ञान से विभूषित होकर अब आपके पिता (व्यवहार की अपेक्षा कह रहा हूँ) जगत् पिता हो गये हैं। आदिम तीर्थंकर, तीर्थ के संचालक हो गये हैं।

इतना सुनते ही, उसी समय चक्रवर्ती ने कहा कि चलो सपरिवार धूमधाम से भगवान् के समवसरण में चलेंगे और शेष काम तो बाद में होते रहेंगे। अभी न हुकूमत की ओर दृष्टि है, न संतान की ओर दृष्टि है, अभी तो ज्ञानगुण जो हमारा है, उसकी एक संतान को शुद्ध पर्याय जो अभी तक प्राप्त नहीं हुई वही वास्तविक संतान है जो दुनियाँ को प्रकाशित करेगी। उसी का दर्शन करेंगे।

तज्जयति परं ज्योतिः, समं समस्तैरनन्तपर्यायैः।
दर्पणतल इव सकला, प्रतिफलति पदार्थमालिका यत्र॥

(पुरुषार्थसिद्धिद्युपाय)

वह कैवल्य ज्योति जयवन्त हो जिसमें दर्पण के समान सभी पदार्थ अपने अनंत पर्यायों सहित प्रतिबिम्बित होते हैं।

सम्यग्दृष्टि को अपनी संतान की इतनी चिन्ता नहीं रहती, अपने धन के बारे में भी कोई चिन्ता नहीं रहती और हुकूमत चलाने में भी विशेष उल्लास नहीं होता। सम्यग्दृष्टि को अपनी आत्मा के बारे में सुनने का उल्लास अधिक होता है। यह अपेक्षाकृत बात कह रहा हूँ और सभी बातों की अपेक्षा अधिक उल्लास तो धर्म की बात का ही होता है, चक्रवर्ती सोचता है कि हमें अभी केवलज्ञान नहीं हुआ, कोई बात नहीं लेकिन वृषभनाथ को केवलज्ञान प्राप्त हुआ, वहाँ समवसरण की रचना होगी और हमें अपने भविष्य के बारे में अपने धर्म के बारे में, अपनी आत्मा के बारे में सुनने का अवसर मिलेगा। यह घड़ी धन्य है और वह सभी बातों को गौण करके केवल ज्ञान की पूजा करने चला जाता है।

वह अपना द्रव्य, अपना तन-मन-धन सभी कुछ लगा देता है और पूजा करके अपने आप को कृतकृत्य अनुभव करता है। धन्य है यह अवसर। आप दुनियाँ की बातें करते हो, आत्मा की बात करनी चाहिए। आप दूसरे की बात करते हो, अपनी बात करनी चाहिए और अपनी भी मात्र ऊपर-ऊपर की नहीं, भीतरी बात करनी चाहिए। आनंद बाहर नहीं, भीतर है। आँख के अभाव में, ज्ञान के अभाव में भीतरी दृश्य का अवलोकन नहीं हो पा रहा। आत्मा का वैभव इस भव में रचे-पचे होने के कारण लुटा हुआ है।

दर्पण बहुत उज्ज्वल है, बहुत साफ है, ठीक है, लेकिन अपना मुख, उसमें जो प्रतिबिम्बित हुआ है, उसका भी उज्ज्वल होना महत्त्वपूर्ण पहले है, दर्पण की धूल हम हटाते हैं, साफ करते हैं, उज्ज्वल बनाते हैं इसलिए कि अपना मुख देख सकें। अपने आप को देखना मुख्य उद्देश्य है। दर्पण सहायक है। इसी प्रकार परमात्म पद को हमें प्राप्त करना है तो जिसे केवल ज्ञान प्राप्त हो गया, उसकी वाणी को श्रवण करके धर्मामृत का पान करके हमें अपनी ओर आना है। हमें अपनी ओर यात्रा की दिशा मोड़ लेनी है जो बाहर हम भाग रहे हैं वह भीतर की ओर आना प्रारंभ हो जाये, तो सौभाग्य है।

युग के आदि में वृषभनाथ भगवान् को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ तो समवसरण की रचना हुई। भरत चक्रवर्ती को उनकी पूजा करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था और प्रथम श्रोता-श्रावक के

रूप में हजारों प्रश्न करके उन्होंने अपनी भीतरी जिज्ञासा शान्त की। आप बाहरी बात पूछते हैं। भविष्य की बात पूछ लेते हैं लेकिन चक्रवर्ती ने आत्मतत्त्व की गहराई की बात पूछी। जो चक्रवर्ती अभी रागी है, वीतरागी नहीं है। गृहस्थ है, संन्यासी नहीं है। असंयमी है, संयमी नहीं है लेकिन संयम की ओर संयम की गंध का आस्वादन करने के लिये भ्रमरवत् अपनी वृत्ति रखने वाला है। रागद्वेष में कमी करता हुआ आत्मा के रहस्य को सुनने का भाव रखने वाला है। यही विशेषता स्वभाव की ओर दृष्टि रखने वाले प्रत्येक मुमुक्षु की होनी चाहिए।

बंधुओ! आज ध्वजारोहण का कार्य संपन्न हुआ है। जो अभी पंचकल्याणक होंगे, आज उसकी भूमिका बन रही है। युग के आदि में कैसे कैसे यह पंचकल्याणक की घटना घटित हुई होगी, उसको आज से एक-एक दिन उसी रूप में चित्रित किया जायेगा। इसका मूल उद्देश्य यही है कि हम निर्मोही बनें। हम वीतरागी बनें। हम असंयम से संयम की ओर चलें और संयम के बल पर अपने भीतर बैठी हुई मोह की सत्ता पर प्रहार करते चले जायें। हमें मोहाविष्ट नहीं होना किन्तु मोह को वश में करना है। मन के काबू में नहीं रहना, मन को अपने काबू में रखना है। इन्द्रियों में वशीभूत नहीं होना, इन्द्रियों को अपने वश में रखना है। यह सब हमारे आधीन है।

यह सब हमारे साधन हैं और हम अपने साध्य स्वयं हैं। इस श्रद्धान के साथ हमें आगे बढ़ना चाहिए। धन्य है वह चक्रवर्ती का जीवन, जिनकी दृष्टि कितनी पैनी होगी कि अर्थ की ओर नहीं गये। काम के फल की ओर नहीं गये किन्तु एकमात्र केवलज्ञान से प्रकाशित सूर्य के दर्शन के लिये गये। यह चित्रण (उदाहरण) आप अपने सामने रखकर देखिये। आप कितने सांसारिक प्रलोभन से ग्रसित हैं। आप कितने संसार के लोभों से आकृष्ट हैं। आप कितने विषयों की ओर झुके हुए हैं। एक बात और ध्यान में लाइये कि छियानवे हजार रानियाँ जिनके साथ हैं, जिनके हजारों पुत्र और अपार सम्पदा, हाथी, घोड़े, नव निधियाँ और चौदह रत्न हैं। बत्तीस हजार मुकुट बद्ध राजा और स्वर्ग से नीचे उतरकर आया हुआ दिव्य वैभव, जिनके चरणों में पड़ा है। जिन्हें आदि तीर्थंकर के आदि पुत्र होने का गौरव प्राप्त है लेकिन जब भीतरी बात आती है तो ऐसा लगता है कि किस कोने में बैठा हुआ है वह आत्मन् और वहाँ से पूछ रहा है कि तेरा वैभव क्या है? तेरा स्वभाव क्या है? तेरा वास्तविक रूप और लावण्य क्या है? और तू पर के ऊपर क्यों इतना मुग्ध हुआ है? ऐसा विचार आते ही कभी-कभी विस्मय हो जाता है। कभी-कभी खेद खिन्नता भी आ जाती है और कभी-कभी स्वभाव की ओर दृष्टिपात होने से यह सब बाहरी तरंगें हैं, लहरे हैं, ऐसा मालूम पड़ने लगता है।

स्वभाव तो यथावत चल रहा है अनादि अनिधन। थोड़ा हवा का झोंका आ जाता है जो ध्वजा लहरदार हो जाती है। वस्तुतः ध्वजा लहरदार नहीं है। इसी प्रकार मोह का प्रवाह चलता है, झोंका आ जाता है तो संसारी आत्मा में, मैं सुखी हूँ, मैं दुखी हूँ, मैं राजा हूँ, मैं बड़ा हूँ, या मैं छोटा

हूँ, आदि आदि अनेक लहरें, संकल्प-विकल्प उत्पन्न हो जाते हैं और जैसे ही तत्त्वज्ञान की भूमिका में अपने आपके स्वरूप पर दृष्टिपात कर लेते हैं तो वहाँ सरोवर तो सरोवर है, ध्वजा तो ध्वजा है, सब एकदम शान्त, निर्मल और निस्तरंग।

स्वभावनिष्ठ वह भगवान् हमारे सामने हैं। उनमें आप स्वयं को देखें, वहाँ तरंगें नहीं है, मात्र अंतरंग हैं, शान्त स्तब्ध एकमात्र स्वभाव का साम्राज्य फैला है। जो अथाह अगम्य है। और वही स्वरूप की दृष्टि से देखा जाये तो हमारे पास भी विद्यमान है। उसे देखने की आवश्यकता है, उस पर श्रद्धान करके उसे प्राप्त करने की आवश्यकता है। भरत चक्रवर्ती सम्यग्दृष्टि हैं इसलिए उनके जीवन में इतनी गंभीरता और इतनी सादगी है जो अपार वैभव मिलने के उपरान्त भी कायम है।

थोड़ा सा वैभव मिल जाता है तो वही बात होती है कि अध-जल गगरी छलकत जात या कहो उछलत जात। आधा भरा कुम्भ हो तो छलकता जाता है ओर वही जब भरपूर हो जाता है तो कुछ बोलता नहीं। स्वभाव-निष्ठ हो जाता है। आवाज निकलने से अर्थात् व्याख्यान देने मात्र से स्वरूप का भान होता है यह गलत धारणा है। धारणा तो यह होनी चाहिए कि भरपूर होने के उपरांत ही स्वरूप का व्याख्यान प्रारंभ हो जाता है। स्वभाव हमेशा उमड़ता रहता है। उसे सप्रयास लाने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

जब सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा, भगवान् के स्वरूप को जानने वाला मुमुक्षु इस स्वभाव को परिचय में लाता है। प्रभु के दर्शन से या इस प्रकार के धार्मिक आयोजनों के माध्यम से, तब उसे लगता है कि मेरे भीतर भी यही एकमात्र मानसरोवर है जिसमें अनन्तता छिपी हुई है और वह अपने इस शांत स्वभाव में ठहर जाता है किसी भी प्रकार की आकुलता नहीं होती, और इस प्रकार जितना-जितना अपने भीतर जाने का उपक्रम, प्रयास चलता है, उतनी-उतनी शांति मिलनी प्रारंभ हो जाती है। आप जितने सतह की ओर, बाहर की ओर आयेंगे उतनी ही आपको आकुलता सताने लगेगी। इन बाह्य आयोजनों के माध्यम से अंतर्मुखी दृष्टि आ जाये, यही उपलब्धि है।

दृष्टि के ऊपर ही हमारे भाव निर्भर हैं। जैसी हम दृष्टि बनाते हैं वैसा ही भावों के ऊपर प्रभाव पड़ता है। जैसे-जैसे अंतर्दृष्टि होती जाती है भाव भी अपने आप शांत होते चले जाते हैं। उबलता, ऊफनता हुआ दूध हानिकारक है, लेकिन तपने के उपरांत वही जब स्वस्थ/शांत हो जाता है तो लाभप्रद हो जाता है। आज विश्व में कषायों की तपन और उद्वेग बढ़ता जा रहा है। एक व्यक्ति के जीवन में बढ़ता हुआ कषाय का उद्वेग विश्व में प्रलय लाने में कारण बन सकता है। वहीं यदि एक व्यक्ति का मन मानसरोवर की तरह शांत और निर्मल हो तो उसके तटों पर बहुत दूर-दूर से आये भव्य जन रूपी हंस बैठकर शांति का अनुभव कर सकते हैं। एक ही शांति अनेक में क्षोभ को शांत करने के लिये पर्याप्त है और एक का क्षोभ अनेक की शांति को भंग करने में निमित्त बन

सकता है। इसलिए बंधुओ! स्वभाव की ओर दृष्टि लानी चाहिए जिससे भावों में शांति आये।

जिसके जीवन में स्वभाव से अभी परिचय नहीं हुआ है, उसी के जीवन में आकुलता होती है। एक हाथी उन्मत्त हो जाये, स्वभाव से च्युत हो जाये तो उसके सामने खड़े होना संभव नहीं है, लेकिन जब वह अपने आप में शांत हो जाता है और अपनी मंद चाल से चलने लगता है तो बालक और बूढ़े सभी उसके सामने नृत्य करने लग जाते हैं। उस पर बैठ भी जाते हैं। स्वस्थ ओर उन्मत्त हाथी-यह दोनों कषायों के उपशमन और उद्वेग के प्रतीक हैं। जो स्वभाव से अपरिचित है, वह प्रलय में कारण बनता है और जो स्वभाव में लीन है तो उस लय में अनंत जीव अपना कल्याण कर लेते हैं।

धर्म का प्रवाह आज का नहीं, जब से संसार है तब से अबाध चल रहा है। पूरे के पूरे संसार का कल्याण हो, ऐसी भावना भायी जाये तो आज भी ऐसी लहर उत्पन्न हो सकती है जो हमारे कल्याण में निमित्त बन सकती है। सर्व कल्याण की पवित्र भावना भाने वाले, वे आर्य, वे सत्पुरुष, वे महामानव युग के आदि में ऐसे कार्य कर गये, जो आज भी लोगों के लिये आदर्श बने हुए हैं। आदर्श का एक अर्थ दर्पण भी होता है। दर्पण में देखकर, आदर्श (भगवान) के दर्शन करके हमें ज्ञात हो जाता है कि हमारा कर्त्तव्य क्या है? हमारा स्वभाव क्या है? हमारे प्रभु कौन हैं? और हमारे लिये उन्होंने क्या संदेश दिया है। इतना यदि हम समझ लें तो जीवन कृतकृत्य हो जायेगा।

आज इस पंचमकाल में भी कृतकृत्यता का अनुभव कर सकते हैं क्योंकि अलौकिक कार्य की शुरूआत में भी तृप्ति का अनुभव होता है। आम जब पक जाते हैं तो रस निकालते हैं, पीते हैं, तृप्ति मिलती है। यह तो ठीक है, लेकिन जिसे आप गदरे आम बोलते हैं उनका अपने आप में अलग स्वाद होता है। खटमिट्ठा भले ही रहता है पर वह भी तृप्तिकर लगता है। इसी प्रकार तृप्ति का अनुभव मुक्ति में तो यह आत्मा करेगी ही, लेकिन जिस समय वह सम्यक् श्रद्धान के साथ मोक्षमार्ग पर अपने कदम रखता है उस समय मार्ग में भी उसे अलग आनंद और तृप्ति का अनुभव होता है।

जैसे घर में भोजन करो और वन में जाकर पिकनिक में भोजन करो तो उसका अलग आनंद आता है। भूख नहीं भी लगी हो तो खाने का मन हो जाता है। यह क्यों होता है? क्योंकि वातावरण चेंज होने से भावों में भी अन्तर आ जाता है। इसी प्रकार जिन्हें केवलज्ञान हो गया हो उसकी छाँव में जाकर उनके प्रवचन सुनने और दर्शन करने से जो एक तृप्ति का अनुभव होता है वह भी अपने आप में अलौकिक है।

बंधुओ! नदी/सरिताएँ सागर से मिलने को आतुर हो जाती हैं लेकिन बात ऐसी है कि सागर भी मिलने को आतुर था आज। अभी-अभी हमने देखा था। सागर तटस्थ नहीं था, बह रहा था।

बहता हुआ सागर कौन सा है यहाँ, और कहाँ जाकर मिलना चाहता है? यह निश्चित है कि सागर यदि बहता है तो वह मीठा हो जाता है। यदि तटस्थ रहता है तो प्रसिद्ध है कि खारा तो वह है ही। बहता हुआ सागर यही है कि सारा सागर-नगर धर्म की ओर बह रहा है। धर्मामृत को पीने के लिये आतुर है। यही तो वे क्षण हैं जब आबालवृद्ध हर्षित होकर उसमें डूब जाते हैं। यह क्षण बहुत दुर्लभ होते हैं। यह पैसे खर्च करने से नहीं, किसी व्यक्ति विशेष को आमंत्रित करने से नहीं, कोई मेवा-मिष्ठान्न खाने से भी नहीं किन्तु भावों की निर्मलता से आते हैं।

जब आप अपने आपको/अपने अहंकार को भूल जाते हैं और मात्र आदर्श सामने रह जाता है और उसी में लीनता आ जाती है तो सभी का मन उल्लास से नाचने लग जाता है। युवकों और बालकों के साथ वृद्ध भी झूमने लगते हैं। दादाजी के पैर भी नाती के साथ नृत्य के लिए उठ जाते हैं। हमारी अहंकार वृत्ति, हमारी दीनता, हीनता, हमारी जो भी कमियाँ हैं, सारी की सारी समाप्त हो जाती है। धर्म में लीनता जब आती है तो दीनता-हीनता चली जाती है। अभी विषयों में आपकी लीनता है इसलिए आप दीनहीन बनते जा रहे हैं। अहंकारी बनते जा रहे हैं।

जब हम देखते हैं उस अपार को और विराट की ओर दृष्टिपात करते हैं तब अपने आप की लघुता हमें प्रतीत हो जाती है। जब सागर में मिलने के लिये बड़ी गंगा, सिंधु, ब्रह्मपुत्र जैसी नदियाँ जिनमें बड़े-बड़े जहाज चलते हैं, मिलने के लिये आ जाती हैं। उस समय अपने आपको देखती हैं तो बहुत पतली, बहुत छोटी, नहीं के बराबर मालूम पड़ती हैं। असारता का दर्शन इसी प्रकार हमें भी करना है।

इस असारता के माध्यम से ही हम पार पा जायेंगे। हमारी लघुता समाप्त जो जायेगी उस विराटता में। धन्य हैं वे प्रभु जिन्होंने हमारे अधूरे/अपूर्ण व्यक्तित्व को पूर्ण होने का संदेश दे दिया। उनका दिया उजाला हम लोगों के लिये पथ प्रदर्शक बन गया।

अंत में इतना ही कहना चाहूँगा कि चक्रवर्ती के समान भावना हमारे/आप लोगों के जीवन में भी आये। आज जो स्थिति है वह कर्म के उदय में है, उसमें रचे-पचे नहीं, यथावत उसको देखने का प्रयास करें। पुरुषार्थ अधिक से अधिक आप करें। अर्थ के क्षेत्र में, काम पुरुषार्थ के क्षेत्र में ही नहीं बल्कि धर्म और मोक्ष पुरुषार्थ को अपने सामने रखकर पुरुषार्थशील बने। जिस महान् पुरुषार्थ के फलस्वरूप वृषभनाथ भगवान् को केवलज्ञान प्राप्त हुआ उसी प्रकार जीवन में भी वह शुभ घड़ी आयेगी, ऐसा सत्-पुरुषार्थ हम करें जिसके द्वारा कैवल्य की उपलब्धि हो। धर्म की ध्वजा फहराती रहे।

❑ ❑ ❑

श्रेष्ठ संस्कार

सुनते हैं कई प्रकार के मोती होते हैं। जल की बूँदें मोती के रूप में परिणत हो जाती हैं। वह जल की बूँदें धूल में मिलकर अपने आप के जीवन को समाप्त न करके एक मोती का रूप धारण कर लेती हैं तो वह कंठहार बन जाती हैं। कभी सोचा आपने कि जब जल मोती बन सकता है तो जो अविरल धारा बहती रहती है वर्षा ऋतु में, वह जल मोती का रूप धारण क्यों नहीं करता। उपादान जल है तो वह मोती के रूप में परिवर्तित हो जाये लेकिन बिना निमित्त के ऐसा संभव नहीं है। इसलिए निमित्त की सार्थकता को ओझल नहीं किया जा सकता।

मोती एकेन्द्रिय है, पृथिवीकायिक है और जल भी एकेन्द्रिय है, जलकायिक है लेकिन जब सीप जल की बूँदों को स्वीकार कर लेता है तभी वे मोती का रूप धारण करती हैं। निमित्त की यही विशेषता है। उपादान जो भीतर की शक्ति है उसका प्रस्फुटन उसकी अभिव्यक्ति सामने तब आती है जबकि योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि निमित्त जुट जाते हैं। अन्यथा वही बूँदें नीम की जड़ में चली जाती हैं तो कटुता का अनुभव लाती हैं। बबूल की जड़ में चली जाती हैं तो काँटे का रूप धारण कर लेती हैं। सर्प के मुख को प्राप्त हुई वही बूँद हलाहल का रूप धारण कर लेती है। सूर्य के ताप को वह प्राप्त कर लेती है तो वाष्प बनकर उड़ जाती है। वस्तु का परिणमन बड़ी अद्वितीय शक्ति को लेकर चलता रहता है।

आज जो जीव गर्भ में आया है वह कहाँ से आया? वह क्यों तीर्थंकर बना और कैसे? किन परिणामों के द्वारा माता-पिता ने उसे धारण किया? तो उत्तर में यही कहा जायेगा कि यह सब संस्कार की देन है। आज यह दिन भी संस्कार का दिन है। एक ऐसा जीव सीप में प्रवेश करेगा तो कालान्तर में मोती का रूप धारण कर लेता है। इसकी अधिकारी वही सीप होगी जो जल को बड़ी सावधानी से ग्रहण करती है। प्रत्येक सीप में मोती बने, यह नियम नहीं है। स्वाति नक्षत्र में जब कोई सीप अपना मुख खोलती है और ऊपर मेघों से गिरती जल की बूँद भीतर प्रवेश करती है तब सीप अपने मुख को बंद करके सागर के नीचे चली जाती है। ऐसा वह नैसर्गिक संस्कार का कार्य होता है। परिष्कार का कार्य होता है तभी मोती की उपलब्धि होती है।

आज परिष्कार की बात तो चलती है लेकिन संस्कार की बात नहीं होती। एक सीप के संस्कार को देखो। कैसा संस्कार डाला भीतर कि वह बाहर का जल जो खारा था, भीतर वही मोती का रूप धारण कर गया। जल का उपादान, इस भीतरी संस्कार के कारण मोती के रूप में परिवर्तित हो गया। जब किसी के लिये बुखार Typhoid हो जाता है जिसे हिन्दी में मोतीझरा बोलते हैं तो एक दो मोती पानी में उबाल दिये जाते हैं तो वह पानी भीतर के बुखार को निकालने में सक्षम हो

जाता है। मोती से मोतीझरा बुखार भी झर जाता है। साधारण पानी में यह गुण नहीं होता। मोती के द्वारा संस्कारित होने पर यह क्षमता आ जाती है।

इसी प्रकार तीर्थंकर होने वाले जीव को अपने गर्भ में प्रवेश होने के पूर्व में माता-पिता ने कितनी निर्मल भावना भायी होगी। तीन लोक का कल्याण जिसके ऊपर निर्धारित है ऐसा वह महान् जीव आने वाला है। उसे आधार देने वाला भी कितना कल्याणकारी होगा। यह बात बहुत कम लोगों को समझ में आती है। लेकिन जो वस्तु के उद्गम स्थान की ओर दृष्टिपात करते हैं तो ज्ञात होता है कि वर्तमान तभी बनता है जब अतीत भी उज्ज्वल होता है। जड़ें मजबूत होती हैं तभी वृक्ष विकास पाता है। संस्कार की ओर अर्थात् मूलभूत जड़ों की ओर भी देखना आवश्यक है। आज तो कलम (Cross Breed) का युग आ गया। आम की गुठली नहीं बोयी जाती। आम की कलम लगा दी जाती है। संस्कार नहीं दिया जाता, मात्र बाहर से थोड़ा परिष्कार कर दिया जाता है। आम भले ही बहुत आते हों लेकिन खाने का स्वाद और पौष्टिकता नहीं मिल पाती।

जो पहले से संस्कार डालना प्रारंभ कर देता है भावों के माध्यम से कि हमारे निमित्त से कोई लोकोत्तर जीव आ जावे जो तीन लोक को दिशा बोध दे सके। तो हम धन्य हो जायेंगे। यह भी एक उज्ज्वल भावना है। धन्य हैं वह माता और वह पिता। आप लोग तो आज क्या भावना करते हैं कि हमारा लड़का वकील बन जाये, इंजीनियर बन जाये, डाक्टर बन जाये, प्रोफेसर बन जाये। कुछ भी बन जाये लेकिन कमाऊ बन जाये, साधु न बन जाये (हँसी)।

यैः शान्तरागरुचिभिः परमाणुभिस्त्वं... हे भगवान्! शांति के जितने भी परमाणु थे आपकी देह उनके द्वारा निर्मित हो गयी। आप इसी से अद्‌भुत हैं। ऐसी शक्ति के परमाणुओं से निर्मित देह की भावना भाने वाले विरले ही माता-पिता होते हैं। भारतीय संस्कृति में प्रत्येक क्षण संस्कार के साथ बीते, इस बात को महत्त्व दिया गया है। प्रत्येक क्रिया संस्कार के साथ चलती है। विवाह संस्कार मात्र वासना की पूर्ति के लिये नहीं है, बल्कि संतान की उत्पत्ति और धर्म की परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये किया जाता है। ऐसा महापुराणादि ग्रन्थों में आप देख सकते हैं। कब कैसे संस्कार डाले जायें। मन वचन काय की प्रवृत्ति कैसी रखी जाये, कितने बार खाया जाये, कब खाया जाये, क्या खाया जाये और क्यों खाया जाये। इन सभी बातों की सावधानी रखी जाती है।

संस्कार ऐसे हों कि जिससे आने वाली संतान धार्मिक/सात्विक जीवन का संस्कार लेकर आये। उसका तामसिकता की ओर झुकाव न हो। जब विभिन्न प्रकार के सुगंधित फूलों की प्रजातियों को पैदा करते समय आवश्यक हवा, पानी और वातावरण आदि की सावधानी रखी जाती है तो आप विचार करें कि जिसके द्वारा तीन लोक में सुगंधमय वातावरण बनेगा ऐसा जीव यहाँ गर्भ

में आया है तो कितनी सावधानी रखी गयी होगी। कैसे अद्‌भुत पवित्र संस्कार किये गये होंगे। तीन लोक के सकल चराचर पदार्थों को अपने में धारण करने की क्षमता जिसके ज्ञान में आ जाये, जो प्राणिमात्र के दुख दारिद्र को दूर करने में निमित्त बन जाये। यह सब संस्कार का ही प्रतिफल है।

साधना अभिशाप को वरदान बना देती है। भावना पाषाण को भगवान् बना देती है। पर आज का युग स्वयं एकदम भगवान बनना चाहता है। साधना के नाम पर कुछ करना नहीं चाहता। महान् आत्माओं के चरणों में झुकना नहीं चाहता। सब समय के भरोसे छोड़ देता है। बंधुओ! साधना भगवान् बनने से पूर्व की बात है और अनिवार्य है। भगवान् बनने के उपरान्त साधना नहीं की जाती। फल पक जाने के उपरान्त पानी का सिंचन नहीं किया जाता। साधना से ही संस्कार पड़ते हैं।

पहले मंत्रों के द्वारा सहज ही कार्य सिद्ध हो जाते थे, इसका कारण है कि मंत्र सिद्ध होने के उपरान्त ही कार्य सिद्ध हो जाता है। मंत्र सिद्ध न हो, मंत्र की साधना न हो तो मंत्र पढ़ने मात्र से कार्य सम्पन्न नहीं होता। साधना पहले आवश्यक है। जीवन को वासना से दूर रखने साधना की जाये तभी आने वाली संतान, आत्मा की उपासना करने में सक्षम होगी, उपादान की योग्यता के साथ-साथ निमित्त का भी प्रभाव पड़ता है।

गाँधी जी ने नहीं कहा लेकिन लोगों ने स्वयं उन्हें महात्मा गाँधी कहा। वे तो अंत तक यही कहते रहे कि मेरी महानता तो माता-पिता के ऊपर निर्धारित है। उन्होंने ही मेरे ऊपर संस्कार डाले। विदेश में जा रहे हो तो ध्यान रखना, मांस-मदिरा का सेवन मत करना। यह गाँधी जी के जीवन की घटना है। विदेश जाते समय उनकी माता ने यह शपथ दिलायी थी।

आयुर्वेद में औषधियों की शक्ति भावना पर ही आधारित है। जितना ज्यादा औषधि को भावित किया गया होगा, भावना दी गयी होगी, पुट दिया गया होगा उतनी ही वह शक्तिशाली होगी। जैनाचार्यों ने इस शक्ति को अनुभाग कहा है। जिस भावना के साथ जो कर्म आ जाता है उनमें ऐसी शक्ति पड़ जाती है कि दुनियाँ की कोई शक्ति आ जाये पर उसे समाप्त नहीं कर सकती। पुण्य कर्म की स्थिति तो ऐसी है कि यदि उसे मिटाना/हटाना चाहो तो जितना उससे बचने के लिये जायेंगे उतनी ही उसकी शक्ति और बढ़ जायेगी। पापों से मुक्त होकर जो पुण्य में लग जाते हैं और पुण्य के फल का त्याग करते जाते हैं उन्हें और अधिक पुण्य का संचय होने लगता है।

स्वर्ण यदि असली हो तो उसको आप कितनी ही बार कसौटी पर परखो वह खरा ही उतरेगा। उसे जितना तपाओ, समाप्त करना चाहो वह उतना ही उज्ज्वल हो जाता है। कंचन तो कंचन ही है यह भावना का फल है। साधारण पीपल नहीं, यदि चौंसठ प्रहरी पीपल हो तो क्षय रोग

को भी दूर करने में सक्षम होता है। चौंसठ प्रहर तक मूसल की चोट जिस पीपल के ऊपर पड़ती है वह पीपल आयुर्वेद में चौंसठ प्रहरी पीपल कहलाता है। पल-पल उस पीपल ने चौंसठ प्रहर के प्रहारों को अपने में पी लिया। यह संस्कारित हो गया। आप मशीन के द्वारा एक घंटे में उतनी ही चोट डाल दो वह शक्ति नहीं आयेगी, ध्यान रखना, क्योंकि वहाँ चोट तो जुड़ी है लेकिन भावना नहीं जुड़ी। एक में व्यवसाय है, एक में साधना स्वाध्याय है।

बंधुओ! तीन लोक का दारिद्रय जो मोह के कारण है उसे यदि दूर करना चाहते हो तो वित्त के द्वारा नहीं, धन संपदा के द्वारा नहीं बल्कि चेतन भावों के द्वारा ही, वीतराग भावों के द्वारा ही दूर किया जा सकता है। लोक-कल्याण की भावना का यह संस्कार अद्‌भुत है। धन्य हैं वह माता-पिता जो अपनी संतान में ऐसे भाव पैदा करने के लिये प्रयास करते हैं। हमें मन-वचन-काय की ऐसी चेष्टा करनी चाहिए ताकि विश्व का कल्याण हो।

भावों में ऐसी उज्ज्वलता लायें जैसे मोती के लिये सीप प्रयासरत है। सीप में मोती भले ही एक हो। जैसे तीर्थंकर अपने माता-पिता के एक ही होते हैं पर सारा लोक आकृष्ट हो जाता है। एक मोती ही पर्याप्त है। एक तीर्थंकर की योग्यता वाला पुत्र ही पर्याप्त है। हमारा पुत्र हमारे लिये ही नहीं बल्कि विश्व के कल्याण के लिये हो, ऐसी भावना विरला ही कोई कर सकता है। इतना ही नहीं, उस पुत्र को लोक के लिये समर्पित करके आनंदित भी होता है। उसे स्वयं से अधिक समझदार मानता है। नाभिराय और माता मरुदेवी किसी के कुछ पूछने पर उसे समाधान के लिये अपने पुत्र आदिकुमार के पास भेज दिया करते थे। यहाँ पर्याय बुद्धि छोड़नी पड़ती है। छोटा/बड़ा कोई उम्र से या शरीर से नहीं मापा जाता, अंतरंग योग्यता देखनी चाहिए।

आप इन कार्यक्रमों को लौकिक कार्यक्रम न समझें। किन्तु पारलौकिक आत्मा की ओर ले जाने के लिये प्रतीक मानें, प्रेरणा लें। आप भी माता-पिता हैं, आपके भी संतान है उसे संस्कारित करें। अंतर्दृष्टि दें और स्वयं भी संस्कारित हो जिससे सबका भविष्य उज्ज्वल बनें।

एक दीप हजारों दीपक जलाता है। एक दीपक के साथ बुझे हुए हजार दीपक अपने आप जल जाते हैं। परिश्रम की आवश्यकता नहीं होती और एक वह भी दीपक होता है जो रत्न दीपक कहलाता है। इस माटी के दीपक में तो बाती होती है, तेल डाला जाता है और वह बुझ भी सकता है लेकिन रत्न दीपक के लिये बाती और तेल की आवश्यकता नहीं होती वह हवा के द्वारा बुझता भी नहीं है। किसी को जलाता नहीं, स्वयं जलता रहता है ऐसे रत्न दीपक से भी श्रेष्ठ दीपक गर्भ में आ चुका है। उसकी पात्रता को ध्यान में रखकर कल पूर्व पीठिका के रूप में सीप और मोती की बात कही थी।

आज उस श्रेष्ठ दीपक की बात करना चाहता हूँ जिसके गर्भ में आते ही सब ओर शांति का वातावरण बन जाता है। मंगल छा जाता है और आत्मा का महात्म्य सुनाई देने लगता है। एक विकासमान दीपक एक प्रकाशमान दीपक जो विश्व को शान्ति प्रदान करने वाला है, वह गर्भ में भले ही है लेकिन अपनी प्रभा को बाहर बिखेर रहा है। कैसी अद्भुत भावना पूर्व जीवन में भायी होगी कि जो आज गर्भावस्था में रहकर भी विश्वप्रिय है। सब आतुर हैं कि कब भगवान् का दर्शन होगा? पर्याय की दृष्टि से देखें तो वे कुमार की तरह जन्म लेंगे, अभी भगवान् नहीं हैं लेकिन अंतर्दृष्टि से देखा जाये तो प्रत्येक आत्मा भगवान् है।

एक ऐसी आत्मा जो इसी पर्याय से अपनी आत्मा को जगमगायेगी। जिसके माध्यम से तीन लोक अपने आप के स्वरूप को पहचानेगा। ऐसी आत्मा/परमात्मा के प्रभाव से उनके परिवार का ही नहीं, सभी का दारिद्र दूर हो जाता है मात्र शारीरिक रोग ही नहीं, भव रोग का भी अंत होने लग जाता है और दिन-रात शुद्धात्मा की चर्चा/अर्चा प्रारंभ हो जाती है। पूरा का पूरा परिवार राग से वीतरागता की ओर चला जाता है। यह सब पूर्व भव में इस जीव के द्वारा स्व और पर के कल्याण की भावना का परिणाम है।

इस तरह जिस आत्मा का गर्भ में आना कल्याणकारी होता है और इतना ही नहीं बल्कि अब इस जीव को दुबारा गर्भ में नहीं आना पड़ेगा और न ही उसकी माँ को अधिक गर्भ धारण करने होंगे, वह भी एकाध दो भव में मुक्ति का भाजन बनेगी। इसलिए भी यह गर्भ कल्याण रूप है। गर्भ में आना भी कल्याणक के रूप में मनाया जाता है।

किसी कवि ने छोटी-सी कविता लिखी है कि मैं एक अवयस्क वृद्ध हूँ। कविता का रहस्य अपने आप में बहुत है। अभी जीव गर्भ में आया है लेकिन उसका अनुभव वृद्धत्व को प्राप्त है, जैसे दीपक छोटा सा लगता है लेकिन रात्रि के साम्राज्य को छिन्न भिन्न करने में सक्षम है। फिर यह कोई सामान्य दीपक नहीं है जिसके तले अंधेरा हो। यह सामान्य रत्न-दीपक भी नहीं है बल्कि विशिष्ट चैतन्य रत्न दीपक है। इसकी गरिमा शब्दों में नहीं कही जा सकती। शब्द बहुत बौने पड़ जाते हैं। शब्दों में विराटता का वर्णन करने की सामर्थ्य नहीं है लेकिन भावों की उमड़न रुक नहीं पाती जिससे बार-बार गुणानुवाद का मन हो जाता है, जैसे सूर्य की आरती दीपक से की जाती है।

हीरा बहुमूल्य होता है लेकिन आत्मतत्त्व रूपी हीरा तो अमूल्य है, अद्वितीय है। इस एक आत्म तत्त्व के प्रति अपने आपको समर्पित करने वाली यह महान् आत्मा धन्य है जिसने अतीत में भी रत्नत्रय की साधना की, और आगे भी रत्नत्रय की आराधना करके मुक्ति को पायेगी। जन्म के उपरान्त देखने में भले ही कोमल बालक दिखेगा लेकिन तीन लोक का पालक होगा। आज का

प्रत्येक बालक कल का नागरिक बन सकता है लेकिन प्रत्येक नागरिक राष्ट्रपिता नहीं बन सकता। उसके लिये अलग योग्यता चाहिए। फिर यह गर्भस्थ शिशु तो मात्र राष्ट्रपिता नहीं बल्कि तीन लोक का नाथ बनने वाला है उसकी योग्यता कितनी होगी। यह इस अवसर पर विचार करना चाहिए।

आज की यह धर्मसभा गर्भस्थ आत्मा का कल्याणक मनाने के लिये आतुर है वहीं दूसरी ओर विज्ञान के माध्यम से यह परीक्षा की जाती है कि गर्भस्थ आत्मा लड़का है या लड़की है। यदि लड़की है तो हटा दो। लड़का है तो रहने दो। कौन-से ऐसे संविधान में लिखा है, किस देश की संस्कृति इस जघन्य अपराध को इस पाप को ठीक मानती है। कुछ समझ में नहीं आ रहा। यह कहाँ का न्याय है, यह तो अन्याय है। यह विज्ञान का दुरुपयोग है। आप धर्म की बात सुनना चाहते हैं लेकिन गर्भस्थ शिशु की पीड़ा को नहीं सुनना चाहते।

गर्भस्थ शिशु पर किये गये इंजेक्शन और दवाइयों के प्रयोग से उसे जो मर्मान्तक पीड़ा होती होगी वह आप देखना नहीं चाहते। ऐसा जघन्य काम हो रहा है इस भारत वर्ष में और लोग चुप हैं। दंड की बात दूर है धन के द्वारा पुरस्कृत किया जा रहा है। मैं आलोचना नहीं कर रहा हूँ आपके लोचन खोलना चाह रहा हूँ। आज गर्भ कल्याणक के अवसर पर इस युग की यह समस्या विचारणीय है।

क्षत्रियों का धर्म तो यही है कि अबोध बालक-बालिका पर, उन्मत्त/पागल व्यक्ति पर, नारी के ऊपर और निःशस्त्र योद्धा के ऊपर प्रहार कभी न किया जाये। लेकिन आज क्या हो रहा है? दोनों कुलों के यश को वृद्धिंगत करने वाली बालिका पर प्रहार किया जा रहा है। नारी जगत् ने इतिहास में कितना कुछ किया है और आगे भी करने की क्षमता रखती है। यह किसी से छिपा नहीं है। जीव का परिणमन है। शरीर को लेकर कर्म प्रकृति को लेकर अंतर संभव है लेकिन आत्मा तो सभी में वही है। अनंत शक्तिवान है। बंधुओ, **सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया** अर्थात् सभी जीव अंतर्दृष्टि से देखा जाये तो शुद्धत्व को प्राप्त करने की क्षमता वाले हैं। अपने आपको सम्यग्दृष्टि मानने वालो थोड़ा तो विचार करो।

यदि आप जीवन प्रदान नहीं कर सकते तो आपको जीवन लेने का क्या अधिकार है? वह जीव तो स्वयं जीवन लेकर आया है। उसका कल्याण वह स्वयं करेगा। भगवान् महावीर की धरती पर, भगवान् वृषभनाथ की धरती पर, भगवान् राम की धरती पर, माता मरुदेवी और राजा नाभिराय की धरती पर यह जघन्य कृत्य ठीक नहीं है। इसका समर्थन शासन क्यों करता है? शासन तो आपके हाथ में है। प्रजातंत्र है, आप ही शासक हैं और शासित भी आपको होना है। लोकतंत्र में टके सेर भाजी टके सेर खाजा, अंधेर नगरी और चौपट राजा यह नहीं चलेगा। आत्म गौरव होना चाहिए।

स्वाभिमान होना चाहिए। अपनी उज्ज्वल संस्कृति का ख्याल होना चाहिए।

ऐसा आज कोई अहिंसा को मानने वाला जैन क्यों नहीं है जो खुले आम निडरता से इसे बंद कराने का प्रयास करे/होना चाहिए। आप सोचते हैं, अकेले धार्मिक कार्य करने से पुण्य संचित होता है ऐसा एकान्त नहीं है। पुण्य संचय तो सादगी पूर्ण जीवन से, संयत जीवन जीने से होता है। दु:शासन का शासन भी भंग हो गया था, द्रौपदी के आत्मानुशासन के सामने। भरी सभा में दु:शासन ने द्रौपदी को निरावरित करना चाहा था लेकिन पसीना-पसीना हो गया था पर वस्त्र हट नहीं पाया। ऐसी शीलवान द्रौपदी की कथा आप पढ़ते हैं और गर्भस्थ बालक पर प्रहार करते हैं कुछ समझ में नहीं आता।

गर्भस्थ शिशु का भविष्य कैसा है। यह कोई नहीं जानता। क्या पता कौन सा शिशु महात्मा गाँधी बन जाये। कौन अकलंक-निकलंक जैसा धर्म रक्षक बन जाए। कौन जिनसेन स्वामी जैसा महान् बन जाये और कौन बालिका चंदनबाला जैसी आर्यिका बनकर संघ का नेतृत्व संभालकर युग को संबोधित करे। आपके सागर नगर से क्षमासागर जी, सुधासागरजी, जैसे मुनि निकले हैं और दृढ़मती जैसी आर्यिका गणिनी भी है जिसके अनुशासन में पच्चीस, तीस-तीस आर्यिकाएँ हैं।

बंधुओ! सब अपने-अपने कर्म लेकर आते हैं। संसार में किसी का पालन-पोषण हमें करना है ऐसा अहंकार व्यर्थ है। कर्म सिद्धान्त पर अगर आपको विश्वास है तो संकल्प कीजिये कि हम अपने जीवनकाल में कभी गर्भस्थ शिशु की हत्या नहीं होने देंगे। जीवनदान बड़ा महत्त्वपूर्ण दान है। एक महान् आत्मा का जन्म ही सारे विश्व में उजाला करने के लिये पर्याप्त है। धर्मात्मा यदि बचा रहेगा तो सारी प्रजा धर्ममय बनी रहेगी। सब ओर सुख शांति होगी।

❑ ❑ ❑

जन्म-मरण से परे

संत का नाम सुना था। आज उनके चरणों में आकर वह अबला रो रही है। अपने दुख की अभिव्यक्ति कर रही है। वह क्या मांग रही है? अभी यह भाव खुल नहीं पाया है। वह कह रही है कि जब आपने दिया था तो बीच में ही वापस क्यों ले लिया। एक अबला के साथ यह तो अन्याय हुआ है। हम कुछ और नहीं चाहते जैसा आपने दिया था वैसा ही वापस कर दीजिए, क्योंकि हमने सुना है आप दयालु हैं। प्राणों की रक्षा करने वाले हैं। पतितों के उद्धारक हैं और इस तरह अपना दुख कहकर दुखी होकर वह अबला वहीं गिर पड़ी।

संत जी उसका दुख समझ रहे हैं उसका एक ही बेटा था। आज अकस्मात् वह मरण को प्राप्त हो गया है। यही दुख का कारण है। संत जी ने उसे सांत्वना दी लेकिन अकेले शब्दों से शान्ति

कहाँ मिलती है? वह कहने लगी कि आप तो हमारे बेटे को वापिस दिला दो। संत जी ने अब थोड़ा मुस्कराकर कहा-बिल्कुल ठीक है। पूर्ति हो जायेगी। बेटा मिल जायेगा। लेकिन सारा काम विधिवत् होगा। विधि को मत भूलो। सबके लिये जो रास्ता है वही तुम्हें भी बताता हूँ।

वह अबला तैयार हो गयी कि बताओ क्या करना है? अपने बेटे के लिये सब कुछ करने को तैयार हूँ। बेटा जीवित होना चाहिए। संत जी ने कहा-ऐसा करो कि अपने अड़ोस-पड़ोस में जाकर कुछ सरसों के दाने लेकर आना। मैं सब ठीक कर दूँगा। इतना सुनते ही वह बुढ़िया अबला जाने को तैयार हो गयी तो संत जी ने रोककर कहा कि सुनो। मैं भूला जा रहा था एक शर्त है कि जिस घर से सरसों लेना वहाँ पूछ लेना कि तुम्हारे घर में कोई मरा तो नहीं है। जहाँ कोई कभी नहीं मरा हो वहाँ से सरसों ले आना बस।

अबला ने सोचा कि दुनिया में एक मैं ही दुखी हूँ और शेष सारे के सारे सुखी हैं। मरण का दुख मुझे ही है। शेष किसी के यहाँ कोई नहीं मरा और वह जल्दी से पड़ोस में गयी और जाकर कहा कि संतजी ने कहा कि तुम्हारा बेटा वापिस मिल जायेगा लेकिन एक मुट्ठी सरसों के दाने लेकर आओ। तुम मुझे मुट्ठी भर सरसों दे दो और पड़ोसिन से सरसों लेकर वह जल्दी-जल्दी चार कदम भाग गई, पुनः वापिस लौटकर आयी और कहा कि पहले यह तो बताओ कि तुम्हारे घर में कोई मरा तो नहीं। तो पड़ोसिन बोली-अभी फिलहाल कोई नहीं मरा लेकिन तीन वर्ष पहले आज के दिन ही उनकी मृत्यु हो गयी थी! अरे, तब ऐसे सरसों तो ठीक नहीं, ऐसा सोचकर वह बुढ़िया सरसों वापिस करके दूसरी सहेली के पास चली जाती है।

वहाँ भी ऐसा ही हुआ। सरसों लेकर चार कदम आगे बढ़ी कि गुरु के वचन याद आ गये कि जहाँ कोई मरण को प्राप्त न हुआ हो वहाँ से सरसों लाना।

बंधुओ! मोक्षमार्ग में भी गुरुओं के वचन हमेशा-हमेशा काम में आते हैं।

उवयरणं जिणमग्गे लिंगं जहजादरूवमिदि भणिदं।
गुरुवयणं पिय विणओ, सुत्तज्झाणं च णिद्दिठं॥

(प्रवचनसार-२२५)

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने हम लोगों के लिये, जो मोक्षमार्ग में आरूढ़ हैं, कहा है कि मोक्षमार्ग में चार बातों का ध्यान रखना तो कोई तकलीफ नहीं होगी। पहली बात यथाजात रूप अर्थात् जन्म के समय जैसा बाहरी और भीतरी रूप रहता है। बाहर भी वस्त्र नहीं, भीतर भी वस्त्र नहीं। वैसा ही निर्ग्रंथ निर्विकार रूप होना चाहिए।

पहले आठ-दस साल तक बच्चे निर्वस्त्र निर्विकार भाव से खेलते रहते थे। ऐसा सुनने में

आता है कि ऐसे भी आचार्य हुए हैं जिन्होंने बालक अवस्था से लेकर मुनि बनने तक वस्त्र पहना ही नहीं और मुनि बनने के उपरांत तो निर्ग्रंथ रहे ही। आचार्य जिनसेन स्वामी के बारे में ऐसा आता है। दूसरी बात-गुरु वचन अर्थात् गुरु के वचनों का पालन करना। गुरुमंत्र का ध्यान रखना, शास्त्र तो समुद्र हैं, शास्त्र से ज्ञान बढ़ता है, लेकिन गुरु के वचन से ज्ञान के साथ अनुभव भी प्राप्त होता है। गुरु, शास्त्र का अध्ययन करके अपने पूर्व गुरु महाराज की अनुभूतियों को अपने जीवन में उतार करके और स्वयं की अनुभूतियों को उसमें मिलाकर देते हैं, जैसे माँ, बच्चे को दूध में मिश्री घोलकर पिलाती है और कुछ गाती-बहलाती भी जाती है।

तीसरी बात है -विनय, नम्रता, अभिमान का अभाव। यदि विनय गुण गुम गया, तो ध्यान रखना, शास्त्र-ज्ञान भी कार्यकारी नहीं होगा। अंत में रखा है शास्त्र का अध्ययन, चिंतन, मनन करते रहना, जिससे उपयोग में स्थिरता बनी रहे, मन की चंचलता मिट जाये। तो गुरुओं के द्वारा कहे गये वचन बड़े उपकारी हैं।

उस अबला बुढ़िया को सरसों मिलने से खुशी हो जाती लेकिन जैसे ही मालूम पड़ता कि इस घर में भी गमी हो गई है तो वह आगे बढ़ जाती। ऐसा करते-करते उस बुढ़िया को धीरे-धीरे आने लगी बात समझ में अनागत कब मरण में, अतीत कब विस्मरण में ढल चुका पता नहीं, स्वसंवेदन यही है, संसार में इसी स्वसंवेदन के अभाव में संसारी प्राणी भटक रहा है। यहाँ कोई अमर बनकर नहीं आया। ऐसा सोचते-सोचते वह बुढ़िया संतजी के पास लौट आयी।

संतजी ने कहा विलम्ब हो गया कोई बात नहीं। लाओ सरसों ले आयी। मैं तुम्हारा बेटा तुम्हें दे दूँगा। बुढ़िया बोली संतजी, आज तो हमारी आँखें खुल गयीं। आपकी दवाई तो सच्ची दवाई है। आपने हमारा मार्ग प्रशस्त कर दिया। आपका उपकार ही महान् उपकार है। मेरा बेटा जहाँ भी होगा, वहाँ अकेला नहीं होगा क्योंकि अड़ोसी-पड़ोसी और भी हैं जो पहले ही चले गये हैं। यह संसार है, यहाँ यह आना-जाना तो निरंतर चलता रहता है।

आप लोग 'सनराइज' कहते हैं। 'सनबर्थ' कोई नहीं कहता और सनसेट सभी कहते हैं लेकिन सनडेथ कोई नहीं कहता, यह कितनी अच्छी बात है। यह हमें वस्तुस्थिति की ओर, वास्तविकता की ओर ले जाने में बहुत सहायक है। सनराइज अर्थात् सूर्य का उदय होना और सनसेट अर्थात् सूर्य का अस्त हो जाना। उदय होना, उगना कहा गया, उत्पन्न होना नहीं कहा गया। इसी प्रकार अस्त होना, डूबना कहा गया, समाप्त होना नहीं कहा गया। यही वास्तविकता है। आत्मा का जन्म नहीं होता और न ही मरण होता है। वह तो अजर-अमर है।

संसारी दशा में जीव और पुद्गल का अनादि संयोग है और पुद्गल तो पूरण गलन स्वभाव

वाला होता है। कभी मिल जाता है, कभी बिखर जाता है। उसी को देखकर आत्मा के जनम-मरण की बात कह दी जाती है। केवलज्ञान के अभाव में अज्ञानी संसारी प्राणी शरीर के जन्म होने पर हर्षित होता है और मरण में विषाद करता है और यही अज्ञानता संसार में भटकने में कारण बनती है।

आज यह बात वैज्ञानिक लोग भी स्वीकार करते हैं कि जो नहीं है उसे उत्पन्न नहीं किया जा सकता और जो है उसका कभी नाश नहीं हो सकता, उसका रूपांतरण अवश्य हो सकता है। रूपांतर अर्थात् पर्याय का उत्पन्न होना या मिट जाना भले ही हो लेकिन वस्तु का नाश नहीं होता। बंधुओ! जो पर्याय उत्पन्न हुई है, उसका मरण अनिवार्य है किन्तु ऐसा मरण आप धारण कर लो कि जिसके बाद पुनः मरण न हो। और ऐसी सिद्ध पर्याय को उत्पन्न कर लो जो अनंतकाल तक नाश को प्राप्त नहीं होती।

आज जिसका जन्म कल्याणक मनाया जा रहा है वह ऐसी आत्मा का जन्म है। शरीर के जन्म को हम आत्मा का जन्म न माने और न ही शरीर के मरण को अपना मरण माने बल्कि आत्मा के अजर-अमर स्वरूप को पहचानकर उसे प्राप्त करने के लिये कदम बढ़ायें। यही इस जन्म कल्याणक की उपलब्धि होगी।

❑ ❑ ❑

समत्व की साधना

समय अत्यल्प रह गया है। आज अभी-अभी भगवान् की दीक्षा के उपरान्त आर्यिका दीक्षायें सम्पन्न हुई हैं। भगवान् ऋषभदेव के समय जब भगवान् का वहाँ दीक्षा-कल्याणक महोत्सव मनाया जा रहा है तो पूरी नगरी में उल्लास छाया हुआ है। सब अपने-अपने कर्त्तव्य में लगे हुए हैं। सबका मनोयोग उसी में लगा हुआ है। आज कैसा भावों का परिवर्तन होने जा रहा है? अभी तक तो आदि कुमार राजा सभी के स्वामी थे, अब अपने स्वयं के स्वामी बनने जा रहे हैं। द्रव्य, क्षेत्र और काल का परिवर्तन उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना भावों का परिवर्तन महत्त्वपूर्ण है। आज भावों के परिवर्तन का दिन है।

किसी को यह अच्छा भले ही न लगे (पराभिप्राय निवृत्त्यशक्यत्वात् दूसरे के अभिप्राय का निवारण करना वैसे भी अशक्य है।) किन्तु मोक्षमार्ग में भावों की प्रधानता है। अभी तक राजसत्ता थी। दंड संहिता चल रही थी। साम-दाम, दंड भेद की बात चलती थी किन्तु अब तो अभेद की यात्रा प्रारंभ हो रही है। अब कोई आज्ञा मांगे तो भी आज्ञा नहीं दी जायेगी। अब तो –

'दुखे-सुखे वैरिणी बंधु-वर्गे, योगेवियोगे भवने वने वा।
निराकृता शेष ममत्वबुद्धि, समं मनो मेस्तु सदापि नाथ॥' सामायिक पाठ – ३

अब तो सभी के प्रति ममत्व बुद्धि को छोड़कर आत्मा समत्व में लीन होना चाह रही है। भीतर से वैराग्य उमड़ रहा है। यह घटना आत्मोन्नति के लिये प्रेरणादायी है। भारत की संस्कृति आज जीवित है तो इन्हीं आत्मोन्नति की घटनाओं के माध्यम से जीवित है। धन-सम्पदा के कारण नहीं। ज्ञान-विज्ञान के कारण नहीं बल्कि त्याग, तपस्या के कारण भारतभूमि महान् है।

वैभव तो **वै** अर्थात् निश्चय से **भव** यानि संसार ही है। इसलिए वैभव, वैरागी को नहीं चाहिए। उसे तो भव से दूर होने के लिये चरित्र-वृक्ष की छाँव चाहिए है। 'स भव विभव हान्यै नोस्तु चारित्रवृक्ष' भव भव की पीड़ा समाप्त जो जाये, इसीलिए चरित्ररूपी वृक्ष का सहारा लिया जाता है।

कुछ लोग वैराग्य के आदर्श के रूप में आदिनाथ भगवान् के पुत्र भरत चक्रवर्ती का नाम लेते हैं। मुझे तो लगता है कि वैराग्य के आदर्श पात्र यदि कोई हैं तो रामचंद्र जी के छोटे भ्राता भरत हैं। जिन्होंने मर्यादा पुरुषोत्तम राम की शान को, राजा दशरथ के वंश को ओर अपनी माता की कोख को भी शोभा प्रदान की है। जिन्हें सिंहासन की भूख नहीं थी। वैराग्य की भूख थी। उन्हें भवन नहीं चाहिए, वन चाहिए था। उनके आग्रह को सुनकर राम ने कहा- भइया! मुझे पिताजी की आज्ञा है वन जाने के लिये और तुम्हें पिताजी की आज्ञा से सिंहासन पर बैठना है। तुम राज्य मुझे देना चाहते हो तो ठीक है। मैं तुम्हारा बड़ा भ्राता वह राज्य तुम्हें सौंपना चाहता हूँ।

एक तरफ पिताजी की आज्ञा और ज्येष्ठ भ्राता जो पिता तुल्य हैं उनकी आज्ञा और दूसरी तरफ भीतर मन में उठती वैराग्य की भावना। मुनि बनने की प्यास। परीक्षा की घड़ी है और अंत में भरत जी ने कहा कि भइया! जैसी आपकी आज्ञा। मैं सब मंजूर करता हूँ। मैं यहाँ पर रहूँगा आपका कार्य करूँगा। ''आपका जैसा निर्देशन मिलेगा वैसा ही करूँगा। लेकिन आपके चरण चिह्न इस सिंहासन पर रखना चाहता हूँ।''

कैसी अद्‌भुत घटना है यह, इतनी त्याग-तपस्या घर में रहकर भी। यह है राजनीति, कि राजा बनना पड़ता था, बनाया जाता था। राजा बनने की इच्छा नहीं रखते थे क्योंकि क्षत्रिय कभी पैसे के भूखे नहीं रहते। अब तो वैश्य वृत्ति आ गयी। पैसे और पद का राग बढ़ गया है। सिंहासन के ऊपर ज्येष्ठ भ्राता के चरण चिह्न रखकर, उनको तिलक लगाकर, उनकी चरण-रज माथे पर लगाकर प्रजा के संरक्षण के लिये एक लघु भ्राता और पिता की आज्ञा से वन जाने वाले एक ज्येष्ठ भ्राता की बात अब मात्र पुराण में रह गयी है। रामायण में रह गयी है।

इस दीक्षा कल्याणक के आयोजन में कि जिसमें मुकुट उतारे जा रहे हैं, सिंहासन त्यागा जा रहा है। वैराग्य की बाढ़ आ रही है, सब कुछ देखकर भी आपकी सत्ता की भूख, शासन की भूख बढ़ती जाये तो क्या कहा जाये। बंधुओ! उन राम को याद करो। लघु भ्राता भरत को याद करो।

अपने ज्येष्ठ भ्राता के पीछे-पीछे चलने वाले लक्ष्मण और महलों में रहने वाली रानी सीता के त्याग को याद करो। सारे प्रजाजनों की आँखों में आँसू हैं लेकिन राजा राम अपने कर्त्तव्य में अडिग हैं।

कैसी विनय और वैराग्य का आचरण है। यह वैराग्य की कथा आज के श्रमणों को भी आदर्श है, गृहस्थों के लिये तो आदर्श है ही। श्रमण की शोभा राग से नहीं, वीतराग निष्कलंक पथ से है। दिगंबरी दीक्षा ही निष्कलंक पथ है। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने कहा है मेदनी पति भी यहाँ के भक्त और विरक्त थे। होते प्रजा के अर्थ ही रोज कार्यासक्त थे प्रजा के लिये राजा होते थे, मात्र सिंहासन पर बैठने के लिये या अहंकार प्रदर्शित करने के लिये नहीं। उनकी प्रभु भक्ति और संसार से विरक्ति हमेशा बनी रहती थी। आज भी ऐसे ही नीति-न्यायवान्, भक्त और विरक्त भरत और राम के आये बिना शांति आने वाली नहीं है।

अंत में यही कहना चाहता हूँ कि धन्य हैं वे वृषभनाथ भगवान् जिन्होंने राष्ट्र पद्धति को अपनाते हुए प्रजा को अनुशासित किया और बाद में स्वयं आत्मानुशासित होकर दीक्षा लेकर वन की ओर विहार कर गये। भरत चक्रवर्ती आदि भी उनकी आज्ञा के अनुसार प्रजा का पालन करते हुए मुक्त हुए। हमें क्षात्र-धर्म की रक्षा के लिये और दिगम्बरत्व की सुरक्षा के लिये वीतरागता को ध्यान में रखना चाहिए। जंगल में भले ही न रह पायें, लेकिन जंगल को याद रखना चाहिए। वीतरागता के बिना न शिरपुर मिलेगा और न ही शिवपुर ही मिलेगा। वीतरागता की उपासना ही हमारा परम कर्त्तव्य है। वही मुक्ति का एकमात्र उपाय है।

❑ ❑ ❑

धर्म-देशना

रथ आगे बढ़ता जा रहा है। अश्व गतिमान है। गन्तव्य तक पहुँचना है। मंगल का अवसर है। जीवन में वह अवसर, वह घड़ी एक ही बार आती है। उस घड़ी की प्रतीक्षा में लाखों जनता लगी हुई है। यात्री रथ में है, और अबाधित पथ को लांघता हुआ चला जा रहा है। अपने मनोरथ की पूर्ति हेतु संकल्प उसके पास है। लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये वह आतुर है। लेकिन संयत होकर अपने कदम बढ़ा रहा है और कुछ ही दूरी रह गयी है पर लग रहा है कि संकल्प पूरा नहीं हो पायेगा। संकल्प परिवर्तन के योग्य भी नहीं है क्योंकि संकल्प तो जीवन की उन्नति के लिये जीवन के उत्थान के लिये किया जाता है।

संकल्प मात्र जीवन निर्वाह के लिये नहीं होता, वह तो जीवन के निर्माण के लिये होता है। लेकिन मुक्ति के स्थान पर बंधन नजर आने लगे। जीवन परतंत्रता में फँसता चला जाये तो वह संकल्प ठीक नहीं माना जायेगा। आनंद के स्थान पर चीत्कार सुनाई पड़े तो ठीक नहीं। यही बात

हुई और उस पथिक ने कहा रोकिये, रथ को रोकिये। रथ रुक जाता है। वह यात्री नीचे उतर जाता है और कहता है कि ठहरिए आप लोग यहीं पर। मैं अकेला जा रहा हूँ और वह अकेला ही आगे बढ़ जाता है।

कोई उसके पीछे जाने का साहस नहीं कर सका। अब क्या संकल्प उसके मन में आया है, यह तो वही आत्मा जानता है या तीन लोक के नाथ जानते हैं। इतना अवश्य सभी के समझ में आ रहा है कि रास्ता बदल गया है। यह वार्ता हवाओं में फैलती चली गयी। सभी चकित हैं कि यह कैसे हुआ। हमने बहुत सोच समझकर मुहूर्त निकाला था लेकिन यह अकस्मात् परिवर्तन कैसे हो गया। सब किंकर्त्तव्यविमूढ़ हैं। आप समझ गये होंगे। विवाह का मंगल अवसर था और पशुओं का क्रन्दन सुनकर उन्हें बंधन में पड़ा देखकर नेमिनाथ कुमार ने पथ परिवर्तित कर लिया।

अब जीवन का लक्ष्य बंधन मुक्त होना है। जीवन आज तक बंधनमय रहा, अब बंधन का सहारा नहीं चाहिए। अब आजादी के स्वर कानों में प्रविष्ट हो रहे हैं। मूक पशुओं की आजादी के साथ अपनी कर्म-बंधन से आजादी की बात आ गयी है। निमित्त मिल गया। निमित्त हमें भी मिलता है लेकिन हमारा पथ परिवर्तित नहीं होता और सारी बात सुनकर वहाँ एक दूसरी आत्मा भी उसका अनुकरण करती चली जाती है। वह रास्ता चला गया है गिरनार की ओर। गिरनार पर्वत का नाम पहले ऊर्जयन्त था, बाद में गिरनार पड़ा। राजुल ने जहाँ गिर-गिरकर भी अपने संकल्प को नहीं छोड़ा। केवल स्वार्थ सिद्धि के लिये पथ बदलने वाली वह आत्मा नहीं थी।

जो अहिंसा का उपासक है यह उसी पथ पर बढ़ता है जिस पथ में अहिंसा का पोषण होता है। गिरनार के झाड़-झंखाड़ में भी उसे मार्ग प्रशस्त अनुभव हुआ। अहिंसा के पथ का पथिक अपने पथ का निर्माण स्वयं करता चला जाता है। पथ का निर्माण तो चलने से ही होता है। महाव्रती ही अहिंसा के पथ पर चल सकता है। महाव्रती इसीलिए कहा जाता है कि वह अकेला ही महान् पथ पर चल पड़ता है फिर उसके पीछे बहुतों की संख्या चली आती है।

''अयंनिजः परोवेत्ति गणना लघु-चेतसाम् उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्''

यह मेरा है, वह तेरा है, ऐसी मनोवृत्ति संकीर्णता का प्रतीक है। उदार आचरण वाले उदारमना तो सारी वसुंधरा को ही अपना कुटुम्ब मानते हैं, अपना परिवार मानते हैं। ऐसे ही उदार चरित्र वाले मुक्ति के भाजन बनते हैं। जिस पथ के माध्यम से मेरा उद्धार हो और दूसरे का पथ भी प्रदर्शित हो, ऐसे पथ पर वे चलते हैं। भले ही उस पथ पर कंटक बिछे हों। वह पथ मेरे लिये नहीं है जिसके द्वारा हिंसा का पोषण होता हो, जिसके द्वारा जीवों को धक्का लगता हो, जिसके द्वारा जीवन पतित बनता हो, जिसके द्वारा एक दूसरे के बीच दीवार खड़ी हो जाती हो, स्वार्थ परायणता आती हो, वह पथ अहिंसा का पथ नहीं है।

यही कारण था कि तोरणद्वार के पास पहुँचकर भी पथ बदल गया। कानों में वह दयनीय जीवों की आर्त ध्वनि पड़ गयी। लाखों जनता ने भी सुनी लेकिन इस पथिक का पथ बदल गया। मूक प्राणियों की वेदना भरी आवाज वास्तव में यदि किसी ने सुनी तो वे नेमिकुमार थे और उसका अनुकरण करने वाली राजुल थीं। उन्होंने अपना ही नहीं दुनियाँ का पथ प्रदर्शित किया। धन्य हैं अहिंसा के पथ के पथिक, बारात को खुश करने के लिये वन्य जीवों की हिंसा मेरे लिये ठीक नहीं है। आज पर्यावरण प्रदूषण की बात चलती है। बंधुओं! पर्यावरण के प्रदूषण में न वन्य प्राणियों का, न वनस्पति जगत् का, न ही अन्य किसी देवता का हाथ है, यह प्रदूषण मात्र मानव के मनोदूषण से उत्पन्न हो रहा है। अहिंसा के समर्थक जीवों के ऊपर दया करके अपनी सुख सुविधा को छोड़कर सबके कल्याण के मार्ग पर चलने वाले वे उदार-चरित्र नेमिनाथ जैसे महान् पुरुष ही वास्तव में पर्यावरण को सुरक्षित रखने में सहयोगी हैं।

यदि दया है तो जीवन धर्ममय है। दयामय धर्म अहिंसा-धर्म एक वृक्ष की तरह है। शेष सभी सत्य, अचौर्य, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य उसी के संवर्धन-संरक्षण और पोषण के लिये हैं।

जैन समाज में परिग्रह की बात आती है कि परिग्रह बहुत है। बंधुओ, मात्र धन संपदा का संग्रह करना परिग्रह नहीं है। परिग्रह का अर्थ तो मूर्छा है। मूर्छा का अर्थ है गाफिलता, वस्तुओं के प्रति अत्यन्त आसक्ति। दयाधर्म के विकास के लिये शान्ति और आनंद के विस्तार के लिये जो अपने वित्त (धन सम्पदा) का समय-समय पर बूंद-बूंद कर संग्रह किया है यदि उसे वितरण कर देता है तो वह परिग्रह एवं पाप का संग्रहकर्ता नहीं माना जाता है। जैन समाज का इतिहास है, आज तक उसने राजा-महाराजाओं के लिये देश पर विपत्ति आने पर अपने भंडार खोल दिये हैं। संग्रहित धन का वितरण करके सदुपयोग किया है। अपनी इसी संस्कृति का अनुकरण करते हुए आज भी अपरिग्रह वृत्ति को अपने जीवन में लाने का प्रयास करना चाहिए।

वीतरागता, उज्ज्वल परिणाम और परोपकार की भावना ही जैन धर्म की शान है।

धम्मो मंगल मुद्दिट्ठं अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तस्स पणमंति जस धम्मे सया मणो।

वीरभक्ति - ७

अहिंसा, तप और संयम ही मंगलमय धर्म है। जिसका मन सदा उस धर्माचरण में लगा है उसे देव लोग भी नमस्कार करते हैं। यह जैन धर्म विश्व-धर्म है। आदिनाथ भगवान् के समय जो धर्म था वही तो जैन धर्म है और आदिनाथ भगवान् ही आदिब्रह्मा हैं। जिनका उल्लेख वेदों में आता है और उनके पुत्र भरत के नाम से ही यह देश भारत देश माना जाता है। हमें भी उन्हीं का अनुकरण

करते हुए जीवन में अहिंसा को धारण करना चाहिए।

जैनियों ने कभी 'परस्परोपग्रहो जैनानाम्' नहीं कहा। जैनधर्म में तो 'परस्परोग्रहो जीवानाम्' की बात आती है। साम्प्रदायिकता के नाम पर अपने-अपने घर भरना, अपना स्वार्थ सिद्ध करना और अहं को पुष्ट करना ठीक नहीं है। आज अहं वृत्ति नहीं सेवा-वृत्ति को फैलाना चाहिए। जीवन भले ही चार दिन का क्यों न हो लेकिन अहिंसामय हो तो मूल्यवान है जो धर्म के साथ क्षणभर भी जीता है वह धन्य है।

भगवान् ऋषभदेव ने तपस्या के उपरान्त कैवल्य प्राप्त होने पर हमें यही उपदेश दिया कि प्रत्येक आत्मा अपना आत्मकल्याण करने के लिये स्वतंत्र है। हमें सभी जीवों के आत्म कल्याण में करुणावान होकर, दया धर्म से ओतप्रोत होकर परस्पर उपकार की भावना रखकर, यथा संभव मदद करनी चाहिए।

❑ ❑ ❑

निष्ठा से प्रतिष्ठा

आज यह पंचकल्याणक एवं गजरथ महोत्सव का समापन सागर की इस विशाल जन-राशि के सामने सानंद सम्पन्न हुआ। यह निश्चित है कि कोई भी कार्य होता है उसकी भूमिका महीनों/वर्षों पहले से चलती है और वह कार्य सम्पन्न हो जाता है कुछ ही दिनों में। आज तक इस सागर की एक यही लगन रही कि पंचकल्याणक महोत्सव सानंद सम्पन्न करना है और आज यह कार्य संपन्न हुआ तो सब ओर हर्ष छाया है, सारी थकान भुला दी गयी है।

बंधुओ! हमारे सामने हमेशा कर्त्तव्य रहना चाहिए। कर्तापन नहीं आना चाहिए। कोई भी कार्य होता है तो वह उपादान की योग्यता के अनुरूप होता है, लेकिन उसके लिये योग्य सामग्री जुटाना भी आवश्यक होता है। सभी के परस्पर सहयोग से ऐसे महान् कार्य सम्पन्न होते हैं। भावों में आस्था होनी चाहिए। धर्म के प्रति आस्था जब धीरे-धीरे निष्ठा की ओर बढ़ती है, प्रगाढ़ होती है, तभी प्रतिष्ठा हो पाती है और जब प्रतिष्ठा की ओर दृष्टिपात नहीं करते हुए आगे बढ़ते हैं तो संस्था बन जाती है, तभी सारी व्यवस्था ठीक हो पाती है। और हमारी आस्था सुधर पाती है। यह जिन बिंब प्रतिष्ठा आस्था के साथ हमारी अवस्था को सुधारने में सहायक है।

इस समारोह के सानंद सम्पन्न होने में पुद्‌गल द्रव्य भी काम कर रहा है। अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार सभी सहयोगी बने हैं। चैतन्य परिणाम तो उपादान के रूप में माना ही गया है जो सामूहिक रूप से इस कार्य को सम्पन्न करने में साक्षात् कारण है। ऐसे भव्य आयोजन इसीलिए एकता के प्रतीक बन जाते हैं। यह एक दूसरे के सहयोग की भावना का परिणाम है कि विस्मय में

डालने वाला इतना बृहत् कार्य सम्पन्न हो गया। मानव एक मात्र ऐसा प्राणी है जो सब कुछ कर सकता है। लेकिन इतना ही है कि उसका दिल और दिमाग ठीक काम करता रहे। उसमें लगन और एकता बनी रहे। तब देवता भी उसके चरणों में नतमस्तक हो जाते हैं और सहयोगी बनते हैं।

प्रकृति का सहयोग दो प्रकार का है। एक बाहरी प्रकृति जो दिखायी पड़ती है और एक भीतरी प्रकृति जो हमारा स्वभाव है, वह दिखाई नहीं पड़ती। यदि उस भीतरी स्वभाव में, प्रकृति में विकार उत्पन्न हो जाये तो बाहरी प्रकृति अनुकूल होने पर भी संकट आ जाता है। यदि उज्ज्वल भाव हो, भीतरी प्रकृति शान्त हो तो बाहरी प्रकृति रुष्ट नहीं होती वरन् संतुष्ट हो जाती है। कल सुना था कि व्यवस्था में लगे हुए डी.आई.जी., कलेक्टर और सभी प्रशासनिक अधिकारी वगैरह का कहना है कि रथ की फेरी के समय धूल न उड़े इसलिए पानी के सिंचन की व्यवस्था होनी चाहिए, वह हम करेंगे, तो प्रकृति ने स्वयं ही मेघों के माध्यम से रात्रि में मानो सिंचन ही कर दिया। आशय यही है कि प्रत्येक समस्या का समाधान संतोष, शान्ति, संयम और परिणामों की उज्ज्वलता से संभव है।

आज महान् तीर्थंकर, केवली, श्रुतकेवली या ऋद्धिधारी मुनि महाराज आदि तो नहीं है जिनके पुण्य से सारे कार्य सानंद सम्पन्न हो सकें पर सामूहिक पुण्य के माध्यम से आज भी धर्म के ऐसे महान् आयोजन सानंद सम्पन्न हो रहे हैं। यही धर्म का महात्म्य है। यही संयम की महिमा है। संयमी के साथ असंयमी भी संयमित होकर चले, वह बहुत कठिन होता है लेकिन आप सभी ने इस कठिनाई को भी बड़ी लगन से संयमित होकर पार कर लिया। यदि इस प्रकार आगे भी करते जायेंगे तो संयमी बनने में देर नहीं लगेगी। संयम से हमारा यहाँ तात्पर्य संयम की ओर रुचि होने से है जिसका उद्देश्य परम्परा से निर्वाण प्राप्त करना है।

जो जीवन शेष है वह आप धार्मिक आयोजनों में व्यतीत करें और परस्पर उपकार और सहयोग के महत्त्व को समझें। जो जीव शान्ति और सुख चाहते हैं अपना उत्थान चाहते हैं उनके लिये यथोचित सामयिक सहयोग यदि आप करेंगे, उन्हें अपने समान मानकर, अपना मित्र समझकर उनका हित चाहेंगे तो परस्पर एक दूसरे का कल्याण होगा।

सिगड़ी के ऊपर एक बर्तन रखा है उसमें दूध तपाने के लिये रखा गया है। नीचे आग जल रही है। दूध तप रहा है। तपता-तपता वह दूध मालिक की असावधानी के कारण ऊपर आने लगा। लगता है मानो वह कर्त्तव्यनिष्ठ व्यक्ति के पास रहना चाहता है और चूँकि उसका मालिक कर्त्तव्यनिष्ठ नहीं है, इसलिए उसे छोड़ना चाह रहा है या कहो कि जो उसे सता रहा है, पीड़ा दे रहा है, उस अग्नि को देखने के लिये बाहर आ रहा है और इतने में ही थोड़ी सी जल की धारा उसमें छोड़ दी गयी और वह दूध जो उबल रहा था, उफन रहा था, वह बिल्कुल शान्त हो गया।

यह सोचने की बात है कि थोड़ी सी जल की धारा दूध की शान्ति के लिये कारण बन गयी। इसका रहस्य यही है कि दूध का मित्र जल है। जल के कारण ही दूध, दूध माना जाता है। यदि दूध में जल तत्त्व खो जाये तो उसे आप कहते हैं खोवा और खोवा की लोकप्रियता दूध के समान नहीं है। दूध को रस माना गया है। दूध बालक से लेकर वृद्ध सभी को प्रिय है और सभी के योग्य भी है। तो दूध में जो जल मिला है उसी से सभी उसको चाहते हैं। दूध की जल से यह मित्रता अनोखी है।

विजातीय होकर भी दूध और जल में गहरी मित्रता है। दूध की दूध से मित्रता भले ही न हो लेकिन जल से तो हमेशा रहती है। गाय का दूध यदि अकौआ के दूध से मिल जाये तो फट जाता है। विकृत हो जाता है। दोनों की मैत्री कायम नहीं रह पाती। दूध का उपकारी इस प्रकार एक मात्र जल ही है। हमें सोचना चाहिए कि जब दूध और जल में मैत्री हो सकती है तो हम मनुष्यों में परस्पर मैत्री भाव, सहयोगी भाव नहीं रह सकता? रहना चाहिए।

वर्तमान में विभिन्न प्रकार के यान तीव्रगति से अंतरिक्ष में प्रक्षेपित किये जाते हैं और वे पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण कक्षा से बाहर निकलकर अंतरिक्ष में प्रवेश कर लेते हैं। यह क्षमता पुद्गल के पास है। इसे हम विज्ञान की प्रगति और उन्नति मानते हैं तो क्या हम ऐसे धार्मिक आयोजनों के माध्यम से अपने जीवन को संवेगवान व संयमित करके अपने भावों को उज्ज्वल बनाकर के मोह की कक्षा से अपने आप को ऊपर नहीं उठा सकते। जो महान् आत्मायें अपने भावों की उज्ज्वलता और तपस्या के प्रभाव से अनंतकाल के लिये मोह की कक्षा से ऊपर उठ गयी हैं, उनका स्मरण अवश्य करना चाहिए और उन्हें अपना आदर्श मानकर अपने जीवन का कल्याण करना चाहिए।

अंत में यही भावना करता हूँ कि–

यही प्रार्थना वीर से अनुनय से कर जोड़।
हरी भरी दिखती रहे धरती चारों ओर॥

❑ ❑ ❑

सत्य की छाँव में..

यदि कोई सिद्धान्त का गलत अर्थ निकालता है, तो उस समय बिना पूछे ही उसका निराकरण करना चाहिए। यदि उस समय वह समन्तभद्राचार्य जैसी गर्जना नहीं करता है तो उसका सम्यग्ज्ञान मिथ्याज्ञान में परिणत हो जाएगा।

जिस प्रकार माहौल के वातावरण से प्रभावित होकर के गिरगिट अपना रंग बदलता रहता है, उसी प्रकार आजकल के वक्ता भी स्वार्थ सिद्धि की वजह से आगम के अर्थ को बदलते रहते हैं।

लोभ के वशीभूत हुआ प्राणी सत्य धर्म को सही-सही उद्‌घाटित नहीं कर सकता, सत्य का अर्थ है अहिंसा, असत्य का अर्थ है हिंसा, सत्य का पक्ष कभी फालतू नहीं जाता।

......लौकिक क्षेत्र में यह प्रसिद्ध है, कि जिस रोग के आवागमन से शरीर का एक पक्ष विकल हो जाता है; शरीर का एक भाग काम नहीं करता, उसे वैद्य लोग पक्षाघात कहते हैं। मैं समझता हूँ कि पक्षाघात स्वयं पक्षाघात से युक्त है, क्योंकि वह शरीर के मात्र आधे हिस्से को ही निष्क्रिय करता है, पूरे को नहीं। किन्तु! सही पक्षाघात में पक्षपात को मानता हूँ, पक्षपात के आने से उसकी चाल में, उसकी दृष्टि में, उसकी प्रत्येक क्रिया में अन्तर आ जाता है, जहाँ पक्षपात आ जाता है वहाँ भीतर की बात भीतर ही रह जाती है।

किसी व्यक्ति से पूछा जाए कि तुमने चोरी की है तो उसका मन पहले कहता है कि 'हूँ' फिर बाद में जब उसे बाध्य किया जाता है तो यह "परावाक्" पश्यन्ति के रूप में परिवर्तित हो जाती है। उस समय भी परावाक् बिल्कुल शुद्ध रहती है, पश्यन्ति भी बिल्कुल ठीक रहती है, किन्तु! मध्यमा के ऊपर ज्यों ही चढ़ना प्रारम्भ कर देता है त्यों ही उसके लिए एक आशा आ जाती है और जिह्वा बोलना भी चाहती है, लेकिन! उसका गला घुटकर-सा रह जाता है, वह कहती है कि-जैसा हुआ वैसा नहीं, जो मैं कह रहा हूँ वह बोलना है, क्यों तुमने चोरी की है तो वह कहता है कि हूँ.. हूँ .. नहीं, यह निकल गया, इसका अर्थ है 'है' हाँ फिर उसके उपरांत 'नहीं' करता है, आप कितनी भी पिटाई कीजिए, कड़ा से कड़ा दण्ड दीजिए वह सत्य को असत्य की ओट में छुपा देता है। यही विचार की बात है, आचार की बात है; कौन नहीं जानता कि, चोरी करना गलत है, लेकिन! वह चोर भी जानता हुआ डरता है, पीछे मुड़कर देखता है कि पुलिस आ रही है और मेरे लिए पकड़ेगी, इस प्रकार वह भयभीत होता हुआ, चोरी को अच्छा नहीं समझता, फिर भी लत पड़ गई है, इसलिए वह चोरी को छोड़ नहीं पा रहा है, विषयों की चपेट में आया हुआ प्राणी, विषयों को छोड़ नहीं पाता, यह अज्ञान है, अज्ञान का अर्थ यह नहीं कि वहाँ पर ज्ञान का अभाव है, ज्ञान तो है लेकिन पूरा नहीं है और सही नहीं है, इसलिए येन केन प्रकारेण विषयों की पूर्ति के लिए कदम उठाता है।

पक्षपात!
यह एक ऐसा
जल प्रपात है
जहाँ पर
सत्य की सजीव माटी
टिक नहीं सकती
.... बह जाती
पता नहीं कहाँ?
वह जाती
असत्य के अनगढ़
विशाल पाषाण खण्ड
अधगढ़े टेढ़े मेड़े
अपने धुन पर अड़े
शोभित होते

(डूबो मत लगाओ डुबकी)

पक्षपात एक ऐसा जल प्रपात है जो सत्य की माटी को टिकने नहीं देता। सिद्धक्षेत्र मुक्तागिरजी में हमने देखा था, तो वहाँ टेड़े/मेड़े विशाल पाखण्ड खण्ड ही मात्र मिले, माटी के दर्शन तो वहाँ पर हुए ही नहीं। असत्य जीवन के पास जाते ही घबराहट होने लगती है, कहीं ऐसा न हो कि सत्य, असत्य के रूप में परिणत हो जाए आज सुबह ही एक सूत्र में आया था-

'बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ च' (तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ५, सूत्र ३७)

परिणमन कराने की शक्ति असत्य के पास बहुत है। सत्य के पैरों को भी वह हिला देता है, क्योंकि सत्य आदि है, और असत्य अनन्तकाल से चला आ रहा है। सत्य की सुरक्षा आज अनिवार्य है और सत्य की सुरक्षा वहीं पर हो सकती है, जहाँ पर पक्षपात नहीं है। जहाँ शुद्ध आचार/विचार है, और यदि यह सब नहीं है तो वहाँ सत्य धीरे-धीरे फिसलता हुआ असत्य के रूप में बदलता जाता है। आज मुझे सत्य की बात कहना है असत्य की नहीं, असत्य से तो आप सभी लोग परिचित हैं।

सुदपरिचिदाणुभूदा, सव्वस्सवि कामभोगबंधकहा।
एयत्तस्सुवलम्भो, णवरि ण सुलहो विहत्तस्स॥
(समयसार/पीठाधिकार/गाथा ४)

आचार्य कुन्दकुन्ददेव समयसार में कहते हैं कि इस आत्मा ने भोग/काम/बन्ध की कथायें खूब सुनी हैं, यदि नहीं सुनी है तो, एकत्व की कथा नहीं सुनी। विषयों का इसे खूब अनुभव है। विषय भोग के बारे में कोई भी बालक नहीं है, सभी अनंतकाल के आसामी हैं और अनंत का कोई ओर-छोर नहीं होता, आत्मा का क्या इतिहास है? पहले ही हमने बताया था, कि आज मुझे सत्य की बात कहना है, सत्य क्या है? सत्य, अजर/अमर है। सत्य, अनादिकाल से चला आ रहा है। आज तक हमने सत्य का मूल्यांकन नहीं किया, आज तक हमने सत्य को संवेदन नहीं किया और मात्र असत्य का संवेदना, मनन/चिन्तन/किया है, स्वप्न में भी सत्य का संवेदन नहीं किया। जिसने सत्य का संवेदन किया उसे मार्ग मिला, मंजिल मिली और अनंतकाल के लिए वह अनंत/अव्याबाध सुख का भोक्ता बन गया। सत्य की महिमा कहने योग्य नहीं है, उसे हम शब्दों में बाँध नहीं सकते। वह लिखने की वस्तु नहीं लखने की वस्तु है, लिखनहारे तो बहुत हैं, लेकिन लखनहारा तो विरला ही पाओगे, वस्तुतत्त्व का निरीक्षण करने वाला हृदय आज कहाँ है? इसलिए आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने लेखनी उठाते ही कह दिया "**सुदपरिचिदाणुभूदा**" सभी कार्य संसारी प्राणी ने अनंतों बार किए हैं।

पूर्व वक्ता ने अभी-अभी कहा था कि जिनवाणी को अपने जीवन में उतारना है। "**धम्मं भोगणिमित्तं**" यह गाथा जब मैं आगे जाकर उसी, समयसार में देखता हूँ तो एक विचित्र सत्य के दर्शन होते हैं। एक मिथ्यादृष्टि जीव है, वह सच्चे देव/शास्त्र/गुरु पर श्रद्धा रखता है, लेकिन फिर भी उसके अन्दर कहाँ पर कमी रहती है? तो आचार्य कहते हैं कि भाव-भासन का अभाव है। भोगों की चपेट से वह अपने को ढूँढ़ नहीं पा रहा है। ज्ञान का समार्जन करने वाला व्यक्ति, यह सोचता है कि-मेरे भीतर भोग की लिप्सा कितनी मात्रा में घटी है। चाहे वह स्वाध्याय करने वाला हो या पूजन करने वाला, अन्दर ही अन्दर वे घड़ियाँ चलती रहती हैं, जिस प्रकार ब्लड-प्रेशर नापते समय काँटा यूँ-यूँ करता है उसी प्रकार मन की प्रणाली बार-बार विषयों की ओर आती जाती है। सत्य क्या है? असत्य क्या है वह सोचता रहता है।

एक दोस्त था। उसके घर के लोग तन्त्र/मन्त्र को बहुत मान्यता देते थे। और वह मात्र देव/शास्त्र/गुरु को मानता था। एक दिन वह कहता है कि मुझे एक ताबीज लेना है। मैंने कहा कि कहाँ से लाओगे? सुनार के यहाँ से लायेंगे। मैंने कहा कि चलो हम भी देखते हैं कैसे ताबीज बनती है। तब वह सुनार के पास जाकर कहता है कि फलाने व्यक्ति ने इस प्रकार की ताबीज लाने के लिए

कहा था, जो कुछ भी पैसा लेना है ले लो, लेकिन! ताबीज अच्छी बनाना है, ताबीज बनाते समय ताँबे के ऊपर हथौड़े की सही चोट पड़ना चाहिए, झूठ नहीं पड़ना चाहिए। झूठ का मतलब मैं समझता रहा, देखता रहा, झूठ कौन-सी होती है जो कोई भी आभरण बनते हैं, उन पर हथौड़े की चोट करके यूँ यूँ करते हैं, उसको बोलते हैं झूठा प्रहार, उसका कोई मतलब नहीं होता, इसका अर्थ होता है, कि ताबीज झूठा प्रहार सहन नहीं कर सकता, बाँधने वाला झूठ बोले यह बात अलग है, लेकिन! ताबीज कहता है कि मेरा निर्माण बिना झूठ के हुआ है, हमने सोचा क्या मामला है? तो मामला यह है कि सुनार की सावधानी वहाँ पर होगी।

आज तो "धर्मयुग" है। हाँ बात तो बिल्कुल ठीक है भैय्या आज तो धर्मयुग पत्रिका निकल रही है, और "युगधर्म" भी निकलता है। कभी धर्म आगे बढ़ जाता है, तो कभी युग आगे बढ़ जाता है तो हम धर्म-युग की बात करें, आज युग इतने आगे बढ़ गया है, और धर्म इतने पीछे रह गया है कि क्या बताऊँ? इसलिए तो धर्म युग कहा गया, धर्म की बातें करने से धर्म नहीं आ सकता, धर्म तो तब आएगा जब युग धर्ममय बन जाए। पंक्तियाँ-प्रस्तुत हैं--

यह युग
अप्रत्याशित
आगे बढ़ चुका है बहुत दूर
और!
धर्म वह
बहुत ... दूर
पीछे रह चुका है
अन्यथा
पत्रिका का नाम
धर्म युग
क्यों पड़ा यह?

('चेतना के गहराव में' से)

सत्य का अर्थ है अहिंसा, और असत्य का अर्थ है हिंसा। हमारे उपास्य देवता सत्य और अहिंसा हैं, इन्हीं दो मन्त्रों को लेकर गाँधीजी ने ब्रिटिश गवर्नमेंट को प्रभावित किया था, इस शताब्दी में भी इस प्रकार के परिवर्तन हुए हैं, सत्य-अहिंसा कोई शाब्दिक व्याख्या नहीं है, यह एक प्रकार

से भीतर की बात है, आज सत्य के कदम कहाँ तक उठ रहे हैं, अपने जीवन में सत्य का मूल्यांकन कहाँ तक हो रहा है? छोटी-छोटी बातों को लेकर झूठ बोलते हैं, लेकिन! यह विश्वास के साथ सोचना चाहिए, जो काम झूठ के द्वारा हो रहा है, क्या वह सत्य के द्वारा नहीं होगा? उससे बढ़कर ही होगा लेकिन! असत्य के ऊपर हमारा विश्वास जमा हुआ है, असत्य की ही ओर हमारी दृष्टि है।

सत्य का पक्ष वह है जो कभी फालतू नहीं होता, असत्य का पक्ष हमेशा फालतू ही हुआ करता है, उसकी कीमत तब तक ही रहती है जब तक हम समझते नहीं हैं, हमें असत्य/हिंसा का पक्ष नहीं लेना है, सत्य/अहिंसा का पक्ष ही लेना है, लेकिन! सत्य का पक्ष लेने वाला व्यक्ति, क्रोध/लोभ/भीरुता/हास्य का आलम्बन नहीं लेगा। लोभ के वशीभूत हुआ प्राणी सत्य धर्म को सही-सही उद्‌घाटित नहीं कर सकता, सत्य की सुरक्षा के लिए क्रोध/लोभ/भीरुता/हास्य को छोड़ना होगा आचार्य शुभचन्द्र जी ने ज्ञानार्णव में एक बात कही है, जो मुझे बहुत अच्छी लगी, कि विद्वान् को अपनी गंभीरता नहीं छोड़ना चाहिए, यद्वा/तद्वा नहीं बोलना चाहिए अपनी सीमा में रहना चाहिए, यह बिल्कुल ठीक है, बार-बार पूछने के उपरान्त भी नहीं बोलना चाहिए, लेकिन! यदि धर्म का नाश हो रहा हो तो?

धर्मनाशे क्रियाध्वंसे सुसिद्धान्तार्थविप्लवे।
अपृष्टैरपि वक्तव्यं तत्स्वरूप-प्रकाशने॥

(ज्ञानार्णव सर्ग ९, श्लोक १५)

जब धर्म का नाश होने लगता है, धार्मिक क्रियाओं का विध्वंस होने लगता है और यदि कोई व्यक्ति सिद्धान्त का गलत अर्थ निकालता है तो, उस समय बिना पूछे ही उसका निराकरण करना चाहिए, उस समय वह समन्तभद्राचार्य जैसी गर्जना नहीं करता है तो उसका सम्यग्ज्ञान मिथ्याज्ञान के रूप में परिणत हो जाएगा, क्योंकि उस समय उसने सत्य को ढँक दिया, यह बात मुमुक्षु को हमेशा ध्यान में रखना चाहिए, आज महावीर भगवान् के सिद्धान्त के अनुसार चलने वाले विरले ही रह गए हैं, मात्र साहित्य के माध्यम से ही महावीर भगवान् का धर्म जीवित नहीं है, बल्कि! उस साहित्य के अनुरूप चर्या भी देखने मिल रही है, भले ही उसका पालन करने वाले अल्प संख्या में हैं।

साहित्य के अनुरूप आचरण करने वालों की कमी होने के कारण आज बौद्ध धर्म विश्व में रहते हुए भी किस रूप में है? हम जान नहीं सकते, वह मात्र पेटियों में बन्द हो गया है, बौद्ध धर्म के उपासक आज भारत में नहीं हैं, जबकि बौद्धधर्म भारत में ही स्थापित हुआ था, प्रचार-प्रसार हुआ था, किन्तु उनके उपासक यहाँ पर नहीं टिक सके, फिर बाद में वह धर्म तिब्बत, लंका आदि में चला गया, यहाँ पर भगवान् आदिनाथ से लेकर महावीर भगवान् तक जैनधर्म अबाधगति से चला आ रहा है, इसमें कारण क्या है?

एक विदेशी लेखक ने एक पुस्तक में लिखा है कि बौद्ध धर्म का उद्‌गम भारत में हुआ और भारत में ही उसका वर्चस्व कायम नहीं रह पाया, जैन धर्म का उद्‌गम भी भारत में हुआ और जीवित रह गया। बौद्धधर्म जीवित क्यों नहीं रह पाया? इसमें कारण यही है कि उसके उपासकों की संख्या घटती गई इसलिए बौद्ध धर्म यहाँ से उठ गया, उपासकों के अभाव में वह धर्म लुप्त हो गया और उपासकों के सद्‌भाव में जैन धर्म आज भी जीवित है और आगे भी रहेगा।

यह बात अलग है कि धीरे-धीरे शिथिलता आ रही है, चलने वाला शिथिल भले हो, लेकिन! धर्म जीवित रखने का श्रेय उपासकों को ही है, धर्मरूपी रथ के दो पहिए हैं, एक मुनि, दूसरा श्रावक, यह सत्य है कि यदि एक पहिया निकाल दिया जाए तो रथ नहीं चल सकता, इसी प्रकार श्रुतज्ञान को निकाल दिया जाए तो केवलज्ञान गूंगा हो जाएगा, केवलज्ञान और सर्वज्ञ को समाप्त कर दिया जाए तो श्रुतज्ञान नहीं रहेगा, इसलिए दोनों के सद्‌भाव में यह धर्म रहने वाला है।

अक्षर के पास ज्ञान भी नहीं है, पर अर्थ को व्यक्त करने की योग्यता उसके पास है, योग्यता का अधिकरण उसकी विवक्षा करने वाले वक्ता के ऊपर निर्धारित है, सो आज उन लोगों के पास वह भी नहीं है, आज साहित्य क्या है? वस्तुतः जो वाच्यभूत पदार्थ है, उसको हम शब्दों में व्यक्त करते हैं, शब्द वस्तुतः ज्ञान नहीं हैं, शब्द कोई वस्तु नहीं है, किन्तु! वस्तु के लिए मात्र संकेत है। भाषा (लेंग्वेज) यह नॉलेज नहीं है, किन्तु मात्र साइनबोर्ड है। नॉलेज का अर्थ जानने की शक्ति और लेंगवेज को जानने के लिए भी नॉलेज चाहिए, यदि वह विषयों में, कषायों में घुला हुआ है तो ध्यान रखना उसका कोई मूल्य नहीं है।

आज कई विदेशी आ जाते हैं, दिगम्बरत्व के दर्शन करते हैं, श्रावकों को देखते हैं तो ताज्जुब करते हैं कि इस प्रकार धर्म रह सकता है, गाँधीजी जब यहाँ से विदेश गए थे, वहाँ पर उनके स्वागत के लिए बहुत भीड़ एकत्रित थी, यह कैसी खोपड़ी है? यह कैसी विचारधारा है? जिसके माध्यम से हमारा साम्राज्य पलट गया, उस व्यक्ति को हम देखना चाहते हैं, जब वो निकल गए तो लोग इधर-उधर देखने लगे, कहाँ हैं गाँधीजी किसी ने कहा कि गाँधीजी यही हैं भैया! तो वे कहने लगे कि-अरे ये तो साधु जैसे हैं, तब गाँधीजी ने कहा कि ये तो साधु की पृष्ठभूमि है, साधु तो बहुत पहुँचे हुए लोग होते हैं, तब लोगों ने कहा कि जब आपका इतना प्रभाव है तो उनका कितना होगा? गाँधीजी बोले-वे अपना प्रभाव दिखाते नहीं हैं, क्योंकि वे दुनियाँ से ऊपर उठे हुए हैं।

आचार्य उमास्वामी ने सप्तम अध्याय में कहा है कि चोरी से, झूठ से काम लेना यह असत्य है, सत्य बोलना सत्य नहीं है। असत्य का विमोचन करना सत्य है, अभी पूर्व वक्ता ने आपके सामने कहा कि महाराज तो विमोचन करने में माहिर हो चुके हैं। (पं. पन्नालालजी साहित्याचार्य द्वारा

लिखित सज्ज्ञानचन्द्रिका का विमोचन करते समय) हाँ...परिग्रह का तो मैं विमोचन करता हूँ पर श्रुत का विमोचन नहीं करता, श्रुत का विमोचन तब तक नहीं होगा जब तक मुझे मुक्ति नहीं मिलेगी, श्रुत का विमोचन यह लौकिक पद्धति है, लेकिन! आज स्वाध्याय का मूल्यांकन घटता चला जा रहा है।

एक वक्ता ने अभी कहा कि आज बड़ी-बड़ी संस्थायें हैं, संस्थाओं से शास्त्र भी प्रकाशित हुए हैं, लेकिन! उनको कोई पढ़ने वाले नहीं हैं, यह कथंचित् ठीक है लेकिन! मैं भी यह बात उनसे कहता हूँ कि ग्रन्थ प्रकाशित करने वालों का क्या कर्त्तव्य है? जरा इस पर भी ध्यान दें। देखो! सुबह से लेकर मध्याह्न तक रसोई मन लगाकर बनाई जाती है। भीतर से यह मन कहता है कि मैं किसी भूखे-प्यासे की क्षुधा दूर करूँ, मेरी रसोई का मूल्यांकन पूर्ण रूप से हो और वह सार्थक हो जाए, जिस किसी व्यक्ति को आप श्रुत देकर अपने आपको कृत-कृत्य नहीं मानोगे, जिस प्रकार जिसको भूख है, उसी को आप खाना खिलायेंगे, जिसके लिए अध्ययन की रुचि है, उसे ही आप श्रुत दान दीजिए, यदि आप सही दाता हैं, श्रुत का सही-सही प्रचारप्रसार करना चाहते हैं तो।

बहुत सारे छात्र मेरे पास आ जाते हैं, बहुत सारे व्यक्ति मेरे पास आ जाते हैं और कहते हैं कि महाराज मुझे कुछ दिशा बोध दीजिए, जो व्यक्ति खरीद करके दिशा बोध देता है, उसका सामने वाला सही-सही मूल्यांकन नहीं करता। जिनवाणी की विनय ही हमारा परम धर्म है, यदि सम्यग्दर्शन के आठ अंग हैं, तो सम्यग्ज्ञान के भी आठ अंग हैं, लेकिन! सम्यग्ज्ञान के आठ अंगों से बहुत कम लोग परिचित हैं, जिनवाणी का दान जिस किसी व्यक्ति को नहीं दिया जाता, जिनवाणी सुनने का पात्र वही है जिसने मद्य/मांस/मधु और सप्तव्यसनों का त्याग कर दिया है। मद्य/मांस/मधु का सेवन आज समाज में बहुत हो रहा है। केवल स्वाध्याय करने मात्र से ही सम्यग्दर्शन नहीं होने वाला। बाह्याचरण का भी अन्तरंग परिणामों पर प्रभाव पड़ता है, विषय वासनाओं में लिप्त यह आपकी प्रवृत्ति अन्दर के सम्यग्दर्शन को भी धक्का लगा सकती है, दुश्चरित्र के माध्यम से सम्यग्दर्शन का टिकना भी मुश्किल हो जाएगा, आजकल प्रत्येक क्षेत्र में प्रवृत्तियाँ बदलती जा रही हैं, पहले जैन ग्रन्थों पर मूल्य नहीं डाले जाते थे।

क्योंकि जिनवाणी का कोई मूल्य नहीं है वह अमूल्य है, लेकिन! आज ग्रन्थों पर मूल्य डाले जा रहे हैं जो कि ठीक नहीं हैं, मोक्ष सुख दिलाने वाली इस जिनवाणी माँ को आप व्यवसाय का साधन मत बनाइये, सभा में बैठे हुए विद्वानों को यह कथन रुचिकर नहीं लग रहा होगा लेकिन! यह एक कटु सत्य है, सत्य चाहे कड़वा हो या मीठा, उसको उद्‌घाटित करना हमारा परम कर्त्तव्य है, एक बात ध्यान रखना दवा कड़वी ही हुआ करती है और कड़वी दवा के माध्यम से ही रोग का निष्कासन हुआ करता है।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय संहारिका मेरे पास आई थी, मैंने उसे देखा तो, उसमें एक स्थान पर आया जिनवाणी सुनने का वही पात्र है-जिसने सप्त व्यसन और मद का त्याग कर दिया हो। आज दिनों दिन सदाचरण मिटते चले जा रहे हैं। मद्य/मांस/मधु से हमारा परहेज प्रायः समाप्त होता चला जा रहा है। केवल समयसार मात्र पढ़ने से हमें सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं होने वाला, आचार्य अमृतचन्द्रजी कहते हैं, वही व्यक्ति पात्र है जो सदाचार का पालन करता हो, इसके उपरान्त ही सम्यग्दर्शन सम्भव है। इसलिए उन्होंने पहले सुनने की पात्रता बताई। हमें इसी प्रकार सीखना है तो उत्तमपात्र के लिए बहुत खर्च करना पड़ता है, इसके उपरान्त आपका वित्त सार्थक होगा पहले सुनने की पात्रता बताई, इसके उपरान्त आपका वित्त सार्थक होगा पहले के लोग भी स्वाध्याय करते थे, मैंने पहले के कुछ ग्रन्थ देखे हैं, जिन पर कीमत के रूप में स्वाध्याय लिखा जाता था, उन ग्रन्थों के ऊपर कीमत नहीं लिखी जाती थी, मैंने कई बार इस बात को कहा है, मैं स्वाध्याय का निषेध नहीं करता स्वाध्याय आप खूब करिये! लेकिन विनय के साथ करिये, पहले स्वाध्याय करने की पात्रता/योग्यता अपने आप में लाइये, तभी आप सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान को प्राप्त कर सकेंगे, उसकी विनय के अभाव में वह सम्यग्ज्ञान तीनकाल में संभव नहीं है, श्रुत का दान आप उसे दीजिए जिसने उसका महत्त्व समझा हो, वह पवित्र जिनवाणी, उसी के लिए भेंट कीजिए जो उसका सदुपयोग कर सके, जिस किसी के लिए आप दे देते हैं वह उसकी विनय नहीं रखता कहीं भी ले जाकर रख देता है और यदि वह शास्त्र किसी बच्चे के हाथ में पड़ जाए तो वह उसे फाड़ देता है, ग्रन्थालयों में ग्रन्थ तो मिल जाते हैं, लेकिन खोलते ही ऊपर पद्मपुराण लिखा रहता है और बीच में हरिवंश पुराण के भी पृष्ठ मिल जाते हैं और अंत में उत्तरपुराण के भी दर्शन हो जाते हैं, किसी भी ग्रन्थालय में ग्रन्थ व्यवस्थित नहीं रखे मिलते, सारों की बात तो अलग ही है, समयसार में गोम्मटसार के दर्शन होते हैं और प्रवचनसार में धवला के दर्शन होते हैं, उन महान् सिद्धान्त ग्रन्थों के पन्ने भी, अस्त व्यस्त रहते हैं। स्वाध्याय शील व्यक्ति भी उन्हें पढ़कर यथायोग्य नहीं रखते, जल्दी-जल्दी जैसे भी पढ़ लिया और अलमारी के किसी कोने में पटक दिया, यह कोई स्वाध्याय करने का तरीका नहीं है, महिलायें भी स्वाध्याय करने में कई कदम आगे हैं, शास्त्र स्वाध्याय के साथ-साथ उनकी पूजा भी चलती रहती है और यदि कोई बीच में पुरुष आ गया तो, अभिषेक का अनुरोध भी कर लेती हैं, क्या मतलब है? पढ़ भी रहे हैं, पूजा भी कर रहे हैं, अभिषेक भी चल रहा है, यह तो हुई पढ़ी-लिखी महिलाओं की बात, पर जो पढ़ी-लिखी नहीं हैं, वे वृद्धा, किसी से भी कह देती हैं भैया सूत्रजी सुनाओ और बीच में शांतिधारा दिखा दो, हमारा अभिषेक देखने का नियम है, उसी समय किसी तीसरे व्यक्ति से कह देती भैया! सहस्रनाम सुना दो, चौथे व्यक्ति से कहती भैया पद्मपुराण सुना दो, यह तो हमारी स्थिति है। (श्रोता समुदाय में भारी हँसी) यह क्या है? यह कोई स्वाध्याय करने का तरीका हुआ? यह क्या

स्वाध्याय का मूल्यांकन हुआ? जिनवाणी की तो आज यह स्थिति हो रही है कि कहते हुए हृदय फटता है, आप यदि किसी सप्त व्यसनी को समयसार पकड़ा दोगे तो वह उसकी क्या विनय करेगा, उसके द्वारा जिनवाणी की अवहेलना ही होगी।

एक बात और मैं पुनः जोर देकर कहूँगा कि ग्रन्थ प्रकाशन समितियों को ग्रन्थों पर मूल्य नहीं रखना चाहिए, दानदाताओं से अभी यह धरती खाली नहीं हुई है, ध्यान रखना! श्रावक धनोपार्जन करता है तो कुछ ना कुछ दानादि कार्यों के लिए बचा कर अवश्य रखता है, दान दिया हुआ पैसा पुनः उपयोग में नहीं लाना चाहिए, उसको अच्छे कामों में लगाइये, सदुपयोग कीजिए।

मुझे अष्टसहस्त्री पढ़नी थी, प्रति उपलब्ध नहीं थी, मुझे बहुत चिंता थी, कहीं से भी खोजने पर एक प्रति आ गई जब उसको खोलकर देखा तो उसमें कहीं पर मूल्य नहीं पड़ा था, महाराज श्री (आचार्य गुरुवर ज्ञानसागरजी) बोले कि भैया! पहले पुस्तक के देने उपरान्त भी कोई नहीं लेता था। इसका अर्थ है कि पढ़ने की रुचि नहीं है, इसलिए प्रतियों का अकाल पड़ गया, पढ़ने की रुचि पहले जागृत कर दी जाए इसके उपरान्त ग्रन्थ भेंट किया जाए, भोजन आप उसको दीजिए जिसे भूख लगी है, प्रकाशन करके यद्वा-तद्वा बाँटने से उसका दुरुपयोग होता है, आज कल तो शादी/विवाह में समयसार बाँटे जाते हैं, क्या समयसार का मूल्य इतना निम्न-स्तर पर पहुँच गया, जब समयसार ग्रंथ श्रीमद् राजचंद्र को मिला तो वे इतने खुश हुए कि ग्रन्थ भेंट करने वाले को उन्होंने थाली भरकर हीरा-मोती भेंट स्वरूप दिए थे, इतने सारे, हाँ इतने सारे। वह अमूल्य है, उसकी कोई कीमत नहीं, ले जाओ जितना चाहो उतना ले जाओ और आज हम उस समयसार की कीमत चाँदी के चंद सिक्कों में आक रहे हैं।

जो लेखक हैं, उनके लिए क्या आवश्यक है? उनके लिए कोई कीमत मत दीजिए, महापुराण पढ़ रहा था, उस समय उन्होंने यह व्यवस्था की है। जैन ब्राह्मण भी होते हैं जो अध्ययन कराने में अपना जीवन व्यतीत करते हैं और उनकी आजीविका कैसे चलती है तो आप जो खा रहे हैं, पी रहे हैं, उसी के अनुसार आप कर दीजिए, यही उनके प्रति बहुमान है तो पंडितजी के लिए हम वेतन दें, यह अच्छा नहीं लगता । वे..तन (आत्मा) का काम करने वालों को आप वेतन जड़ देते हैं, भेंट अलग वस्तु है, उसका मूल्य आँकना अलग होता है, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र का कोई मूल्य नहीं है, जिनसे अनंत सुख मिलता है, उन रत्नों की कीमत क्या हम जड़ पदार्थों के माध्यम से आँक सकते हैं? नहीं, तीनकाल में भी यह संभव नहीं है।

इसी प्रकार गुरु महाराज की भी कोई कीमत नहीं होती, वे अनमोल वस्तु हैं और भगवान् की भी कोई कीमत नहीं होती, एक बार एक बात आई थी, रजिस्ट्री कराने की, जितनी आपके यहाँ मूर्तियाँ हैं उन सब मूर्तियों को गवर्मेन्ट को बताना होगा और उनका वेट (वजन) कितना है, यह भी

बताना होगा समस्या आ गई, जैनियों ने कह दिया हम सब कुछ बता सकते हैं, आपको खर्चा करने की आवश्यकता नहीं है, लेकिन! हम भगवान् को तौल नहीं सकते, ये भी कितने आदर की बात, किन्तु! जिनवाणी की बात है जैसा अभी (मूलचन्द्रजी लुहाड़िया, किशनगढ़) पूर्व वक्ता ने कहा, ज्ञान की पिटाई ऐसी हो रही है, मैं तो यह कह रहा हूँ जिनवाणी की पिटाई भी होती चली जा रही है। किसी ने कहा है-

जिनवाणी जिनदेव से रो-रो करत पुकार।
हमें छोड़ तुम शिव गए, कर कुपात्र आधार॥

आज वह जिनवाणी रो रही है, जिसे आप माता बोलते हैं, जिसे आप अपने सिर पर धारण करते हैं, किन्तु वही जिनवाणी कहती है कि मुझे कुपात्रों के रहने के स्थान पर क्यों छोड़े जा रहे हो, हे भगवन् आप कहाँ पर चले गए ? जिनकी पूजा होती है, उनकी सही-सही विनय होना चाहिए। आजकल इसमें बहुत कुछ शिथिलता आती जा रही है, मात्र स्वाध्याय करने से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होने वाला, सत्य वह है, जो अर्थ को भाव को सही-सही बताने वाला होता है, अभी किसी वक्ता ने कहा था कि जो व्यक्ति लिख रहा है, पढ़ रहा है, उसका, जहाँ कहीं से पढ़ना/लिखना प्रारम्भ हो गया। अभी वाचना चल रही थी धवला इत्यादि की तो धवला की आठवीं पुस्तक में यह बात लिखी है कि-

घरत्थेसु णत्थि चारित्तं

गृहस्थाश्रम में चारित्र नहीं है, इसलिए वह रत्नत्रय का दाता नहीं हो सकता, जिसके पास जो चीज नहीं है, वह देगा क्या? एक हेतु भी है कि जिसके पास सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र नहीं है, उसे रत्नत्रय दान करने का अधिकार नहीं है।

कम से कम उसे रत्नत्रय का उपदेश तो देना ही नहीं चाहिए। उपदेश देने का उसको अधिकार भी नहीं है, फिर क्या उपदेश छोड़ दें? नहीं...नहीं वहाँ पर भाव यह है कि चारित्र को लेकर जब हम आगे बढ़ेंगे तब यह बात हो सकती है, बार-बार वर्णी जी की चर्चा आती है। वर्णीजी कौन थे? वर्णीजी क्या गृहस्थ थे? नहीं वर्णी का अर्थ मुनि/यति/अनगार/तपस्वी/त्यागी होता है, वे गृहस्थ नहीं ग्यारहवीं प्रतिमा धारक क्षुल्लक जी थे, इसलिए उनका प्रभाव जन मानस के ऊपर पड़ा, आप लोगों का प्रभाव क्यों नहीं पड़ रहा? इसका अर्थ है जो व्यक्ति विषय कषायों का विमोचन नहीं करता उस व्यक्ति को सत्य का उद्‌घाटन करने का अधिकार नहीं है और वह कर भी नहीं सकता, किसी ने कहा था निर्भीक के साथ-साथ निरीह भी होना चाहिए, मोक्षमार्ग प्रकाशक में पं. टोडरमलजी ने लिखा है कि जिस वक्ता की आजीविका श्रोताओं पर निर्धारित है, वह वक्ता तीन काल में सत्य का उद्‌घाटन नहीं कर सकेगा।

वक्ता के भी कुछ विशेषण होते हैं, दानदाताओं के भी कुछ विशेषण होते हैं। मुनि महाराज की परीक्षा की जाती है, उसी प्रकार जिनवाणी की भी आज परीक्षा हो रही है।

जो कोई भी व्यक्ति आज स्वाध्याय/प्रवचन यद्वा तद्वा करते जा रहे हैं और उसके फलस्वरूप अर्थ का अनर्थ भी खूब हो रहा है, कई समस्यायें आज समाज के समक्ष चली आ रही हैं। भाषा का बोध हो, उस विषय संबंधी जानकारी हो, गुरुओं के सान्निध्य में अध्ययन अनुभव प्राप्त किया हो तो बात अलग है। ज्ञानार्णवकार ने एक स्थान पर लिखा है-

न हि भवति निर्विगोपक्रमनुपासितगुरुकुलस्य विज्ञानम्।
प्रकटितपश्चिमभागं पश्यन्नृत्यं मयूरस्य॥ ज्ञानार्णव सर्ग १५, श्लोक ३४

देख लीजिए आज गुरुकुल की पद्धति समाप्त हो गई, स्वाध्याय का भी कोई क्रम नहीं रहा, दो दिन ही पढ़ा नहीं और वह लेख लिखना प्रारम्भ कर देता है, यह सब गलत है। स्वाध्याय अपने आप नहीं हो सकता, मयूर का नृत्य बहुत अच्छा लगता है, लेकिन! वह शृंगार रस के साथ-साथ वीभत्स रस को भी प्रदर्शित कर देता है, यह नहीं होना चाहिए। वीरसेन स्वामी ने एक स्थान पर लिखा है कि सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के लिए उपदेश देना या श्रवण करना आवश्यक होता है। नरकों में भी सम्यग्दर्शन होता है और वहाँ भी देव आकर सम्यग्दृष्टि बनाते हैं। हाँ....बिल्कुल ठीक है। तीसरे नरक तक जाकर उपदेश देते हैं, फिर इसके उपरांत क्यों नहीं देते? इसके उपरान्त देव नहीं जाते तो नहीं सही लेकिन! सातों पृथ्वियों में सम्यग्दृष्टि जीव पहले से ही भरे हुए हैं, वे सब मिलकर जो मिथ्यादृष्टि नारकी हैं, उन्हें सम्यग्दृष्टि बना देते?

तत्थतणसम्माइट्ठि धम्मसवणादो पढमसम्मत्तस्स उप्पत्ति किण्ण होदि त्ति वुत्ते, ण होदि, तेसिं भवसंबंधेण पुव्वबैरसंबंधेण वा परोप्पर विरुद्धाणं अणुगेज्झणुग्गाहयभावाणमसं-भवादो।

वहाँ के सम्यग्दृष्टि नारकी मिथ्यादृष्टि नारकियों को सम्यग्दर्शन उपलब्ध क्यों नहीं करा सकते? इसमें क्या कारण है?

पूर्ववैरसम्बन्धात्

पूर्व वैर का संबंध होने से, सर्वप्रथम नारकी यही सोचेगा कि यह जो नवागन्तुक नारकी है, कहाँ से आया है? इस प्रकार सोचने के उपरान्त वह उससे लड़ना प्रारम्भ कर देगा, पूर्व वैर होने के कारण उसका उपदेश वहाँ पर कुछ काम नहीं करेगा, पूर्व वैर होने के कारण आपके वचनों से उसका क्रोध और भड़क उठेगा।

''परस्पर अनुगृह्य अनुग्राहक भावाभावात्''

आपस में नारकियों में अनुग्राह्य और अनुग्राहकभाव तीनकाल में नहीं बन सकता, क्योंकि

वहाँ अनुकम्पा/दया का अभाव है। दया कब आ सकती है? जब सत्य धर्म का अनुपालन हो, हम स्वयं संयम का अनुपालन करें तब कहीं दूसरे के ऊपर हमारा प्रभाव पड़ सकता है। यदि आपका पुत्र स्मोकिंग कर रहा है, और आप उसे रोकना चाहते हैं, तो सर्वप्रथम आपको यह देखना होगा कि मेरे पास तो यह दुर्गुण नहीं है, तब आप उसे कहेंगे तो वह मान जाएगा। सत्य का केवल व्याख्यान करने मात्र से समाज का कल्याण तीनकाल में संभव नहीं है, किन्तु! सत्य पर चलने से ही होगा ज्ञानार्णवकार आचार्य शुभचन्द्र जी कहते हैं-

''अपृष्टैरपिवक्तव्यं''

बिना पूछे कहना आवश्यक है, यदि सत्य का लोप हो रहा हो क्रियाओं में कमी आ रही हो तो बिना पूछे ही सत्य/तथ्य को रखना चाहिए। आज जो साहित्य, हमारी समाज के सामने आ रहा है, वह देखकर लगता है कि इनके माध्यम से यह समाज किस ओर जाएगी, जैनधर्म में भगवान् की मूर्ति का अभिषेक करना कोई आवश्यक नहीं है, 'इस प्रकार की पुस्तकें आज लिखी जा रही हैं और उनमें कई मूर्धन्य विद्वानों की सम्मतियाँ भी छपी हुई हैं।' आप आज की नई पीढ़ी को धर्म की ओर आकृष्ट भी करना चाहें तो कैसे करें? इस प्रकार का साहित्य उन्हें भ्रम में डाल देता है।

आज के स्वाध्याय का यही प्रतिफल है, सत्य को जानते हुए भी लोभ, भीरुता और विषयों के वशीभूत होकर स्वाध्यायप्रेमी उसे उद्घाटित नहीं कर पाते। जिनेन्द्र भगवान्, सच्चे देव/शास्त्र/गुरु यह व्यवहार से हैं, ये हमारे लिए कार्यकारी नहीं हैं। यह आज के विद्वानों के मुख से सुनने मिल रहा है, पूजन/अभिषेक/दान/उपवास/शीलाचार इत्यादि क्रियायें मात्र पुण्य बंध के लिए कारण हैं, उनसे निर्जरा नहीं होती, क्या यह सत्य है? यदि सत्य नहीं है, तो क्या असत्य है? यह असत्य है तो इसके माध्यम से जिनवाणी विकृत नहीं होगी। जो सत्य पथ पर चल रहे हैं वे उससे भ्रमित नहीं होंगे क्या? अवश्य होंगे, आज यह कोई नहीं कहता कि भक्ति करना कितना आवश्यक है।

मैं यह बात एक बार नहीं बार-बार कहूँगा कि स्वाध्याय को मात्र धनोपार्जन का साधन न बनायें और जो अच्छे विद्वान् हैं, उन्हें वेतन नहीं देना चाहिए, उनको पुरस्कृत करके, उनके माध्यम से, अपने ज्ञानादि को विकसित करना चाहिए।

हमने उन विद्वानों को एक हजार, दो हजार रुपया मासिक वेतन दे दिया, यह कोई उनका मूल्य नहीं है, हजारों व्यक्ति जिसका वाचन करते/सुनते हैं, स्वाध्याय करते हैं। मात्र इतने में ही उसका काम हो जाएगा? नहीं वह अनमोल निधि है। आज ऐसे भी ग्रन्थ देखने को मिलते हैं जिनमें लिखा रहता है **''सर्वाधिकार सुरक्षित''** अब आचार्य वीरसेन आचार्य गुणभद्र के धवला, जयधवला, महाधवला, आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार आदि और उमास्वामी महाराज का तत्त्वार्थसूत्र आदि

जितने भी ग्रन्थ हैं वे सब सर्वाधिकार सुरक्षित हैं, यह कर्तृत्व बुद्धि का महान् मोह है, यह स्वामित्व का व्यामोह है। जब एक वस्तु का अधिकार दूसरी वस्तु पर नहीं रहता है, तो हम उनकी कृतियों पर अधिकार कैसे कर सकते हैं। दूसरा व्यक्ति यदि प्रकाशित करना चाहें तो वह कर नहीं सकता, यह बात तो बिल्कुल गलत है ही उस ग्रन्थ का सम्पादन/संशोधन कोई दूसरा व्यक्ति न करे, यह तो फिर भी ठीक है, लेकिन! अधिकार वाली बात तो होना ही नहीं चाहिए, जब बड़े-बड़े आचार्यों ने उसके ऊपर अधिकार नहीं चलाया, तो आप **''सर्वाधिकार सुरक्षित''** लिखने वाले कौन होते हैं। कुन्दकुन्द देव ने अनेक बड़े-बड़े ग्रन्थ लिखे उनमें कहीं भी अपने नाम तक का उल्लेख नहीं किया।

दान का महत्त्व वर्तमान में कम होता जा रहा है, पहले किसी दाता ने दान दिया, तो उसका उपयोग दूसरी बार नहीं होता था, दूसरी बार के लिए कोई अन्य दाता दान देता था। और आजकल ट्रस्ट पर ट्रस्ट खुलते चले जा रहे हैं और दाताओं का पैसा न्याय और न्यायालयों में जा रहा है।

कुण्डलपुर में जब हमारा चातुर्मास चल रहा था, उस समय वर्णी ग्रन्थमाला के बारे में झगड़ा चल रहा था, मैंने कहा कि वर्णीजी तो क्षुल्लकजी थे, उनको इससे कोई मतलब नहीं था, लेकिन! उनके माध्यम से आज झगड़ा क्यों हो रहा है। तो जहाँ पर पैसा रहेगा वहाँ पर झगड़ा नियम से होगा तो स्वाध्याय कहाँ हुआ?

दक्षिण में बहुत अच्छी प्रथा है, किसी मंदिर में पैसा नहीं मिलेगा, इसका क्या मतलब है? मतलब यह है कि वे आवश्यक कार्य कर लेते हैं, इसके उपरान्त समाप्त, मंदिरों के पीछे कोई धन सम्पत्ति की बात नहीं होना चाहिए, निष्परिग्रही भगवान् बैठे हैं। उस मंदिर के पीछे इतना वेतन, इतना किराया, इसी में झगड़ा होने लगता है, एक-एक मंदिर के पीछे आज लाखों का किराया आता है, भैया! यह सब किसके माध्यम से होता है? मंदिर के माध्यम से, फिर ट्रस्टी/मंत्री/अध्यक्ष/कोषाध्यक्ष आदि बनते हैं, इसलिए आचार्यों को लिखना पड़ा कि जो धर्म का खाता है वह सीधा नरक जाता है। जो दान का दिया हुआ द्रव्य है, उसके प्रति तो निष्पृहवृत्ति होना चाहिए, दान में दिया हुआ धन अपने उपयोग में नहीं लेना चाहिए, किन्तु! आज बहुत सी इस प्रकार की बातें जैन समाज में भी आ चुकी हैं, यह महान् रूढ़िवाद है, यह कोई छोटी-मोटी रुढ़ि नहीं है, इसको पहले निकालना चाहिए।

आज संस्थाओं को लेकर जितने झगड़े हो रहे हैं, उतने इतिहास में कभी नहीं मिलते। आज विद्यालयों, संस्थाओं, ग्रन्थालयों सबमें झगड़ा चल रहा है और कुछ नहीं वहाँ केवल कुर्सी रहती है, डेकोरेशन रहता है और विद्यार्थियों की संख्या केवल ५-६ है, मास्टरों की संख्या कितनी है? यह सुनकर आपको हँसी आएगी। ५-६ विद्यार्थी और १० मास्टर, यूनिवर्सिटी में जैनधर्म के विषय रखे जा रहे हैं, वहाँ जैनधर्म पढ़ाया जाएगा, बहुत अच्छी बात है, लेकिन जैनधर्म पढ़ने वाले विद्यार्थी हैं या नहीं, यह पहले देखना अनिवार्य है।

मूल कार्य जो आवश्यक था, वह तो नहीं होता और संस्थायें खुलती चली जा रहीं हैं। सत्य का प्रदर्शन आचरण से होता है मात्र बातों से नहीं। सत्य को उद्घाटित करने वाला कौन होता है ? असत्य का उद्घाटन करने वाला कौन होता है? बस! एक उदाहरण देकर मैं समाप्त कर रहा हूँ।

एक विद्वान् का पुत्र, उच्च शिक्षा प्राप्त करने कहीं गया था, इसके पिता किसी मंदिर में प्रवचन/पूजन आदि करते थे, एक दिन आवश्यक कार्य के आने वे से बाहर चले गए और उनका जो लड़का था, उससे कह गए कि ४-५ दिन के लिए मैं बाहर जा रहा हूँ और जब तक मैं वापस न आऊँ तब तक तुम प्रवचन आदि करते रहना, कोई बुलाने आए तभी जाना, अपने आप नहीं जाना, गाँव में लोग कहने लगे पंडित जी चले गए कोई बात नहीं, उनका लड़का भी बहुत होशियार है अभी-अभी पढ़कर आया है, यह विचार कर कुछ लोग उसके पास गए और उससे कहने लगे, कोई बात नहीं, आपके पिताजी तो बाहर गए हैं और आपको आज नहीं तो कल यह कार्य करना ही है, आप ही प्रवचन करने चलिए, इस प्रकार लोगों की अनुनय/विनय देख वे प्रवचन करने चल दिए, शास्त्र में जहाँ से पढ़ना था, वहाँ से पढ़ना शुरू कर दिया, चार-पाँच पंक्तियाँ पढ़ने के उपरांत कहा कि देखो कण भर जो मांस खाता है वह सीधा नरक चला जाता है, सभा में हलचल मच गई। सब लोगों ने कहा-ये क्या पढ़ रहे हो? उसने पुनः दुहराया कण भर जो मांस खाता है, वह इतना कह ही नहीं पाता कि लोगों ने कहा कि गलत पढ़ रहे हो। उसने कहा गलत नहीं बिल्कुल सही पढ़ रहा हूँ, कण भर जो मांस खाता है वह सीधा नरक जाता है। तुम यहाँ से चले जाओ, तुम्हारा यहाँ कोई कार्य नहीं, तुम्हारे पिताजी को आने दो तभी दण्ड मिलेगा-समाज के प्रमुख व्यक्ति ने कहा और सबने उसे निकाल दिया।

पिताजी के आते ही सब लोग उनके ऊपर टूट पड़े, तुमने कैसे लड़के को तैयार किया, आपका लड़का था इसलिए हमने कुछ नहीं कहा, इतना पढ़कर आया फिर शास्त्र की छोटी सी बात नहीं समझा पाया, आपके संकोच से हमने कुछ नहीं कहा, नहीं तो सीधा जेल भेज देते, आज से आप ही शास्त्र बाँचिये, वे आगे का प्रसंग पढ़ते हैं कि कणभर जो मांस खाता है वह सीधा नरक जाता है। पं. जी क्या बात हो गई, आज आप चश्मा बदलकर आये हैं क्या? नहीं नहीं यह ठीक लिखा है लेकिन! इसका अर्थ क्या है? जो कण भर भी मांस खाता है वह नरक चला जाता है, किन्तु! जो मनभर खाता है वह स्वर्ग जाता है। आज इस प्रकार अर्थ का अनर्थ किया जा रहा है, इस प्रकार की व्याख्या सुनकर समन्तभद्र स्वामी की वह कारिका मेरे सामने तैरकर आ जाती है-

कालः कलिर्वा कलुषाशयो वा श्रोतुः प्रवक्तुर्वचनाशयो वा।
त्वच्छासनैकाधिपतित्वलक्ष्मी-प्रभुत्वशक्तेरपवादहेतुः॥

(युक्त्यनुशासन)

समन्तभद्र स्वामी ने बिल्कुल सही लिखा है कि हे भगवन्! आपका अद्वितीय धर्म है। इसकी शरण में आने वाला आज तक ऐसा कोई भी नहीं है, जिसका उद्धार न हुआ हो। लेकिन! बात ऐसी है अपवाद किसका हुआ है? अपवाद उस बात का है कि कलि काल का एक मात्र अपराध है जो महान् कलुष आशय वाला है। धर्म को भी जो अपने अनुरूप चलाना चाहता है। हंस की उपमा श्रोता को दी है। इस प्रकार की कलुषता होने के कारण ही वक्ता अर्थ बदलता है-

जिस वक्ता में
धन कंचन की आस
और पाद-पूजन की प्यास
जीवित है,
वह
जनता का जमघट देख
अवसरवादी बनता है
आगम के भाल पर
घूंघट लाता है
कथन का ढंग
बदल देता है
जैसे
झट से
अपना रंग
बदल लेता है
गिरगिट।

(तोता क्यों रोता ?)

जिस वक्ता में धन, कंचन, ऐश्वर्य, ख्याति, पूजा, लाभ की चाह लिप्सा रहती है वह आगम के यथार्थ अर्थ को परिवर्तित कर देता है। जिस प्रकार मौसम से प्रभावित होकर के गिरगिट अपना रंग बदलता रहता है। उसी प्रकार आजकल के वक्ता भी (असंयमी व्यक्ति) माहौल को देखकर आगम के अर्थ को बदलते रहते हैं। वह व्यक्ति तीनकाल में सत्य का उद्घाटन नहीं कर सकता है।

वह जल्दी-जल्दी आगम के अर्थ को पलट देता है। इस प्रकार की वृत्ति देखकर मन ही मन जिनवाणी रोती रहती है। मेरे ऊपर तुमने घूंघट लाया है, मैं घूंघट में जीने वाली नहीं हूँ। मैं तो जन-जन तक पहुँचकर अपना संदेश देने वाली हूँ, लेकिन! आजकल कुछ पंक्तियाँ तो अण्डर लाइन की जाती हैं, और कुछ पंक्तियाँ अण्डर ग्राउन्ड की जाती हैं, यह क्या सत्य है? यह क्या सत्य का प्रदर्शन है? नहीं, यह इसलिए हो रहा है कि आज परमार्थ के स्थान पर अर्थ ने अपनी सत्ता जमा ली है। लोगों में राजनीति, अर्थनीति आ गई है, धर्मनीति के लिए स्थान नहीं बचा, नौजवानो! उठो!! जागो!!! यदि अपना हित चाहते हो, अपनी संस्कृति को जीवित रखना चाहते हो, अपने बाप दादाओं के आदर्शों को सुरक्षित रखना चाहते हो तो अर्थ के लोभ में आकर कोई कार्य नहीं करना यहाँ पर लोभ का सकलीकरण है, यहाँ पर त्याग का अंगीकरण है, यहाँ पर केवल आत्मबल की चर्चा है, परमार्थ की चर्चा है, अर्थ की चर्चा यहाँ पर नहीं है, आप लोग कहते हैं अर्थ तो हाथ का मेल है यूँ-यूँ करने से वह निकल जाता है (हाथ मलते हुए) पुण्य की वह छाया है, पुण्य का उदय हुआ तो वह आ जाता है और पाप का उदय हुआ तो वह चला जाता है। आप धार्मिक अनुष्ठान कीजिए, लेकिन! पुण्य ही हमारे जीवन का लक्ष्य नहीं है, हमें पुण्य पाप से अतीत होकर उस सत्य को प्राप्त करना है, जिसे प्राप्त करने के लिए महापुरुष अहर्निश प्रयास करते रहते हैं। उस सत्य की झलक पाने के लिए वे अपनी आँखें बिल्कुल खोले रखते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द देव प्रवचनसार में कहते हैं-

आगमचक्खू होंति साहूणं

आगम ही साधु की आँख है, साधुओं की आँख न तो धन-दौलत है और न ही ख्याति/पूजा/लाभ मंजिल तक पहुँचाने वाली आगम की आँख ही है, उस आँख को बहुत अच्छे ढंग से सम्भालकर रखना चाहिए, उस दृष्टि में जब विकार या पक्षपात आ जाएगा तो जिनवाणी उस समय पिट जाएगी, जिनवाणी का मूल्यांकन समाप्त हो जाएगा, बंधुओ! यह वो रत्न है जिसको हम कहाँ रख सकते हैं, देखो! समन्तभद्र स्वामी ने जो कि महान् दार्शनिक थे, अध्यात्मवेत्ता थे, उन्होंने रत्नकण्डक श्रावकाचार के अंत में लिखा है-

येन स्वयं वीतकलङ्क-विद्या-दृष्टि-क्रिया-रत्नकरण्डभावं।
नीतस्तमायाति पतीच्छयेव, सर्वार्थसिद्धिस्त्रिषु विष्टपेषु॥१४९॥

यह कारिका कितनी अच्छी लगती है, रत्न कहाँ पर रखते हैं? ट्रेजरी में ही रखते हैं न, हाँ...हाँ...। तो उसमें बहुत से खाने होते हैं, उसके अन्दर एक ऐसी डिब्बी होती है, जिस डिब्बी को देखकर मुँह में पानी आ जाता है, उसके उपरांत उस डिब्बी के भीतर एक और डिबिया रहती है।

उसकी बनावट ही अलग प्रकार की रहती है और उसके भीतर मखमल बिछा हुआ रहता है। लाल या हरा, उस हीरे के विपरीत रंग वाला ही होता है, वह मखमल का कपड़ा और उस मखमल पर चमकता हुआ वह रत्न, हीरे का नग रहता है।

यह हुई रत्नों की बात, लेकिन! श्रावकाचार किसमें रखा गया है, रत्नकरण्डक में। एक बात और ध्यान देने योग्य है कि रत्नकरण्डक का कई भाषाओं में अनुवाद हुआ लेकिन! रत्नकरण्डक इस शब्द का अनुवाद नहीं हुआ, क्या मतलब? मतलब यह है कि हिन्दी में इसका अर्थ यह है ''रयण मञ्जूषा'' रयण का अर्थ है रत्न मन्दता यानि पेटी/सन्दूकची रत्न जैसे सन्दूकची में रखे रहते हैं उसी प्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र रूपी तीन रत्नों को उन्होंने 'रत्नकरण्डक'' में रखा है।

आचार्य कहते, हैं, ये बड़ी अनमोल निधि है, जो कि बड़ी दुर्लभता से प्राप्त हुई है। छहढालाकार ने छहढाला की चतुर्थ ढाल ५ में कहा है कि-

इह विधि गये न मिले सुमणि ज्यों उदधि-समानी।

जिस प्रकार समुद्र में मणि गिर गई तो पुन: मिलने वाली नहीं है, ऐसे ही मनुष्य जीवन की कीमत है, इने गिने लोग ही इस श्रावकाचार को अपनाते हैं, तीन कम नौ करोड़ ही मुनिराज हैं, जो मूलाचार के अनुसार चलने वाले हैं और श्रावकों की संख्या तो असंख्यात है, लेकिन! मनुष्यों में नहीं, अब सोचिये बहुत कम संख्या है, अनंतानंत जीवों में श्रावक बनने का सौभाग्य कुछ ही जीवों को होता है, जो कि आप लोगों को उपलब्ध है, ऐसे श्रावकाचार को अपनाओ, दृश्यमान पदार्थों की कोई कीमत नहीं है तो हमें दृश्यमान पदार्थों की कीमत नहीं करना, दृष्टा की कीमत करना है। आज हम दृश्य के ऊपर, ज्ञेय के ऊपर लेबिल लगाते जा रहे हैं, यह अध्यात्म नहीं है, यह सिद्धान्त नहीं है, यह सिद्धान्त का सही-सही उपयोग नहीं है। केवल हम ज्ञाता-दृष्टा उस आत्म-तत्त्व की चर्चा उसका मूल्यांकन करते हैं, इसका मूल्यांकन क्या करें? जो स्वाध्याय करके असंख्यातगुणी निर्जरा कर रहा है, स्व और पर के लिए, एकस्थान पर चर्चा आई है कि जो व्यक्ति आचरण करने वाला है वह सब कुछ कर रहा है, हमारे लिए धरोहर के रूप में, क्योंकि वह चलकर दिखा रहा है। इसका बड़ा महत्त्व है। मात्र श्रावक पंडित जी (पं० पन्नालाल साहित्याचार्य, सागर) सप्तम प्रतिमाधारी श्रावक हैं और आप लोग कहते हैं कि पं० इसी रूप में रहें और कोई नया ग्रन्थ लिखें । मैं तो कहता हूँ कि पंडित जी को इधर-उधर के काम छोड़ देना चाहिए, बिल्कुल पन्नालाल के आगे सागर लगना चाहिए 'पन्नालाल सागरजी'' और ग्रन्थ को लिखकर समय का सदुपयोग कर आत्म कल्याण कर लेना चाहिए, इसके द्वारा पंडित जी, समय ज्यादा मिलेगा और आपके लिए एक पंथ दो काज, दो ही नहीं दो सौ काज हो जाएंगे, क्या कमी है? और बहुत काम होंगे, बहुत से लोग आकर्षित होंगे। क्योंकि वर्णी जी की परम्परा को आप निभाना चाहते हैं।

वर्णी जी टोपी में नहीं थे, धोती/कमीज में नहीं थे, हमने कुण्डलपुर में आपको यही कहा था। आपने कहा था, सम्यग्दर्शन की चर्चा हमने लिख दी है, आगे लिखने का कोई विचार नहीं है। तो हमने कहा नहीं पण्डित जी आगे और लिखना, पर चारित्र के बारे में आप क्या लिखेंगे? हालांकि! पंडित जी का विकास अन्य विद्वानों की अपेक्षा चारित्र के क्षेत्र में बहुत हुआ है और आज समाज के लिए यह सौभाग्य की बात है, लेकिन! पंडित जी को मात्र सागर में ही रहने के कारण गड़बड़ हो जाता है, जहाँ पर रत्न, हीरा आदि निकलते हैं, वहीं पर उन्हें नहीं रखना चाहिए। उसको तो जौहरी बाजार में भेजना चाहिए और प्रत्येक व्यक्ति उसको देखे और सही-सही मूल्यांकन करे और सागर वालों को मान मिलेगा ऐसी बात नहीं, सागर ने कई रत्न दिए हैं, उनमें एक रत्न पंडित जी भी हैं। सागर वालों को कृतकृत्य मान लेना चाहिये कि पंडित जी इस बात को अपना रहे हैं। आपके लिए यह बात-बिल्कुल नहीं सोचना है कि आगे बढ़कर हम क्या करेंगे, आपका नियम से शरीर साथ देगा और वातावरण भी साथ देगा और समाज तो साथ है ही। ज्यों ही वर्णी जी सप्तम प्रतिमा की ओर बड़े त्यों ही समाज की दृष्टि उनकी ओर चली गई। तब उन्होंने सवारी का त्याग किया, तब तहलका मच गया, सवारी में अब वर्णी जी नहीं बैठेंगे तो क्या करेंगे? हम तो उन्हें पालकी में ले जाएंगे, ऐसे लोग कहने लगे, यह त्याग का परिणाम है, अंत में जब तक घट में प्राण रहे, तब तक वे सवारी में नहीं बैठे और क्षुल्लकजी बनकर उन्होंने जो कुछ किया वह सराहनीय है।

समन्तभद्रस्वामी ने यह ग्रन्थ बनाया है, और उसका अनुकरण करना हमारा परम कर्त्तव्य है। पूर्वाचार्यों के ऊपर यदि हमारा उपकार होता है, तो मात्र उसके अनुसार चलने से ही होता है, मात्र कागजी घोड़े दौड़ाने से नहीं। बात ऐसी है कि जब सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान है, तो ऐसी स्थिति में चारित्र की कोई बात ही नहीं उठती, वह तो अपने आप ही हो जाता है। सन्निपात का लक्षण उथल-पुथल ही रहता है। उसी प्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान हो और वह चारित्र की ओर न बढ़े, यह तीन काल में सम्भव ही नहीं, शक्ति बहुत आ जाती है सन्निपात के समय, उसी प्रकार भीतर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान होने से और देश का चारित्र अंगीकार करने के उपरांत, मुनि कब बनूँ, इस प्रकार मन में लगा रहता है, भीतर की बात कह रहा हूँ, अब आगे और हम बढ़े, लेकिन! हमारा मार्ग, अवरुद्ध हो चुका है, सप्तम गुणस्थान से ऊपर चढ़ नहीं सकते, ऐसी सीमा खींच दी, अब हम क्या करें? हम और आगे बढ़ना चाहते हैं, कहाँ गए महावीर स्वामी, कहाँ गए वे महाश्रमण, जिनके पास जाकर हम अपनी बात कहें। आप लोगों को मात्र ज्ञान से ही मतलब नहीं रखना चाहिए, हमारी कितनी रुचि हो गई है, हेय के प्रति और उपादेय के प्रति हमारी घृणा बढ़ती चली जा रही है और कितना उत्साह हमारे भीतर जाग्रत होना और आपेक्षित है, क्षेत्र के अनुसार सारी बातें ध्यान रखना चाहिए, इसलिए सत्य वह है, जैसा वह कहता है कि इसमें लिखा है, कण मात्र खाने वाला नरक जाता है और मन

भर खाने वाला स्वर्ग जाता है, इस प्रकार की वृत्ति, इस प्रकार का वक्तव्य, अपने को नहीं करना है।

चन्द दिनों के इस जीवन को चलाने के लिए इस प्रकार अर्थ, हमें नहीं निकालना है। सत्य का जयघोष कोई सुने या नहीं सुने, किन्तु सत्य का अनुकरण करते चले जाओ। सूर्य आगे-आगे बढ़ता चला जाता है और नीचे प्रकाश मिलता चला जाता है, इससे कोई मतलब नहीं। कोई अपनी खिड़की या कुटिया बन्द करके सो जाता है।

उसके लिए सूर्य कुछ कहता नहीं है कि तुम खिड़की खोलो। इसी प्रकार तीर्थ का संचालन करने वाले भी ऐसे ही चले गए। उनके पीछे-पीछे, जो हो गये वो भी उनके साथ चले गये और रुकने वाले हम जैसे यहीं पर हैं। यह मात्र सत्य की बात है, उसको अपनाने के लिए कोई आता है तो ठीक, नहीं आता तो भी ठीक है, हमें सदा सत्य की छाँव में ही रहना है, सत्य वह है जो अजर/अमर/अविनाशी है, सत्य ही जीवन है, असत्य डर है, मौत है, और उसमें आकुलताएँ भी अधिक हैं। जिस शाश्वत सत्य के अभाव में आज सारी दुनियाँ विकल त्रस्त है उस सत्य की प्राप्ति करके उस सत्य की शीतल छाँव में बैठकर ही महावीर ने कैवल्य ज्योति प्रकट की थी, उसी सत्य की छाँव में बैठकर गाँधीजी ने भारत को परतन्त्रता रूपी जंजीरों से मुक्त किया था। उस सत्य को हमें जीवन में अपनाना है उस सत्य की छाँव को हमें कभी नहीं छोड़ना है, चाहे हमारा सर्वस्व लुट जाए हमें कोई चिन्ता नहीं है, पर सत्य की छाँव सत्य का आलम्बन, ना छूटे।

सत्य रूपी वरदान को आप छोड़िए मत और इस असत्य के ऊपर अपने जीवन का बलिदान करिये मत। सत्य के सामने अपना जीवन अर्पण हो जाये, तो वह मात्र अर्पण ही नहीं, एक दिन दर्पण बन जायेगा। आज तक संसारी प्राणी की दशा यही हुई है, अन्त में यही कहूँगा कि जो श्लोक पहले कहा गया है-

अवाक् विसर्गः वपुषैव मोक्षः मार्गप्रशस्तं विनयेव नित्यं।
ध्यानप्रधाना समतानिधाना आचार्यवर्यं सततं जयन्ति॥

आचार्य महोदय सतत् जयवंत रहें अर्थात् इस कामना के साथ अपने उन आचार्य को नमस्कार किया। केवल मोक्षमार्ग की प्ररूपणा शरीर के द्वारा इस दिगम्बर मुद्रा के द्वारा ही की है, बोलने के द्वारा मोक्षमार्ग का प्ररूपण नहीं होता, बिना बोले ही उस स्वर्ण या अनमोल हीरे की कीमत हो जाती है, बोलने से उसकी कीमत सही नहीं मानी जाती, यह हीरा ऐसा है जिसकी कीमत आज तक सही-सही नहीं लगाई गई, क्योंकि उसको जो खरीदने वाला व्यक्ति मुँह मांगा दाम देकर खरीदता है, जब खान में से वह निकलता है तब उसकी कीमत हजार रुपये भी नहीं होती और बाजार में जाते ही उसकी कीमत लाखों की हो जाती है। बेचने वाला और खरीदने वाला दोनों माला-माल हो जाते हैं।

इस पवित्र जिनवाणी की बात है। इसकी छाया में जो कोई भी आया उसका जीवन निहाल हो गया। हम भी यही चाहते हैं, कि उस सत्य की छाँव में आकर के हमारा जीवन जो अनादिकाल से अतृप्त है उसे तृप्त करें, सुखमय बनायें।

महावीर भगवान की जय

❑ ❑ ❑

गर्भकल्याणक
(पूर्वार्द्ध)

यह पंचकल्याणक महोत्सव का अवसर आप लोगों को उपलब्ध हुआ है। जनता ने आग्रह किया था, प्रार्थना की, कि आप भी यहाँ पर आयें–पधारें। हमने कहा–देखो! जैसा अभी पण्डितजी ने कहा–महाराजजी कुछ कहते नहीं। मैं तो वह कहता हूँ जो आत्मा की बात होती है। आत्मा का स्वभाव देखना जानना है। इसलिए–क्या होता है ? आपको भी देखना है। लेकिन आप कुछ होने से पहले ही देख लेना चाहते हैं, जो सम्भव नहीं है।

वस्तु का परिणमन जिस समय, जिस रूप में होता है, उसी को देखा जा सकता है और उसी का अनुभव किया जा सकता है। रागी, द्वेषी, कषायी, व्यसनी व्यक्ति परिणमन तो कर रहा है किन्तु वह उसका जानना-देखना छोड़कर भविष्य की लालसा में पड़ जाता है। संसार की यही रीति है। यही रीति आप लोगों को पसंद आती है इसलिए संसार में हैं। जिस दिन वस्तु का वर्तमान परिणमन हमारा ध्येय बन जाये-पेय बन जाये-ज्ञेय बन जाए, उस दिन संसार में हमारे लिए कोई भी वस्तु अभीष्ट नहीं रह जायेगी। हमने यही कहा, अभी यही कहूँगा और आगे के लिए क्या कह सकता हूँ–पता नहीं ? जब कभी भी पूछा जाए यही कहता हूँ, नहीं भी पूछें तो भी मैं यही कहना चाहता हूँ कि देखना-जानना अपना स्वभाव है तो उसे हम भूलें ना।

मंगलाचरण में आचार्य कुन्दकुन्ददेव को नमोऽस्तु किया गया और प्रार्थना की कि हे भगवन्! जिस प्रकार आपका जीवन निष्पन्न-सम्पन्न हुआ, उसी प्रकार हमारा भी जीवन सम्पन्न हो। हमारा भी जीवन प्रतिपन्न हो। हम अभ्युत्पन्न-मति वाले हों। हमारे पास मति तो है, लेकिन वह मति चौरासी लाख योनियों में भटकने-भटकाने वाली है। उसको हम भूल जायें और आप जैसे बन जायें, बस और कोई इच्छा नहीं।

मोक्षमार्ग इतना बड़ा नहीं है, जितना हमने समझ रखा है। हम सोचते हैं कि अनन्तकाल से परिचय में आने पर भी वह अधूरा-सा ही लगता है, कभी भी पूर्ण होता नहीं अतः मोक्षमार्ग बहुत बड़ा है, लेकिन मोक्षमार्ग बहुत अल्प-स्वल्प है। कल्पकाल से आ रहे दुःख को, शान्ति में परिवर्तित कराने की क्षमता इसमें है। मोक्षमार्ग बहुत प्रयास करने पर प्राप्त होता है, ऐसा भी नहीं है। यह तो बहुत शान्ति का मार्ग है। जैसे–एक भवन निर्माण कराना था। देश-विदेशों से इंजीनियरों को बुलवाया गया। उन्होंने नक्शा आदि तैयार कर दस साल तक परिश्रम किया और दस-बीस लाख रुपये खर्च कर उसे तैयार भी कर दिया। लेकिन वह पसंद नहीं आया। अब तो यही समझ में आता है कि जिस प्रकार तैयार होने में दस साल और लाखों रुपये लगे हैं, वैसे इसे साफ करने में और

लगेंगे। इंजीनियरों से पूछा गया-हमें यह पसंद नहीं है। इसके निर्माण में तो दस साल लग गये तो क्या इसको गिराने में भी इतना ही समय लगेगा ? उन्होंने कहा–नहीं। निर्माण के लिए बहुत समय लगता, नाश के लिए नहीं। इसी प्रकार **''कर्मक्षय के लिए इतने प्रयास, जंजाल और उलझनों की कोई आवश्यकता नहीं।''** आपने जीवन में बहुत कुछ कमाया है, जमाया है, अर्जित किया है व उसको बांध बूंधकर रखा है, लेकिन अब उसे छोड़ने के लिए लम्बे समय की आवश्यकता नहीं है। इतना ही आवश्यक है कि अपनी खुली आँखों को इन पदार्थों की तरफ से मोड़ लें। **''दृष्टि नाशा पै धरें''** बन्द भी नहीं करना है। मात्र अपनी आँखों के बीच में एक 'एंगिल' बन जाए-कोण बन जाए तो हमारा दृष्टिकोण भीतर की ओर आ जाएगा, यही पर्याप्त है। वहीं के वहीं परिवर्तन हो जायेगा। सब वस्तुएँ वहीं धरी रहेगी। सागर, सागर में है जयपुर, जयपुर में है। जयपुर वाले वहाँ पर तभी तक हैं, जब तक कि उनका दृष्टिकोण उधर है-सम्बन्ध जोड़ रखा है। लेकिन न जयपुर आपका है ना हमारा। न सागर आपका है, ना किसी अन्य का। सागर, सागर में है। भवसागर, भवसागर में है। हम तो उसे तैर रहे हैं। **बस! आप सागर में रहते हैं और हम सागर पर रहते हैं। इतना ही अन्तर है।**

बन्धुओ! सागर पर रहने वाला, भवसागर में रहने वाला नहीं होता। यह संसारी प्राणी नहीं हुआ करता। वह तो मुमुक्षु हुआ करता है। चाहने वाले मोही का नाम मुमुक्षु नहीं हुआ करता। **''मोक्तुमिच्छुःमुमुक्षु''** मुमुक्षु, शब्द की व्युत्पत्ति ही कहती है कि वह जोड़ता नहीं, छोड़ने की इच्छा करता है। लेकिन संसारी प्राणी जोड़ने की इच्छा करता है। भैय्या! आप क्या चाहते हैं। जोड़ना या छोड़ना ? जोड़ना चाहते हैं, इसीलिए मैं कहता हूँ–भैय्या! मुमुक्षु की कोटि में नहीं आ सकते। पण्डितजी अभी बोल रहे थे कि क्या छोड़े ? जो जोड़ा है, उसे ही छोड़ना है। जिसके साथ हमारी लगन है, प्यार है, जिसको हमने अपनी तरफ से इंगित किया, प्रयास के साथ अर्जित किया, उसे ही छोड़ना है। लेकिन लगता है यदि भगवान् भी कह दें तो छोड़ना आप लोगों को संभव नहीं हो सकेगा। भगवान् कह भी तो रहे हैं–''कि तुम्हें वही छोड़ना है, जो जोड़ा है, मैंने जो जोड़ा है, वह नहीं। पूर्वावस्था से मैंने भी जो जोड़ा था उसे छोड़ दिया, लेकिन अब जो यह जुड़ गया है, वह अब जीवन का अंग/हिस्सा बन गया है।'' जीवन का स्वभाव धर्म है, धर्म को कभी नहीं छोड़ना है। फिर क्या छोड़ना है ? छोड़ना वही है, जो आपने जोड़ा है, मुझे यह नहीं पता कि आपने क्या-क्या जोड़ रखा है। भगवान् का कहना तो इतना ही है कि, जो जोड़ रखा है, जोड़ते जा रहे हो और जो जोड़ने का संकल्प ले लिया है, भविष्य का, जीवन जीने के लिए जो तैयारी करने का प्रयास चल रहा है, बस! उसको ही छोड़ना है, फिर आपका भविष्य अन्धकारमय नहीं होगा। यह जो 'आर्टीफिशयल लाईट' है उससे आँखों पर चमक आ रही है, इसको फेंक दीजिए।

वर्तमान में जितना भी प्रकाश है, वह आँखों को खराब करता है, अतः इस प्रकाश को छोड़ दीजिए। यह प्रकाश, प्रकाश नहीं। **प्रकाश तो वह है, जिसमें कोई भी वस्तु अन्धकारमय नहीं रहे, कोई भी पदार्थ ज्ञातव्य नहीं रहे।** वह प्रकाश लाइए, बाहर से 'स्टोर' किया गया प्रकाश हमारे काम का नहीं। वह अन्धकार के सामने शोर करता है और उसे भगा देता है, लेकिन भगाने वाला प्रकाश, प्रकाश नहीं हो सकता। ''प्रकाश तो अपने-आप में सबको लीन कर लेता है, चाहे वह अन्धकार ही क्यों न हो।'' समन्तभद्र स्वामी ने स्वयंभूस्तोत्र में कहा –

दीपस्तमः पुद्गलभावतोऽस्ति। स्वयंभू स्तोत्र - ५/४

दीपक का प्रकाश तम को कभी भगाता नहीं, किन्तु तम को ही प्रकाशमय बना देता है। वस्तु का एक स्वभाव, गुण, प्रकाशमय होना भी है तो दूसरा विभाव अन्धकारमय होना। हमारा ज्ञान एक ही है, वही ज्ञान, अज्ञान हुआ है, अब उसे ही ज्ञान की ओर ''डायवर्ट''करना है और कोई क्रिया नहीं, वहीं के वहीं सब कुछ हो जाएगा। कहीं भागना नहीं, कहीं जाना नहीं, किन्तु जो जोड़ने का भाव है, जिसके साथ जुड़न चल रहा, उसको जानना है, पहचानना है। यह कोई उलझन की बात नहीं है, बहुत सीधी-सादी बात है। मुमुक्षु जुड़ नहीं रहा, जोड़ नहीं रहा, उसे छोड़ने की इच्छा कर रहा है। छोड़ने की इच्छा, इच्छा नहीं है, वह छोड़ेगा और ऐसे छोड़ेगा कि बस यूँ आँख फेर लेगा। अरे! आँख क्या फेरेगा ? उसमें भी तो गर्दन को व्यायाम करने की आवश्यकता है, लेकिन वह तो वहीं के वहीं, वैसा का वैसे ही स्वस्थ हो जायेगा। अब आप भले ही पूछने लग जायें कि -क्या बात हो गई, ऐसी कौन-सी उपेक्षा आ गयी। उसके लिए तो अब उपेक्षा नहीं, मात्र किसी से भी अपेक्षा नहीं है, इतना ही है। दुनियाँ की दृष्टि में वह नटखट-सा लगने लगता है। जब हमारा पेट भरा हो, तब किसी की आवश्यकता नहीं, अपेक्षा नहीं। आप मेहमान के यहाँ गये हैं। आपके सामने बहुत से व्यञ्जनों से शोभित थाली परोस दी गई और पूछा जाता है कि आपको क्या दें दे ? क्या चाहिए? ...बस! इतना ही चाहिए कि अब अधिक मत पूछिए, क्योंकि हमारा पेट भरा है। आपने जो अनेक प्रकार के व्यञ्जन बना रखे हैं, इन्हें इसमें डालें, ऐसा नहीं हो सकता। भरपेट होने पर कोई इच्छा नहीं। इच्छा बताने की आवश्यकता ही नहीं। जहाँ पर अपेक्षा है, वहाँ पूछताछ होती है। जहाँ पर अपेक्षा नहीं वहाँ पर उपेक्षा हो गई।

इन शब्दों की व्युत्पत्ति यूँ कहना चाहूँगा– ''**अपगतं ईक्षणं यस्य सा इति अपेक्षा**''

अर्थात् जिसके जानने-देखने की समीचीन दृष्टि ही समाप्तप्रायः है –हो चुकी है उसका नाम अपेक्षा है और ''**ईक्षणस्य समीपं इति उपेक्षा**'' अर्थात् बिल्कुल निकट से देख रहा/रहे हैं। बहुत निकट आ चुका है, इसलिए दूसरे पदार्थों की अपेक्षा नहीं, उसी का नाम उपेक्षा है। समन्तभद्राचार्य ने स्वयंभूस्तोत्र १८/५ में अरनाथ भगवान की स्तुति करते हुए कहा है –

''दृष्टिसम्पदुपेक्षास्त्रैस्त्वया धीर! पराजितः''

स्वयंभू स्तोत्र - १८/५

सम्यग्दर्शन-देखना, सम्पत्-आत्मा की सम्पदा ज्ञान धन। आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने रत्नत्रय की विभिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न शब्दों से बात कही है, सम्पत्-वीतराग विज्ञान। ज्ञान नहीं, किन्तु वीतराग विज्ञान। चारित्र के लिए भी उन्होंने ऐसा शब्द चुना जिसे दुनिया 'उपेक्षा' की दृष्टि से देखती है, रागद्वेष की दृष्टि से देखती है। चारित्र के लिए उपेक्षा भी बोलते हैं। जिसके पास आना किसी को इष्ट नहीं। दूर जाना तो बहुत इष्ट-सरल है। समझने के लिए, कोई व्यक्ति निर्धन था, अब उसे कुछ धन मिल गया तो उसमें गति आ गई। पहले गति तो थी लेकिन पैरों में थी। पैरों से पैदल चलता था। अब भी पैरों में गति है, लेकिन अब पैडल चला रहा है। साइकिल पर बैठ गया है। गति हो गई, प्रगति हो गई, किन्तु अभी रास्ते पर चल रहा है। जब विशेष रूप से धन कमाता है तो मोटरसाईकिल ले आता है। पहले 'बाइसिकल' थी अब 'मोटरसाईकिल' आ गई। यदि और धन आ जाता है तो उसमें गति और तेज हो जाती है। गति तो तेज होती है, पर आत्मा को छोड़कर, केन्द्र को छोड़कर, बाहर की ओर होती है। आत्मा को बहिरात्मा बना देता है धन जिससे भागने लगता है, तेज चलने से 'एक्सीडेन्ट' हो सकता है। धन की वृद्धि से वह अब मोटरसाईकिल से कार पर आ जाता है। इससे आगे कार से भी उठने लगता है। कार भी बेकार लगने लगती है तो प्लेन की बात आ जाती है। जैसे-जैसे धन बढ़ता गया, वैसे-वैसे विकास तो होता गया, लेकिन धर्म को नहीं समझ पाया, जो इसकी निजी सम्पदा है। इस प्रकार धन के विकास में संसारी प्राणी अपनी सम्पदा-ज्ञान का दुरुपयोग भी करता जा रहा है।

कल्पना करिए, जो पैदल यात्रा करता है, यदि वह गिर जाता है तो क्या होता है? थोड़ी बहुत चोट लग जाती है, फिर उठ जाएगा और चलने लग जायेगा। यदि साईकिल से गिर जाए तो? थोड़ी ज्यादा चोट लग सकती है। यदि मोटरसाईकिल से गिरे तो ? उसे उठाकर अस्पताल लाना होगा। यदि कार से दुर्घटना हो जाये तो ? गंभीर समस्या हो जाती है और यदि प्लेन से यात्रा करते हुए 'एक्सीडेन्ट' हो जाता है तो ? वह तो देवलोक ही चला जाता है। दिवंगत हो जाता है। उसके मृत शरीर का दाह संस्कार करने की भी कोई आवश्यकता नहीं पड़ती।

बन्धुओ! धन असुरक्षित करता है और धर्म सुरक्षित। समन्तभद्रस्वामी ने कहा–भगवान, कामवासना को आपने कौन-से शस्त्रों के द्वारा जीता ? कामदेव को आपने अण्डर में कैसे रखा ? दृष्टि-सम्यग्दर्शन, सम्पद-सम्यग्ज्ञान और उपेक्षा-सम्यक्चारित्र वीतराग विज्ञान इन तीनों शस्त्रों के द्वारा ही आपने उस वासना को, जो उपयोग में ही लीन-एकमेक हो रही थी जीत लिया। अपने अण्डर में कर संयमित बना लिया, नियमित बना लिया। यह रास्ता बहुत सरल है। इसको समझने

की ही देर है कि वह सारा का सारा काम समाप्त हो जायेगा जो अनन्तकाल से चला आ रहा है।

ऐसी ही भावनाओं को लेकर कोई भव्य-**कश्चिद्भव्यः प्रत्यासन्न-निष्ठ प्रज्ञावान् स्वहितमुपलिप्सुर्विविक्ते परमरम्ये भव्यसत्त्व-विश्रामास्पदे क्वचिदा-श्रमपदे मुनिपरिषणमध्ये संन्निषण्णं मूर्त्तमिव मोक्षमार्ग-मवाग्विसर्गं वपुषा निरूपयन्तं युक्त्यागमकुशलं परहित-प्रतिपादनैक-कार्यमार्यनिषेव्यं निर्ग्रन्थाचार्यवर्यमुपसद्य सविनयं परिपृच्छति स्म।** (सर्वार्थसिद्धि, पृ. १)

प्रत्यासन्न भव्य, प्रज्ञावान्-बुद्धिमान-ज्ञानवान इन उपाधियों के साथ एक उपाधि है, '**स्वहितमुपलिप्सुः**' यह मुमुक्षु का सबसे पैनी दृष्टि वाला लक्षण है। मुमुक्षु वही है, जैसा पहले कहा था-'**मोक्तुमिच्छुः मुमुक्षुः**'। भोक्तुमिच्छुः बुभुक्षुः हो जाता है। बुभुक्षु की चाह असमाप्त है और मुमुक्षु अपनी चाह को ही मेटना चाहता है। मुमुक्षु की दृष्टि, धन के विकास में नहीं, जैसे-जैसे धन का विकास चाहेगा, वैसे-वैसे वह बुभुक्षु बनता चला जायेगा। भोग के पथ पर संसारी प्राणी अनन्तकाल से चलता आया है। यह ऐसा पथ है-

"**कापथे पथि दुःखानाम्**"

रत्नकरण्डक श्रावकाचार-१४

जिस पर राउंड लगाते हुए भी लगता है कि मैं बिल्कुल नये पथ पर चल रहा हूँ। वह पथ, जनपथ की ओर ले जाता है, जिनपथ की ओर नहीं, जनपथ, जिस पथ पर वासना से युक्त लोग चलते रहते हैं। जिनपथ से विपरीत दिशा की ओर ले जाता है। जनपथ, जिनपथ कदापि नहीं बन सकता।

आज की यह आयोजना, जिनपथ पर चलने के लिए ही है। राग के समर्थन के लिए नहीं, वीतरागता एवं वीतरागी के समर्थन के लिए है। हमें धन का समर्थन-परिवर्धन नहीं करना किन्तु उसका परिवर्जन/विसर्जन करने का काम, इस अवसर पर करना है। धन के द्वारा नशा, वासना का ऐसा रंग चढ़ जाता है, जिससे लगता है कि हम बहुत सुख का अनुभव कर रहे हैं, लेकिन ध्यान रखिए! जैसे-जैसे धन बढ़ता जायेगा, वैसे-वैसे धर्म ओझल होता जायेगा एवं उसका पथ भी। पथ पर चलने के लिए बोझिलपना भी आता जाता है। जहाँ से उपासना प्रारम्भ होती है वहाँ बढ़ने के लिए इन पदों में शक्ति क्यों नहीं आ रही, कहाँ जा रही है? जबकि वासना की ओर बढ़ने के लिए स्वप्रेरित है। आत्मा को/जीव को उस ओर बढ़ने के लिए धन का विसर्जन आवश्यक होता है। इस प्रकार सारी इच्छाओं को विसर्जित कर अपने हित को चाहने वाला यह भव्य कहा जा रहा है। "**क्वचिदाश्रमपदे मुनिपरिषणमध्ये**" एकान्त स्थल में जहाँ मुनि-महाराजों की मण्डली के बीचों

बीच बैठे हैं आचार्य महाराज! वह रागी नहीं, वासनाग्रस्त नहीं, मोही नहीं, परम वीतरागी हैं। युक्ति और आगम में कुशल हैं। कुछ बोलते नहीं, वह तो अपनी मुद्रा के द्वारा, वीतराग छवि के द्वारा, नग्न काया के द्वारा मोक्षमार्ग का, बिना मुख खोले उपदेश दे रहे हैं। जैसा कि पण्डितजी ने कहा था **''चलते फिरते सिद्धों से गुरु''** ऐसे सन्त जो अरहन्त के उपासक हैं, धनपति के नहीं, धन की चाह नहीं, जो चाह की दाह में झुलसा हुआ अपना आत्मतत्त्व है उस आत्मतत्त्व को बाहर निकाल कर, धर्मरूपी परमामृत में उसे डुबोना चाह रहे हैं, ताकि अनन्तकाल की दाह, झुलसन, उत्पीड़न और जलन शान्ति रूप परिवर्तित हो जाय।

इसी प्रकार शान्ति की तलाश में निकला, वह भव्य सोचता है कि– वर्तमान में जो चीजें अच्छी लग रही हैं वे चीजें जहाँ तक अच्छी लगती चली जायेगी, वहाँ तक उनके सम्पादन में लगा रहूँगा और यह सब जनपथ का ही माहौल है। इससे मेरा उद्धार होने वाला नहीं। वह इस पथ से हटकर अपने हृदय में एक अद्‌भुत किरण की उद्‌भूति चाहता है। अतः जनपथ को छोड़कर जिनपथ की ओर आया है। वह ऐसे मुनि महाराज आचार्य महाराज को देखकर कहता है–आज मैं कृतकृत्य हो गया। मुझे आज समझ में आ गया। मैंने जो अन्यत्र देखा वह यहाँ पर देखने को नहीं मिला और जो यहाँ पर देखा वह अन्यत्र देखने के लिए नहीं मिला। सुख की मुद्रा देखने का अवसर आज मिला। सुख की मुद्रा यही है। अन्यत्र तो मात्र उसका अभिनय है।

नग्नकाया में रहने वाली आत्मा के अंग-अंग से वीतरागता फूट रही है। यही एक मात्र आत्मतत्त्व का दिग्दर्शन है, यही हितकारी मुद्रा है, हितैषी है, हितैषी का मतलब लोक हितैषी या स्वहितैषी ? किसका हित ? क्या संसार का हित करने की आप सोच रहे हैं तो संसार का हित करने के लिए स्वयं अपने आपका हित करना आवश्यक है। जो व्यक्ति हित के पथ पर नहीं चलता वह दूसरों का हित नहीं कर सकता। मात्र हित की बात कर सकता है, लेकिन हित से मुलाकात नहीं कर सकता। हित की बात करना अलग है और हित से मुलाकात अलग। मुलाकात में उसका साक्षात्कार है, बात में नहीं। ऐसे हितकारी आत्मतत्त्व को दिखा नहीं सकते क्योंकि वह देखने में आता भी नहीं। पण्डितजी अभी-अभी कह रहे थे कि–जीवतत्त्व को पहचानना आवश्यक है। ठीक है! लेकिन उसके साथ यह भी कह गये कि अध्यात्म ग्रन्थ, आत्म तत्त्व का साक्षात्कार करा देते हैं। बात प्रासंगिक है, इसलिए मैं उठाना आवश्यक समझता हूँ, ताकि चार-पाँच दिनों तक उस पर विचार-विमर्श हो जाए।

सन्तों ने, धर्मात्माओं ने, लेखकों ने और विद्वानों ने जिनवाणी को माँ की कोटि में रखा। उन्होंने कहा –

अरहंत भासियत्थं गणहरदेवेहिं गंथियं सम्मं।
पणमामि भत्तिजुत्तो, सुदणाणमहोवहिं सिरसा।। श्रुतभक्ति पाक्षिक प्रति. २

उस श्रुतसागर को मेरा नमस्कार हो, जिस श्रुतसागर का उद्‌भव सर्वप्रथम वीरप्रभु (जिन्होंने अर्हन्त पद प्राप्त किया, उसके उपरान्त—उसका विश्लेषण किया) से हुआ है। वीर प्रभु ने हमें साक्षात् शाब्दिक वाणी नहीं दी, क्योंकि शब्दों का एक जाल होता है, सीमा होती है, शक्ति होती है और अपना सामर्थ्य भी। जबकि वस्तु तत्त्व विश्लेषण अनन्त होता है, शब्दों में अनन्त को बाँध सकने की सामर्थ्य नहीं। वस्तु तत्त्व उन शब्दों की पकड़ में आने वाला नहीं। अतः भगवान ने (वीरप्रभु ने) जो बखान किया वह अर्थश्रुत है, अर्थश्रुत को ही विश्व के सामने रखा। अब आप समझ लीजिए अर्थश्रुत अलग है और शब्दश्रुत अलग। दोनों में बहुत अन्तर है। शब्दश्रुत वह वस्तु है, जो हम लोगों तक 'डायरेक्ट लाइन' से मिलती है, सीधे अर्थ बोध कराता है। जबकि अर्थश्रुत - 'इनडायरेक्ट लाइन' माध्यम बनाकर अर्थ बोध कराता है। जैसे विद्युत लाइन दो प्रकार की होती है, एक पावर वाली और एक घर की। पावर वाली लाइन 'डायरेक्ट' होती है और घर वाली 'इनडायरेक्ट' मिलती है। वह स्टोररूम से शाखा-उपशाखाओं में विभक्त होकर घर तक दी जाती है, तभी वह जीरो वॉट से सौ वॉट तक के लिए पर्याप्त होती है। इसी प्रकार भगवान ने जो अर्थश्रुत दिया वह अनन्तात्मक है, वह साक्षात् रूप में हमारे काम का नहीं। उसको सुनकर ही गणधर परमेष्ठी ने भी उनका अनन्तवां भाग समझ पाया। अर्थात् भगवान ने जो कहा वह अनन्त और जो गणधर परमेष्ठी के पल्ले पड़ा वह उसका भी अनन्तवां भाग। छद्‌मस्थ के पास ऐसी कोई भी शक्ति नहीं, जो अनन्त को झेल सके। गणधर परमेष्ठी हमारे पूजनीय, हमसे बड़े हैं लेकिन वह भी छद्‌मस्थ ही है। इसलिए अनन्त को झेलने की क्षमता उनके पास भी नहीं। इसके बाद, उन्होंने जितना झेला, उसे पूरा का पूरा द्वादशांग के रूप में नहीं दे सके। कोई भी 'माइण्ड' ऐसा नहीं है जो जितना विचार करे और उतने को-पूरे को ही शब्द का रूप दे सके। शब्द में उतना आ नहीं सकता, क्योंकि विचार, जानना वह तो बहुत प्रवाह के साथ होता है, लेकिन शब्द उसको बाँधता है, जो आसान नहीं।

जिस प्रकार नदी प्रवाहक बहुत होती है, परन्तु बीच-बीच में ४०-५० मील पर बाँध बाँधकर काम लेते हैं, उसी प्रकार अनन्तप्रवाह रूप श्रुत को एक मात्र बाँध के रूप में संग्रह किया, जिसका ही नाम जिनवाणी है। गणधर परमेष्ठी ने उन तत्त्वों को जो कि सांसारिक उलझनों में काम आने की गुंजाइश रखते हैं, समीचीन रूप से पिरोया है। अनन्त तत्त्वों को कभी गूँथा नहीं जा सकता। उनको मात्र जाना जा सकता है। गणधर परमेष्ठी ने अनन्त को अभी नहीं जाना, कैवल्य के उपरान्त जानेंगे, यह बात अलग है।

भगवान् ने जो जाना वह अनन्त, जो कहा वह अनन्तवाँ हिस्सा। इसके बाद गणधर प्रभु ने जो समझा-झेला वह उसका भी अनन्तवाँ हिस्सा तथा जिसको शब्द का रूप दिया, वह उसका भी अनन्तवाँ हिस्सा, इसके उपरान्त, जो द्वादशांग के रूप में कहा गया वह भी उसका अनन्तवाँ हिस्सा, जिसको ग्यारह अंग और चौदह पूर्वों के नामों से जाना जाता है। इसके बाद—

''भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासौ षट्समयाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम्''

तत्त्वार्थसूत्र - ३/२७

इसके अनुसार क्षीण होता गया। जैसा हम लोगों का पुण्य उसी के अनुरूप यहाँ आ करके खड़ा हुआ है। आज एक अंश का भी ज्ञान नहीं है। जिन कुन्दकुन्द भगवान को हम मंगलाचरण में याद करते हैं, उनको भी एक अंग का ज्ञान नहीं था। ऐसा जिनवाणी ही उचरती है। जितना था, उतना तो था, लेकिन इतना नहीं था जितना कि हम समझ लेते हैं। उनको अनन्त ज्ञान नहीं था। एक अंग का भी ज्ञान नहीं था, क्योंकि अंग का पूर्ण ज्ञान होना अलग है और उसके कुछ-कुछ अंशों का ज्ञान होना अलग। इसी कालक्रम में जिनवाणी की यह स्थिति आ गई कि उसे चार अनुयोगों के रूप में बाँटा गया। चार अनुयोगों की जो परिभाषा वर्तमान में हम लोग समझते हैं, वह प्रायः सम्यक् नहीं है। हमें जिनवाणी माँ की सेवा करना है तो उसके स्वरूप को भी समझना होगा। तभी नियम से उसका फल मिलेगा, इसमें कोई सन्देह नहीं। माँ हमें मीठा-मीठा दूध पिलाती है, नीचे का, जिसमें कि मिश्री अधिक होती है क्योंकि उसे ही खिलाने-पिलाने का ज्ञान होता है। इसके साथ-साथ अच्छी-अच्छी बातें समझाने वाली माँ ही होती है।

जिनवाणी—प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग के भेद से चार भागों में बाँटी गई। लेकिन प्रथमानुयोग क्या है ? करणानुयोग क्या है? चरणानुयोग क्या है? द्रव्यानुयोग क्या है? यह जानना बहुत ही आवश्यक है। इसके समझे बिना, जिनवाणी को सही-सही जाने बिना भटक जायेंगे। जिनवाणी ऐसे-ऐसे प्वाइंट दे देती है, जिससे हमारा कल्याण बहुत जल्दी हो सकता है/हो जाता है। वह हमें शार्टकट भी बता देती है। हमारा जीवन बहुत कम/छोटा है, उसमें भी काल का सदुपयोग हो तभी जिनवाणी का सही-सही ज्ञान एवं जिनवाणी के सहारे से चारों अनुयोगों का सही-सही ज्ञान हो सकता है। आचार्य समन्तभद्रस्वामी हुए हैं, जो पहले भगवान की स्तुति न कर परीक्षा लेते थे और बाद में ऐसे 'सरेण्डर' हो जाते थे कि उन जैसे शायद ही कोई अन्य मिले। इतनी योग्यता थी उनमें। उन्होंने कहा –

प्रथमानुयोगमर्थाख्यानं, चरितं पुराणमपि पुण्यम्।
बोधिसमाधिनिधानं बोधति बोधः समीचीनः॥

(रत्नकरण्डक श्रावकाचार-४३)

भगवन्! आपका प्रथमानुयोग बोधि और समाधि को देने वाला है। बोधि-रत्नत्रय की प्राप्ति। समाधि-अन्तिम समय सल्लेखना के साथ समता के परिणाम अर्थात् रत्नत्रय को देने और उसमें सफलता प्राप्त कराने की क्षमता इस प्रथमानुयोग में है। प्रथमानुयोग बहुत 'राउण्ड' खा करके तत्त्व पर भले ही आता है, लेकिन प्रथमानुयोग पढ़ने के उपरान्त समन्तभद्र स्वामी जैसे कहते हैं कि

यह बोधि और समाधि का निधान अर्थात् भण्डार है। यह तो प्रथमानुयोग की बात हुई। अब चरणानुयोग क्या है ? इसे कहते हैं -

गृहमेध्यनगाराणां चारित्रोत्पत्तिवृद्धिरक्षाङ्गम्।
चरणानुयोगसमयं, सम्यग्ज्ञानं विजानाति॥

(रत्नकरण्डक श्रावकाचार-४३)

चरणानुयोग हमें चलना-फिरना सिखाता है। कैसे चलें और किस ओर चलें ? इसका निर्णय तो हमने कर लिया, किन्तु चाहे सागार हो या अनगार, दोनों के लिए उस ओर जाने के साथ पाथेय होना अनिवार्य है। वह पाथेय इस चरणानुयोग से मिलता है। इसके बारे में कोई विशेष चर्चा की आवश्यकता नहीं है। मात्र करणानुयोग और द्रव्यानुयोग को ही सही-सही समझना है कि करणानुयोग क्या है ? और द्रव्यानुयोग क्या है ? इन दोनों के बारे में ही बहुत-सी भ्रान्तियाँ हुई हैं। समन्तभद्राचार्य ने करणानुयोग के लिए कहा है –

लोकालोकविभक्तेर्युगपरिवृत्तेश्चतुर्गतीनां च।
आदर्शमिव तथामति-रवैति करणानुयोगं च॥

(रत्नकरण्डक श्रावकाचार-४४)

जहाँ पर लोक और अलोक का, चारों गतियों का, नरक-स्वर्गादिक का विभाजन हो अथवा कम शब्दों में कहे तो भौगोलिक-स्थितियों का वर्णन करने वाला करणानुयोग है। करणानुयोग का अर्थ हुआ-भौगोलिक जानकारी देने वाला। जैनाचार्यों का भूगोल किस प्रकार का है, यह बताता है और खगोल किस प्रकार का यह भी। गोल, होने की बात को गोल कर दीजिए क्योंकि यह तो आज विसंवादित विषय है। मैं तो यहाँ पर करणानुयोग का विषय बताना चाहता हूँ–नरक, स्वर्ग, नदी, पहाड़, समुद्र, अकृत्रिम चैत्यालय और ऊर्ध्व-मध्य-अधोलोकों के विस्तार को आदर्शमिव-दर्पण के समान करणानुयोग सब कुछ, स्पष्ट करता है–सामने रख देता है। ये चराचर जीव –

चौदह राजु उत्तंग नभ, लोक पुरुष संठान।
तामें जीव अनादितै भरमत हैं बिन ज्ञान॥

(बारह भावना)

इस लोक में-संसार में भ्रमण कर रहे हैं ? यह सब ज्ञान करणानुयोग से होता है। संस्थान विचय धर्मध्यान के लिए यह सब जानना आवश्यक है। यह जानना अनिवार्य है कि कौन-कौन जीव, कहाँ-कहाँ भटक रहे हैं ? हम कहाँ पर भटक रहे हैं, हमारा कहाँ उद्धार होगा। किन कारणों के द्वारा उद्धार हो सकता है। क्षेत्र की अपेक्षा भी ज्ञान होना चाहिए। हम कहाँ पर रह रहे हैं ? निराधार तो नहीं हैं ? कौन-सा आधार है ? यह सब ज्ञान होना आवश्यक है।

अब द्रव्यानुयोग आ गया। द्रव्यानुयोग का रहस्य समझना बहुत कठिन है, बहुत गहरा है। अतः पहले उसे परिभाषित करना चाहूँगा। आचार्य समन्तभद्र स्वामी के शब्दों में –

जीवाजीवसुतत्त्वे पुण्यापुण्ये च बन्धमोक्षौ च।
द्रव्यानुयोगदीपः श्रुतविद्यालोकमातनुते॥

(रत्नकरण्डक श्रावकाचार-४६)

समन्तभद्राचार्य ही एक ऐसे आचार्य हुए जिन्होंने चारों अनुयोगों को बहुत स्पष्ट किन्तु अल्प शब्दों में बहुत गहरे अर्थ के साथ परिभाषित किया। संसार में छोड़ने योग्य मात्र पाप और पुण्य, ये दो ही हैं, तीसरी कोई वस्तु नहीं। इन दोनों बन्धनों में ही सभी बंधे हुए हैं। उनको हम छोड़ना चाहते हैं लेकिन छूटे कैसे ? कब और किस विधि से ? इसका वर्णन करने के लिए आचार्यों ने द्रव्यानुयोग की रचना की। बन्ध क्या है और मोक्ष क्या? आस्रव क्या और संवर क्या ? किस गुणस्थान में कौन-कौन से कर्मों का आस्रव होता है और किस-किस का बन्ध ? आस्रव और बन्ध ही तो संसार के कारणभूत हैं। इनके द्वारा हमारा कभी भी कल्याण होने वाला नहीं। संवर और निर्जरा, मोक्ष तत्त्व के लिए कारण हैं–मोक्षमार्ग हैं। मोक्ष तत्त्व इनसे भिन्न है। इस प्रकार का विभाजन द्रव्यानुयोग में किया गया है। इन सातों तत्त्वों, नव पदार्थों और छह द्रव्यों का जानना द्रव्यानुयोग से होगा। आप पूछ सकते हैं कि द्रव्यानुयोग में कौन-कौन से ग्रन्थ लेना चाहिए ? कारण कि कुछ लोगों कि धारणा यह हो सकती है कि द्रव्यानुयोग में केवल समयसार, नियमसार, पंचास्तिकाय, प्रवचनसार आदि कुन्दकुन्द स्वामी के ग्रन्थ ही आते हैं, लेकिन ऐसा नहीं है।

इसके दो भेद करने चाहिए। जैसा कि अभी पण्डितजी ने भी कहा था कि आगम और परमागम दो नाम आते हैं। जैनाचार्यों ने इसे आगम और अध्यात्म नाम दिये हैं। 'अध्यात्म' यह शब्द हमारा नहीं है बल्कि आचार्य वीरसेनस्वामी ने उपयोग किया है।[१] कहने का मतलब, दो भेद हो गये–आगम और अध्यात्म। अब आगम के भी दो भेद करने चाहिए–दर्शन और सिद्धान्त। दर्शन–जो षट्दर्शनों का बोध देने वाला है अर्थात् न्याय की पद्धति को लेकर जैसा आचार्य समन्तभद्र, अकलंकदेव, पूज्यपादस्वामी आदि कई आचार्यों ने न्याय की पताका फहरायी, न्याय का बोध कराया उसे दर्शन कहते हैं। उन्होंने जैनतत्त्व क्या है ? इसको दर्शन के माध्यम से ही विश्व के कोने-कोने तक पहुँचाने का प्रयास किया। इसी के माध्यम से हम विश्व को समझा सकते हैं, सिद्धान्त और अध्यात्म के माध्यम से नहीं। अध्यात्म के माध्यम से समझाया नहीं जाता, किन्तु वह तो, हमारे पास क्या है ? हमारी स्थिति क्या है ? इसकी जानकारी करा देता है। वह आत्मतत्त्व को स्पष्टरूपेण बता देता है। वैसे तो आत्मतत्त्व को सब लोग मानते हैं। परन्तु वे सभी अध्यात्मनिष्ठ नहीं है। इस प्रकार दर्शन और सिद्धान्त में भेद है। दर्शन के ग्रन्थों में भी न्याय-ग्रन्थों को संग्रहित करना चाहिए।

सिद्धान्त के दो प्रकार 'जीवसिद्धान्त' और 'कर्मसिद्धान्त' जानना चाहिए। कर्मसिद्धान्त में बन्ध क्या, मोक्ष क्या, संवर क्या और आस्रव क्या ? यह सभी कुछ बताया जाता है। और जीव सिद्धान्त में जीव के भेद, योनिस्थान और जीव कहाँ-कहाँ पर रहता है ? उसको जानने के लिए, ढूँढ़ने के लिए, मार्गणा के अनुसार ढूँढ़ना होगा-इस प्रकार का वर्णन होता है। षट्खण्डागम में मार्गणा के ईहा, ऊहा, अपोहा, मार्गणा, मीमांसा आदि नाम बताये हैं। यानि जीवसिद्धान्त के बारे में और कर्मसिद्धान्त के बारे में ऊहापोह करो, छानबीन करो। इस प्रकार आगम के भेद, दर्शन और सिद्धान्त को समझा। अब अध्यात्म की ओर आते हैं।

अध्यात्म को भी दो प्रकार से, एक भावना और दूसरा ध्यान, जानना चाहिए। भावनाओं में बारहभावना, सोलहकारणभावना, मेरीभावना और तपभावनाएँ आदि-आदि लेना चाहिए। जिन भावनाओं के माध्यम से 'डीप' (गहरे में) उतर सकते हैं, उन्हें लेना चाहिए।

''वैराग्य उपावन माई चिन्तै अनुप्रेक्षा भाई''

(छहढाला - ५/१)

छहढाला की पंक्ति है यह। छहढालाकार दौलतरामजी ने तो गागर में सागर को समाहित कर दिया। अर्थात् भावना के साथ ही लक्ष्य में विशेष लगाव होता है। एक आंग्ल कवि ने कहा-भोजन करने से पहले भोजन की भावना आवश्यक है। इससे भूख अच्छी लगती है, कड़ाके की लगती है, जिसे उदीरणा कहते हैं ? भोजन के समय एक आमंत्रण और एक निमंत्रण ये दो चीजें होती हैं। समझे की नहीं समझे। आमंत्रण करके जल्दी से नहीं बुलायेंगे। एक बार कहकर चले जायेंगे, ताकि आप लोग अन्य भावनाओं से निवृत्त होकर केवल भोजन की ही भावना करें। २-३ घण्टे होने पर कड़ाके की भूख आ जाएगी तब आप भोजन को बैठेंगे। अर्थात् भूख अच्छी खुल जानी चाहिए। इसे अपने शब्दों में कहें यदि भोजन करना है तो अच्छे ढंग से करो इसीलिए आपको ९ बजे बता देंगे कि भोजन अच्छा होगा, स्वादिष्ट होगा अमुक-अमुक चीजें बनेंगी, पर्याप्त मात्रा में मिलेंगी, लेकिन १२ बजे मिलेंगी-कहा जाता है।

यही बात भावना की है, वैराग्य की है। आप लोग ऊपर छत्र अर्थात् पंखा लटका रहे हैं, चला रहे हैं और कहें-''**पल रुधिर राध मल थैली कीकस वसादिते मैली**'' तो कभी भी शरीर के प्रति वैराग्य होने वाला नहीं। फिर कैसे हो ? यह बहुत गन्दा है, ऊपर गंध न लगाकर गन्दगी की अनुभूति करिए, अपने आप ही इसके प्रति घृणा हो जाएगी। आज तो आप लाइफबाय लगा लेते हैं, क्रीम लगा लेते हैं। आप हमाम का प्रयोग कर, टिनोपाल के कपड़े पहनकर, स्नो पाऊडर लगाकर बारहभावनाओं का चिन्तन करना चाहते हैं। लेकिन इस विधि से तो बारह भावनाओं में न उतरकर,

वैराग्य में न डूबकर, निद्रा देवी से घिर जाते हैं। यह वासना की स्थिति है, जिसका वर्णन हम नहीं कर सकते। इसलिए भावनाओं का सही रूप रखें, तब ही अध्यात्म में ज्ञान की गति होगी।

अब ध्यान की बात आती है। ध्यान कैसे करें और कौन करें ? ध्यान की चर्चा तो समयसार, प्रवचनसार, पञ्चास्तिकाय आदि कुन्दकुन्ददेव का जितना भी साहित्य है, वह करता ही है, लेकिन उस साहित्य के अनुरूप लीन होने की क्षमता किसमें है? स्वसमय में ही वह क्षमता है। **आचार्य कुन्दकुन्ददेव कहते हैं कि मैंने तो एक ही गाथा में सब कुछ कह दिया जो कहना था वह यह– सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से युक्त स्वसमय है तथा पर में स्थित वह परसमय है। यह स्वसमय एवं परसमय की चाकलेट जैसी परिभाषा है।** मैं कुन्दकुन्ददेव की एक-एक गाथा को चाकलेट समझता हूँ। चाकलेट कौन खाता है और कैसे खायी जाती है? चाकलेट खायी नहीं जाती, चूसी जाती है। कौन चूसता है खाली पेट वाला? नहीं। खाली पेट वाला तो तीन काल में नहीं चूस सकता। उसको तो भूख लग रही है। जल्दी-जल्दी खा लेना चाहता है, स्वाद भी नहीं ले सकता। वह यदि चाकलेट खाता है तो उसको कोई फल नहीं, कारण चाकलेट खाने की चीज ही नहीं। मैं यही सोच रहा हूँ कि एक ही गाथा के द्वारा, स्वाद ऐसा आ जाता है। फिर चार सौ उनतालीस की क्या आवश्यकता। कोई भी एक गाथा ले लीजिए उसमें भी वही है। जिसको संसार के भोगों की भूख है वह इन गाथाओं को चाकलेट के रूप में काम न लेकर सीधा खा जाएगा और कुन्दकुन्द स्वामी के द्वारा निहित स्वाद को नहीं ले सकेगा। आज प्रायः यही हो रहा है। सारा समयसार मुखाग्र है। **अरे! समयसार को मुखाग्र करने की जरूरत नहीं हृदयंगम करने की आवश्यकता है।** आज समयसार, पञ्चास्तिकाय, प्रवचनसार आदि का जो असर पड़ा है मात्र सिर तक ही पड़ा है। यदि भीतर उतर जाएंगे तो आपको ज्ञात होगा कि यह समयसार ग्रन्थ भी, जो बाहर दिख रहा है, भार हो जाएगा। यह ग्रन्थ भी ग्रन्थि का रूप धारण कर लेगा। किसके लिये ? जो पेट भर खा लेता है। पेट भरने के बाद उसे कोई भी अच्छी से अच्छी वस्तु दिखा दीजिए तब यही कहा जाएगा – 'उहूँ!' भैया! ऐसा क्यों कह रहे हो? मान नहीं रहे हो आप तो मैं क्या करूँ? नहीं एक और ले लीजिए। भैय्या! लेने को तो ले लूँगा परन्तु उल्टी हो जाएगी।

उसी तरह समयसार पढ़ने के उपरान्त उल्टा-रागद्वेष की बात समझ में नहीं आती। चमक-दमक की ओर दृष्टि हो, स्व से बाहर आना खतरनाक न लगे, यह सब समझ में नहीं आता। पण्डितजी अभी कह रहे थे, मुनि महाराज बाहर आ जाए तो पंचपरमेष्ठी-परमात्मा और भीतर रहें-चले जाएँ तो आत्मा। आत्मा और परमात्मा को छोड़कर कुछ नहीं। बिल्कुल ठीक। लेकिन अन्दर बाहर यह क्यों हो रहा है ? जब तक सोलहवीं कक्षा पार नहीं कर ले तब तक यह होगा, कारण उसके भिन्न-भिन्न प्रकार के 'सब्जेक्ट' होते हैं। परन्तु एम.ए. में एक ही रहेगा। एम.ए. के आगे वह

विद्यार्थी नहीं रहता, परीक्षा नहीं होती। अब आया समयसार में। समयसार अर्थात् शोध, सोलह कक्षाओं में पार होने के उपरान्त ही किया जाता है। लेकिन ध्यान रखिए–

''शब्द सो बोध नहीं,
बोध सो शोध नहीं'' (मूकमाटी)

शब्द कहते ही बहुत आगे की ओर चले जाते हैं, परन्तु उसका नाम बोध नहीं। शब्द अलग है और बोध अलग। इसी तरह बोध ही शोध नहीं है। बोध अलग है और अनुभव (शोध) अलग। पहले तो शब्द के माध्यम से बोध दिया जाता है कि संसार में क्या-क्या है, फिर उसके बाद एक विषय को ध्यान का विषय बनाते हैं।

आजकल की बात बिल्कुल अलग है कि बिना निर्देशक के भी शोध हो रहे हैं। पण्डितजी! आपने भी तो शोध किया है। अजमेर की बात है। जब पहली-पहली बार टोडरमल स्मारक से आये थे आप। उस समय मैं महाराज श्री के पास में ही बैठा था। धोती-कुर्ते पर नहीं आये थे, शायद आप पायजामा पहनते थे। उस समय किसी ने कहा था–आप शोध कर रहे हैं। क्या विषय है? टोडरमलजी के व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व पर। बहुत अच्छी बात है। हमने पूछा- निर्देशक कौन है ? सम्भव है 'सागर यूनिवर्सिटी' से था। कोई प्रसंगवश ये भी बताया कि आजकल शोध की 'थ्योरी' भी कुछ अलग है। आजकल ऐसे भी निर्देशक होते हैं, जिनके 'अण्डर' में शोध किया जा रहा है, परन्तु उन्हें उस विषय का ना तो आगे का, ना पीछे का और ना बीच का ही ज्ञान है। वे उन्हें उपाधियाँ दिला रहे हैं। पण्डितजी! जिन्हें क क ह भी नहीं आता उनसे आप उपाधि ले रहे हैं। उनसे कोई उपाधि नहीं लेना चाहिए। यदि उपाधि लेना ही है तो कुन्दकुन्दाचार्य, समन्तभद्राचार्य, अमृतचन्द्रजी और जयसेन आदि हैं, इनसे लीजिए तो वह वस्तुतः उपाधि कहलायेगी। अध्ययन करना तो वस्तुतः अपने से ही होता है, निर्देशक तो मात्र व्यवहार चलाने के लिए है। आज निश्चय को कोई प्राप्त नहीं करना चाहता। अध्ययन अलग है और मनन-चिन्तन अलग। पठन-पाठन और भी अलग है। भिन्न-भिन्न शब्द हैं, भिन्न-भिन्न वस्तुएँ । समभिरूढ़ नय की अपेक्षा इनका वाच्यभूत विषय भी बहुत भिन्न-भिन्न है। इसलिए ''शब्द सो बोध नहीं, बोध सो शोध नहीं।''

हमें आत्मा का शोध-अनुभव करना है, इसलिए सर्वप्रथम ध्यान करना होगा और ध्यान के लिए भावना की आवश्यकता पड़ेगी। भावना, बिना भूमिका के नहीं होती। देख लीजिए संवर के प्रकरण को, आचार्य उमास्वामी आदि आचार्यों ने कहा –

''स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरिषहजयचारित्रैः'' तत्त्वार्थसूत्र - ९/२

ये जितने भी हैं, वह एक-दूसरे के लिए निमित्त-नैमित्तिक या कार्य-कारणपने को लेकर

हैं। अर्थात् संवर करने के लिए गुप्ति की आवश्यकता, गुप्ति के लिए समिति की, समिति के लिए धर्म की, धर्म के लिए अनुप्रेक्षा की, अनुप्रेक्षा के लिए परीषहजय की और परीषहजय के लिए चारित्र की आवश्यकता है और चारित्र प्राप्ति करने के लिए सबसे पहले बाधक तत्त्वों को छोड़ना पड़ेगा।

वत्थुं पडुच्च जं पुण, अज्झवसाणं तु होदि जीवाणं।
ण ह वत्थुदो दु बंधो, अज्झवसाणेण बंधोत्ति॥ समयसार - २६५

आचार्य कुन्दकुन्द भगवान् ने एक जगह बन्ध की व्याख्या करते हुए कहा–वस्तु मात्र से बन्ध नहीं होता। बन्ध तो अध्यवसान के कारण होता है। अध्यवसान स्वयं बन्ध तत्त्व है। एक शिष्य ने महाराज से कहा–आपने बहुत अच्छी बात कही कि अध्यवसान से बन्ध होता है तो हम अध्यवसान नहीं करें। वस्तुओं को छोड़ने की बात अब छोड़ देना चाहिए। आचार्य ने कहा– मैं आपके ही मुख से यह बात सुनना चाहता था। बहुत अच्छी बात कही। मैं वस्तु के लिए कहाँ छुड़वा रहा हूँ ? और यदि छोड़ने की कोशिश भी करोगे तो क्या-क्या छोड़ सकोंगे ? लेकिन मैं पूछता हूँ– **वस्तु के प्रति जो राग है, मोह है उसे भी छोड़ना चाहोगे, कि नहीं ? हाँ! उसको तो छोड़ना चाहूँगा। हमारे अन्दर जो राग, मोह, द्वेष हो रहे हैं, वह वस्तु को बुद्धि में पकड़ रखने के कारण ही हो रहे हैं। इसीलिए हमने पहले वस्तु को छोड़ने की बात कही।** समझने के लिए–आपके सामने एक थाली परोस दी गई, भले ही आप भोजन नहीं करना चाहते हैं। आप यह भी कह रहे हैं कि मुझे भोजन की इच्छा बिल्कुल नहीं। फिर भी कहा जा रहा है कि आप अपनी रुचि के अनुसार कुछ भी खा लीजिए। अब आपका हाथ किस ओर जायेगा? बिना अभिप्राय आपका हाथ रसगुल्ला की ओर ही जाये, यह सम्भव नहीं। यह कोई 'कंप्यूटर-सिस्टम' करके हाथ में ज्ञान भर दिया गया है क्या ? इसलिए रसगुल्ला की ओर जाता है और वहीं पर रखी है रुखी-सूखी बाजरे की रोटी, उसे नाक सिकोड़कर उपेक्षा की दृष्टि से देख रहा है। आखिर ऐसा क्यों ? हमने हाथ को पूछा, क्योंकि आपसे तो कुछ पूछ नहीं सकते, कारण आपने कह दिया-मेरे पास कोई राग नहीं, द्वेष नहीं, इच्छा नहीं। इसलिए हाथ को पूछा। लेकिन हाथ का कहना है–मुझे क्या पूछ रहे हो ? हम तो केवल काम करने वाले हैं। फिर करा कौन रहा है? भीतर पूछो, भीतर। भीतर कौन पूछे, कौन जाए भीतर? न जाइए, कोई बात नहीं, लेकिन मुखमुद्रा ही हृदय की सूचना है। हृदय में जो बात होगी, वहीं अंग और उपांग की चेष्टाओं से बाहर आयेगी। **इसलिए राग भीतर है तभी वस्तुओं का संकलन हुआ–''यह बात अमृतचन्द्रजी ने स्पष्ट रूप से कही आत्मख्याति में'' इसीलिए हम अध्यवसान से पहले वस्तु को छुड़ा रहे हैं। यदि वस्तुओं को नहीं छोड़ा तो तीन काल में भी अध्यवसान छूटने वाला नहीं।**

"बिन जाने तै दोष गुनन को कैसे तजिये गहिये" छहढाला - ३/११

वस्तुओं को छोड़िये और यह भी जानिये कि क्या छोड़ना है। यह ज्ञान जिसको नहीं होता वह तीन काल में भी वस्तु तत्त्व को प्राप्त नहीं कर सकता। हमें गुणों को तो प्राप्त करना है और दोषों को निकालना है। ध्यान रखिये, मात्र बातों के जमा खर्च से कुछ भी होने वाला नहीं, चाहे जीवन भी क्यों न चला जाये, कुछ करना होगा। सर्वप्रथम जो ग्राह्य है, उसे जानना-पहचानना आवश्यक है और इसके साथ उसके 'अगेन्स्ट' को भी जानना आवश्यक है। उपाय के साथ-साथ अपाय भी जानिए। उस उपाय को प्राप्त करने में किससे बाधा आ रही है, दुःख क्यों हो रहा है? **दुःख को समझना ही सुख को प्राप्त करने का सही रास्ता है।** आचार्य पूज्यपादस्वामी ने एक जगह कहा–हे भगवन्! हम आपके पास इसलिए नहीं आये कि आप बुला रहे हैं। इसलिए भी नहीं कि आपकी पहचान पहले से है या आप सुख को जानते-देखते हैं। बल्कि हमें तो ऐसी पीड़ा हुई कि उससे हम भागने लगे और भागते-भागते हर जगह गये लेकिन शान्ति नहीं हुई, परन्तु आपके चरणों में आते ही मन को बहुत शान्ति हो गई, इसलिए आए हैं।

दुःख को हम छोड़कर आये, पुरुषार्थ हमारा है और भगवान् के सान्निध्य में आये। इधर रास्ते तो बहुत हैं–पथ बहुत हैं, जहाँ-जहाँ भटकने से च्युत होता गया, उनको छोड़ता गया और यहाँ तक आ गया। यही सच्चा पुरुषार्थ है–स्व की ओर मुड़ना ही पुरुषार्थ है।

इस प्रकार द्रव्यानुयोग के द्वारा कर्मसिद्धान्त जीवसिद्धान्त के द्वारा जीव, अजीव, बन्ध और आस्रवादि तत्त्वों को जानिए। इनके १४८ प्रकार के कर्मों के बारे में जानिए। किस द्रव्य का कैसा-कैसा परिणमन होता है, इसको समझने का प्रयत्न करिए। **जैनागम में तीन चेतनाएँ– कर्मफलचेतना, कर्मचेतना और ज्ञानचेतना ही कहीं गईं हैं। कोई चौथी-कालचेतना नहीं। आदि की दो चेतनाओं के द्वारा ही जीव संसार से बँधा हुआ है।** एक कर्म करने वाली चेतना, एक कर्म को भोगने वाली चेतना और एक केवलज्ञान का संवेदन करने वाली चेतना। इन चेतनाओं को भी द्रव्यानुयोग से ही समझा जा सकता है।

सव्वे खलु कम्मफलं थावरकाया तसा हि कज्जजुदं।
पाणित्तमदिक्कंता णाणं विंदंति ते जीवा॥

जिसमें कर्मफलचेतना तो समस्त एकेन्द्रिय जीवों को हुआ करती है, कर्म के फल को बिना प्रतिकार किए सहन करते रहते हैं। दूसरी कर्मचेतना कर्म करने रूप में प्रवृत्ति है, जिसमें त्रसादिक जीव इष्टानिष्ट के संयोग-वियोग से प्रतिकारादिक की क्रिया, भाव करते रहते हैं और तीसरी ज्ञानचेतना है, जिसके संवेदन के लिए आचार्य कुन्दकुन्ददेव कहते हैं कि उस ज्ञानचेतना की बात क्या बताऊँ, जिसका संवेदन (अनुभव) मात्र सिद्धों को ही हुआ करता है। आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने

पञ्चास्तिकाय में ''**पाणित्तमदिक्कंता**'' शब्द लिखा है। जिसकी टीका करते हुए आचार्य जयसेनस्वामी लिखते हैं कि जो प्राणों से अतिक्रांत अर्थात् रहित हो चुके हैं। यानि दस प्रकार के प्राणों से रहित, तो मात्र सिद्ध परमेष्ठी हुआ करते हैं, उन्हीं सिद्ध परमेष्ठियों के लिए इस ज्ञानचेतना का संवेदन हुआ करता है। धन्य है ज्ञानचेतना जिसकी अनुभूति संसार में रहते हुए केवली अर्हन्त परमेष्ठी को भी नहीं हुआ करती है।

इस प्रकार चारों अनुयोगों के विभाजन को, जो निराधार नहीं, आधार के अनुसार कहा गया। एक बार पुनः द्रव्यानुयोग में आने वाले ग्रन्थों को गिन लें– जीवकाण्ड, कर्मकाण्ड, श्रीधवला, श्री जयधवला, महाबन्ध आदि ये सभी सिद्धान्त एवं समयसार, पञ्चास्तिकाय, प्रवचनसार, द्रव्यसंग्रह आदि अध्यात्म में। इसके साथ-साथ भावना ग्रन्थ भी गिनना चाहिए। ज्ञानार्णवकार आचार्य शुभचन्द्र ने कहा–भावना ही एकमात्र अध्यात्म का प्रवाह है। अतः अध्यात्म तक पहुँचने के लिए अनुप्रेक्षा जरूरी है। भावना ''आर्टिफिशयल'' नहीं होना चाहिए। भावना, भावना के अनुरूप होती है तब –

''भावना भवनाशिनी''

भावना ही भव का, संसार का उच्छेद करा देती है। आप लोगों का यह जिज्ञासु-भाव सराहनीय है। आपकी भावना ऐसी ही होती रहे, ऐसी भगवान से प्रार्थना करता हूँ। आप प्रभावना की ओर न देखकर भावना की ओर देखें और समझें कि हमारी भावना किस ओर बढ़ रही है। यदि विषयों की ओर नहीं है तो मैं समझूँगा कि आज का यह प्रवचन सार्थक है, नहीं तो काल अपनी गति से चल ही रहा है और हम अपनी चाल से। इससे कुछ होने वाला नहीं। हमारे द्रव्य का परिणमन, गुण का परिणमन और आत्म-परिणति, तीनों अशुद्ध हैं, इस अशुद्धता का अनुभव करना हमें इष्ट नहीं। अतः शुद्धि के अनुभव की ओर बढ़ें।

❑ ❑ ❑

गर्भकल्याणक

(उत्तरार्द्ध)

वस्तु है और उसके ऊपर आवरण है। वस्तु और उसके ऊपर दूसरे पदार्थों का दबाव है। जब वस्तुएँ स्वतंत्र हैं, अपना-अपना परिणमन करती हैं फिर इन बाहरी वातावरणों से प्रभावित होने का बंधन, आखिर क्यों ? इस प्रकार की जिज्ञासा लेकर प्रातःकाल कोई भव्य आया था, आचार्यश्री के चरणों में। वह भावुक है, साथ में विवेकवान् भी। उसका लक्षण बहुत अच्छा है कि ''अपना हित चाहता है।'' बिल्कुल ठीक, उपदेश जो होता है वह न देवों को होता है, न ही तिर्यंचों को, न

भोगभूमि के जीवों के लिए होता है और न नारकियों के लिए। उपदेश मात्र मनुष्यों के लिए है, वह भी जो समवसरण की शरण में गये हैं। वहाँ पर जितना क्षेत्र लांघना आवश्यक था, लाँघकर गये हैं। उन्हीं को देशना मिलती है।

देशना देना भगवान् का लक्षण नहीं है। उनका कर्त्तव्य नहीं है। उनके लिए अब कोई भी कर्त्तव्य शेष नहीं, कोई लौकिकता भी नहीं रही। वे बाध्य हो करके भी नहीं कहते हैं। मात्र जो पुण्य ले करके गया है—सुनने का भाव ले करके गया है प्रभु के चरणों में, वह उसे पा लेता है। जहाँ तक मुझे स्मरण है श्वेताम्बर साहित्य में देशना के बारे में कहा है कि-''प्रभु की देशना सर्वप्रथम देवों के लिए हुई'' परन्तु इसमें कोई तुक-तथ्य नहीं बैठता। जो भोगी होते हैं उनके लिए योग का व्याख्यान उपदेश हो, यह संभव-सा नहीं लगता, क्योंकि रुचि के बिना— **'इन्ट्रेस्ट' के बिना Enter (प्रवेश) संभव नहीं है। उसके बिना भीतरी बात, जो यहाँ चल रही है उतरेगी नहीं। प्रभु की देशना में बाहरी बात भले ही चलती रहे लेकिन वे सभी भीतर के लिए चलती हैं और वे भीतर ही भीतर गूँजती भी रहती हैं।**

उस भव्य ने हित तो चाहा है और वह हित किसमें है ? ऐसा पूछा है। हित मोक्ष में है **''स आह मोक्षः इति''** ऐसा आचार्य परमेष्ठी ने कहा, फिर उसे प्राप्त करने के साधनों के बारे में कहा – बात ऐसी है कि साध्य के बारे में दुनियाँ में कभी विसंवाद नहीं होते, होते हैं तो मात्र साधन को लेकर और उसको लेकर हुए बिना रहते भी नहीं हैं। मंजिल में विसंवाद नहीं होता, मंजिल से पथ की ओर नहीं चलते, बल्कि मंजिल को सामने कर जब चलना चाहते हैं तो पथ का निर्माण होता है। सबसे पहले पथ-विचारों में बनते हैं और विचारों में बने पथों का निवारण कैसे हो ? बाह्य पथों में तो मंजिल की पहुँच से, आसानी से निवारण संभव है लेकिन विचारों में कैसे ? प्रभु कहते हैं कि –उस समय हमारा ज्ञान पंगु ही रहेगा। अनन्तशक्तियों का पिण्ड जो आत्मा है, उसमें अन्तरायकर्म के क्षय से होने वाला जो बल, वह भी घुटने टेक देगा; इसमें कोई संदेह नहीं। उसका बल इतना होकर भी, कितना होकर? तीन लोक की सर्वाधिक शक्ति होकर भी क्यों एक व्यक्ति को भी झुका नहीं सकती। विचारों की पावर (शक्ति) बहुत हुआ करती है। विचारों की शक्ति एक कील के समान है।

एक भैंसा था। बहुत शक्तिशाली होता है भैंसा। एक छोटी-सी कील के सहारे उसे बाँध दिया जाता है। वह पूरी शक्ति लगाता है, फिर भी वह कील उखड़ती नहीं। क्यों नहीं उखड़ती ? ऐसी क्या बात है। बात ऐसी है, उसके निकालने के लिए पहले हिलाना आवश्यक होता है। बिना हिलाये वह पूरी शक्ति भी लगा दे, तो भी उखड़ नहीं सकती। कुछ ठीक-ठीक मेहनत करने पर उस कील को तो उखाड़ सकता है। परन्तु तीन लोक के नाथ, जो अनन्तशक्ति से सम्पन्न हैं, वे भी एक वस्तु का दूसरी वस्तु के ऊपर पड़ते प्रभाव को, भीतरी वस्तु के परिणमन में बाल-मात्र भी अन्तर नहीं

करा सकते। वे निरावरण अपने लिए हुए हैं, दूसरों (हम लोगों) के लिए नहीं।

मोक्ष एक मंजिल है। वहाँ तक पहुँचने के लिए मार्ग की नितान्त आवश्यकता है। क्या है वह मार्ग। तीन बातें हैं—दर्शन, ज्ञान और चारित्र जो कि 'सम्यक्' उपाधि से युक्त हैं।

''**सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः**'' तत्त्वार्थसूत्र - १/१, २

सम्यग्दर्शन का अर्थ क्या है? ''**तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं**'' कहा है। आप सोचते होंगे कि हम काँच ले लें, चश्मा लगा लें, उपनयन खरीद लें ताकि तत्त्वों को देख सकें और उनके ऊपर श्रद्धान कर सकें। लेकिन नहीं, तत्त्व क्या है? इसकी चर्चा तो बहुत हो सकती है परन्तु समझ में आ जाए, समझ में बैठ जाए, यह समझ से परे है। यहाँ पर तत्त्व और अर्थ के ऊपर श्रद्धान करने की बात कही गयी है न कि देखने की। ध्यान रखिये, तत्त्व कभी दिख नहीं सकता। जो दिखता है वह तत्त्व नहीं। जो दिखाने की कोशिश कर रहे हैं, वे भी दिखा नहीं सकते।

कोविदिदच्छो साहू संपडिकाले भणिज्ज रूवमिणं।
पच्चक्खमेव दिट्ठं परोक्खणाणे पवट्टंतं॥

(समयसार-१९९)

ऐसा कौन-सा विद्वान् है, कौन-सा साधु-सज्जन है, जो यह कहे कि आज भी मैं वस्तु तत्त्व को यूँ हाथ पर, हथेली के ऊपर रखकर देख रहा हूँ। अपनी आँखों से ? अर्थात् कोई नहीं। यदि कोई कहता भी है तो वह कहने वाला विद्वान् नहीं हो सकता। चाहे गणधरपरमेष्ठी प्रवचन दें या स्वयं वीरप्रभु। या कोई और भी क्यों न हो, उनके प्रवचन में जो तत्त्व आयेगा वह परोक्ष ही होगा। कोशिश करके अनन्तशक्ति लगा करके भी किसी प्रकार से, किसी की आँखों से वस्तुतत्त्व को दिखा दे ताकि उसका भला हो जाए-यह संभव नहीं। देखने का नाम सम्यग्दर्शन कतई है ही नहीं। किसी भी अनुयोग में देख लीजिए, देखने का नाम सम्यग्दर्शन नहीं। लेकिन पश्यति-जानाति, इस प्रकार कहा तो है। हाँ कहा है, टीकाकार ने इसे खोला भी है कि देखने का नाम सम्यग्दर्शन न लेकर यहाँ पर देखने का अर्थ श्रद्धान लेना चाहिए। प्रातःकाल एक बात चली थी कि सम्यग्दर्शन का अर्थ अपनी आत्मा में लीन होना है तथा अभी कहा—तत्त्वों के ऊपर श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है बात उलझन जैसी लगती है। 'समयसार' में भूतार्थ का नाम सम्यग्दर्शन है और तत्त्वार्थसूत्र में-तत्त्वार्थश्रद्धान का नाम सम्यग्दर्शन। जो तत्त्वों के ऊपर श्रद्धान करता है वह चूँकि अभूतार्थ माना जाता है। लेकिन इन दोनों में कोई विपरीतता नहीं है मात्र सोचने-समझने की बात जरूर है।

श्रद्धान जो होता है, वह परोक्ष पदार्थ का होता है। सामने आने के उपरान्त हमें उन चीजों पर श्रद्धान करने की कोई आवश्यकता नहीं होती। उसमें लीन होने के बाद का नाम तो संवेदन है, जो कि अध्यात्म ग्रन्थों में बार-बार सम्यग्दर्शन के लिए कहा जाता है। आगम ग्रन्थों में भी

सम्यग्दर्शन की बात कही है पर उसमें विभाजन कर दिया गया है। वह विभाजन यह है कि सम्यग्दर्शन श्रद्धान का ही नाम है लेकिन केवल श्रद्धान के द्वारा तीन काल में भी मुक्ति नहीं होगी। ज्ञान का नाम सम्यग्ज्ञान है लेकिन उससे भी मुक्ति नहीं होगी। इसी प्रकार चारित्र के द्वारा भी मुक्ति नहीं होगी। फिर मुक्ति किससे होगी ? मुक्ति होगी, जब भूतार्थता का अनुभव करेंगे तब। अर्थ यह हुआ कि सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये तीनों एक उपयोग की धाराएँ हैं। जिस उपयोग की धारा के द्वारा तत्त्वों पर श्रद्धान किया जाता है, उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं। जब वही उपयोग की धारा चिन्तन में लग जाती है, तब सम्यग्ज्ञान कहलाती है। जब कषायों का विमोचन, राग-द्वेष का परिहार करने लग जाती है तो उपयोग की धारा को सम्यक्चारित्र संज्ञा मिल जाती है।

''तत्र सम्यग्दर्शन तू जीवादिश्रद्धानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनम्। जीवादिज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं ज्ञानम्। रागादिपरिहरणस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं चारित्रम्। तदेव सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्राण्येकमेव ज्ञानस्य भवनम्। ततो ज्ञानमेव परमार्थमोक्षहेतुः।''

समयसार आत्मख्याति टीका-१५५

अमृतचन्द्राचार्य की आत्मख्याति की ये पंक्तियाँ हैं। बहुत कठिन लिखते हैं वे, लेकिन भाव तो समझ में आ ही जाता है-ज्ञान का श्रद्धान के रूप में परिणत होना सम्यग्दर्शन, ज्ञान का चिन्तन के रूप में परिणत होना सम्यग्ज्ञान और ज्ञान का रागद्वेष परिहार करने में उद्यत होना सम्यक्चारित्र है। इन तीनों की एकता से ही मुक्ति संभव है, अन्यथा कभी नहीं।

सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र-ये तीन नहीं हैं किन्तु उपयोग की धारा में जब तक भेद प्रणाली चलती है, तब तक के लिए भिन्न-भिन्न माने जाते हैं। आचार्यों ने अध्यात्म ग्रन्थों में इसे खोला है। इसी का नाम सराग सम्यग्दर्शन, भेदसम्यग्दर्शन, व्यवहार सम्यग्दर्शन और शुभोपयोगात्मक परिणति आदि-आदि कहा है। इसी का नाम श्रद्धान भी है। जब तक आत्मा अपने गुणों को प्रत्यक्ष नहीं देख लेता, तब तक उसे समझाना पड़ता है, उपदेश दिया गया है, कि तुम सर्वप्रथम इसको समझो। समझो का अर्थ-श्रद्धान करो, उतारो। एक बार श्रद्धान मजबूत हो गया तब ही श्रद्धेय, पदार्थ की ओर यात्रा/गति होगी अन्यथा तीन काल में भी संभव नहीं? इसे आचार्यों ने वीतराग सम्यग्दर्शन का साधक सम्यग्दर्शन माना है। उन्होंने कहा है-

''हेतु नियत को होई[१]''

जैसे प्रातःकाल भी छहढाला की पंक्ति कही गयी थी कि निश्चय सम्यग्दर्शन के लिए हेतुभूत यह व्यवहार सम्यग्दर्शन होता है। व्यवहार सम्यग्दर्शन फालतू नहीं है, किन्तु पालतू है। अभूत नहीं है, वह बाह्य भी नहीं है। अभूतार्थ की व्याख्या जयसेनाचार्यजी ने इतनी बढ़िया लिखी

है, अमृतचन्द्राचार्यजी ने भी अपनी आत्मख्याति में अभूतार्थ क्या वस्तु है, इसे लिखा है। उन्होंने कहा है–भेदपरक जो कुछ भी है वह अभूतार्थ है और अभेदपरक 'भूतार्थ'। इसको निश्चय सम्यग्दर्शन भी कहते हैं। इसी के साथ रत्नत्रय की एकता मानी गई है, लीनता मानी गई है, स्थिरता मानी गई है। जिसके द्वारा हमें साक्षात् केवलज्ञान की उपलब्धि अन्तर्मुहूर्त के अन्दर हो जाती है। यह विभाजन हमें आगम अर्थात् श्री धवल, श्री जयधवल, महाबन्ध, गोम्मटसार आदि ग्रन्थों में नहीं मिल सकेगा। यह मात्र अध्यात्म ग्रन्थों में ही मिलता है। इसके द्वारा यात्रा पूर्णता को प्राप्त होती है, अन्यथा जो व्यक्ति अपनी यात्रा इस जीवन में नहीं कर पाता तो उसे मुकाम करने की आवश्यकता पड़ेगी। उसका मुकाम बीच में ही होगा, मंजिल पर नहीं। जो सीधे मंजिल जाना चाहते हैं। उनकी प्रमुखता के साथ यह बात–अभेद रत्नत्रय की कही गई है।

सरागसम्यग्दर्शन परोक्ष–पदार्थ का हुआ करता है और श्रद्धान तब तक ही होता है जब तक पदार्थ परोक्ष है। वीतराग सम्यग्दर्शन का विषय आत्मतत्त्व, शुद्धपदार्थ, शुद्ध अस्तिकाय और शुद्ध समयसार है–ऐसा आचार्यों ने कहा है। इसको और भी बारीकी से खोलने का प्रयास किया है, उन्होंने कहा है कि–जिस प्रकार केवली भगवान अपनी दृष्टि के द्वारा शुद्ध तत्त्व का अवलोकन करते हैं, वैसा अवलोकन छद्मस्थावस्था में '**न भूतो न भविष्यति**', क्योंकि बात यह है कि चाहे शुद्धोपयोग हो या शुभोपयोग या अशुभोपयोग, कोई भी उपयोग हो, जब तक कर्मों के द्वारा उपयोग प्रभावित होता है तब तक उसमें वस्तुतत्त्व का यथार्थावलोकन नहीं हो सकता। अतः बारहवें गुणस्थान तक निश्चयसम्यग्दर्शन की संज्ञा दी जाती है। इसके बाद शुद्धोपयोग की परिणति, केवलज्ञान के उपरान्त नहीं रहती। इसका मतलब यह हो गया कि–शुद्धोपयोग भी आत्मा का स्वभाव नहीं है। शुभोपयोग और अशुभोपयोग तो है ही नहीं। इसमें उन्होंने हेतु दिया, ध्यान का नाम शुद्धोपयोग है और ध्यान आत्मा का स्वभाव नहीं, अतः शुद्धोपयोग भी आत्मा का स्वभाव नहीं।

"**इन्द्रियज्ञानं यद्यपि व्यवहारेण प्रत्यक्षं भण्यते तथापि निश्चयेन केवलज्ञानापेक्षया परोक्षमेव**"(प्रवचनसार ५५-७३) जब इन्द्रियज्ञान की अपेक्षा, मन की अपेक्षा, श्रुत की अपेक्षा और कोई बाहरी साधनों की अपेक्षा से तत्त्वों का निरीक्षण करते हैं तब शुद्धोपयोग भी प्रत्यक्ष संज्ञा को प्राप्त हो जाता है। लेकिन शुद्धोपयोग और केवलज्ञान में उतना ही अन्तर है, जितना सर्वज्ञता और छद्मस्थावस्था में। अध्यात्म ग्रन्थों में इस सबका खुलासा किया गया है। जो व्यक्ति इस परम्परा का सही ढंग से अध्ययन करता है उसके लिए कहीं पर भी विसंवाद का कोई सवाल ही नहीं।

सर्वप्रथम हमें जो सम्यग्दर्शन उत्पन्न होगा वह व्यवहार सम्यग्दर्शन- सराग-सम्यग्दर्शन ही होगा। इसकी उत्पत्ति में दर्शनमोहनीय का और चारित्रमोहनीय की अनन्तानुबन्धी का उपशम-क्षय-क्षयोपशम होना अनिवार्य है। इसी का नाम व्यवहार सम्यग्दर्शन है। इसके बल पर ही आगे कदम

उठेंगे। यदि व्यवहार सम्यग्दर्शन नहीं है तो मोक्षमार्ग में आगे कदम उठा सकने का कोई सवाल ही नहीं रह जाता है। महाराज! एक प्रश्न बार-बार आता है कि व्यवहार पहले होता है या निश्चय ? कैसे क्या होता है, कुछ यह भी बता दीजिए? भैय्या! निश्चय, व्यवहार के बिना नहीं होता और व्यवहार जो होता वह निश्चय के लिए होता है। अब निर्णय करना है कि कौन पहले होता है, कौन बाद में। मैं तो आपसे यही कहूँगा कि यदि आपको समझना है तो दो की जगह तीन रखिये, अब क्रम स्पष्ट हो जायेगा। लौकिक दृष्टि में निश्चय और निर्णय का भेद समाप्त कर रखा है, इसलिए यह विवाद है। लेकिन बन्धुओ! निर्णय अलग है और निश्चय अलग। सर्वप्रथम निर्णय होता है, क्योंकि निर्णय के बिना, अवाय के बिना कदम ही आगे नहीं उठा सकते और निश्चय संज्ञा जिसकी दी गई है उसका अर्थ– ''पर्याप्त मात्रा में सब कुछ प्राप्त कर लेना है''। निश्चय का नाम साध्य है। व्यवहार साधन होता है। इस प्रकार **जिस साध्य को सिद्ध करना-प्राप्त करना है उसका लक्ष्य बनाना निर्णय है और जिसके माध्यम से, साधन से साध्य सिद्ध होता है वह व्यवहार है तथा साध्य की उपलब्धि होना निश्चय। इस तरह पहले निर्णय होता है फिर व्यवहार और अन्त में निश्चय है। निर्णय के बिना जो मार्ग में आगे चलते हैं वह गुमराह हो जाते हैं और व्यवहार के बिना जो व्यक्ति निश्चय को हाथ लगाना चाहते हैं उनकी क्या स्थिति होती है** ? तो आचार्य कहते हैं –

ज्ञान बिना रट निश्चय-निश्चय निश्चयवादी भी डूबे।
क्रियाकलापी भी ये डूबे, डूबे संयम से ऊबे ॥
प्रमत्त बनकर कर्म न करते अकम्प निश्चल शैल रहे।
आत्मध्यान में लीन किन्तु मुनि, तीन लोक पर तैर रहे॥

समयसार कलश-१११ का पद्यानुवाद (निजामृतपान से)

अमृतचन्द्रसूरि ने आत्मख्याति के कलश में एक कारिका लिखी, जिसका यह भावानुवाद किया गया है–निश्चय-निश्चय, कहने मात्र से निश्चय कभी हाथ नहीं लग सकता और मात्र व्यवहार करते-करते भी कभी निश्चय की प्राप्ति नहीं हो सकती। निर्णय करने से भी मतलब सिद्ध होने वाला नहीं। निर्णय भी आगमानुकूल ही होना चाहिए। व्यवहार भी ऐसा हो जो निर्णय के अनुरूप आगे पग बढ़ा रहा हो और निश्चय की भूख खोल रहा हो। अन्यथा तीनों व्यर्थ हैं। अर्थात् **वह निर्णय सही नहीं है जो व्यवहार की ओर कदम नहीं बढ़ाता और वह व्यवहार भी सही नहीं माना जाता जो निश्चय तक नहीं पहुँच पाता-मात्र व्यवहाराभास है। ''हेतु नियत को होई''**– व्यवहार वास्तविक वही है जो निश्चय को देकर ही रहता है। कारण वही माना जाता है जो कार्य का मुख दिखा ही देता है। ऐसा संभव नहीं कि, प्रभात के ५-६ तो बज जायें और पौ न फटे। प्रातः

सूर्योदय से पूर्व ही यह श्रद्धान हो जाता है कि ललामी आ चुकी है, अब प्राची दिशा में नियम से सूर्योदय होगा। यही बात यहाँ कही गई है कि श्रद्धान रखो, किसके ऊपर श्रद्धान रखें ? तो सच्चे देव-गुरु-शास्त्र के ऊपर श्रद्धान रखो, यही व्यवहारसम्यग्दर्शन है।

श्री धवल का वाचन हो रहा था। उस समय यह बात आई थी कि दर्शनमोहनीय क्या काम करता है ? आचार्यों ने लिखा-जो सात तत्त्वों को विषय बनाने की क्षमता अथवा उनके ऊपर श्रद्धान करने की क्षमता को Fail विफल कर देता है वह दर्शनमोहनीय है। मतलब यह हुआ कि मात्र शुद्धात्मा की बात ही नहीं कही गई श्री धवल में। इसीलिए आचार्य कहते हैं कि-दर्शनमोहनीय की वजह से जीव की दृष्टि Wrong (गलत) हो रही है। दृष्टि अर्थात् श्रद्धान ही गलत है।

शुद्ध आत्मतत्त्व विद्यमान है और उसको प्राप्त करने की क्षमता भी। लेकिन क्षमता होते हुए भी आज तक हम प्राप्त नहीं कर सके। इसमें क्या गड़बड़ी हो रही है ? आचार्य कहते हैं कि-हमारा आत्मतत्त्व-द्रव्य उलट गया है, पलट गया है। हमारे द्रव्य का परिणाम कैसा हो रहा है? परिणमन जो हो रहा है वह पदार्थों-गुणों और द्रव्यों का हो रहा है। पर्याय का कभी भी परिणमन नहीं हुआ करता। पर्याय अपने-आप में परिणाम ही है। उसकी कोई परिणति नहीं होती। कर्ता जो होता है वही परिणमन करता है- परिणमन शील हुआ करता है। फिर द्रव्य शुद्ध कैसे माना जा सकता है,जैसा कि कहा जाता है। **जिस द्रव्य से अशुद्ध पर्यायें उत्पन्न हो रही हैं वह द्रव्य अशुद्ध ही है। ऐसा कभी नहीं हो सकता कि द्रव्य का परिणमन तो शुद्ध हो और उसके 'परिणाम' अर्थात् पर्यायें अशुद्ध निकलें।**

मैं गुण को ले करके कुछ बात और कहना चाहूँगा कि शुद्धोपयोग गुण अपने आप में शुद्ध नहीं है, किन्तु शुद्ध होने का कारण होने से शुद्धोपयोग कहा जाता है।

शुद्धोपयोग आत्मा का स्वभाव तीन काल में नहीं हो सकता। इसलिए शुद्धोपयोग पैदा करने वाला जो आत्मा है वह शुद्धात्मा नहीं है। अतः स्पष्ट है कि ज्ञानगुण को शुद्ध बनाना होगा। आत्मद्रव्य को शुद्ध बनाना होगा। पर्याय को कोई कभी भी शुद्ध नहीं बना सकता। पर्याय तो पकड़ में भी नहीं आ सकती। ध्यान रखिये, हमें पर्याय को नहीं मांजना। पर्याय को मांजने में लग जायेंगे तो गड़बड़ हो जाएगा। महाराज! फिर द्रव्य को शुद्ध कैसे कहा गया है ? आचार्य कहते हैं कि द्रव्य को शुद्ध इसलिए कहा गया कि उसमें शुद्ध होने की क्षमता है। शुद्ध भी दो प्रकार से अभिव्यक्त होने योग्य है-एक तो अनन्तकाल से एक द्रव्य में कोई अन्य द्रव्य के प्रदेश आकर चिपके नहीं। मिले नहीं। इसका उसमें और उसका इसमें कुछ भी संकर नहीं हुआ, व्यतिकर नहीं हुआ। इस अपेक्षा से द्रव्य को शुद्ध कहा गया है। यह भिन्न द्रव्यों की अपेक्षा से कहा गया है। दूसरी, परिणमन की अपेक्षा से शुद्धि कही जाती है। यानि "**स्वभावात् अन्यथा भवनं विभावः**" यह अशुद्धि है। ज्ञान गुण का

स्वभाव से अतिरिक्त जो परिणमन है वह विभाव है। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, शुभोपयोग, अशुभोपयोग, शुद्धोपयोग आदि जो कोई परिणमन है, केवलज्ञान के पूर्व की जितनी भी अवस्थाएँ हैं, वे सभी अशुद्ध गुण की परिणतियाँ हैं। इस प्रकार की श्रद्धा सम्यग्दृष्टि जीव गुरुदेव के मुख से सुनकर अथवा जिनवाणी माँ के इशारे से बना लेता है, भले ही वह तत्त्व देखने में नहीं आ रहा हो। इसलिए कहा –

कोविदिदच्छो साहू संपडिकाले भणिज्ज रूवमिणं।
पच्चक्खमेव दिट्ठं परोक्खणाणे पवट्ठंतं॥

(समयसार-१९९)

आत्मतत्त्व का ऐसा ही स्वरूप है। इसलिए इसके ऊपर श्रद्धान नहीं रहने के कारण संसारी प्राणी दर-दर भटकता चला जा रहा है। अपनी शक्ति को एक बार भी उघाड़ने का प्रयास नहीं किया, अनन्तकाल व्यतीत हो गया इस जीव का। अनन्तों बार माँ के उदर में जा-जाकर कम से कम भी नौ-नौ महीनों तक शीर्षासन लगाया। ध्यान रखिये, कोई भी हो, उसे नौ महीने तक माँ के उदर में शीर्षासन लगाना ही पड़ता है –

जननी उदर वस्यो नव मास अंग सकुचते पाई त्रास।
निकसत जे दुख पाये घोर, तिनको कहत न आवे ओर॥

(छहढाला-१/१३)

कहाँ तक कही जाए उस वेदना की कथा। वेदना होना वहाँ स्वाभाविक है, लेकिन इतनी वेदना-पिटाई होने के बावजूद जीव कभी मिट नहीं सका। पिटना बात अलग है और मिटना अलग। द्रव्य पिट सकता है, मिट नहीं सकता। उसके ऊपर अमिट छाप है। वस्तु, द्रव्य का यह स्वभाव है कि वह कभी मिट नहीं सकता। वह तो 'था', 'है' और 'रहेगा'। ऐसा होने मात्र से उसे सुख नहीं, सुख का अनुभव नहीं हो सका आज तक। इसे जब तक अटूट श्रद्धान नहीं होगा कि जन्म, जरा, मृत्यु जैसे महान् रोग नष्ट कर **मैं भी शुद्ध बन सकता हूँ, मेरे गुण, द्रव्य और मेरी जो कुछ भी स्थितियाँ हैं, उन सबको शुद्ध बना सकता हूँ। तब तक ये राग-द्वेष नष्ट होने वाले नहीं।** ऐसा श्रद्धान कौन बना सकता है? जिसका दर्शनमोहनीय कर्म का उपशम-क्षय-क्षयोपशम होगा, वही कर सकेगा। इसके बिना श्रद्धान होना तीन काल में भी संभव नहीं, भले ही वह श्रद्धान को शब्दों में कह सकता है लेकिन श्रद्धान जैसी शुभ घड़ी उसे प्राप्त नहीं है।

धन्य हैं वे जो भगवान् बनने चले हैं। वह व्यक्ति महान् भाग्यशाली है। जिसको इसके ऊपर यथार्थ श्रद्धान हो गया कि मैं भी इसी प्रकार का तत्त्व हूँ, ऐसा बन सकता हूँ, जो यद्वा-तद्वा जिस किसी भी व्यक्ति की कही बातों का श्रद्धान नहीं करता, सच्चे देव-गुरु-शास्त्र पर श्रद्धान करता है,

उसे ही व्यवहार सम्यग्दृष्टि कहते हैं। वह कर्म के क्षय को उद्देश्य बनाकर तत्त्व श्रद्धान, सम्यग्ज्ञान के साथ-साथ आगे कदम बढ़ायेगा और क्रमशः महावीर तक जाएगा।

विषय पुनः दुहरा दूँ। वीतराग सम्यग्दर्शन अभेदरत्नत्रय की प्राप्ति के साथ ही हुआ करता है। **उपयोग की धारा जिस समय शुद्ध में ढल जाती है उस उपयोग को शुद्धोपयोग कहते हैं।** शुद्धोपयोग वह वस्तु है, जो सम्यग्दर्शन के द्वारा आगे बढ़कर, अपनी आत्मा में लीन हो जाता है। इसी को निश्चय सम्यग्दर्शन भी कहते हैं। आचार्यों ने, अमृतचन्द्राचार्य ने और जयसेनाचार्य ने भी खोला है इसे। उन्होंने कहा-"**अत्र तु वीतरागसम्यग्दृष्टिनां कथनम्**" यहाँ पर वीतराग सम्यग्दृष्टियों का ही कथन है। नीचे वाले की विवक्षा नहीं है। फिर महाराज क्या नीचे वाला असफल माना जाएगा? नहीं, अपने आप में-अपनी कक्षा में तो सफल है, ऊपरी कक्षा में उसकी बात नहीं कही जाएगी, क्योंकि यहाँ पर अभेदरत्नत्रय की बात कही जा रही है। जबकि श्री धवल, श्री जयधवल, महाबन्ध इत्यादि में सम्यग्दर्शन को चतुर्थ गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक घटाते चले जाते हैं, परन्तु आचार्य कुन्दकुन्ददेव कहते हैं कि हम यहाँ पर जो बात कह रहे हैं, वह श्रद्धान वाली बात नहीं है, किन्तु ध्यान वाली बात है। ध्यान से सुनिये आप।

ध्यान की बात करना अलग है और ध्यान से बात करना अलग। इन दोनों में बहुत अन्तर है। ध्यान के केन्द्र खोलने मात्र से कोई ध्यान में केन्द्रित नहीं होता। आज हम मात्र उपदेश देने में-ध्यान के केन्द्र खोलते जा रहे हैं, इससे अध्यात्म का प्रचार-प्रसार नहीं होगा किन्तु प्रचाल होगा। चार और चाल में क्या अन्तर है ? बहुत अन्तर है। चार का अर्थ स्वयं में चलने में आता है चरति एवं चार और प्रचार में वह बाहर की ओर भाग रहा है। इतना अन्तर है दोनों में।

वीतराग-सम्यग्दर्शन अभेदपरक होता है और सराग-सम्यग्दर्शन भेदपरक। मोक्षमार्ग में दोनों आवश्यक हैं। एक उदाहरण दे देता हूँ-बहुत दिन पहले, गृहस्थावस्था की बात है। कार में बैठकर जा रहे थे। गाड़ी तेज रफ्तार से चल रही थी। उस समय ड्राइवर को सामने से एक गाड़ी आती हुई देखने में आ गई-कानों में 'हार्न' की आवाज भी आ गई। ड्राइवर ने ऊपर वाली लाइट जला दी, जिसका प्रकाश सामने आती गाड़ी पर पड़ा, गाड़ी देख लेने पर लाइट पुनः नीची कर दी। निश्चय और व्यवहार, यहाँ दोनों घटित हो जाते हैं। **निश्चय अपने लिए है और व्यवहार पर के लिए ऐसा नहीं, किन्तु व्यवहार भी पर के साथ-साथ स्व के लिए होता है।** जैसे कि गाड़ी की लाइट चूँकि दूसरी गाड़ी देखने के काम आती है। इसका अर्थ-वह लाइट मात्र दूसरों के लिए ही है, ऐसा नहीं है, किन्तु हम स्वयं 'एक्सीडेन्ट' से बचें इसलिए भी उसका प्रयोग होता है। नीचे की लाइट यदि गुम कर दी जाए तो आगे चलना ही मुश्किल हो जाएगा। इसके साथ-साथ एक और स्थिति है कि बीच में एक गाड़ी जा रही थी उसने ज्यों ही अपना ब्रेक लगाया त्यों ही गाड़ी के पीछे

जो 'नम्बरप्लेट' थी उस पर लगी लाइट जल गयी। वह कैसी होती है भैय्या! लाल होती है। लाल नहीं होती। लाइट तो जैसी होती है वैसी ही है। लेकिन उसका काँच लाल होता है। वह सही-सही व्यवहार चलाने के लिए लगाया जाता है जिसके माध्यम से मार्ग बाधक-तत्त्वों से रहित होता है और गाड़ी की यात्रा आगे निर्बाध होती है।

व्यवहार और निश्चय, दोनों को समझने की आवश्यकता है। व्यवहार कोई खेल नहीं है। व्यवहार, निश्चय के लिए है। जब तक निश्चय नहीं है तब तक व्यवहार का पालन-पोषण करना आवश्यक है, क्योंकि व्यवहार के द्वारा ही हम निश्चय की ओर ढलेंगे-बढ़ेंगे। निश्चय की भूमिका बहुत लम्बी-चौड़ी नहीं है, किन्तु केवलज्ञान होने के उपरान्त निश्चय की-शुद्धोपयोग की वही स्थिति होती है जो शुद्धोपयोग होने के पूर्व शुभोपयोग और अशुभोपयोग की होती है। **कार्य हो जाने पर कारण की कोई कीमत नहीं रह जाती, लेकिन कार्य से पूर्व कारण की उतनी ही कीमत है जितनी कार्य की।** सराग दशा में, व्यवहार दशा में हमें किस रूप में चलना है। इसको जानने की बड़ी आवश्यकता है। व्यवहार को व्यवहार के रूप में बनाए रखिए। व्यवहार को व्यवहाराभास मत बनाइए। व्यवहार जब व्यवहाराभास बन जाता है तो न वह निश्चय को पैदा करता है और न लौकिक व्यवहार को, उसका कोई भी फल नहीं होता। आभास मात्र रह जाता है। आभास में सुख नहीं, शान्ति नहीं मात्र वह आभास है इसीलिए–"प्रमत्त बनकर कर्म न करते अकम्प निश्चल शैल रहे" आत्मा में अकम्प रहने का मतलब है आत्मा का अप्रमत्त होना। "प्रमत्त बनकर कर्म करते" यह अवस्था बावलेपन की अवस्था है जो भीतरी दृष्टि को Fail (असफल) कर देती है। उसके द्वारा केवलज्ञान तीनकाल में नहीं हो सकता। प्रमत्त बनने का अर्थ मिथ्यादृष्टि होना नहीं है, बल्कि सराग अवस्था में जाना। यह काम इस कक्षा का नहीं। यहाँ अप्रमत्त अवस्था का, अभेद अवस्था का प्रसंग है। अमृतचन्द्राचार्य ने प्रवचनसार की टीका में कहा है कि–मात्र सम्यग्दर्शन के द्वारा मुक्ति नहीं और उसके बिना भी मुक्ति नहीं। चारित्र के द्वारा भी मुक्ति नहीं और उसके बिना भी मुक्ति नहीं। अन्त में उन्होंने कहा–रत्नत्रय के द्वारा भी मुक्ति नहीं होगी, नहीं होगी, नहीं होगी। तब आप कहेंगे-हमें रत्नत्रय का अभाव कर लेना चाहिए। आपके पास जब रत्नत्रय है ही नहीं तो अभाव क्या करेंगे ? वस्तुतः मोक्षमार्ग ध्यान के अलावा और कुछ भी नहीं है। वह भी उपयोग की एकाग्रदशा का नाम है।

हलुआ में न हम शक्कर पाते हैं, ना घी और ना आटा, किन्तु शक्कर, घी और आटा के बिना हलुवा कुछ नहीं है। हाँ! तीनों को तीन कोनों में रख दीजिए तब हलुआ नहीं बनेगा, मिला दे तो भी नहीं बनेगा, फिर कब बनेगा? जब तक अग्नि का योग नहीं दिया जाएगा-तीनों मिलकर एकमेक नहीं होंगे तब तक हलुआ नहीं बन सकेगा। इसी प्रकार उपयोग में, जो बाहरी-वृत्ति को

देखकर उथल-पुथल मच रही है, उसे भीतर कर लेने को ही अभेद कहते हैं। समयसार में एक गाथा आती है, जिसमें एक नामावली दी गई है–

बुद्धी ववसाओवि य अज्झवसाणं मदी य विण्णाणं।
एकट्ठमेव सव्वं चित्तं भावो य परिणामो॥

(समयसार-२९०)

विज्ञान कहो, परिणाम कहो, अध्यवसान कहो, ये नामावली एक ही बात की गठरी में बँध जाती है। मतलब इन सबसे ज्ञान का चिन्तन-उपयोग को भिन्न रखना है। **सराग सम्यग्दर्शन के साथ चिन्तन का जन्म होता, किन्तु वीतराग सम्यग्दर्शन में चिन्तन मौन-शून्य हो जाता है। सराग सम्यग्दर्शन में ज्ञान को सम्यक् माना जाता है, जबकि वीतराग सम्यग्दर्शन में ज्ञान को स्थिर माना जाता है।**

ज्ञान कम्पायमान है, उसकी व्यग्रता को मिटाने के लिए ध्यान है। ध्यान ही मुक्ति है। हाँ! पहले श्रद्धान होता है, ध्यान नहीं। वह श्रद्धान भी, जब तक वस्तु परोक्षभूत है तब तक ही अनिवार्य है, बाद में श्रद्धान नहीं। वीतराग सम्यग्दर्शन को श्री धवल, श्री जयधवल आदि में ग्यारहवें-बारहवें गुणस्थान में घटाते हैं, जिसको छद्‌मस्थ वीतराग संज्ञा देते हैं। आचार्य कुन्दकुन्ददेव भी कहते हैं कि वीतराग बनने के उपरान्त करना-धरना सब कुछ टूट जाता है। वस्तुतः यह एक सम्यक् प्रणाली है। इसके ऊपर प्रगाढ़ श्रद्धान करना ही जिनवाणी की सेवा है। श्रद्धान करना मात्र सेवा नहीं है, किन्तु उसके अनुसार अपने जीवन में उन सिद्धान्तों को ढालते चले जाना ही सच्ची सेवा है। तब कहीं जिनवाणी का आशय-अभिप्राय क्या है ? इसे ज्ञात कर सकेंगे। लेकिन हम तो ऐसा निर्णय ले लेते हैं कि सर्वप्रथम तो सारा का सारा सुना जाए, बाद में हम करना प्रारम्भ करेंगे, जो होना असंभव है। आचार्य एक-एक कदम आगे बढ़ने पर एक-एक सूत्र देते चले जाते हैं। यदि वह कदम उठाता है तो उसे आगे का सूत्र बताया जाता है। यदि नहीं उठाता तो, ज्यों का त्यों रहने देते हैं। उसे पीछे भी नहीं भगाते। कहते हैं–''यहीं पर रह जाओ, कोई बात नहीं। पीछे वाले आएँ तो उनके साथ आ जाना'' ऐसा कहकर उसे छोड़ देते हैं। साथ-साथ यह भी कह देते हैं कि तुम आगे बढ़ोगे तो तुम्हें भी नियम से सूत्र मिलेंगे।

भगवान का, आचार्यों का हमारे ऊपर बड़ा उपकार है, जिन्होंने ऐसे-ऐसे गूढ़ तत्त्वों की, सामान्य से सामान्य व्यक्ति समझ सकें, ऐसी प्ररूपणा की। उन्होंने इसे मुड़कर भी नहीं देखा। मुड़कर देखना उनका स्वभाव भी नहीं है। कहाँ तक मुड़कर देख सकेंगे ? अनन्तकेवली हमारे सामने-सामने से निकल गए हैं और हम इसी स्टेशन पर खड़े हैं। जैसे–गाड़ियाँ आती हैं-जाती हैं। आती हैं, चली जाती हैं। बहुत सारे लोग चले जाते हैं। जाते-जाते मुड़कर के देखते तक नहीं। हमें

बुलाते नहीं। कदाचित् देख भी लें, आवाज भी दे दें, तब भी आते नहीं है। ऐसी कैसी बात है? कैसी करुणा है इनकी ? भैय्या! उनका स्वभाव ही ऐसा है। क्या करें ! कहाँ गये वे कुन्दकुन्द भगवान, उमास्वामी, समन्तभद्राचार्य, अकलंकस्वामी और सारे के सारे अनन्त तीर्थंकर कहाँ गये ? वर्तमान में हम केवल उनका परोक्ष रूप में स्मरण करते हैं। ऐसा समवसरण होता है, ऐसा गर्भकल्याणक, ऐसा जन्मकल्याणक, तपकल्याणक पाँचों कल्याणक होते हैं। उनके तो कल्याणक हो गए-हो जाते हैं। यहाँ पर तो पंचों का कल्याण नहीं होता, दूसरी जनता की बात ही अलग है। क्यों नहीं होता? आचार्य कहते हैं –

'धम्मं भोगणिमित्तं' (समयसार-२७५)

धर्म को हम भोग-ऐशो-आराम के लिए, ख्याति-पूजा-लाभ के लिए, नाम बढ़ाई के लिए करते हैं। परन्तु ऐसा नहीं होना चाहिए। हम जो करते हैं, वह हमारे लिए ही है, हमारी उन्नति के लिए है, यह विश्वास पहले दृढ़ बनाना चाहिए, फिर भी यदि होता है तो क्या करें ? अनन्तकाल से इस प्रकार का कार्य ही नहीं किया। इसलिए जो भावुकता में आकर कर लेते हैं, उनको भी समझना, समझाना होगा कि–देखो भैय्या! इसका परिणाम अच्छा निकलना चाहिए। यह काम तो बहुत अच्छा किया आपने। जैसे-आप सुन रहे हैं, तब मैं यह थोड़े ही कहूँगा कि आपका सुनना ठीक नहीं। बल्कि मैं तो यहीं कहूँगा कि पंचों का कल्याण इस प्रकार से कभी नहीं हो सकता, जब तक ये शब्द नहीं कहे जायेंगे तब तक कल्याण होने वाला नहीं। आचार्य कहते हैं–ख्याति, पूजा, लाभ के लिए नहीं किन्तु कर्मक्षय के हेतु धर्म होना चाहिए।

आदहिदं कादव्वं, जं सक्कइ तं परहिदं च कादव्वं।
आदहिद-परहिदादो, आदहिदं सुट्ठु कादव्वं॥
(भगवती आराधना-१५४/३६१)

आचार्य कुन्दकुन्ददेव की वाणी कितनी मीठी है और कितनी पहुँची हुई है तथा कितनी तीखी भी है। क्या कहती है ? आत्मा का हित पहले स्वयं करें। आप तो सोचते हैं, अपना कल देखा जाएगा, आज तो दूसरों का करा दूँ। दूसरों का तू नहीं कर सकेगा। पहले तू खुद भोजन करने बैठ जा, तुझे देखकर दूसरों को भी रुचि उत्पन्न हो सकती है। भोजन की माँग हो सकती है। लेकिन स्वयं के बिना दूसरों को समझ में नहीं आयेगा। जो कुछ करना है कर लो। उपकार भी करना है तो लोगों से कह दो–तुम भी बैठ जाओ, भाई, तुम भी बैठ जाओ। लेकिन जिस व्यक्ति को भोजन करना ही नहीं, तो उसकी ओर पीठ कर दे और एक बार जल्दी-जल्दी भोजन कर लें। संसार में कोई स्थायी रहने वाला नहीं। 'संसार' शब्द ही कह रहा है कि जल्दी-जल्दी काम कर लें, नहीं तो सूर्य अस्ताचल की ओर जा रहा है, वह कभी भी रुकने वाला नहीं। उसको मैं क्या कहूँ, स्वयं

आचार्य कहते हैं कि–भगवान भी उसे रोकना चाहे तो नहीं रोक सकते और भगवान किसी को रोकना नहीं चाहते।

काल रुकता नहीं और किसी को रोकता भी नहीं। इतना तो अवश्य है कि-चल-चल, मेरे साथ चल। तेरे भीतर ही भीतर परिवर्तन होता चला जाएगा, बस! तू अपने स्वभाव की ओर देख ले। मैंने तो अपने स्वभाव को न छोड़ा है, न कभी छोडूँगा। क्यों नहीं छोड़ता? आचार्य कहते हैं कि – कालद्रव्य, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य और आकाशद्रव्य, शुद्धद्रव्य-शुद्धतत्त्व हैं। इनके लिए शुद्धि की कोई आवश्यकता नहीं होती, किन्तु जीव और पुद्गल, ये दो तत्त्व ऐसे हैं, जो शुद्ध भी हो जाते हैं और अशुद्ध भी। पुद्गल द्रव्य ऐसा ही है कि वह शुद्ध होने के उपरान्त भी कालान्तर में अशुद्ध हो सकता है, परन्तु जीव तत्त्व ऐसा नहीं है, वह एक बार शुद्ध हुआ कि पुनः कभी भी अशुद्ध नहीं होता। उसके शुद्ध करने के लिए क्या करें, वह तो आज तक शुद्ध नहीं हो पा रहा है ? उसे शुद्ध करने के लिए सारे के सारे साबुन बेकार हैं, फिर उसके लिए कौन-सा रसायन है, जिसके द्वारा उसकी अशुद्धि मिट सकती है ? आचार्य कहते हैं कि एकमात्र ही रसायन है उसके लिए, वह भी यह–

रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विरागसंपण्णो।
एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज॥
(समयसार-१५०)

चार-चरणों में, चार बातें कही गयी हैं–बन्ध की व्यवस्था-राग करोगे तो बन्ध होगा, मुक्ति की व्यवस्था-वीतरागता को अपनाओगे तो मुक्ति मिलेगी, उपदेश-यह जिनेन्द्र भगवान का उपदेश है। इसलिए ''जो कुछ होना है सो होगा'' ऐसा नहीं कह रहे कुन्दकुन्द भगवान। क्या कहते हैं–''**तम्हा कम्मेसु मा रज्ज**'' यह राग की बात छोड़ दे।''

''**यह राग आग दहे सदा तातै समामृत सेईए**'' छहढाला - ६/१५

अरे! ममता, मोह, मत्सर की इस देह को धारण करते-करते, अनन्तकाल व्यतीत हो गया। एक बार भी आँख मीचकर अपने आपको देख ले कि ''मैं कौन हूँ'', ''यहाँ पर क्यों आया हूँ'', ''कब तक चलना है'', इसके बीच में कोई रास्ता है कि नहीं ?

आज अफसोस की बात तो यह है कि, इस संसारी प्राणी को ज्ञान मिलने के उपरान्त भी, ''**धम्मं भोगणिमित्तं**'' है। सोचता है, बहुत सोचता है, '**सद्दहदि**'-श्रद्धान करता है, '**पत्तेदिय**' प्रतीति, '**रोचेदि**' रुचि करता है, '**फासेदि**' स्पर्श भी करता है। तत्त्व का ऐसा स्पर्श करता है। जैसे–दो मेगनेट मिल गए हों, फिर भी भीतर का भोग परिणाम समाप्त नहीं हो पा रहा है। कल या परसों के दिन हम सब देखेंगे कि-भोगों को किस प्रकार से उड़ा देते हैं–लात मार देते हैं भगवान,

इस सबकी आयोजना आप सुनेंगे, देखेंगे भी। गद्गद् हो जाएगा हृदय। आज हमारे पास एक कोड़ी बराबर भी भोग नहीं है, फिर भी उसको छोड़ने की हिम्मत नहीं होती। लेकिन तीन लोक की सम्पदा, उसको भी लात मारते हैं। यह कमाल की बात है, भीतरी बात है। भीतर से ही यह काम होता है, उसके बिना सम्भव नहीं है।

सही दृष्टि यही है, जिसको यह श्रद्धान हो गया है–तीन लोक की सम्पदा मेरे काम आने वाली नहीं, यह सम्पदा वस्तुतः सम्पदा ही नहीं। सम्पदा किसको कहते हैं ? आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने स्वयंभूस्तोत्र में अरनाथ भगवान की स्तुति करते हुए कहा है –

मोहरूपो रिपुः पापः कषायभटसाधनः।
दृष्टिसम्पदुपेक्षास्त्रैस्त्वया धीर! पराजितः॥
(स्वयंभू स्तोत्र-१८/५)

हे भगवन्! सम्पदा वही होती है, जो वीतराग-विज्ञान रत्नत्रय है। इसके माध्यम से उसी को प्राप्त कर सकते हैं, जो अनन्तकाल तक अक्षय-अनन्त मानी जाती है। वही मेरे लिए प्राप्तव्य है-प्रयोजनीय है, इस प्रयोजन को बना करके जो व्यक्ति सात तत्त्वों के ऊपर श्रद्धान करता है, नौ पदार्थों, छह द्रव्यों के ऊपर श्रद्धान करता है, उसका श्रद्धान ही वीतराग-विज्ञान के लिए कारण बन जाएगा और अन्यथा प्रयोजन के साथ वही ख्याति-पूजा-लाभ या सांसारिक वैभव के लिए भी कारण बन जाएगा, जिनवाणी तो आपने पढ़ी, लेकिन भोगों के लिए पढ़ी तो प्रयोजन सही-सही नहीं माना जाएगा।

वर्णीजी की '**मेरी जीवन गाथा**' में एक घटना है। उसमें उन्होंने लिखा है–देखो बन्धुओ! ध्यान रखिये, ''**कभी भी जिनवाणी माता के माध्यम से अपना व्यवसाय नहीं चलाना**'' क्योंकि, जिसके द्वारा रत्नत्रय का लाभ होता है उसको तुम क्षणिक व्यवसाय का हेतु बना रहे हो। चार पुरुषार्थ हैं– अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष पुरुषार्थ। तो अर्थ पुरुषार्थ करो और वित्त का अर्जन करो। जिनवाणी के माध्यम से तो रत्नत्रय की सेवा करो, रत्नत्रय को प्राप्त करने का व्यवसाय करो, इसी का नाम सम्यग्ज्ञान है। बड़ी अच्छी बात कह दी। छोटी जैसी लगती है, लेकिन है बहुत बड़ी। ठीक है! जिनवाणी का क्या गौरव होना चाहिए? उसे कैसे रखें, कैसे उठायें ? इसका ख्याल होना चाहिए। जैसे–आप लोग जब धुले हुए-साफ सुथरे अच्छे-अच्छे कपड़े पहनकर आ जाते हैं तो कैसे बैठते हैं ? मालूम है आपको! आपके बैठने में आदाननिक्षेपण समिति आ जाती है। भीतर जेब में रखी रूमाल, एक प्रकार से पिच्छिका का काम करने लग जाती है। उस समय हम सोचते हैं कि भैय्या! यह कौन-से मुनि महाराज आ गए। कैसी आदान-निक्षेपण समिति चल रही है, यदि रूमाल नहीं है आपके पास तो फूँक ही मारते हैं और ऐसे बैठ जाते हैं, जैसे बिल्कुल ठीक-ठीक आसन

लगाकर प्राणायाम होने वाला है। ऐसे कैसे बैठ गये ? कौन-सा आसन है वह! आसन-वासन कुछ नहीं है वह, किन्तु वसन (वस्त्र) गन्दा न हो इसलिए ऐसा बैठते हैं आप लोग। इस प्रकार की प्रवृत्ति करते समय जरा सोचो तो बन्धुओ! इससे किसकी रक्षा हो रही है? वस्त्र की या जीवों की, जब वस्त्रों की रक्षा आप इतने अच्छे ढंग से करते हैं तब जिनवाणी की रक्षा किस प्रकार करना चाहिए। आचार्यों ने कहा है—उसको नीचे मत रखो। जहाँ कहीं उसे ऊँचे आसन पर रखो, उसके प्रति आदर से खड़े होओ।

जब कभी मुझे समय मिलेगा, तब सम्यग्ज्ञान के बारे में कहूँगा। जिस प्रकार सम्यग्दर्शन के आठ अंग हैं, उसी प्रकार से सम्यग्ज्ञान के भी आठ अंग हैं, इन आठ अंगों को देखकर ऐसा लगता है कि हमारा ज्ञान अभी बहुत कुछ संकुचित दायरे में है। हम वस्तुतः इन अंगों का पालन नहीं कर पा रहे हैं, फिर भी सम्यग्ज्ञान होने का दम्भ रखते हैं। ऐसा सम्भव नहीं है कि "अंग के बिना अंगी की रक्षा हो जाए।" यदि सम्यग्ज्ञान की रक्षा चाहते हो तो उस जिनवाणी माँ की रक्षा करो। ध्यान रखिये—जब तक इस धरती तल पर सच्चे देव-गुरु-शास्त्र रहेंगे, तब तक ही हमारी भीतरी आँखें खुल सकेंगी। भीतरी आँख जितनी पवित्रता के साथ खुलेगी, उतना पवित्र-पथ देखने में आयेगा। ज्यों ही इसमें दूषण आने लग जाएंगे तो पथ की पवित्रता नष्ट/समाप्त हो जाएगी। **दृष्टि-दूषण के कारण कौन-कौन हैं ? अज्ञान, राग, लोभ और भय, इन चारों के द्वारा दृष्टि में दूषण आता है/आ सकता है। पवित्र वस्तुओं में दूषण लगने के ये चार मार्ग हैं।** यदि हमारा राग जागृत हो जाए या लोभ जागृत हो जाए तो लोभ के कारण हम तत्त्व को इधर-उधर करने लग जाएंगे, जो हमारे लिए अभिशाप सिद्ध होगा। वह घड़ी वरदान नहीं हो सकती, अभिशाप ही सिद्ध होगी क्योंकि जिनवाणी में परिवर्तन करना महान् दोष का काम है साथ ही महान् मिथ्यात्व का भी। दर्शनमोहनीय का जो बन्ध होता है, उसके लिए तत्त्वार्थसूत्र में उमास्वामी महाराज ने कहा है—

"**केवलि-श्रुतसंघधर्मदेवा-वर्णवादो दर्शनमोहस्य।**" तत्त्वार्थसूत्र - ६/१३

जिनवाणी का एक अक्षर भी यहाँ का वहाँ न हो, निह्नव न हो। इस प्रसंग पर मैं पुनः कहूँगा कि सरागसम्यग्दर्शन के साथ तत्त्व का श्रद्धान किया जाता है और वीतराग सम्यग्दर्शन के साथ ध्येय वस्तु को प्राप्त करने के लिए उपयोग को एकाग्र किया जाता है। ये दोनों सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाते हैं तो केवलज्ञान भी बहुत जल्दी प्राप्त हो जाता है। यही एक मात्र क्रम है। जिसे बृहद्द्रव्यसंग्रह की टीका में स्पष्ट किया गया है।

"**एषा भरतादीनां यत्सम्यग्दर्शन तत्तु व्यवहारसम्यग्दर्शन**" द्रव्यसंग्रह टीका

गृहस्थावस्था में जो भरतादि थे उनके सम्यग्दर्शन की बात है तो उन्हें क्षायिकसम्यग्दर्शन था उसे भी उन्होंने 'व्यवहार सम्यग्दर्शन' यह संज्ञा दी है। वीतराग सम्यग्दर्शन के लिए वे कहते हैं कि

जिस समय मुनि महाराज अभेद रत्नत्रय में लीन हो जाते हैं तब ही वीतराग सम्यग्दृष्टि हैं। वे मुनि महाराज ही वीतराग ज्ञानी हैं और वे ही वीतराग चारित्री भी हैं। इसीलिए उनको आदर्श बनाकर उनके पदचिह्नों पर चलें तो नियम से एक दिन हमें भी वह घड़ी प्राप्त होगी, जिसकी प्रतीक्षा में हम अनादिकाल से हैं।

मैं भगवान् से बार-बार प्रार्थना करता हूँ कि आप लोगों की मति भी इसी ओर हो और मेरी मति इससे आगे बढ़ती हुई हो। जल्दी-जल्दी आगे पहुँच गए हैं जो उनको आदर्श बनाकर वहाँ पर जाने के लिए याद रखें। जब तक हमारे सामने आदर्श नहीं रहेगा तब तक हमारे कदम ठीक-ठीक नहीं उठ सकेंगे। इस पंचमकाल में, वह भी हुण्डावसर्पिणीकाल में यदि कोई शरण है तो सच्चे देव-गुरु-शास्त्र ही हैं। देव का तो आज अभाव है, लेकिन अभाव होते हुए भी स्थापना-निक्षेप के माध्यम से आज भी हम उन वीतराग भगवान् को सामने ला रहे हैं, जिन भगवान् के बिम्ब-दर्शन मात्र से, भीतर बैठा हुआ अनन्तकालीन मिथ्यात्व छिन्न-छिन्न हो जाता है, सारी की सारी कषाय छिन्न-भिन्न हो जाती है, ऐसी प्रतिमा की स्थापना के लिए ही आप लोगों ने पाँच-छह दिन की यह आयोजना की है, अपने वित्त का सदुपयोग और अपने समय का, जो कुछ भी था, न्यौछावर किया। आप लोग भी इस आयोजना को देखने के लिए आए।

भावना की थी, आज यही आपके लिए धर्म-प्रभावना का कारण है और ध्यान के लिए भी, लेकिन यह ध्यान रखिये-'**धम्मं भोगणिमित्तं**' रूप भावना नहीं होना चाहिए, आप लोगों ने बहुत कुछ किया जो फालतू नहीं, बहुत आवश्यक है, लेकिन इतना और कर लेना कि भीतर कभी भी भोगों की वांछा न हो, भीतर कभी भी ख्याति-पूजा-लाभ की वासना न हो, क्योंकि यह भावना जागृत हुई कि सारा का सारा काम समाप्त, अन्दर रहने वाली बारूद में एक बार भी अगर, अगरबत्ती लग गई तो विस्फोट होने से कोई नहीं बचा सकता। वह विस्फोट ऐसा भी हो सकता है, जिसका जीवन में कभी अनुमान न किया हो। इसलिए अन्दर बारूद रहते हुए भी उसे अन्दर ही सुरक्षित रखो और अगरबत्ती लगने से पहले ही उसकी बाती (बत्ती) को ऐसा तोड़ दो ताकि तीनकाल में भी विस्फोट न हो, फिर चाहे उसे जेब में भी रख लें तो कोई डर नहीं।

अतः सच्चे देव-गुरु-शास्त्र को आदर्श बनाकर चलना चाहिए, क्योंकि कुन्दकुन्द भगवान भी जब उनको आदर्श मानकर चले हैं तो हम किस खेत की मूली हैं। क्या ज्ञान है हमारे पास ? क्या चारित्र है हमारे पास ? निश्चय से तो कुछ भी नहीं है। हम तो उनकी पग-रज होने के लिए जीवित हैं। नहीं तो इस संसार में हमारा कोई अस्तित्व नहीं। यदि वे नहीं होते तो हम अपनी आत्मा की आराधना कैसे करते ? आत्मा की बात भी स्वप्न में नहीं आ सकती थी, हमें इस जिनवाणी की, ऐसे गुरुओं की और सच्चे देव की शरण मिली है, इसलिए हमारे जैसा बड़भागी और कौन हो सकता

है, किन्तु बड़भागी कहकर रुकना नहीं चाहिए। रुकना वस्तु का स्वभाव नहीं और न ही पीछे मुड़कर देखना। इसलिए इस बड़भागीपन को याद रखते हुए सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की शरण में जाकर रत्नत्रय का लाभ प्राप्त कर भगवान कुन्दकुन्ददेव ने जिनको आदर्श बनाकर जो ज्ञान और चारित्र अंगीकार किया, वह हम कर सकें और सभी संसारी प्राणी उसे अंगीकार करने की चेष्टा करें, ऐसी भावना भाता हूँ।

❑ ❑ ❑

जन्मकल्याणक

(पूर्वार्द्ध)

संसारी प्राणी जन्म को अच्छा मानता है और मरण को बुरा। इसलिए हम पहले मरण को समझ लें, जन्म के बारे में मध्याह्न में समझना अच्छा होगा, अभी का जो समय है उसमें पहले मरण को समझ लेते हैं फिर उसके उपरान्त स्वाध्याय और दान के विषय में भी कुछ समझने का प्रयास करेंगे।

पहले तो, मरण किसका होता है ? मरण क्या वस्तु है ? मरण क्यों अनिवार्य है और मरण का जीवन के साथ क्या सम्बन्ध है ? इसको समझ लें, संसार में ऐसा कोई भी प्राणी नहीं है जो मरण से न डरता हो, जबकि मरण एक अनिवार्य घटना है। फिर डरना क्यों ? जहाँ जीवन भी एक अनिवार्य घटना और मरण भी तो एक पहलू से प्रेम और एक पहलू को देख करके क्षोभ क्यों ? इसमें क्या रहस्य है ? अज्ञान! अज्ञान के कारण ही संसारी प्राणी मृत्यु को नहीं चाहता और मृत्यु से बच भी नहीं पाता, अभी-अभी यहाँ जन्म महोत्सव मनाया जा रहा था। लेकिन जहाँ से निकल करके आ रहा है, वहाँ पर मरणकृत शोक छाया होगा, यह मात्र अज्ञान के खेल हैं। तो मरण क्या है? मरण, जीवन के अभाव का नाम है, जैसे दीपक जल रहा है। वायु का एक झोका आ जाता है तो दीपक बुझने लगता है, भले ही उसमें तेल और बाती भी अभी जमाई हो, तब भी वह बुझ जाता है, इसी प्रकार आयुकर्म का क्षय होना अनिवार्य है, जब आयुकर्म का क्षय होना अनिवार्य है तो हम इसे समझ लें कि आयु क्या ? आयु एक प्राण है। दश प्राण होते हैं उनमें से एक आयु भी है "**दशप्राणैर्जीवति इति जीवः**" दश प्राण इसलिए कह रहा हूँ कि यहाँ पर मनुष्य की विवक्षा रखी गई है। अर्थात् जो दश प्राणों से जीता था वह जीव है, जो अब भी जी रहा है वह जीव है तथा जो आगे भी जियेगा, वह जीव है। "**अजीवत् जीवति जीविष्यति इति वा जीवाः प्राणिनः।**" इन प्राणों का अभाव होना ही मरण है, आयु का अभाव होना ही मरण है। आयुकर्म का क्षय होना ही मृत्यु है। संसारी प्राणी मरण से भयभीत है, अतः समझ सके कि वह घटना क्या है ? आयु का क्षय

-अभाव क्यों आता है ? जिस अभाव को वह नहीं चाहता तो वह क्यों होता है ? जो हम चाहते हैं वह क्यों नहीं होता ? अनचाहा होता है तो उसके ऊपर हमारा अधिकार क्यों नहीं ?

सन्तों का कहना है, हमें उस ओर नहीं देखना है जहाँ सूर्य का प्रवास चलता है, यात्रा चलती है अविरल रूप से १२ घण्टे, वह चलती ही रहती है, कभी रुकती नहीं यह नियम है, कभी किसी को पीछे मुड़कर देखता नहीं और ना ही किसी की प्रतीक्षा करता है सूर्य, उसका यह कार्य है। लोग इसे पसंद करें, ठीक, नहीं करे, तो भी ठीक। वह चलता ही रहता है। इसी प्रकार आयुकर्म का खेल है, वह निरन्तर क्षय को प्राप्त होता रहता है। आयुकर्म क्या है ? आयु, आठ कर्मों में एक कर्म है, जिसका सम्बन्ध काल के साथ है लेकिन वह काल नहीं है। हमारा सम्बन्ध कर्म के साथ हुआ, न कि काल के साथ। हाँ! कर्म का सम्बन्ध कितने काल तक रहेगा, उसमें कितनी शक्ति है, कितने-किस प्रकार के उसमें परिवर्तन हो सकते हैं और कब, यह सब काल के माध्यम से जानते हैं।

'आयु' कहते ही हमारी दृष्टि काल की ओर चली जाती है, लेकिन यह ठीक नहीं, क्योंकि दृष्टि से ही सृष्टि का निर्माण हुआ करता है। जिसके साथ आपका सम्बन्ध है उसी को देखिये। काल कोई वस्तु नहीं है। मैंने कल कहा भी था कि चेतनाएँ तीन होती हैं, कर्मचेतना, कर्मफलचेतना और ज्ञानचेतना। जीव का सम्बन्ध इन चेतनाओं के साथ हुआ करता है, अनुभव के साथ हुआ करता है, अन्य कोई चौथी काल चेतना नहीं है, अतः काल के साथ जीव का कोई भी सीधा सम्बन्ध नहीं है। यह बात अलग है कि काल, कर्म को नापने का माध्यम है। जैसे-ज्वर को थर्मामीटर के माध्यम से नापा जाता है, ज्वर आते ही थर्मामीटर की याद आती है और उसको भिन्न-भिन्न अंगों पर लगाकर देख लिया जाता है, ज्वर थर्मामीटर को नहीं आता अर्थात् थर्मामीटर ज्वरग्रस्त नहीं होता, मात्र वह बता देता है। ज्वर तो हमारे अंदर ही है, ज्वर, थर्मामीटर के अनुरूप भी नहीं आता, क्योंकि एक तो बुखार आने के उपरान्त ही उसका प्रयोग किया जाता है, आवश्यकता पड़ती है। दूसरी, पहले तो थर्मामीटर नहीं थे, मात्र नाड़ी के माध्यम से जान लेते थे। आज थर्मामीटर भी ९४ के नीचे काम नहीं करता और १०७-१०८ के ऊपर भी नहीं, कितनी गर्मी है, पता नहीं चलता। एक हड्डी का बुखार हुआ करता है, वह थर्मामीटर में आता ही नहीं, फिर भी ज्ञान का विषय तो बनता ही है। अर्थ यह हुआ थर्मामीटर होने से बुखार नहीं आता, वह तो मात्रा नापने में एक यंत्र का काम करता है। उस यंत्र में हम नहीं घुसें और न उसके बारे में ज्यादा सोचें, सिर्फ इतना कि बुखार कितना आया? कब तक रहेगा ? जायेगा कि नहीं ? इसके उपरान्त इलाज प्रारम्भ हो जाना चाहिए।

इसी तरह आयु कहते ही हमारे दिमाग में काल की चिन्ता नहीं होनी चाहिए ? कि अब कितना काल रह गया, क्या पता ? काल रहता नहीं, काल टिकता नहीं, काल जाता नहीं, काल तो अपने-आप में है, फिर क्या वस्तु है काल ? इसको हम आगम के माध्यम से या अनुमान के माध्यम

से जान सकते हैं। भगवान की वाणी द्वारा जो उपदिष्ट हुआ है उस पर श्रद्धान कर समझ सकते हैं। काल कोई जानकार वस्तु नहीं है, जो हमें जान सके, हम ही उसे जानने की क्षमता रखते हैं लेकिन वर्तमान में नहीं है, यह बात अलग है। वह केवल श्रद्धान का विषय है। भगवान ने जो कहा, उसको हम मानते चले जाते हैं। काल के माध्यम से अपने-आपको आँक सकते हैं। काल हमारे परिणमन का ज्ञापक है और इन परिणमनों के लिए सहायक काल है, काल निष्क्रिय है, उसके पास पैर नहीं, हाथ नहीं, ज्ञान नहीं। उसके पास अपना अस्तित्व है, अपना गुण-धर्म और अपना स्वभाव है। इस काल के बिना आयुकर्म क्या करता है ? नियम से अपने परिणामों के अनुरूप परिणमन करता चला जाता है। उसकी कई अवस्थाएँ हुआ करती हैं, जिनका उल्लेख श्रीधवल, श्रीजयधवल एवं महाबन्ध में किया है।

'आयुक्खयेण मरणं' (समयसार-२४८)

जैसे दीपक के तेल और बाती का समाप्त होना उसकी मृत्यु है, अवसान है। उसी प्रकार संसारी प्राणी के घट में भरा हुआ आयुकर्म समाप्त हो जाना, फिर चाहे वह मोटा-ताजा हो, हृष्ट-पुष्ट हो या पहलवान भी क्यों न हो, बाहर से बिल्कुल लाल-सुर्ख टमाटर के समान दिखने वाला हो, उसका भी अवसान बहुत जल्दी हो जाता है, क्योंकि भीतर आयुकर्म समाप्त हो गया।

एक व्यक्ति ने कहा था–महाराज जी! आजकल तो जमाना पलट रहा है। वैज्ञानिक, वस्तु की स्थायी सुरक्षा का प्रबन्ध करने जा रहे हैं, बस चन्द दिनों में उस पर कन्ट्रोल कर लेंगे, कोई भी वस्तु को मिटने नहीं देंगे, यदि मिटती भी है तो समय-पूर्व नहीं मिट सकती। जैसे शास्त्रों में जहाँ कहीं भी मर्यादा सम्बन्धी व्यवस्था की गई है कि आटे की सीमा गर्मी में पाँच दिन, ठण्ड में सात दिन और वर्षा में तीन दिन, लेकिन अब एक ऐसा यंत्र विकसित हो गया है, (बन गया है) कि उसमें आटा रखने से उम्र ज्यादा पाता है, उसकी सीमा अधिक दिन तक की हो जाती है तथा आज जो वेमौसमी फल वगैरह मिल रहे हैं, वह सभी उसी की देन है। अब दीपावली में भी आम खा सकते हैं, आमतौर पर दीपावली में आम नहीं आ सकते, लेकिन फ्रिज में रख करके बे-मौसम के खाने के काम आते हैं, बात बिल्कुल ठीक है कि आप एक फल जो कि पेड़ से तोड़ा गया है, रेफ्रिजरेटर में रख दीजिए, लेकिन उसके अन्दर भी काल विद्यमान रहता है और वह परिणमन करने में सहायक होता है, क्योंकि परिणमन करना वस्तु का स्वभाव है।

''वर्तनापरिणामक्रियापरत्वापरत्वे च कालस्य'' (तत्त्वार्थसूत्र-५/२२)

कालद्रव्य का माध्यम बना करके प्रत्येक वस्तु का परिणमन निरन्तर चलता रहता है। यदि उस आम को ८-१० दिन के बाद, जब निकाल कर खायेंगे, तब रूप में, गन्ध में, रस में, वर्ण में और स्पर्श में नियम से अन्तर मिलेगा। यह बात अलग है कि इन्द्रियों के 'अण्डर' में हुआ व्यक्ति

उस रस के, रूप के और गन्ध के बारे में पहचान न कर पाये, लेकिन उनमें परिवर्तन तो प्रति समय होता जा रहा है, यही आम का मरण है। रूप का, रस का, गन्ध का, स्पर्श का और वर्ण का मरण है। प्रत्येक का मरण है। ध्यान रखिए! मात्र मरण का कभी भी मरण नहीं होता। **कोई अजर-अमर है तो वह मरण ही है। कोई नश्वर है तो वह जीवन है। आयु ही जीवन है और उसका क्षय होना नश्वरता है, मरण है।**

कर्मों का क्षय करना है लेकिन, सुनिये! आयुकर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों की निर्जरा बताई गयी है आगम में। कर्म मात्र हमारे लिए बैरी नहीं। ''**आठ कर्मों की निर्जरा करो**'', ऐसा व्याख्यान करने वाला अभी भूल में है। जिनवाणी में आठ कर्मों की निर्जरा के लिए नहीं, किन्तु सात कर्मों की निर्जरा को लिखा है, आयुकर्म की निर्जरा नहीं की जाती है, जो आयुकर्म की निर्जरा में उद्यमशील है उसे हिंसक यह संज्ञा दी गई है।

जो आयुकर्म को नष्ट करने के लिये उद्यत है, कि ''**किसी भी प्रकार से जल्दी-जल्दी जीवन समाप्त हो जाए**'' इस प्रकार की धारणा वाला व्यक्ति, ना जीवन का रहस्य समझ पा रहा है, ना मृत्यु का। कर्म-सिद्धान्त के रहस्य को समझने के लिए, अध्ययन करने के लिए, यदि एक प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति भी जीवन खपा दे, तो भी मैं समझता हूँ अधूरा ही रहेगा, फिर १० दिन के शिविरों में कर्म के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं समझ पायेंगे। कर्म के भेद-प्रभेद, उनके गुण-धर्म आदि-आदि बहुत विस्तार है, कहने को मात्र १४८ कर्म है, लेकिन उनके भी असंख्यात लोकप्रमाण भेद हैं, इनका सम्बन्ध हमारी आत्मा के साथ है, इनका फल भी आत्मा को भोगना होता है और इनके करने का श्रेय भी आत्मा को है, अतः कर्त्ता-भोक्ता दोनों आत्मा ही है। अपने भावों का कर्ता होते हुए भी, कर्मों का कर्ता कैसे बना ? अपना परिणमन करता हुआ अन्य भावों को पैदा करने में योगदान कैसे देता है? इस सबका हिसाब-किताब बहुत गूढ़ है अतः इनके रहस्य को समझें।

आयुकर्म हमारे लिए प्राण है, प्राण-मतलब जिसके माध्यम से हमारा वर्तमान जीवन चल रहा है। वह पेट्रोलियम का काम करता है। आपको सम्मेदशिखरजी की यात्रा करनी है, आपने एक मोटर की, उसमें एक पेट्रोल टैंक भी रहता है, वह क्या करता है ? वह मोटर को चलाता है और यात्री ऐशोआराम के साथ यात्रा सम्पन्न कर लेता है, अब यदि पेट्रोल टैंक फट जाय तो क्या होगा? गाड़ी तो बहुत बढ़िया है, ब्रेक भी ठीक है, ड्राइवर भी ठीक है-शराब भी पीकर के नहीं बैठा, आराम के साथ-यंत्र देख-देखकर वह गाड़ी को चला रहा है, फिर भी पेट्रोल समाप्त हो जाने से आगे नहीं चलेगी वह, आप भी नहीं जा सकेंगे, मतलब पेट्रोल समाप्त गाड़ी बन्द, यात्रा समाप्त। पेट्रोल क्या है ? यही तो उस गाड़ी का आयुकर्म है।

आयुकर्म के बारे में बहुत समझना है, बहुत शान्ति से समझना है। उसकी उदीरणा-

अपकर्षण-उत्कर्षण आदि-आदि जो भंग/करण हैं वह बहुत कुछ सोचने के विषय हैं, चिन्तनीय हैं। जीवन तो आप चाहते हैं, लेकिन जीवन की सामग्री के बारे में आप सोचते ही नहीं है, इसी से आपका पतन हो रहा है, मंजिल तक नहीं पहुँच पा रहे हैं, कामना पूर्ण नहीं हो पा रही है, आयुकर्म आत्मा के साथ बन्ध को प्राप्त होता है तो भावों के द्वारा ही स्थितियाँ और अनुभाग के साथ वर्गणाएँ कर्म के रूप में परिणत होकर आ जाती है, ऐसा पेट्रोलियम आपके साथ विद्यमान है तो जो काल के ऊपर आधारित नहीं, किन्तु अपना परिणमन वह पृथक् रखता है। जैसे दो कैरोसिन की गैसबत्ती हैं, वे तेल के माध्यम से जलती हैं, रात में आपको कुछ काम करना था अतः दुकान से किराये पर ले आये, दुकानदार से पूछा—यह कब तक काम देंगी ? १२ घण्टे तक। अच्छी बात है। अब उन्हें लाकर काम चालू कर दिया, दिन डूबते ही आपने बत्तियाँ जला दीं, लेकिन चार घण्टे के उपरान्त एक बन्द हो गयी, बुझ गई, तो वह दूसरी के सहारे काम करता रहा, रात के बारह बजे तक, सुबह जाकर दुकानदार को कहा—मैं तो एक गैसबत्ती का किराया दूँगा एक का नहीं। क्यों भैय्या क्या बात है ? एक बत्ती ने काम नहीं दिया, हो सकता है आपने इस गैसबत्ती में कैरोसिन कम डाला हो। मालिक ने कहा-नहीं जी, ऐसी बात नहीं है, मैंने नापतोल कर तेल और हवा भर दी थी, फिर इसने काम नहीं किया तो उसमें कुछ गड़बड़ी होनी चाहिए। उसने देखा कि एक सुराख हो गया है तेल टैंक में, यानि बर्नर के माध्यम से जो तेल जाता था, वह तो प्रकाश के लिए कारण बनता है किन्तु जो एक छिद्र हो गया है वह बिना प्रकाश दिये कैरोसिन को निकाल देता है, इसलिए वह चार घण्टे में समाप्त हो गया, जिसे ८ घण्टे और चलना तो वह पहले ही समाप्त हो गया। हम पूछना चाहते हैं कि क्या तेल १२ घण्टे के लिए डाला गया था या चार घण्टे के लिये ? तेल तो १२ घण्टे का डाला, किन्तु छिद्र होने से बीच में ही समाप्त हो गया, अपनी सीमा तक नहीं पहुँच सका। इसी प्रकार आयुकर्म है, वह अपनी स्थिति को ले करके बँधता है लेकिन बीच में उदीरणा से स्थिति पूर्ण किए बिना ही समाप्त हो जाता है, इसमें कर्मों का कोई दोष नहीं, कर्मों का आधारभूत जो नोकर्म शरीर रूपी गैसबत्ती उसकी खराबी है, इसकी खराबी का कारण भीतरी कर्मों को दोष नहीं देना चाहिए, कर्म जिस समय बंध को प्राप्त होता है तो चार प्रकार से बंध हुआ करता है—प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग।

प्रकृतिबन्ध—स्वभाव को इंगित करता है। प्रदेशबन्ध—कर्मवर्गणाओं की गणना करता है। स्थिति बंध काल को बताता है कि इतने समय तक यहाँ रहूँगा जबकि काल द्रव्य से उसका कोई सम्बन्ध नहीं, मात्र अपनी क्षमता को काल के माध्यम से घोषित कर रहा है और अनुभाग बंध अपने परिणामों को बताने वाला होता है। यह चार प्रकार के बंध एक ही समय में हुआ करते हैं, ऐसा नहीं है कि पहले प्रकृति बंध हो फिर प्रदेश बंध या पहले स्थिति बंध फिर अनुभाग बंध। पहले कुछ

प्रदेश आ जाएँ, फिर शेष तीन प्रकार का बंध हो, ऐसा भी नहीं। जिस समय लेश्या कृत मध्यम परिणाम होते हैं, वह समय आयुकर्म के बंध के योग्य माना गया है, ना कि अन्य परिणामों का। अब समझ लीजिए-किसी ने ८० साल की आयु की स्थिति प्राप्त की अर्थात् ८० वर्ष तक, वह कर्म टिकेगा, इससे आगे नहीं, लेकिन यदि बंध के बाद परिणामों में विशुद्धि आ गई तो स्थिति बढ़ जाने को उत्कर्षण कहते हैं और यदि परिणामों में अधःपतन (अवपतन/संक्लेश) हो गया तो स्थिति और घट गई, वह अपकर्षण है। ये दोनों ही करण अगली आयुकर्म की अपेक्षा से इस जीवन में बन सकते हैं, जिसका उदय चल रहा है। जैसे—मनुष्यायु, तो इसमें ना उत्कर्षण संभव है ना अपकर्षण। इसमें तो उदीरणा संभव है, जितने भी निषेक, कर्मवर्गणाएँ हमें प्राप्त हो गई हैं, उनका समय से पूर्व अभाव अर्थात् उदीरणा संभव है, इसी का नाम आचार्यों ने श्री धवल में कदलीघातमरण कहा है। कदलीघातमरण यानि केले का पेड़ जो बिना मौत के मार दिया जाता है, क्योंकि वह ज्यों ही फल दे देता है, त्यों ही किसान लोग उसे काट देते हैं, कारण कि उसमें दुबारा फल नहीं आता, इसलिए ताजा रहते हुए भी उसको समाप्त कर देते हैं। इसी प्रकार बाहरी निमित्त को लेकर आयुकर्म की उदीरणा होती है।

आयुकर्म की स्थिति और मरण का काल, ये दोनों ही समान अधिकरण में नहीं होते हैं। अर्थ यह हुआ कि स्थिति को पूरा किए बिना ही वे सारे के सारे कर्म बिखर जाते हैं। कर्म—कार्मण शरीर का आधार होता है और कार्मण शरीर—नोकर्म का। ज्यों ही नोकर्म समाप्त हो गया, त्यों ही कार्मण शरीर की गति प्रारम्भ हो जाती है। एक आयुकर्म का अवसान हो जाता है पूरी स्थिति किये बिना ही। वीरसेन स्वामी का कहना है यदि जिसकी २५ वर्ष की उम्र में मृत्यु हो गई तो उसकी उम्र २५ वर्ष की ही थी, ऐसा जो कहता है वह एक प्रकार से कर्म-सिद्धान्त का ज्ञान नहीं रखता। उन्होंने कहा है कि आयुकर्म का क्षय और उसकी स्थिति का पूर्ण होना एक समयवर्ती नहीं है। अर्थात् उस व्यक्ति की उम्र अभी भी ५५ वर्ष शेष थी, जिसको पूर्ण किये बिना ही उदीरणा के द्वारा अकालमरण को प्राप्त कर लेता है।

अकालमरण का मतलब यह कदापि नहीं है, कि वहाँ पर कोई काल नहीं था। अकालमरण का अर्थ वही है, जो कदलीघातमरण का और जो स्थिति को पूर्ण कर मरता है वह सकालमरण का अर्थ है। इस अकालमरण की अपेक्षा या उदीरणा मरण की अपेक्षा से भी भगवान के ज्ञान में विशेषता झलकती है। वह क्या विशेषता है ? भगवान ने मृत्यु को देखा और साथ-साथ उसको अकालमरण के द्वारा देखा।

अकालमरण का अर्थ ऐसा नहीं लेना चाहिए, जैसा कि कुछ लोग लेते हैं, वे डर की वजह से अकालमरण को ही अमान्य कर देना चाहते हैं, लेकिन ऐसा संभव नहीं है। दुनिया में एक ऐसी

भी मान्यता है कि आयुकर्म तो रहा आवे और शरीर छूट जावे, तो उसे प्रेत योनि में जाना पड़ता है और जब तक आयु पूर्ण नहीं हो जाती तब तक उसे वहीं भटकना पड़ता है। (जैसे कि आप लोग राकेट को पेट्रोल भरकर भेज देते हैं ऊपर, तो भटकता रहता है-घूमता रहता है वह)। अतः उसका श्राद्ध करो, उसकी शान्ति करो, आदि-आदि कार्य करते हैं, नहीं तो सिर पर आ जाएगा। जैसे स्काइलेव के द्वारा आप लोग डर रहे थे। उसी प्रकार वे भी डरते रहते हैं कि हमारे ऊपर वह भूत सवार न हो जाये। लेकिन कुन्दकुन्द भगवान ने कहा है "**आयुक्खयेण मरणं**" अर्थात् आयुकर्म के निषेक रहे आवें और मृत्यु हो जाए, यह संभव ही नहीं तथा आयुकर्म समाप्त हो जावे और जीवन रहा आवे, यह भी संभव नहीं। इसका अर्थ यह भी नहीं है, जितना समय निकल गया, उतने ही निषेक थे, लेकिन ऐसा संभव कदापि नहीं कि स्थितिबन्ध तो ८० वर्ष का था और २५ साल में ही जिसका अभाव हो गया-कदलीघातमरण हो गया और भी कम में हो सकता है तो उतनी ही उम्र थी, ऐसा नहीं समझना चाहिए, उसकी क्षमता अधिक होती है। इसको एक अन्य उदाहरण से समझ लीजिए -

किसी एक व्यक्ति को नौकरी मिल गयी, कोई भी विभाग में, इस विभाग में नौकरी तो मिल गई-बहुत अच्छा काम मिला, लेकिन कब तक रह सकता हूँ ? ५० वर्ष तक तुम रह सकते हो, अच्छी बात है इसके बाद कुछ और भी बातें लिखाई गई और कह दिया गया कि इन शर्तों के अनुसार आप ५० वर्ष तक नौकरी कर सकते हैं, वेतन भी इतना-इतना मिलेगा, सब तय हो गया। एक दिन उसी कर्मचारी ने बदमाशी की, तो उन्होंने निकाल दिया, सस्पेण्ड कर दिया, अब वह कहता है कि हम तो हाईकोर्ट में नालिश करेंगे, आपने कहा था कि ५० वर्ष तक काम कर सकते हैं, फिर बीच में क्यों निकाला ? यह कहाँ का न्याय है ? उन्होंने कहा-हमने यह कहा था कि, हमारे जो कानून हैं उनके अनुसार चलोगे तो ५० वर्ष तक काम देंगे, इसका मतलब यह नहीं कि तुम यद्वा तद्वा करो, 'कुर्सी' के ऊपर बैठ जाओ और ऊँघते रहो, काम कुछ भी न करो, मात्र वेतन के लिए हाजिरी लगा दो यह कैसे चलेगा, कानून भंग होते ही बीच में काम से हाथ धोना पड़ सकता है। यदि सज्जन है तो बात ही अलग है। इसी प्रकार आयुकर्म बंधने के उपरान्त कुछ ऐसी स्थितियाँ भी आती हैं, जिनमें स्थिति को पूर्ण किए बिना ही मृत्यु को प्राप्त कर सकते हैं और नहीं भी।

इस रहस्य को समझना है कि क्या मृत्यु को हम बचा सकते हैं ? प्रश्न बहुत ही विचारणीय है, तेज है, समस्याप्रद है, क्योंकि हम जानते हैं कि आयुकर्म को टाला नहीं जा सकता, रोका नहीं जा सकता, परिणाम कितना है? गिना नहीं जा सकता, फिर कैसे इसकी रक्षा करें, मृत्यु से बचें ? इसी के द्वारा जीवन चल रहा है। आचार्यों ने इसके विषय में उलझन न करके सुलझी-सी बात कही है कि कर्म के ऊपर तुम्हारा कोई अधिकार नहीं, स्वयं का भी अधिकार नहीं है, तब अन्य का क्या?

कौन-सा कर्म कब और किस रूप में उदय में आ रहा है, आ जाए, इसको हम नहीं जान सकते। कोई भी रसायन ऐसा नहीं है कि जो कर्मों को रोक सके, दबा सके, वे तो अपने आप अबाधित गति से निकल रहे हैं। तब आचार्यों ने कहा कि–आयुकर्म की रक्षा तो कर नहीं सकते, लेकिन आयुकर्म की जो उदीरणा हो रही है, उसे रोक सकते हैं, उस उदीरणा के स्रोत कौन-कौन से हैं तो कहा है–भयानक रोग के माध्यम से, भुखमरी से, श्वांस के रुँध जाने से, शस्त्र के प्रहार से, अति संक्लेश-परिणामों से तथा विषादिक के भक्षण से, ऐसे अनेक कारण हो सकते हैं।[१] आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने अष्टपाहुड में अकालमरण के निमित्तों को लेकर एक तालिका ही दे दी है।[२] उन जैसा विश्लेषण अन्यत्र नहीं मिलता। उन्होंने एक बात बहुत मार्के की कही है कि अनीति नाम के हेतु से भी यह संसारी प्राणी अतीतकाल में अनन्तबार अकालमरण का कवल (ग्रास) बन चुका है।

आज के इस जमाने को देखने से ऐसा लगता है कि अनीति पर कोई भी रोक-टोक नहीं है। ''अन्धेर नगरी चौपट राजा, टके सेर भाजी टके सेर खाजा'' आज कोई व्यक्ति कन्ट्रोल में नहीं है। लोकतन्त्र का जमाना और उसमें भी अनीति का बोलबाला है। अनीति राज्य कर रही है हमारे जीवन पर, फिर भी हम सम्यग्दर्शन की चर्चा कर रहे हैं। आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने कहा है कि – जिस व्यक्ति के जीवन में बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह के प्रति भीतर से पीड़ा नहीं, उस व्यक्ति को सम्यग्दर्शन की भूमिका का सवाल भी नहीं उठता। आचार्य समन्तभद्र ही नहीं और भी कई आचार्य हुए हैं, जिन्होंने अनीति का खुलकर निषेध किया है। आज जो यद्वा-तद्वा व्यापार कर रहा है, घूसखोरी दे करके या और भी कुछ देकर, देने को तैयार है, नेता बनने का प्रयास कर रहा है, उसका सर्वप्रथम निषेध जैनाचार्यों ने किया है। उन्होंने कहा है– **'न्यायोपात्तधनं'।** न्याय के साथ जो धन कमाया जाता है वही आगे जा करके धर्म-साधन में सहायक होगा। अन्याय के साथ जो धन कमाता है वह तीनकाल में भी मुमुक्षु नहीं बन सकता। उसकी बुभुक्षु-पिपासा इतनी कि वह तीनकाल में भी अपने जीवन को सम्हाल सके, असंभव है। फिर सम्यग्दर्शन कोई आसान चीज नहीं है, सम्यग्ज्ञान कोई आसान नहीं है, सम्यक्‌चारित्र तो और भी लम्बी-चौड़ी बात है। सम्यग्दृष्टि का भी चारित्र होता है। आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने सम्यक्त्वाचरण चारित्र की परिभाषा बताते हुए अष्टपाहुड में कहा है–**जिस व्यक्ति के जीवन में शासन के प्रति प्रेम नहीं अर्थात् जिनशासन के प्रति गौरव नहीं, उसके जीवन में प्रभावना होना तीनकाल में संभव नहीं।**

आज हम देख रहे हैं, जैनियों के यहाँ भी ऐसे-ऐसे कार्य होते चले जा रहे हैं, जिनसे कि जैनशासन को नीचा देखना पड़ता है। आप भले ही यहाँ टीनोपाल के कपड़े पहनकर आयें, अच्छे से अच्छे साफ सुथरे पहनकर आयें लेकिन वहाँ पर तो लोग कहेंगे कि ये जैन हैं।

एक जमाना था कि जब टोडरमल जी थे, सदासुखदासजी थे, जयचन्दजी थे और दौलतराम

जी थे। ये सभी ऋषि-मुनि नहीं थे, पण्डित थे। परन्तु उनके जीवन में सदा सुख-सादगी थी। गाँधीजी ने विश्व में तहलका मचा दिया और स्वतंत्रता दिला दी। क्या पहनते थे वह, क्या रहन-सहन था उनका मालूम है। हर तरह से सादगी थी उनके जीवन में। जबकि, अब व्यक्ति ऐशोआराम में डूब रहा है। विलासता का अनुभव करने के लिए यह मनुष्य जीवन नहीं है। बन्धुओ! इसमें योग और साधना की सुगन्ध आनी चाहिए। एक बार गाँधीजी को पूछा गया–आप इस प्रकार से कपड़े पहनते हैं। ऐसा जीवन बिताने से क्या होगा? अरे! शरीर की रक्षा के लिए तो सभी कुछ आवश्यक है ? तब उन्होंने कहा–हमने मात्र अपने विचारों को स्वतंत्रता देने के लिए यह संग्राम छेड़ा, यहाँ जीवन के नाम पर ऐशोआराम नहीं करना है। आज देश में सबसे बड़ा संकट/सबसे बड़ी समस्या, भूख की नहीं, प्यास की नहीं बल्कि भीतरी विचारों के परिमार्जन करने की है। इसी से विश्व में त्राहि-त्राहि हो रही है। यह समस्या धर्म के अभाव से, दया के अभाव से ही है। एक-दूसरे की रक्षा करने के लिए कोई तैयार नहीं। जो रक्षा के लिए नियुक्त किये गये, वही भक्षक बनते चले जा रहे हैं। एक-दूसरे के ऊपर जो विश्वास था, प्रेम था, वात्सल्य था, वह सब समाप्त होता चला जा रहा है। अपनी मान-प्रतिष्ठा के लिए आज ऐसे-ऐसे घृणित कार्य किये जा रहे हैं, जिनसे कि जिनशासन और देश को अपार क्षति हो रही है।

मेरे पास, आज से २ साल पूर्व एक बन्द लिफाफा आया था, जिसमें एक कार्टून रखा था, उसमें कहा गया था कि महाराज! वनस्पति घी के नाम पर उसमें अशुद्ध पदार्थ डाले जा रहे हैं वह भी जैनियों के द्वारा। क्या आप ऐसा न करने के लिए उन्हें उपदेश नहीं दे सकते ? इस शताब्दी में ऐसे-ऐसे जघन्यतम कार्य हो रहे हैं और उसमें भी जैन सम्मिलित हैं। विश्व में वित्त की होड़ लग रही है। इसीलिए क्या हम भी वित्त कमा रहे हैं ? आप अवश्य ही उपदेश दीजिए। मैंने कहा–भैय्या! मैं उपदेश देने के लिए मुनि नहीं बना हूँ, फिर भी यदि आप उपदेश चाहते हैं तो सामूहिक रूप में उपदेश दे सकते हैं। किसी एक व्यक्ति को नहीं, कारण कि वह उपदेश नहीं माना जाएगा। मुझे भी देख करके खेद होता है कि आज जो काण्ड हो रहे हैं उनकी चाहे व्यापार में, बहुत आरम्भ के बारे में और चाहे बहुत परिग्रह के बारे में, कोई सीमा नहीं रही है। धन का इतना अधिक लोभ करने वाले व्यक्ति के धर्म, दया, प्रेम सुरक्षित नहीं रह सकते।

जैनशासन में जो पंथ चलते हैं, वे सागार और अनगार के हैं, अविरत सम्यग्दृष्टि का कोई पंथ नहीं होता। अविरत सम्यग्दृष्टि तो मात्र उन दोनों पंथों का उपासक हुआ करता है। जिसे जिनशासन के प्रति गौरव नहीं, आस्था नहीं, उसके पास चारित्र नहीं। आचार्य कुन्दकुन्ददेव कहते हैं कि–जिसके पास सम्यक्त्वाचरण चारित्र नहीं है उसके पास सम्यग्दर्शन भी नहीं है। जिस व्यक्ति में साधर्मी भाइयों के प्रति करुणा नहीं, वात्सल्य नहीं, कोई विनय नहीं वह मात्र सम्यग्दृष्टि

होने का दम्भ कर सकता है, सम्यग्दृष्टि नहीं बन सकता। आज अनीति के माध्यम से कई लोग मृत्यु के शिकार बनते चले जा रहे हैं। 'हार्ट-अटेक' क्यों होता है ? इसीलिए तो, कि अन्दर डर रहता है और ऊपर से शासन के करों का/टेक्सों का अपहरण करते हैं। लेकिन यह भगवान महावीर का दरबार है। इसमें अनीति-अन्याय के लिए कोई स्थान नहीं मिलता। यहाँ तो नीति-न्याय के अनुसार, सादगीमय जीवन से काम लेना होगा।

सदासुखदासजी के बारे में मुझे पंक्तियाँ याद आ रही हैं। सदासुखदास जी जयपुर में रहते थे। किसी शासनाधीन विभाग में कार्य करते थे वहाँ, वर्षों काम करते रहे। एक बार सभी लोगों ने हड़ताल कर दी कि हमारे वेतन का विकास होना चाहिए। माँग पूरी भी कर दी गई। लेकिन सदासुखदासजी ने माँग ही नहीं की थी, तो माँग के अनुसार जब इनके पास ज्यादा वेतन आया तब उन्होंने कहा—ज्यादा क्यों दे दिया, कोई भूल तो नहीं हो गई ? इतने ही हमारे होते हैं ? इतने आपके हैं। वही नहीं, सभी के वेतन में वृद्धि हो गई है। तब सदासुखदासजी ने कहा—सबके लिए हो सकती है लेकिन मुझे आवश्यकता नहीं। क्यों, क्या बात हो गई ? सभी ने लिया है तो आपको भी लेना चाहिए। उन्होंने कहा—मालिक को बता देना, मैं आठ घण्टे की ड्यूटी कर उतना ही काम कर रहा हूँ, कोई १६ घण्टे तो नहीं करने लग गया, जितना काम करता हूँ, उतना वेतन लेता हूँ, अतः उनसे कह दीजिए कि मुझे ज्यादा नहीं चाहिए। मालिक कहता है—ऐसा कौन-सा व्यक्ति है जो हड़ताल में शामिल नहीं हुआ। जाकर मेरा कह देना तो वह ले लेगा। सेवक ने कहा—भैय्या ले लीजिए, मालिक ने कहा है। नहीं, मैं नहीं ले सकता। अब मालिक ने उन्हें ही बुलाया और कहा मेरे कहने से ले लो। तब भी सदासुखदासजी ने कहा—मुझे नहीं चाहिए। फिर क्या चाहते हैं आप ? मालिक ने पूछा। मुझे यही चाहिए कि अब शेष जीवन का अधिक से अधिक समय जिनवाणी की सेवा में लगा सकूँ, अतः मुझे आठ घण्टे की जगह चार घण्टे का काम रहे और वेतन भी आधा कर दिया जाय। इसको बोलते हैं, मुमुक्षु और उसकी जिनवाणी के प्रति साधना-सेवा। जैसा नाम था वैसा ही काम सदासुख। उन्होंने कहा—हम धन्य हैं, हमारे राज्य में इस प्रकार के व्यक्ति का रहना, बहुत ही शोभास्पद है, सदासुखदासजी का जीवन कितना सादगीपूर्ण था। एक बार टीकमचन्द, भागचन्दजी सोनी (जिन्होंने अजमेर के अन्दर नसियांजी का निर्माण कराया) के पास उनके द्वारा लिखे हुए पत्र मैंने स्वयं अपनी आँखों से पढ़े हैं, जब टीकमचन्दजी अपने परिवार सहित सम्मेदशिखरजी की यात्रा के लिए जाने वाले थे, उस समय सदासुखदासजी जयपुर में रहते थे, अतः कहा गया कि आपको भी सम्मेदशिखरजी की यात्रा के लिए साथ चलने के लिए आना है, मैं सारा प्रबन्ध कर लूँगा, आपको कोई चिन्ता नहीं करना है, सारी चिन्ताएँ छोड़कर चलना है, लेकिन जवाब में पण्डितजी ने लिखा—मैं नहीं आ सकता हूँ, क्योंकि मैंने देशावकाशिक व्रत ले लिया है, इससे हम सीमा को

छोड़कर नहीं जायेंगे, साथ ही मैं सल्लेखना के लिए भी प्रयास कर रहा हूँ, इसीलिए मैंने ड्यूटी भी कम कर दी है, अब मुझे आत्मकल्याण करना है। अब तो –

अन्तः क्रियाधिकरणं, तपःफलं सकलदर्शिनः स्तुवते।
तस्माद् यावद् विभवं, समाधिमरणे प्रयतितव्यम् ॥ रत्न. श्राव. ६/२

समाधिमरण प्राप्त करने के लिए आचार्य समन्तभद्रस्वामी ने कहा–यदि वृद्धावस्था आ रही है तो जल्दी-जल्दी कीजिए, जब तक वैभव अर्थात् शक्ति है शरीर में, तब तक इस ओर सारी शक्ति लगा दीजिए, जिससे यह जीवन शान्त-निराकुलतामय बन जाए और आगे भी शान्ति का लाभ हो सके।

आचार्य समन्तभद्रस्वामी के रत्नकरण्डक श्रावकाचार पर जो कि मूलतः श्रावकों के लिए लिखा गया है, सदासुखदासजी ने टीका की, उसे आज भी आबाल-वृद्ध सभी पढ़ते हैं। मैं तो रत्नकरण्डक को '**रत्नत्रय स्तुति**' ग्रन्थ मानता हूँ, उसमें रत्नत्रय की स्तुति के माध्यम से सच्चे देव, शास्त्र, गुरु की उपासना करता हुआ व्यक्ति, अन्त में सल्लेखना ले करके बहुत आरम्भ, बहुत परिग्रह क्या ? वह तो बहुत दूर की बात होगी, अब तो थोड़ा-सा भी परिग्रह शनि के रूप में मानकर दूर फेक देगा, उनकी कृतियाँ आज भी धरोहर हैं, हम उनका मूल्यांकन करने चलते हैं तो पाते हैं कि कितना अपार अनुभवमय जीवन था उनका, कितनी सादगी थी, मुनि बन जाते तो, कितना उपकार कर जाते, पता नहीं, भजनों में लिखते हैं कि "**वे मुनिवर कब मिल हैं उपकारी**" यानि उनके जीवन में ऐसे मुनि महाराजों के दर्शन भी सुलभ नहीं थे, लेकिन आज उनके भजन से ऐसा लगता है कि ये भी मुनिराजों से कम नहीं थे, उनके भीतर-मन में मरण से किंचित् भी डर नहीं था, वे मरण के ऊपर महोत्सव मनाने में लगे रहे, अन्तिम समाधि, सदासुखदासजी की कैसी हुई, मालूम है ? उन्होंने पहले से तिथि लिख दी, कि फलां तारीख को इस समय, इस प्रकार की घटना होने वाली है, मैं कुछ भी नहीं कर सकूँगा, वही घटना, वही तिथि और वही समय, भागचन्द सोनी को आँखों में पानी आ रहा था सुनाते-सुनाते कि इस प्रकार का उच्च आदर्शमय जीवन था सदासुखदास जी का, उन पत्रों को उन्हीं ने बताया था, जो कि एकत्रित कर रखे हैं।

एक जीवन ऊपर कहा जा चुका और एक आज का जीवन है, आज यद्वा-तद्वा आचरण कर असमय में ही मृत्यु की गोद में पहुँच रहे हैं लोग, इस आयुकर्म को अच्छी तरह से रखना है, जीवन में डर नहीं होना चाहिए, लोभ नहीं होना चाहिए।

"**क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषणं च पञ्च**" (तत्त्वार्थसूत्र-७/५)

जिसके जीवन में क्रोध है वह सत्य का उद्घाटन नहीं कर सकता। जो व्यक्ति पाई-पाई के

लिए लोभी बन रहा है वह जिनवाणी का, सत्य का प्रचार-प्रसार नहीं कर सकता। भीरुत्व, ये क्या कहेंगे ? क्या पता, इसलिए पलट दो, आज कुछ, कल कुछ। अभी कुछ, रात को कुछ और सुबह कुछ, मन में कुछ, लिखना कुछ और कहना कुछ और ही, यह कुछ का कुछ, क्यों होता है, यह भीतरी दृढ़ता नहीं होने के कारण होता है। आचार्य कुन्दकुन्द, समन्तभद्रस्वामी आदि के उपासक जैनियों को आज क्या हो गया ? उनके साहित्य को ले करके हम क्या कर रहे हैं, जिनवाणी माँ के ऊपर आज कीमत लिखी जा रही है। भगवान के ऊपर भी कहीं कीमत लिखी क्या ? नहीं लिखी। गुरुओं के ऊपर कीमत है क्या ? नहीं है। फिर जिनवाणी के ऊपर कैसे-क्यों लिखी जाती है-जा रही है ? जिनवाणी का भी क्या कोई मूल्य है? आज ५० साल भी नहीं हुए गुजरात में श्रीमद् रायचन्दजी हुए जिन्होंने अगास में आश्रम खोला है, उन्होंने कहा था—जिनवाणी का कोई मूल्य नहीं होता है। अनमोल वस्तु है जिनवाणी, इसके लिए जितना भी देना पड़े कम है, वह जवाहरात की थाली लिए बैठे थे, जो भी व्यक्ति समयसार भेंट करता, उसको सारे जवाहरात दे देते थे, पर आज ५ रुपये, १० रुपये, २५ रुपये, होड़ लगी है, स्पर्धा हो रही है, क्या हो रहा है साहित्य का-जिनवाणी माँ का। बिल्कुल गलत है यह तरीका, यह विधि, जैसा-तैसा प्रकाशन करना, यद्वा-तद्वा प्रचार करना। शादियों में समयसार बाँटा जा रहा है, जैसे कि पूड़ी बाँटी जाती है, ऐसा नहीं होना चाहिए, यह अनमोल है, तब क्या प्रत्येक व्यक्ति इसको पढ़ सकता है ? यद्वा-तद्वा ही पढ़ेगा, जिनवाणी की सेवा यही है कि जो सुपात्र है, उसको आप दीजिए। जो क क ह रा भी नहीं जानता, उसके सामने जा करके अपना साहित्य देंगे तो वह उसकी कीमत ही नहीं करेगा, रद्दी में बेच देगा, आज मौलिक साहित्य रद्दी में बेचा जा रहा है, हमने अपनी आँखों से देखा है कि बड़े-बड़े ग्रन्थों को बिस्तर में बाँध दिया गया और कहाँ पर पटक दिया, यह आप भी जानते हैं, यह आज की स्थिति है, आज जैनियों को क्या हो गया समझ में नहीं आता ? यह सादगीपूर्ण जीवन के अभाव के कारण ही हो रहा है, अनाप-शनाप व्यवसाय करके वित्त आने से रात-दिन चैन नहीं, आज विश्व में वित्त ज्यादा होने से विद् यानि ज्ञान का अवमूल्यन होता चला जा रहा है, उसी कारण से आज जिनवाणी के प्रति आदर नहीं है, सत्य की पहचान नहीं है, पापों से भय नहीं है और सारी दुनियाँ भर में भय बढ़ता जा रहा है।

मैं श्री जयधवल का अध्ययन कर रहा था तब एक प्रसंग आया कि —जिस व्यक्ति को भयकर्म की उत्कृष्ट उदीरणा हो रही हो उस व्यक्ति के पास नियम से मिथ्यात्व रहेगा। जिस व्यक्ति को विशेष रूप से लोभ रहेगा, बहुत आरम्भ, बहुत परिग्रह होगा, उसके नियम से मिथ्यात्व कर्म की उदीरणा होगी। लोभ के साथ दर्शनमोहनीय का विशेष सम्बन्ध है। श्री धवल-श्री जयधवल, महाबन्ध पढ़ने का प्रयास करिए, तब मालूम पड़ेगा कि हमारे परिणाम कब कैसे होते हैं ? उन

परिणामों के साथ कौन-सा परिणाम होना आवश्यक है, लोभ का यद्यपि चारित्रमोहनीय से सम्बन्ध है, लेकिन वह कहते हैं कि जब अति लोभ होगा तब मिथ्यात्व कर्म की उदीरणा हुए बिना नहीं रहेगी, इसलिए आप यदि स्वयं को तथा दूसरों को-दुनियाँ को सम्यग्दर्शन से सहित देखना चाहते हैं तो सर्वप्रथम बहुत आरम्भ, बहुत परिग्रह छोड़ दीजिए, वैसे स्वाध्याय ज्यादा आवश्यक नहीं जितना आरम्भ-परिग्रह का त्याग। बहुत से आचार्यों ने स्वाध्याय के लिए जोर दिया पर ध्यान रखिए यह मुनियों को भी आवश्यक रूप में नहीं है, स्वाध्याय २८ मूलगुणों में नहीं है, स्वाध्याय को तप के अन्तर्गत गिना गया है, आज केवल स्वाध्याय का, स्वाध्याय के द्वारा अनेक प्रकार की भीतरी वासनाओं को पूर्ण करने के लिए प्रचार-प्रसार किया जा रहा है, जो कि बिल्कुल आगम विरुद्ध है, श्रावकों को भी आवश्यक नहीं बताया गया स्वाध्याय, न श्री धवल में, न श्री जयधवल में, न महाबन्ध में, न रत्नकरण्डकादि श्रावकाचारों में आवश्यक बताया है, फिर यह प्रवाह कैसे आ गया? मुझे मालूम नहीं, लेकिन इसके उपरान्त भी कह सकता हूँ कि मान लीजिए, श्रावकों के षट्कर्मों में लिखा गया, तो पहले यह ध्यान रखिए कि षट्कर्म किसके होते हैं ? आचार्यों ने कहा है—अहिंसा आदि व्रत, चाहे अणुव्रत हो या महाव्रत उसकी सुरक्षा के लिए, उन श्रावकों-मुनियों के लिए जीवन में छह आवश्यक कर्म बताये गये हैं, जैसे खेती की रक्षा बाड़ी के माध्यम से होती है उसी प्रकार आवश्यकों को जानना।

अब केवल स्वाध्याय-स्वाध्याय को करने-कहने की बजाय, अपने जीवन से तामसी प्रवृत्तियों को कम करो, सत्य रखो, समता रखो, वात्सल्य रखो, प्रेम रखो और जीवन के प्रति गौरव रखो। हमारी कौन-सी संस्कृति है इस बात का ध्यान रखो, हम जैन हैं, जैन होने के नाते अपनी वृत्तियों को संयमित रखो।

जैन कहते ही पहले अदालतों से छुट्टी मिल जाती थी, लेकिन आज जैन कहने की हिम्मत नहीं हो रही है, अखबारों में छपे समाचारों को देखकर बहुत ही दुःख होता है कि आखिर हम भी तो उसी कोटि में माने जायेंगे/आ जायेंगे, वैसे साधु किसी सम्प्रदाय के नहीं होते, साधु तो विश्व का होता है, फिर भी हमारे साथ 'जिन' एक ऐसा शब्द लगा है, वह उन भगवान को इंगित करता है, जो रागद्वेष नहीं करते, विषय-कषाय से रहित होते हैं, आरम्भ-परिग्रह से रहित होते हैं, ऐसे जिन भगवान हुआ करते हैं, जिन भगवान की उपासना करने वाले जैन माने जाते हैं, तब जैन का कार्य भी इन जैसा होना चाहिए, उनके कदमों पर चलना चाहिए, चलने की स्पर्धा होनी चाहिए, होड़ होनी चाहिए, जबकि आज हम विपरीत दिशा में जाकर अपने को जैन सिद्ध करना चाहें तो दुनियाँ बावली नहीं, भोली नहीं, अंधी नहीं, आँखें लगाकर देखती है, आजकल आँखें तो क्या, आँखों के ऊपर आँखें (सूक्ष्मदर्शी इत्यादि) लगाई जा रही हैं! आँखें (निगाहें) रखी जा रही हैं! कौन क्या-क्या

कर रहा है, कौन क्या बोल रहा है, कौन कैसा पलट रहा है, कैसा उलट रहा है? कोई भी उसकी निगाहों से बच नहीं सकता।

सदासुखदासजी के जीवन से हमें ज्ञात होता है कि जीवन बहुत सादगीपूर्ण होना चाहिए। यह बुन्देलखण्ड है और मैं मानता हूँ कि यहाँ पर अभी यह हवा नहीं है या नहीं के बराबर है लेकिन आने में देर नहीं, कहीं चक्रवात आ जायें तो इसे भी अपने चक्कर में ना ले ले, बस यही मैं चाहता हूँ, कामना करता हूँ, इसको शुद्ध रखने की अधिक से अधिक कोशिश की जाए। **हम भले ही शुद्ध-शुद्ध की चर्चा करते जायें कि आत्मा शुद्ध है, हम शुद्ध आम्नाय वाले हैं किन्तु भगवान कहते हैं कि जिसका आचरण शुद्ध नहीं उसकी आम्नाय शुद्ध नहीं, आम्नाय (परम्परा) आचार और विचार की एकता से ही चलती है।** सही शुद्ध आम्नाय तो वही है, जिसमें महान् चरित्रनिष्ठ आचार्य कुन्दकुन्ददेव हुए, समन्तभद्रस्वामी हुए और भी आचार्य हुए और हो रहे हैं, जिन्होंने श्रावकों के लिए, अल्पबुद्धिशालियों के लिए ग्रन्थ रचना की और जिनशासन की प्रभावना की, अपनी भावना के द्वारा, अन्त में अपने जीवन का कल्याण किया तथा हजारों-लाखों जीवों का कल्याण किया, उनका मार्ग प्रशस्त किया, अब आप वह मार्ग अक्षुण्ण बनाये रखें, यही हमारा निवेदन है।

बन्धुओ! नीति-न्याय को नहीं भूलिये, आज की पीढ़ी, जो कि २५ से ४० वर्ष के बीच की है, यह ऐसी पीढ़ी है जो सम्पन्न है और उसमें करने की, कुछ पाने की सामर्थ्य है, साथ ही कुछ जिज्ञासाएँ व संभावनाएँ भी हैं, ऐसी पीढ़ी के सामने यदि आपने अपने अनीतिमय जीवन को रखा तो उनके जीवन को पाला लग जायेगा। आप यदि करुणा कर, उनके भविष्य, जीवन के बारे में करुणा करते हैं तो इस घृणित जीवन को आज से ही छोड़ दीजिए और संकल्प कीजिए कि अब हम अपने जीवन में अनीति को कोई स्थान नहीं देंगे। तब समझा जाएगा कि प्रतिष्ठा-महोत्सव बहुत अच्छी बात है। अनीति से धनोपार्जन नहीं होना चाहिए और अनीति के द्रव्य का (धन का) दान नहीं देना चाहिए।

दान देने का अर्थ, यह नहीं है कि हम यद्वा-तद्वा दान दें, यदि एक व्यक्ति चोरी करके दान दे तो क्या वो दान कहलायेगा? नहीं! नहीं!! वह तो पाप का ही कारण बन जाएगा, जो आरम्भ-परिग्रह किया था उसके द्वारा पाप का ही आस्रव हुआ और पाप का ही उपभोग हुआ करता है, अतः इसको छोड़ दो!...बिना देखे छोड़ दो, जिस प्रकार मल को छोड़ते हैं उसी प्रकार इसको भी छोड़ने के लिए कहा है, किन्तु आज तो यह नाटक जैसा होता जा रहा है, जबकि सभी बातें सारी-दुनियाँ जान रही है, इसलिए अब किसी भी प्रकार के साहित्य के माध्यम से प्रचार-प्रसार नहीं किया जा सकता।

आज तो हमारी नीति, हमारा न्याय, हमारा आचरण, हमारे विचार, हमारा व्यवहार जो कि समाज के सामने है, उसे देखकर ही मूल्यांकन किया जावेगा। आज की पीढ़ी इस प्रकार से अन्धानुकरण कर चलने वाली नहीं है, अनीतिपूर्वक 'गवर्मेन्ट' के 'टैक्स' को डुबोकर, दान देना, दान नहीं माना जाता, आचार्य उमास्वामीजी ने कहा है–

''स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्ध -राज्यातिक्रम-हीनाधिकमानोन्मानप्रतिरूपक व्यवहाराः''

(तत्त्वार्थसूत्र-७/२७)

राज्यातिक्रम बहुत बड़ा दोष है और संभव है वह जैनियों के ऊपर कोई आपत्ति ला दे, इसीलिए सत्ता के विपरीत चलना धर्म नहीं, अधर्म माना जायेगा, जो सत्ता के विपरीत चलेगा, वह महावीर भगवान के शासन को भी कलंकित करेगा, दूषित करेगा, बात यद्यपि कटु है लेकिन, कटु भी सत्य हुआ करता है। जैसे–माँ को गुस्सा आ गया। क्यों आया ? क्योंकि उसका लड़का उत्पथ, उन्मार्ग पर आरूढ़ हो जाता है तो उसका सब कुछ कहना-करना आवश्यक हो जाता है, इसलिए आप समझिए कि जब तक भीतर आत्मा के परिणाम उज्ज्वल नहीं होंगे, हमारा आचार-विचार उज्ज्वल नहीं रहेगा, तब तक हमारा सम्बन्ध महावीर भगवान से नहीं होगा, कुन्दकुन्द के साथ नहीं होगा, समन्तभद्र के साथ नहीं होगा, इतना ही क्या ? आप लोग सुनते ही हैं - जब पिताजी अवसान के निकट होते हैं, तब बेटा को बुलाते हैं, क्या आज्ञा है बाबूजी और कोई आज्ञा नहीं, बस यही कि जब तक आज्ञा का उल्लंघन नहीं करेगा तब तक ही मेरा बेटा है, देख! तेरे लिए ही सब कुछ किया–दुकान बना दी, मकान बना दिया, खेती-बाड़ी कर दी, सब कुछ तो कर दिया, अब कोई आवश्यकता नहीं, लेकिन यह ध्यान रखना कि इस परम्परा में दूषण न लगे, नहीं तो उसी दिन से हमारा-तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं, अब फर्म मेरी नहीं, तुम्हारी है अतः फर्म की परम्परा देखकर काम करना, आप इन सब बातों को तो करने जल्दी कटिबद्ध हो जाते हैं, लेकिन यहाँ पर आप सोचते हैं कि–ऐसा करने से कहीं हमारा जीवन ही न मिट जाये, लेकिन हमारा जीवन वस्तुतः धार्मिक जीवन है और इस दृश्य को देखकर भगवान महावीर क्या कहते होगे, कुन्दकुन्द भगवान क्या कहते होंगे और समन्तभद्र महाराज क्या कहते होंगे ? जरा सोचो, विचार तो करो ?

हमारा साहित्य तो बहुत ही उज्ज्वल है। विश्व-भर में भी इस प्रकार का साहित्य नहीं मिल सकता, लेकिन हमारे इस आचरण को देखकर लोग व्यंग में कहते हैं कि क्या यह इस साहित्य की देन है, जो व्यक्ति इस प्रकार के साहित्य के साथ होने पर भी अनीति के साथ चलता है, झूठ बोलता है, चोरी करता है, कुशील करता है, परिग्रह की होड़ लगाता है तो उसके मुख से जो शब्द निकलेगा वह विनाशकारी होगा, कार्यकारी शब्द तीनकाल में भी संभव नहीं है।

धन्य हैं वे समन्तभद्र! धन्य हैं वे कुन्दकुन्द, जिन्होंने हमारे लिए मृत्यु की भीति से दूर हटा दिया। मृत्यु क्या है ? दिखा दिया। जन्म क्या है ? सब कुछ बता दिया।

जीव अरू पुद्‌गल नाचै यामें कर्म उपाधि है।(बारह भावना, मंगतराय कृत २२)

अर्थात् जीव और पुद्‌गल कर्म ये दोनों मिलकर यहाँ पर नाच रहे हैं, यहाँ प्रत्येक व्यक्ति नट (नाच दिखाने वाले) हैं, तो फिर देखने वाला कौन है? सारे सारे नट ही हैं! देखने वाला कोई नहीं! अतः खुद ही अपनी आत्मा को सजग-जागृत बनायें और हम अपने नाटक को देखें, सोचें, लेकिन इसमें टिके नहीं, भटके नहीं! हम भटकते चले जा रहे हैं! राग-द्वेष-मोह-माया-मत्सर इत्यादि का स्वरूप समझें और इनको तिलांजलि दे दें! अपने एकमात्र शुद्ध स्वरूप का, निरंजनस्वरूप अखण्डज्ञान का चिन्तन करें! कितना आनन्द, शक्ति और वैभव पड़ा है हमारे पास, एक महान् सेठ होकर भी संसारी-प्राणी अज्ञान और कषाय के वशीभूत होकर भिखारी के समान दर-दर, एक-एक दाने के लिए मुहताज हो रहा है, भगवान कुन्दकुन्द को हमारे ऐसे जीवन पर दया, करुणा आती है, रोना आता है कि कैसे समझायें ? माँ का रोना स्वाभाविक है, क्योंकि आखिर उसकी वह संतान उसके जीवन के ऊपर ही तो निर्धारित है, मैं उसको दिशा-बोध नहीं दूँगी तो कौन देगा ? इस प्रकार वह सोचती रहती है, विचार करती रहती है।

बन्धुओ! अनीति के व्यसन से बचिये, वित्त की होड़ को छोड़ दीजिए और वीतरागता प्राप्त करने का एक बार प्रयत्न कीजिए, जीवन में एक घड़ी भी वीतरागता के साथ जीना बहुत मायना रखता है और हजारों वर्ष तक राग-असंयम के साथ जीना कोई मायना नहीं रखता, सिंह बनकर एक दिन जीना भी श्रेष्ठ है किन्तु १०० साल तक चूहे बनकर जीने की कोई कीमत नहीं, सब कुछ छोड़ दीजिए-ख्याति, पूजा, लाभ, वित्त, वैभव, अपने आत्मवैभव की बात करिये अब।

इन पाँच दिनों में २ दिन आपके थे और ३ दिन अब हमारे होंगे। अब भगवान हमारे हो जायेंगे, अभी तक तो वह मोह के पालना में झूले, लेकिन कल मोह को छोड़ेंगे तब कैसा माहौल होगा ? क्या वैराग्य, क्या आत्मा का स्वभाव होता है ? ज्ञात होने लग जायेगा। जितना भी वैभव है सब कुछ छोड़कर निकलेंगे वे, आप लोगों के पास क्या है ? षट्खण्ड का आधिपत्य भी छोड़कर चले जाते हैं, आपके पास तो छहखण्ड का मकान भी नहीं है, एक खण्ड का है, वह भी चूंता है (रिसता है) बरसात के दिनों में यदि तूफान आ जाए तो छप्पर भी उड़ जाए, इस प्रकार आप तो एक खण्ड के भी अधिपति-स्वामी नहीं हैं, एक मकान के भी स्वामी नहीं हैं और फिर भी क्या समझ रहे हैं अपने आपको यह सब पर्याय-बुद्धि है, इसमें कुछ भी नहीं है।

ऐसे अनमोल क्षण चले जा रहे हैं आप लोगों के, इसलिए, यदि साधु नहीं बन सकते, मुनि

नहीं बन सकते तो ना सही, परन्तु श्रावकाचार के अनुरूप सदासुखदासजी का तो साथ आप सबको देना ही चाहिए, यानि श्रावक के व्रतों को तो अंगीकार करना ही चाहिए जो कि परम्परा से मोक्ष-सुख के साधन हैं।

❑ ❑ ❑

जन्मकल्याणक

(उत्तरार्द्ध)

प्रातःकाल जन्मकल्याणक महोत्सव हो चुका है। उसी के विषय में कुछ कहना चाह रहा हूँ। भगवान् का जन्म नहीं हुआ करता, जन्म के ऊपर विजय प्राप्त करने से बनते हैं भगवान्, भगवान् का जन्म नहीं होता किन्तु जो भगवान् बनने वाले हैं उनका जन्म होता है, इसी अपेक्षा से यहाँ पर जन्मकल्याणक मनाया गया, यह जन्म महोत्सव हमारे लिये श्रेयस्कर भी होगा, क्या हम भी अपना जन्म महोत्सव मनायें इस पर भी कुछ कहना चाहूँगा। अन्य विषयों पर भी कुछ कहूँगा। तो सबसे पहले जन्म को समझें। आचार्य समन्तभद्रस्वामीजी ने रत्नकरण्डक श्रावकाचार में एक कारिका के द्वारा अठारह दोष गिनाये हैं -

क्षुत्पिपासाजरातंकजन्मान्तकभयस्मयाः ।
न रागद्वेषमोहाश्च यस्याप्तः स प्रकीर्त्यते॥

(रत्नकरण्डक श्रावकाचार-६)

इन दोषों से रहित होना ही भगवान का सही-सही स्वरूप है। जिन्हें हम पूज्य मानते हैं, चरणों में माथा झुकाते हैं, आदर्श मानते हैं, उनके सामने घुटने स्वतः ही अवनत हो जाते हैं। यहाँ अठारह दोषों में एक जन्म भी आता है और मरण भी, किन्तु वह मरण महान् पूज्य हो जाता है, जिसमें फिर जन्म नहीं मिलता।

प्रातःकाल बात यह कही थी कि प्रत्येक वस्तु का परिणमन करना स्वभाव है, चाहे वह जीव हो या अजीव, कोई भी हो, इतना अवश्य है कि जीव-जीव के रूप में परिणमन करता है और अजीव-अजीव के रूप में, कभी भी अजीव, जीव के रूप में तथा जीव अजीव के रूप में परिणमन नहीं करता, तब भी हमारी दृष्टि में जीव का परिणमन, जीव के रूप में न आकर अजीव के रूप में आता है, जो हमारी ही दृष्टि का दोष है। आचार्यों ने तो आप्त, सच्चे देव की परीक्षा करके, लक्षण बता दिया, इसके माध्यम से क्या होने वाला है ? हमारे साध्य की सिद्धि होने वाली है, वे तो आदर्श रहेंगे और उनके माध्यम से हमारा भाव, हमारे भीतर उद्भूत होगा, स्वरूप की पहचान होगी। क्या कभी आपने दर्पण देखा है ? दर्पण कहो, प्रतिमा कहो बात एक ही है, दर्पण देखा है ऐसा कह तो

देंगे, परन्तु वस्तुतः दर्पण देखने में आता ही नहीं, ज्यों ही दर्पण हम हाथ में लेते हैं त्यों ही उसमें अपना मुख दिखाई देने लगता है, दर्पण नहीं दिखता और दर्पण के बिना अपना मुख भी नहीं दिखता।

भगवान भी दर्पण के समान हैं, क्योंकि वे अठारह दोषों से रहित हैं, स्वच्छ-निर्मल हैं। उनको देखकर ज्ञान हो जाता है कि हमारे सारे के सारे दोष अभी विद्यमान हैं, इसलिए हमारा स्वरूप यह नहीं है। स्वरूप की पहचान दो प्रकार से होती है एवं सुख की प्राप्ति भी दो प्रकार से होती है। इसी तरह ज्ञान भी दो प्रकार का होता है। एक विधि रूप और दूसरा निषेधरूप। जैसा आपने बेटे से कहा–तुम्हें यहाँ पर नहीं बैठना है तो उसे अपने आप यह ज्ञान हो जाता है कि मुझे यहाँ न बैठकर वहाँ बैठना है। यदि वहाँ के लिए भी निषेध किया जाता है तो वह अन्यत्र प्रवृत्ति करता है। इस प्रकार से निषेध से ही विधि का ज्ञान हो जाता है मात्र कहने का ढंग अलग-अलग है, बात तो एक ही है। इसी तरह मोक्षमार्ग में कहा जाता है कि पकड़िए अपने आपको, तब आप कहते हैं क्या पकड़े महाराज! कुछ भी दिखने में नहीं आता। कोई बात नहीं, यदि पकड़ में नहीं आता तो न पकड़िए, किन्तु जो पकड़ रखा है उसको छोड़िए-यह निषेध रूप कथन है, इससे निषेध करते-करते अपने आप ज्ञात हो जाता है कि यह हमारा स्वरूप है।

आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने एक स्थान पर लिखा है कि–आत्मा का स्वरूप क्या है? आत्मा का स्वभाव क्या है? आत्मा के लक्षण से हम स्वरूप को पहचान सकते हैं, स्वभाव को जान सकते हैं तो मतलब यह हुआ कि लक्षण अलग है और स्वरूप-स्वभाव अलग, दोनों में बहुत अन्तर होता है। वर्तमान में लक्षण का संवेदन हो सकता है, होता है किन्तु स्वरूप का संवेदन नहीं होगा, उपयोग, आत्मा का लक्षण है। इससे ही आत्मा को पकड़ सकते हैं, स्वरूप का श्रद्धान भी इस लक्षण के माध्यम से ही होगा, जिसकी प्राप्ति के लिए श्रद्धान किया जाता है तो उसकी प्राप्ति में साधना की भी आवश्यकता होती है, जैसे कि भगवान बनने के लिए प्रक्रिया कल से प्रारम्भ होने वाली है। साधना के लिए 'समयसार' में आचार्य कुन्दकुन्दस्वामीजी ने लिखा है–

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं॥

(समयसार-५४)

जीव रूपवान नहीं है, जीव गन्धवान नहीं है, जीव रसवान नहीं है, जीव स्पर्शवान नहीं है, जीव संस्थान वाला नहीं है, जीव उपयोग वाला है, अब सोचिए–यह नहीं, यह नहीं, यह नहीं, फिर स्वभाव क्या है आत्मा का? अनिर्दिष्ट संस्थान, संस्थान आत्मा का स्वभाव नहीं है, फिर संस्थान

क्यों मिला, क्या कारण है ? जब संस्थानातीत है तो संस्थान क्यों मिला, जो आकार-प्रकार से रहित है, उसमें आकार-प्रकार क्यों ? जो रूप, रस, गन्ध, वर्ण वाला नहीं है, फिर भी उसे रस, रूप, गन्ध के माध्यम से पहचान सकेंगे। जैसे पण्डितजी ने अभी कहा-क्या कहा था अपने आपको ? हुकुमचन्द ही तो कहा था। कहने में भी यही आयेगा अन्यथा अपना परिचय देना कैसे संभव है? तब मैं सोच रहा था कि पण्डितजी अपनी आत्मा के बारे में क्या परिचय देते हैं ? आखिर हुकुमचन्द यही तो कहना पड़ा। शब्द के माध्यम से ही अपनी आत्मा का बोध कराया, जो कि शब्दातीत है। अर्थ यह हुआ कि पण्डितजी ने विधिपरक अर्थ कभी भी नहीं बताया, बता भी नहीं सकेंगे, क्योंकि कुन्दकुन्दस्वामी खुद कह रहे हैं 'अरस', अर्थात् रस नहीं है, तो क्या है? भगवान ही जानें! अरस, अरूप, अगन्ध, अस्पर्श, अनिर्दिष्टसंस्थान-कोई आकार-प्रकार नहीं है, अलिंगग्रहण रूप है, किसी बिम्ब के द्वारा, किसी साधन के द्वारा उसे पकड़ा नहीं जा सकता, फिर भी आँखों के द्वारा देखने में आ रहा है, छूने में आ रहा है, संवेदन भी हो रहा है, सब कुछ हो रहा है। हाँ ठीक ही तो है, संवेदन, आत्मा के साथ बना रहने वाला है, चाहे गलत हो या सही। **संवेदन, आत्मा का लक्षण है, महसूस करना, अनुभव करना आत्मा का लक्षण है। केवलज्ञान आत्मा का लक्षण नहीं है, वह आत्मा का स्वभाव है, स्वभाव की प्राप्ति उपयोग के ऊपर श्रद्धान करने से ही हुआ करती है, अन्यथा तीन काल में भी कोई रास्ता नहीं है, स्वभाव का श्रद्धान करो,** जब ऐसा कहते हैं तो आप कहते हैं कि कुछ दीख ही नहीं रहा है महाराज! लेकिन श्रद्धान तो उसी का किया जाता है जो दिखता नहीं है, तभी सम्यग्दर्शन होता है।

लक्षण अन्यत्र नहीं मिलना चाहिए, उसका नाम विलक्षण है। विलक्षण होना चाहिए, भिन्न, पदार्थों से। घुले-मिले हुए बहुत सारे पदार्थों को पृथक् करने की विधि का नाम ही लक्षण है। लक्ष्य तक पहुँचने के लिए लक्षण ही दिखता है, लक्ष्य नहीं। यदि लक्षण भी नहीं दिखता तो हम नियम से भटक रहे हैं ऐसा समझ लीजिए। आत्मा दिखेगा नहीं, आत्मा का स्वरूप भी नहीं दिखेगा। घबराना नहीं, आचार्य कहते हैं-जो दिखेगा वह हमेशा बना रहेगा उसका लक्षण अलग है, चाहे सो रहे हों या खा रहे हों, पी रहे हों या सोच रहे हों, चाहे पागल भी क्यों न बन जायें, पागल भी अपना संवेदन करता रहता है। महाराज! पागल का कैसा संवेदन होता है? होता तो है लेकिन वह संवेदन पागल होकर के ही देखा जा सकता है, किया जा सकता है, कहा नहीं जा सकता, संवेदन कहने की वस्तु नहीं है।

इस प्रकार उपयोग रूप लक्षण को पकड़कर घने अन्धकार में भी कूद सकते हैं, इसमें घबराने की कोई आवश्यकता नहीं, लेकिन जिस समय लक्षण हाथ से छूट जाएगा, उस समय अन्धकार में नियम से भटकन है, हमें इसलिए नहीं घबराना है कि कुछ भी अनुभव नहीं हो रहा,

फिर कैसे प्राप्त करें उसे ? किसके ऊपर विश्वास करें ? विश्वास उसके ऊपर करना है जो हमें प्राप्त करना है और वर्तमान में क्या करना है ? वर्तमान जो अवस्था है उसी को देखकर विश्वास को दृढ़ बनाते चले जाना है, आत्मा को वर्तमान में तो मात्र प्रत्यक्षज्ञानी ही देखते हैं और हम ''**आगमप्रामाण्यात् अभ्युपगम्य-मानात्**'' से जानते हैं। दूसरी बात, जितनी भी अर्थपर्याय होती हैं वे सारी की सारी आगम प्रमाण के द्वारा ही जानी जाती हैं। ये स्वभावभूत पर्यायें जो हैं।

लक्षण पर विश्वास करिये, जो त्रैकालिक बना रहता है। स्वभाव त्रैकालिक नहीं होता। आप कहेंगे महाराज! आचार्यों ने तो कहीं-कहीं पर स्वभाव को भी त्रैकालिक होता है ऐसा कहा है।........हाँ, कहा तो है लेकिन, जिस स्वभाव की बात यहाँ पर कह रहा हूँ, उस स्वभाव को त्रैकालिक नहीं कहा। उन्होंने कहा है-

''**अभूदपुव्वो हवदि।**'' (पञ्चास्तिकाय)

ज्ञान को, सामान्य बनाने पर, उपयोग सामान्य बनाने पर, यह स्वभाव त्रैकालिक रहेगा। चाहे निगोद अवस्था हो या सिद्धावस्था या और भी शेष अवस्थाएँ। परन्तु केवलज्ञान रूप जो स्वभाव है, वह त्रैकालिक नहीं होता, तात्कालिक हुआ करता है। यह बात अलग है कि उत्पन्न होने के उपरान्त, वह अनन्तकाल तक अक्षय रहेगा, तब भी पर्याय की अपेक्षा तो क्षणिक रहेगा। अर्थ पर्याय तो और भी क्षणिक होती है। क्षणिक होना भी तो बता रहा है कि क्षय से उत्पन्न होता है- हो रहा है। हाँ! गुण जो हैं वे त्रैकालिक हैं। द्रव्य भी त्रैकालिक हुआ करता है। गुण की अपेक्षा से लक्षण होता है, पर्याय की अपेक्षा नहीं। केवलज्ञान को आत्मा का लक्षण माना जाए तो '**अव्याप्तिदोष**' आ जाएगा। इसलिए वह लक्षण नहीं स्वभाव है। उस स्वभाव की प्राप्ति कैसे होती है ? जब साधना करेंगे तब, साधना कैसी करें महाराज! आचार्य कहते हैं-इसको (आत्मा को) अरस मान ले, अगन्ध मान ले और अरूपी मान ले। जब अगन्ध है तो सूँघने के द्वारा हमें सुख नहीं आयेगा, जब अरस है तो चखने से पकड़ में नहीं आयेगा, अतः चखना छोड़ दे, देखने में तो रूप ग्रहण होगा और आत्मा का स्वभाव अरूप है। अतः देखने का कोई मतलब नहीं, फिर उतार दीजिए चश्मा, आँख भी बंद कर लीजिए, जब देखने की कोई आवश्यकता नहीं, इसलिए जो केवल भगवान बनने वाले हैं, वह नासादृष्टि करेंगे। क्यों करेंगे ? कल ही समझ में आयेगा कि मेरा अस्तित्व होते हुए भी, वह मुझे तब तक नहीं मिलेगा जब तक सब ओर से दृष्टि नहीं हटेगी। आँख बंद करूँगा, कान बंद करूँगा-कानों को बंद करने का अर्थ, अब रेडियो की आवश्यकता नहीं, ना सिलोन, ना विविधभारती और ना ही बी.बी.सी. लंदन। किसी से कोई मतलब नहीं। मतलब यही हुआ कि भीतर, अपने में उतारना है। भीतर की आवाज को सुनो, जो आवाज शब्द नहीं, अशब्द है। अगन्ध है, सूँघने के द्वारा पकड़ में नहीं आयेगी। किससे पकड़े ? जिन-जिन साधनों के माध्यम से यह संसारी प्राणी पकड़ने की चेष्टा

कर चुका है, कर रहा है और आगे करने वाला है, उन सभी को मिटाने का प्रयास ही साधन हो सकता है।

तू अरूपी है, तो छोड़ दे रूप को और उसके पकड़ने के साधनों को। करण और आलोक प्रमाण की उत्पत्ति में कारण नहीं। जैसा कि परीक्षामुख में कहा है–

''नार्थालोकौ कारणं'' (परीक्षामुख-१/६)

अर्थ और आलोक के द्वारा ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती। इसी तरह इन्द्रियों के द्वारा भी ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती। इनके द्वारा मात्र पुद्‌गल पदार्थ ही पकड़ में आते हैं और कुछ भी नहीं। मतिज्ञान के द्वारा आप क्या पकड़ेंगे? पञ्चेन्द्रियों के विषय ही तो पकड़ेंगे। इसके अलावा मतिज्ञान का क्षेत्र-विषय, और है ही नहीं। मतिज्ञान के द्वारा पञ्चेन्द्रिय के विषयों का ग्रहण होता है, पञ्चेन्द्रिय के विषय तो आत्मा नहीं, मात्र जड़। फिर अपने आपको जानने के लिए-मैं कौन हूँ, तो आचार्य कहते हैं–वह नहीं, जो आज तक तुम समझते थे। यह नहीं, नेति-नेति, एक ऐसी मान्यता, नीति है। इतना ही नहीं, 'यह नहीं,' के साथ 'इतना भी नहीं' मानना होगा। फिर कितना ? जितना पूछोगे, उतना नहीं। क्योंकि पूछना बाहरी दृष्टिकोण से हो रहा है और बात चल रही है अन्तरंग की। इसलिए 'यह नहीं' कहते ही समझने वाला अपने आप समझ लेता है कि, यह ठीक नहीं अतः दूसरी प्रक्रिया अपनानी होगी।

आत्मा के लिए दुनिया की किसी भी वस्तु की उपमा नहीं दी जा सकती। आत्मा अनिर्दिष्टसंस्थान रूप और अलिंगग्रहण है और वस्तुएँ इससे विपरीत। ऐसे विचित्र स्वरूप वाली आत्मा को हमें प्राप्त करना है। इसमें बहुत देर तो नहीं लगेगी, मात्र पाँच इन्द्रियों के विषयों को गौण करना आवश्यक होगा। **दुनिया को गौण मत करो, दुनियाँ को समाप्त करने का प्रयास मत करो। अपनी दृष्टि को, अपने भावों को, अपने दृष्टिकोण को पलटने का प्रयास करो।**

राजस्थान की बात है। एक सज्जन ने कहा–महाराज! आपकी चर्या बहुत अच्छी है, बहुत प्रभावित भी हुआ हूँ आपसे। लेकिन एक बात है, यदि आप नाराज न हों तो। नाराज होने की क्या बात ? आपको जहाँ सन्देह हो, बताओ ? देखिए, बात ऐसी है नाराज नहीं होइये। हाँ-हाँ, कह रहा हूँ, नाराज होना ही क्यों ? **नाराज हैं तो महाराज नहीं, महाराज हैं तो नाराज नहीं।** तो महाराज ऐसा है, आप एक लंगोटी लगा लो तो अच्छा रहेगा। हमने सोचा–इन्होंने कुछ सोचा तो है। सामाजिक प्राणि हैं, संभव है इनके लिए विकार नजर में आ रहा हो। मैंने कहा–अच्छा ठीक है। बात ऐसी है कि एक लंगोट तो आप खरीदकर ला देंगे लेकिन फिर दूसरी भी तो चाहिए। एक दिन एक पहनूँगा, एक दिन दूसरी। दूसरी भी आ जाए तो उसके धोने आदि का प्रबन्ध करना होगा तथा फटने पर सीने या नयी लाने की पुनः व्यवस्था करनी होगी। हाँ, जीवन बहुत लम्बा चौड़ा है।, इससे

आप जैसे लोग भी बहुत मिलेंगे। अतः सर्वप्रथम आपसे ही मेरा सुझाव है कि आपको जब कभी भी यह रूप देखने में आ जाए तो उस समय आप अपनी ही आँखों पर एक हरी पट्टी लगा लीजिए, उसको लगाना आँखों को लाभदायक भी होगा और रोशनी से शान्ति-छुटकारा भी मिलेगा।

इतना कहते ही उनकी समझ में आ गया कि कमी कहाँ है। वस्तुतः विकार हमारी दृष्टि में है। विकार दुनिया में नहीं है, वस्तु में नहीं है, केवल दृष्टि में विकार को हटाना है, दृष्टि को मोड़ना है, दुनिया पर हर चीज थोपना नहीं चाहिए। ध्यान रखिये! सामने वाले के ऊपर जितना थोपा जाएगा, उतना ही वह अधिक विकसित-अधिक दिमाग वाला होता जाएगा, वह विचार करेगा कि यह क्यों थोपा जा रहा है ? जैसा किसी के पीछे जितनी जासूसी लगाई जाती है वह उतना ही उससे ऊपर निकलने का प्रयास करता है क्योंकि उसके पास माइन्ड है, ज्ञान है, वह काम करता रहता है। रक्षा का प्रावधान करता रहता है, इसलिए सबसे बढ़िया यही है कि बाहर की ओर न देखें।

मार्ग सरल है, स्वाश्रित है-पराश्रित नहीं है, आनन्द वाला है, कष्ट-दायक नहीं है, आँख मींच लो, १०-१५ मिनिट उपरान्त, माथा का दर्द भी ठीक हो जाएगा, क्योंकि इन्द्रियों के माध्यम से जो मिल रहा है, हम उसकी खोज में नहीं हैं, हमारी खोज उस रूप के लिए है जो सबसे अच्छा हो, उस गन्ध के लिए है जो तृप्ति दे, उस शब्द के लिए है जो बहुत ही प्रिय लगे-कर्णप्रिय हो, यह सब इन्द्रियों के माध्यम से "**ण भूदो ण भविस्सदि।**" पञ्चेन्द्रिय के विषय मिलते रहते हैं और उनमें इष्ट-अनिष्ट कल्पना होती है, यह कल्पना आत्मा में, उपयोग में होती है वह भी मतिज्ञान के द्वारा नहीं श्रुतज्ञान के द्वारा होती है, मतिज्ञान के द्वारा इष्ट-अनिष्ट कल्पना, तीन काल में संभव नहीं है। मतिज्ञान एक प्रकार से निर्विकल्प-निराकुल होता है, उसमें वस्तुएँ दर्पणवत् झलकती हैं, झलक जाने के उपरान्त यह किसकी है ? यह विचारधारा बनना श्रुतज्ञान की देन है, मतिज्ञान की नहीं श्रुतज्ञान के माध्यम से ही उसे चाहा जाता है, इससे वस्तु पर श्रुतज्ञान का आयाम होता जाता है या यूँ कहें, यह मेरे लिए बुरा है, यह मेरे लिए अच्छा है, इस प्रकार की तरंगें उठती रहती हैं।

"**मतिज्ञानं यद्गृह्यते तदालम्ब्य वस्त्वनन्तरं ज्ञानं**" (धवला पुस्तक-१/९३)

अर्थात् मतिज्ञान के द्वारा ग्रहण की गई वस्तु का अवलम्बन करके प्रकारान्तर से वस्तु का जानना श्रुतज्ञान है, श्रुतज्ञान बहुत जल्दी काम करता है, क्योंकि वह सुख का इच्छुक है, हमें मतिज्ञान का कन्ट्रोल करके श्रुतज्ञान को कन्ट्रोल करने का प्रयास करना चाहिए, यही मोक्षमार्ग में पुरुषार्थ माना जाता है।

सुख क्या है ? दुःख का अभाव होना ही सुख है, जिस प्रकार यह कहा गया उसी प्रकार से आत्मा के विषय में भी जानना चाहिए। कारण कि नास्ति और अस्ति दोनों कथन एक साथ संभव नहीं हैं, यह वस्तुस्थिति है। जिस समय वस्तु उल्टी होती है उस समय सुल्टी नहीं हो सकती, जिस

समय सुल्टी है उस समय उल्टी नहीं, जिस समय आरोग्य रहता है उस समय रोग नहीं रहता किन्तु जिस समय रोग आ जाता है, उस समय आरोग्य का अनुभव भले ही ना हो, लेकिन आरोग्य का श्रद्धान तो रह सकता है अर्थात् रोग का अनुभव करना मेरा स्वभाव नहीं है अतः इसे मिटा देना होगा, जब तक रोग रहेगा, तब तक स्वभाव का, निरोगता का अनुभव सम्भव नहीं। महाराज! अनुभव रहित स्वभाव को कैसे मानें ? आचार्य कहते हैं—मानो! आगम के द्वारा कहे तत्त्व पर श्रद्धान रखो, छद्मस्थावस्था में स्वभाव का अनुभव तीन काल में भी संभव नहीं, केवलज्ञान के द्वारा वह साक्षात् हो सकता है। आचार्य कहते है कि अर्थपर्याय विशिष्ट द्रव्य को धारणा का विषय बनाना अलग है और उसका संवेदन-साक्षात्कार करना अलग बात है, वह केवलज्ञान के द्वारा ही संभव है।

''केवलज्ञानापेक्षया तु तत् मानसिकप्रत्यक्षं परोक्षमेव किन्तु
इन्द्रियज्ञानापेक्षया तत्कथंचित्प्रत्यक्षमपि'' (समयसार)

आचार्य कहते हैं कि—केवलज्ञान की अपेक्षा से वह मानसिक-प्रत्यक्ष या छद्मस्थज्ञान परोक्ष ही है। मानसिक प्रत्यक्ष को प्रत्यक्ष की संज्ञा इन्द्रिय ज्ञान के अभाव को लेकर दी गई है, वह भी श्रद्धान के अनुरूप चलती है अतः पराश्रित है, स्वभाव को हमें प्राप्त करना है अतः उसी का विश्वास-श्रद्धान आवश्यक है। कैसा है वह ? **अभूदपुव्वो हवदि सिद्धो**, ऐसा पञ्चास्तिकाय में कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है कि सिद्धत्वरूप जो स्वभाव है वह अभूतपूर्व है, अभूतपूर्व का मतलब क्या है ? अभूतपूर्व का अर्थ बढ़िया-अपश्चिम है, अपूर्व वस्तु है, अर्थात् ऐसी अवस्था कभी हुई नहीं थी। इसी तरह का अर्थ करणों में भी आपेक्षित होता है। जब गुणस्थान के क्रम बढ़ते जाते हैं उस समय विशुद्धि बढ़ती जाती है—भावों में वृद्धि होती है, उन करणों में एक अपूर्वकरण और एक अनिवृत्तिकरण भी है, जिनमें परिणामों की अपूर्वता होती है, तुलना नहीं होती एक दूसरे से। इस प्रकार की व्यवस्था चलती रहती है उस समय।

अर्थ यह हुआ कि स्वभावभूत वस्तुतत्त्व आज तक उपलब्ध नहीं हुआ हमें, उसका रूप, उसका स्वरूप प्रतिकारात्मक है, यह नहीं है, यह नहीं है—ऐसा प्रतिकार करते आइये, पलटते जाइये और बिल्कुल मौन हो जाइये, जिसको पलट दिया उसके बारे में कुछ भी नहीं सोचिये, आपके पास वस्तुओं की संख्या बहुत कम है, लेकिन दिमाग में-सोचने में, उससे कई गुनी हो सकती हैं, दिमाग की यह कसरत तब अपने आप रुक जाएगी जब यह विश्वास हो जाएगा कि इसमें मेरा 'बल' नहीं है।

कम्मे णोकम्मह्मि य अहमिदि अहकं च कम्मणोकम्मं।
जा एसा खलु बुद्धी अप्पडिबुद्धो हवदि ताव॥
(समयसार-२२)

तब तक अप्रतिबुद्ध होता है जब तक कि कर्म में, नोकर्म में, मेरा-तेरा करता रहता है तब तक वह ज्ञानी नहीं, अज्ञानी माना जाता है। यह मैं हूँ, यह मैं हूँ-ऐसा चौबीसों घण्टे इन्द्रियों के व्यापार के माध्यम से सचित्त-अचित्त-मिश्र पदार्थों से जो कि भिन्न है, सम्बन्ध जोड़कर चलना और उसके साथ जो पोषक द्रव्य है उनके संयोग से हर्ष और वियोग से विषाद का अनुभव करना, अज्ञानी का काम है। इसी के माध्यम से संसार की यात्रा बहुत लम्बी-चौड़ी होती जाती है। जैसे- अमेरिका में आपकी एक शाखा चलती हो, अब यदि अमेरिका पर बंबारडिंग होने लगे तो, आपके हृदय में भी वह शुरुहो जाएगी, तत्सम्बन्धी सुख-दुख होने लगता है, आप से पूछते हैं कि भैय्या! आपका देश तो भारत है अमेरिका नहीं, वह तो विदेश है। बात तो ठीक है, लेकिन हमारा व्यापार सम्बन्ध तो अमेरिका से भी है। इसी प्रकार हमारा व्यापार भी वहाँ चलता है जहाँ इन्द्रियाँ हैं। उन्हीं से हित-अहित, सुख-दुःख, हर्ष-विषाद का अनुभव करते हैं।

पण्डितजी ने अभी सात प्रकार की 'टेबलेट' के विषय में बताया, लेकिन मैं तो यह सोच रहा था कि संसार में सात प्रकार के भय होते हैं और सभी प्राणी उन भयों से घिरे हुए हैं, इसलिए उन्होंने सात प्रकार की गोलियाँ निकाली होगी, परन्तु सम्यग्दृष्टि सात प्रकार के भयों से रहित होता है, इसलिए निःशंक हुआ करता है, जैसा कि समयसार में आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने कहा–

सम्मादिट्ठि जीवा णिस्संका होंति णिब्भया तेण।
सत्तभयविप्पमुक्का जम्हा तम्हा दु णिस्संका॥

(समयसार-२४३)

सातों भयों से मुक्त हो गये तो फिर गोली की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी, और न कोई शस्त्रों की, क्योंकि उसके द्वारा न आत्मा मरता है, न मरा है और न मरेगा। महाराज! फिर जन्म किसका हो रहा है आज ? इसी को तो समझना है, पाँच दिन रखे हैं, जिनमें एक दिन जन्म के लिए भी है।

बहुत दिनों की प्रतीक्षा के उपरान्त एक के घर में सन्तान की प्राप्ति हुई, जिस समय जन्म हुआ, उसी समय उधर ज्योतिर्विद् को बुलाकर कह दिया–भैय्या! इसकी कुण्डली बनाकर ले आना और इधर साज-सज्जा के लिए कहा और मिठाई भी बँटने लगी, सब कुछ हो गया। लेकिन दूसरी घड़ी में ही ज्योतिषी कुण्डली बनाकर ले आया, कहता है–संतान की प्राप्ति बहुत प्रतीक्षा के बाद हुई, लेकिन, लेकिन क्यों कह रहे हो? महान् पुण्य के उदय से हुई, फिर लेकिन क्यों ? हाँ-हाँ पुण्य के उदय से हुई थी और लम्बी प्रतीक्षा के बाद हुई, बिल्कुल ठीक है, लेकिन...। लेकिन क्यों लगा रहे हैं? .....बात ऐसी है कि पाप और पुण्य दोनों का जोड़ा है, इसलिए हुई थी भूतकाल है। अब

वर्तमान में वह नहीं है, वह मर जाएगी, इतने में ही वहाँ से खबर आ गई कि मृत्यु हो गई। सुनते ही विचार में पड़ गया, बहुत दिनों के उपरान्त एक फल मिला था, वह भी किसी से नहीं देखा गया, उसके ऊपर भी पाला पड़ गया। सुना है कि एक महाराज आए हैं जो बहुत पहुँचे हुए हैं, कहाँ पहुँचे हैं ? पता नहीं, लेकिन उनकी दृष्टि में तो बहुत कुछ हैं, होंगे। वह भागता-भागता गया, उस पुत्र को लेकर कहा-जिस प्रकार इसको दिया, उसी प्रकार दीया (दीपक) के रूप में रखो तो ठीक है, नहीं तो क्या होगा? नहीं-नहीं आप ऐसा नहीं कहिए, आप करुणावान् हैं, दयावान् हैं, मेरे ऊपर कृपादृष्टि रखिये और इसे किसी भी प्रकार बचा दीजिए, क्योंकि आपके माध्यम से बच सकता है–ऐसा सुना है, महाराज बोले मेरी बात मानोगे ? हाँ-हाँ, नियम से मानूँगा, जरूर मानूँगा, उसने सोचा अपने को क्या ? यदि काम करना है तो बात माननी ही पड़ेगी, महाराज बोले-अच्छा! तो तू कुछ सरसों के दाने ले आ, तेरा बेटा उठ जाएगा, इतना सुनना था कि वह तत्परता से भागने लगा, तभी महाराज ने कहा-इधर आओ, इधर आओ, तुम्हें सरसों के दाने तो लाना है लेकिन साथ में यह भी पूछ लेना कि उसके घर में कभी किसी की मौत तो नहीं हुई ? जिसके यहाँ मौत हुई हो, उसके यहाँ से मत लाना, क्योंकि वह सरसों दवाई का काम नहीं करते।...ठीक है, कहकर वह चला गया, एक जगह जाकर कहता है–भैय्या! मुझे कुछ सरसों के दाने दे दो, जिससे हमारा पुत्र पुनः उठ (जी) जाये, अच्छी बात है, ले लो, ये सरसों के दाने, उसने दे दिए और देते ही वह भागने लगा कि याद आया और पूछा-अरे! यह तो बताओ आपके यहाँ कोई मरा तो नहीं, अभी तो नहीं पर एक साल पहले हमारे काकाजी मरे थे,...अच्छा, तब तो ये सरसों नहीं चलेंगे, दूसरे के यहाँ गया, वहाँ पर भी सरसों मांगे और पूछा–सरसों मिल गये और उन्होंने कहा-इन दिनों तो कोई नहीं मरा पर कुछ दिनों पहले हमारे दद्दा (दादा) जी मरे थे, इस प्रकार सुनते ही उसने सरसों लौटा दी, ऐसा करते-करते वह प्रत्येक घर गया, लेकिन एक भी घर ऐसा नहीं मिला जिसमें किसी न किसी का मरण न हुआ हो, जो जन्में थे, वही तो मरे होंगे। इस प्रकार मरण की परम्परा चल रही है, एक और घर में गया और देखा कि-एक जवान मरा पड़ा है, अभी ही मरा होगा, क्यों उसका शव अभी तक उठाया नहीं गया। उसके घर के लोग, अभी भी हाथ-पैर पटक रहे हैं, रो रहे हैं, चिल्ला रहे हैं। दृश्य देखकर मौन हो गया, भागते-भागते थक चुका था, अतः वहीं खड़े-खड़े कुछ सोचने लगा-किसी का घर ऐसा नहीं मिला जहाँ मरण न हुआ हो, सबके यहाँ कोई न कोई मरण को प्राप्त हुआ है। अर्थात् जिसने भी जन्म लिया है वह अवश्य मरेगा, इससे बचाना किसी के वश की बात नहीं है। उसे औषध मिल गयी, मंत्र मिल गया, सोचा-महाराज वास्तव में पहुँचे हुए हैं।...भागता-भागता उनकी शरण में गया और कहने लगा–महाराज! गलती हो गई ? भैय्या! लाओ सरसों के दाने, मैं अभी उठाये देता हूँ तुम्हारे पुत्र को, ...नहीं, महाराज, अब वह नहीं उठ सकता, मुझे बोध हो गया।

यह जीवन की लीला है बन्धुओं! मालूम है आपको ? व्याकरण में एक ज्या धातु आती है। उसका अर्थ वयोहानौ, होता है। प्रातःकाल कहा था कि मरण की क्या परिभाषा है, मरण क्या है ? **आयुक्खयेण मरणं** और जीवन की परिभाषा क्या, जीवन क्या ? उम्र की समाप्ति होना या उम्र की हानि होती चली जाना जीवन है, मतलब यह हुआ कि मरण और जीवन में कोई अन्तर नहीं है मात्र इसके कि मरण में पूर्णतः अभाव हो जाता है और जीवन में क्रमशः प्रत्येक समय हानि होती चली जाती है, हानि किसकी और क्यों ? वय की हानि, वय का अर्थ उम्र या आयुकर्म अर्थात् आयुकर्म की हानि का नाम जीवन है और उसके पूर्णतः अभाव का–क्षय का नाम मरण।

हमारे जीवन में मृत्यु के अलावा और किसी का कुछ भी संवेदन, अभाव नहीं हो रहा है। भगवतीआराधना में एक गाथा आयी है, वह मूलाचार, समयसार आदि ग्रन्थों में भी आयी है, जिसमें आवीचिमरण का वर्णन किया है, आवीचिमरण का अर्थ यह है कि पल-पल प्रतिपल पलटन चल रहा है, कोई भी व्यक्ति ज्यों का त्यों बना नहीं रह सकता, कोई अमर नहीं। महाराज! देवों को तो अमर कहते हैं ? वहाँ अमर का मतलब है बहुत दिनों के बाद मरना, इसलिए अमर है, हम लोगों के सामने उनका मरण नहीं होता, इसलिए भी अमर है, किन्तु उन लोगों की दृष्टि में हम मरते रहते हैं अतः मर्त्य माने जाते हैं। रोज का मरना करते हैं हम लोग, रोज मर रहे हैं ? हाँ प्रतिपल मरण प्रारम्भ है, इसी का नाम आवीचिमरण है, मरण की ओर देखा तो मरण और जीवन की ओर देखा तो मरण।

अंग्रेजी में एक बहुत अच्छी बात कही जाती है, वह यह है कि–एक दिन का पुराना हो या सौ सालों का, उसे पुराना ही कहते हैं। जैसे–''हाउ ओल्ड आर यू।'' हम ओल्ड का अर्थ पुराना तो लेते हैं परन्तु बहुत साल पुराना लेते हैं, लेकिन नहीं पुरा का अर्थ मतलब एक सेकेण्ड बीतने पर भी पुरा है, अब देखिये पुरा क्या है और अपर क्या है ? एक-एक समय को लेकर चलिये, चलते-चले एक ऐसे बिन्दु पर आ करके टिक जायेंगे आप, यहाँ पर जीवन और मरण, पुरा और अपर एक समय में घटित हो रहे हैं।

मैं पूछता हूँ –सोमवार और रविवार के बीच में कितना अन्तर है, आप कहेंगे-महाराज! एक दिन का अन्तर है। लेकिन मैं कहता हूँ कि सोचकर बताइये? इसमें सोचने की क्या बात महाराज! स्पष्ट है कि एक दिन का अन्तर है, अरे! सोचिये तो सही, मैं कह रहा हूँ इसलिये सोचिये तो, फिर भी कहते हैं आप कि एक दिन का अन्तर है तो कितना अंतर है। महाराज! आप ही बताइये? लीजिये, सोमवार कब प्रारम्भ होता है और रविवार कब? रविवार कब समाप्त होता है और सोमवार कब, इस तथ्य को देखिये, तो पता चल जाएगा, आप घड़ी को ले करके रविवार के दिन बैठ जाइये, क्रमशः एक मिनिट-एक-एक घण्टा बीत रहा है, अब रात आ गयी, रात में भी

एक-एक घण्टा बीत रहा है, घण्टों पर घण्टे निकलते चले गये तब कहीं रात्रि के ११ बजे, अब सवा ग्यारह, साढ़े ग्यारह और अभी बारह बजने को कुछ मिनट-कुछ सेकेण्ड ही शेष तब भी रविवार है। आप देख रहे हैं सुई घूम रही है, मात्र एक मिनिट रह गया फिर भी रविवार है, रविवार अभी नहीं छूट रहा है, अब सेकेण्ड के काँटों की ओर आपकी दृष्टि केन्द्रित है एक सेकेण्ड शेष है तब तक रविवार ही देखते रहे और देखते-देखते सोमवार आ गया, पता भी नहीं चला, देखा आपने कि कितने सेकेण्ड का अन्तर है, रविवार और सोमवार में ? यदि आप उस सेकेण्ड के भी आधुनिक आविष्कारों के माध्यम से १० लाख टुकड़े कर दें तो और स्पष्ट हो जाएगा, लेकिन सिद्धान्त कहता है वर्तमान सेकेण्ड में असंख्यात समय हुआ करते हैं, इन असंख्यात समयों में यदि एक समय भी बाकी रहेगा तो उस समय भी रविवार ही रहेगा, इस अन्तर को अन्दर की घड़ी से देखा जा सकता है अर्थात् एक समय ही रविवार और सोमवार को विभाजित करता है।

इसी तरह जीवन और मरण का अन्तर है, आपकी दृष्टि में थोड़ा भी अन्तर आया कि देव-गुरु-शास्त्रों के बारे में भी अन्तर आ गया, सम्यग्दर्शन में भी अन्तर आ गया, इसको पकड़ने के लिए हमारे पास कोई घड़ी नहीं है पर आगम ही एक मात्र प्रमाण है।

हे भगवान! मैं कैसा हूँ ? मेरे गुणधर्म कैसे हैं ? भगवान् कहते हैं कि मेरे पास कोई शब्द नहीं हैं, जिनके द्वारा स्वरूप बोध करा सकूँ, कुछ तो बताइये, आपके आदेश के बिना कैसे दिशा मिलेगी? तो वे कहते हैं कि –''यह दशा तेरी नहीं है'' इतना तो मैं कह सकता हूँ परन्तु ''तेरी दशा कैसी है'', इसे ना मैं दिखा सकता हूँ और ना ही आपकी आँखों में उसे देखने की योग्यता है। नई आँखें आ नहीं सकती, सबको अपने-अपने चश्में का रंग बदलना होगा, भीतर का अभिप्राय-दृष्टिकोण बदलना होगा, इतना सूक्ष्म तत्त्व है कि विभाजन करना संभव नहीं, जैसे समय में भेद नहीं, रविवार और सोमवार के बीच में इतनी मेहनत के बाद भी अन्तर विभाजन करना संभव नहीं, पूरे के पूरे आविष्कार समाप्त हो गये, फिर भी कब रविवार समाप्त हुआ और कब सोमवार आ गया, यह बता नहीं सके, संभव है वह सन्धि आपकी घड़ी में स्पष्ट ना हो, लेकिन आचार्य कहते हैं कि-केवलज्ञान के द्वारा हम इसे साफ-साफ देख सकते हैं और श्रुतज्ञान के द्वारा इसे सहज ही प्रमाण मान सकते हैं।

देव-गुरु-शास्त्र के ऊपर श्रद्धान करिये, ऐसा मजबूत श्रद्धान करिये, जिसमें थोड़ी भी कमी न रहे, ऐसा श्रद्धान ही कार्यकारी होगा, सिद्धान्त के अनुरूप श्रद्धान बनाओ, तत्त्व को उलट-पलट कर श्रद्धान नहीं करना है, हमें अपने भावों को सिद्धान्त/तत्त्व के अनुसार पलटकर लाना है। जैसे रेडियो में सुई के अनुसार स्टेशन नहीं लगती बल्कि स्टेशन के नम्बर के अनुसार सुई को घुमाने पर ही विविधभारती आदि स्टेशन लगती है, एक बाल मात्र का भी अन्तर हो गया-सुई इधर की उधर हो गयी तो सीलोन लग जाएगी, अब संगीत का मजा नहीं आयेगा, यही स्थिति भीतरी ज्ञान-तत्त्वज्ञान की भी है। कभी-कभी हवा (परिणामों के तीव्र वेग) के द्वारा यहाँ की सुई इधर से उधर

की ओर खिसक जाती है तो डबल स्टेशन चालू हो जाते हैं, किसको सुनोगे, किसको कैसे समझोगे? तत्त्व बहुत सूक्ष्म है, वस्तु का परिणमन बहुत सूक्ष्म है, उसे पकड़ नहीं सकते।

जन्म-जरा-मृत्यु, ये सभी आत्मा की बाहरी दशायें हैं, अनन्तकाल से यह संसारी प्राणी आयुकर्म के पीछे लगा हुआ है, अन्य कर्म तो उलट-पलटकर अभाव को प्राप्त हो जाते हैं, परन्तु आयुकर्म का उदय एक सेकेण्ड के सहस्रांश के लिए भी अभाव को प्राप्त नहीं हुआ, यदि एक बार अभाव को प्राप्त हो जाए तो मुक्त हो जाये, दुबारा होने का फिर सवाल ही नहीं, आयुकर्म प्राण है, जो चौदहवें गुणस्थान तक माना जाता है, वह जब तक रहता है तब तक जीव संसारी माना जाता है, मुक्त नहीं माना जा सकता।

जन्म क्या है, मृत्यु क्या है ? इसको समझने का प्रयास करिये, ये दोनों ही ऊपरी घटनाएँ हैं, जाने-आने की बात नयी नहीं है, बहुत पुरानी है, संसार में कोई भी नया प्रकरण नहीं है, अनेकों बार उलटन-पलटन हो गया। क्षेत्र, स्पर्शन के भंग लगाने पर तीन लोक में सर्वत्र उलटन-पलटन चल रहा है। अनन्तकाल से कस्सम-कस चल रहा है, जिस प्रकार से चूने में पानी डालने से रासायनिक प्रक्रिया होती है। उसी प्रकार जीव और पुद्गल, इन दोनों का नृत्य हो रहा है, इसे आँख बन्द कर देखिए, बहुत अच्छा लगेगा, परन्तु आँख खोलकर देखने से मोह पैदा होगा, राग पैदा होगा। जो व्यक्ति इस शरीर को, पर्याय को लेकर अपनी उत्पत्ति मान लेता है तो उसे आचार्य कुन्दकुन्ददेव सम्बोधित करते हैं कि-तू पर्याय बुद्धिवाला बनता जा रहा है, परिवर्तन-परिणमन तो आत्मा में निरन्तर हो रहा है। क्षेत्र में भी हो रहा है। इस क्षेत्र में लाया गया, वहाँ अपना डेरा जमाया, नोकर्म के माध्यम से इसे जन्म मिला, इसमें मात्र पर्याय का परिवर्तन है, वह भी कर्मकृत पर्याय का परिवर्तन, उपयोग का नहीं, आत्मा का जो लक्षण पहले था अब भी है, आगे भी रहेगा।

जो व्यक्ति इस प्रकार के जन्म से, जन्म-जयन्ती से हर्ष का-उल्लास का अनुभव करता है, उसे जन्म से बहुत प्रेम है, जबकि भगवान ने कहा है कि जन्म से प्रेम नहीं करिये, यह दोष है, महादोष है, इससे मुक्त हुए बिना भगवत् पद की उपलब्धि नहीं होगी, यदि आप जन्म को अच्छा मानते हैं, चाहते हैं तो जन्म जयन्ती मनाइये। यदि ऐसा कहते हैं कि भगवान की क्यों मनाई जाती है? तो ध्यान रखिये-उनकी जन्म जयन्ती इसलिए मनाई जाती है कि वह तीर्थंकर होने वाले हैं, असंख्यात जीवों के कल्याण का दायित्व इनके पास है, इसकी साक्षी के लिए - इसे स्पष्ट करने के लिए इन्द्र जो कि सम्यग्दृष्टि होता है, आता है और जन्मोत्सव मनाता है। आज पंचमकाल में जो जन्म लेता है वह मिथ्यादर्शन के साथ जन्म लेता है, इससे जन्मोत्सव मनाना यानि मिथ्यादर्शन का समर्थन करना है, पर्यायबुद्धि का समर्थन है, इसलिए ऐसा न करें, सम्यग्दृष्टि तो भरत और ऐरावत क्षेत्र में पंचमकाल में आते ही नहीं, वे वहाँ जाते हैं जहाँ से मोक्षमार्ग का-निर्वाण का मार्ग खुला है,

पुण्यात्माओं का जन्म यहाँ नहीं होता, यहाँ जन्म लेने वाले मिथ्यादर्शन-मिथ्याज्ञान-मिथ्याचारित्र के साथ ही आते हैं और उनकी जन्म-जयन्ती मनाना मिथ्यादर्शन-मिथ्याज्ञान-मिथ्याचारित्र की ही जयन्ती है इसमें सम्यग्दर्शन की कोई बात नहीं, सम्यग्दर्शन के लिए कम से कम आठ वर्ष लगते हैं, इससे पूर्व सम्यग्दर्शन होने की कोई गुंजाइश भी नहीं होती और उस समय मिथ्याचारित्र ही होता है, जबकि जैनागम में सम्यक्चारित्र को ही पूज्य कहा गया है, इसके अभाव में तीन काल में भी पूज्यता नहीं आ सकती, ध्यान रखिये बन्धुओ! मिथ्यादृष्टि की जयन्ती मनाना, मिथ्यादर्शन एवं मिथ्याचारित्र का पूज्यत्व स्वीकार करना है, जो कि संसार परिभ्रमण का ही कारण है, यदि हमें संसार से मुक्त होना है तो कुछ प्रयास करना होगा और वह प्रयास आजकल की जन्म-जयन्तियों के मनाने में सफल नहीं होगा, बल्कि उनकी दीक्षा तिथि अथवा संयमग्रहण दिवस जैसे महान् कार्य के स्मरण से ही हमारी गति, उस ओर होगी जिस ओर हमारा लक्ष्य है।

सभी प्राणी लक्ष्य को पाना चाहते हैं, अतः उन्हें यह ध्यान रखना होगा, यह प्रयास करना होगा कि वे मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान एवं मिथ्याचारित्र का पालन एवं समर्थन न कर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र की ओर बढ़ें, जो कि आत्मा का धर्म है एवं शाश्वत सुख (मोक्षसुख) को देने वाला है।

❑ ❑ ❑

दीक्षाकल्याणक
(पूर्वार्द्ध)

उस धर्म को बारम्बार नमस्कार हो जिस धर्म की शरण को पाकर के संसारी प्राणी पूज्य बन जाता है, आराध्य बन जाता है। अक्षय/अनन्तसुख का भंडार बन जाता है।

अभी आपके सामने दीक्षा की क्रिया-विधि सम्पन्न हुई, यह मात्र आप लोगों को उस अतीत के दृश्य की ओर आकृष्ट करने की एक योजना है कि किस प्रकार वैभव और सम्पन्नता को प्राप्त करते हुए भी, भवन से वन की ओर विहार हुआ, संसार महावन में भटकने वाले भव्य जीवो! थोड़ा सोचो, विचार करो कि आत्मा का स्वरूप क्या है ? अभी तक वैभव से अलंकृत वह श्रृंगार-हार, जो कुछ भी था, उस सबको उतार दिया, कारण, आज तक जो लाद रखा था उसको जब तक उतारेंगे नहीं, तब तक तरने का कोई सवाल नहीं होता, आप लदने में ही सुख-शान्ति का अनुभव कर रहे हैं और मुमुक्षु उसको उतारने में, सुख का, शान्ति का अनुभव कर रहे हैं, यह भीतरी बात है, देखने के लिए क्रिया ऐसी लगती है कि जैसे आप लोग कमीज उतार देते हैं और पहन लेते हैं लेकिन वहाँ पहनने का कोई सवाल नहीं, अब दिगम्बर दशा आ गई, अभी तक एक प्रकार से वे

श्वेताम्बर थे, अब वो दिगम्बर बन गये और आप दिगम्बर के उपासक हैं इसलिए आप दिगम्बर हैं, वस्तुतः आप दिगम्बर नहीं हैं, आप इसलिए सब वस्त्र पहनते हुए भी दिगम्बर माने जाते हैं, इस मत को जो नहीं मानते वो तो हमेशा वस्त्र में ही डूबे रहते हैं।

आपके मन में एक धारणा बननी चाहिए कि मेरी भी यह दशा इस जीवन में कब हो! वह घड़ी, वह समय, वह अवसर कब प्राप्त हो मुझे, हे भगवन्! मेरे जैसे आप भी थे, लेकिन हमारे बीच में से आप निकल चुके, कल तक मैं कहता रहा–भैय्या! आदिकुमार–ऋषभकुमार आपके घर में हैं जो कुछ भी करना हो कर लो, सब कुछ आपके हाथ की बात है, लेकिन ज्यों ही वन की ओर आ जायेंगे, नियम से आप मेरे पास आ जाएंगे कि महाराज! अब आगे क्या करना है, ये मान नहीं रहे हैं, घर में रहना नहीं चाहते, अब कहा जाएंगे पता नहीं। बस अब तो उन्हें पता है और आपको? सुनो, आप लोग तो लापता हो जाएंगे, अब आपका कोई भी पता नहीं रहेगा, इसीलिए उस दिगम्बर की शरण में चले जाइये, वहाँ सबको शरण मिल जायेगी।

अन्यथा शरणं नास्ति त्वमेव शरणं मम।
तस्मात्कारुण्यभावेन रक्ष-रक्ष मुनीश्वरः॥

(समाधिभक्ति-१५)

हे यते! हे यतियों में भी अग्रनायक! हमारे लिए शरण दो, भगवान को वैराग्य हुआ, उनके साथ चार हजार और दीक्षित हो जाते हैं, यहाँ पर तो उनके माता-पिताओं को भी वैराग्य हो रहा है। तीर्थंकर अकेले लाडले पुत्र होते हैं, घर में यदि दो पुत्र हो जायें तो या तो छोटे के ऊपर ज्यादा प्रेम होगा या बड़े पर और लोग तो समझते हैं कि जो कमाता है उसके ऊपर ज्यादा प्रेम बरसता है, जो नहीं कमाता उसके ऊपर करेंगे ही नहीं, इनका इतना तेज पुण्य होता है कि लाड-प्यार जो कुछ भी मिलता है माता-पिता का वह एक के लिए ही मिलता है इसलिए वे विषयों में डूब जाते हैं और बाद में विषय से विरक्ति का संकल्प लेते हैं, यहाँ पर भी माता-पिता बनने का सौभाग्य भी बहुत मायने रखता है, तीर्थंकर के माता-पिता, यह संसारी प्राणी आज तक नहीं बना, बन जाने पर नियम से एक-आध भव से मुक्ति मिलती है, इन लोगों (उपस्थित माता-पिताओं) की भावना हुई है कि इस पुनीत अवसर पर वे आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार करें और अपने कल्याण का मार्ग प्रशस्त करें। इस माध्यम से हम भी भगवान से प्रार्थना करते हैं, जिस प्रकार प्रभु का कल्याण हो गया/ हो रहा है, इनका भी हो।

उधर भगवान् के साथ चार हजार राजा भी दीक्षित हुए, लेकिन उन्होंने दीक्षा नहीं दी किसी को, दीक्षा किसलिए नहीं दी ? इसलिए नहीं दी कि, वे किसी को आदेश नहीं देंगे। दीक्षा लेने के

उपरान्त वे गहरे उतरेंगे, किसी से कुछ नहीं कहेंगे, भीतर-भीतर आत्मतत्त्व में डुबकी लगाते-लगाते जब एक हजार वर्ष व्यतीत हो जायेंगे, तब कैवल्य की उपलब्धि होगी, इन एक हजार वर्षों तक मौन रहेंगे, आहार के लिए आयेंगे, सब कुछ क्रियायें होगी लेकिन कुछ उपदेश नहीं देंगे। न आशीर्वाद देंगे, न कोई आदेश, मौन रहना ही इन्हें पसन्द होगा, इसके बाद बनेंगे ऋषभनाथ भगवान, दिखाने के लिए कल ही कैवल्य हो जाएगा, कारण एक हजार साल तक तो आप वैसे भी प्रतीक्षा नहीं कर सकोंगे, अतः मतलब ये है कि इस प्रकार की साधना में उतरेंगे कि वह आत्मा का रूप बन जाएंगे, यही सत्य मार्ग है।

इस समय ज्यादा कहना आपको अच्छा नहीं लग रहा होगा क्योंकि आप आकुलित हैं, भगवान आपके घर से चले गये हैं, भगवान नहीं थे वे, कुमार थे और आपके अण्डर में नहीं रह पाये, ये ध्यान रखना माता-पिता का कर्त्तव्य होता है अपनी संतान की रक्षा करें, यदि वह घर में रहना चाहे, तो उसके लिए सब कुछ व्यवस्था करें, घर में नहीं रहता तो यह देख लेना चाहिए कि कहाँ जाना चाहता है, कहीं विदेश तो नहीं जाता, यदि विदेश आदि जाने लगे तो, नहीं, यह हमारी परम्परा नहीं है, यहीं पर रहो, यह काम करो, ऐसा समझाना चाहिए और यदि आत्मा के कल्याण के लिए वन की ओर जाना चाहता है तो आपके वश की कोई बात नहीं है, यही हुआ आपके वश की बात नहीं रही और ऋषभकुमार निकल चुके घर से।

धन्य है यह घड़ी, यह अवसर, युग के आदि में यह कार्य हुआ था और आज हमने उस दृश्य को देखा, जाना, किसके माध्यम से जाना यह सब कुछ ? अपने आप जान लिया क्या ? अपने आप आ गई क्या यह क्रिया? नहीं! इसके पीछे कितना रहस्य छुपा हुआ है, बड़े-बड़े महान् सन्तों ने इस क्रिया को अपने जीवन में उतारा और किसी ने इस क्रिया को अपनी लेखनी के माध्यम से लिख दिया, यही एक मार्ग है जो मोक्ष तक जाता है और कोई नहीं।

विश्व में, सारे के सारे मार्ग को बताने वाले साहित्य हैं, लेकिन यहाँ पर साहित्य के साथ-साथ साहित्य के अनुरूप आदित्य भी है, आज तक हमारी यह परम्परा अक्षुण्य है, यह हम लोगों के महान् पुण्य और सौभाग्य का विषय है, आज भी ऐसा साहित्य मिलता है, जिससे हम अध्यात्म-दशा को प्राप्त कर सकते हैं, हमें भी बता दो ? तो यहाँ पर वही क्रियायें हो रही हैं जिन्हें देखकर मालूम होता है कि ऐसे प्राप्त की जाती है वह अवस्था, इतना ही नहीं, आज कुन्दकुन्दाचार्य की परम्परा के अनुरूप चलने वाले, लिंग को धारण करने वाले भी मिलते हैं, तीन लिंग बताये गये हैं—एक मुनि का, एक श्रावक का और एक आर्यिका का या श्राविका का। आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने दर्शनपाहुड में कहा है जैनियों के चौथा लिंग नहीं है –

''**चउत्थ पुण लिंगदंसणं णत्थि**''

आज हमारा कितना सौभाग्य है कि कुन्दकुन्ददेव ने, समन्तभद्रस्वामी ने, पूज्यपादस्वामी आदि अनेक आचार्यों ने इस वेष को धारण किया, कितने बड़े साहस का काम किया, सांसारिक वेश को उतार देना भी बहुत सौभाग्य की बात है, अनेक सन्त हुए और बीच में ऐसा भी काल आया, जिसमें सन्तों के दर्शन दुर्लभ हो गये थे। जैसे मैंने कल कहा था दौलतरामजी, टोडरमलजी, बनारसीदासजी, ये सब तरसते रहे, जिनलिंग को देखना चाहते थे लेकिन केवल शास्त्रों को देख करके रह जाना पड़ा उन्हें, यहाँ तक भी कहने में आता है कि टोडरमलजी के जमाने में श्रीधवल, श्रीजयधवल, महाबन्ध का दर्शन तक नहीं हो सका, पढ़ना चाहते थे वे। उन्होंने लिखा है कि मैंने गोम्मटसार को पढ़ा उसकी टीका के माध्यम से, उसमें भी उन्होंने लिखा केशववर्णी की टीका नहीं होती तो हम गोम्मटसार का रहस्य नहीं समझ सकते थे, ऐसे-ऐसे साधकों ने इस जिनवाणी की सेवा करते हुए केवल सेवा ही नहीं किन्तु इस वेश को भी धारण कर अपने को धन्य किया, कल पण्डितजी भी कह रहे थे कि हमने भी अपने जीवन में जिनवाणी की सेवा करने का इतना अवसर प्राप्त किया, किन्तु मैं समझता हूँ कि आज दीक्षा-कल्याणक का दिन है, पण्डितजी! **जिनवाणी की सेवा तो जिनलिंग धारण करके ही करना सर्वोत्तम है।** यदि आप जैसे विद्वान् जिनलिंग धारण कर इस तरह सेवा करें तो सही सेवा होगी जिनवाणी की, धर्म की प्रभावना भी होगी।

बात ऐसी है जिनलिंग की महिमा कहाँ तक गायी जाये, जहाँ तक गाये, जितनी गावे उतनी ही आनन्द की लहर भीतर-भीतर आती जाती है, एक उदाहरण देता हूँ-एक सन्त के पास परिवार सहित एक सेठजी आते हैं, दर्शन करते हैं, पूजन करते हैं, जो कुछ भी करना कर लिया, इसके उपरान्त प्रार्थना करते हैं कि भगवन्! संसार का स्वरूप बताने की कोई आवश्यकता नहीं है, कारण, हमें समझ में आ गया है, लेकिन अब मुझे मुक्ति का स्वरूप बताओ ? लोग मुझसे भी पूछते हैं कि महाराज! आपको वैराग्य कैसे हुआ, मेरी समझ में नहीं आता है, चारों ओर चकाचौंध है विषयों की और आपको वैराग्य कैसे? हम जानना चाहते हैं, आपने न घर देखा, न बार, न कोई विवाह हुआ, कुछ समझ में नहीं आता, क्या जान करके आपने घर छोड़ दिया ? छोड़ने को क्या, क्या छोड़ा ? कुछ था ही नहीं मेरे पास-हमने कहा, समझदारी की बात तो मैं यह मानता हूँ-कहना चाहता हूँ कि जो फँसे हुए हैं, उनके चेहरे को देख करके मैं भाग आया, कोई भी दिखता है, हँसता हुआ नहीं दिखता, रोता ही रहता है, अपना रोना ही रोता है, मैं समझता हूँ कि बहुत अच्छी बात है जो हम फँसे नहीं, यहाँ से दूर चलिये इसकी क्या आवश्यकता है। पढ़ने की, लिखने की कोई आवश्यकता नहीं, अनुभव की कभी कोई आवश्यकता नहीं, जो अनुभव कर रहे हैं वही टेलीविजन (मुखमुद्रा) हम देख रहे हैं, इनको देख लो, इनकी समस्या समझ लो, बस अपने लिए वहीं रास्ता बन गया, तो वह कहता है कि मुक्ति का स्वरूप बताओ, किस प्रकार इनसे छुटकारा पाऊँ, सन्त कहते हैं-कुछ

नहीं, सो जाओ, सो.....जाओ, कल आना जैसी आज्ञा-कहकर चला गया सेठ, घर पर सेठजी ने एक तोता बहुत ही लाड-प्यार से पाल रखा था, उसने पूछा–आज कहाँ गये थे सेठजी! महाराजजी आये थे उनके पास उपदेश सुनने गया था-सेठ ने कहा, क्या कहा महाराज ने-तोते ने पूछा, सेठ ने कहा–उन्होंने कुछ नहीं कहा सिवा इसके कि कल आना, लेकिन आज क्या करना–तोते ने पूछा। सो जा-सेठ ने कहा, अच्छी बात है। दूसरे दिन सेठ पुनः महाराज के पास पहुँच गया, क्यों, क्या बात है? महाराज ने पूछा। महाराज आपने तो कहा था-आज सो जा, कल आ जाना, इसलिए आ गया, अरे! मालूम नहीं पड़ा, यही तो प्रवचन था-महाराज ने समझाया, सोने का प्रवचन था ? हाँ.... हाँ....! **''जो व्यवहार में सोता है वह निश्चय में जागता है और जो निश्चय में सोता है वह व्यवहार में जागता है।''** अब बात उसे समझ में आ गयी थी, उपदेश के बाद घर गया तो देखा तोता तो बिल्कुल अचेत पड़ा है, पिंजरे में। अरे! यह क्या हो गया ? महाराजजी ने उपदेश बहुत अच्छा दिया-अच्छा समझाया, मैं इसको भी बता देता, लेकिन यह क्या हो गया ? मर गया, यह तो मर गया, हे भगवान्! क्या हो गया ? इस प्रकार करते हुए पिंजरे का दरवाजा खोल करके उसको देखता है, बिल्कुल अचेत है, ओऽहो! यूँ ही नीचे रख देता है तो वह उड़ जाता है और एक खिड़की के ऊपर जाकर बैठ जाता है और कहता है महाराज ने बहुत अच्छा उपदेश सुनाया-बहुत अच्छा सुनाया, कैसे सुनाया? सेठ ने कहा, आपने तो कहा था आज सो जा–तोते ने कहा, सो जा, सो... जा।

रहस्य को सेठ ने अब समझ लिया। ''एक बार सो जाओ मुक्ति मिल जायेगी,'' लेकिन 'सोना' कैसे ? मखमल के गद्दे बिछाकर के नहीं, एयरकंडीशन में नहीं बल्कि शरीर तो सो जाए और आत्मा अप्रमत्त रह जाए, आज का विज्ञान क्या कहता है ? आत्मा को सुलाओ ताकि रेस्ट मिल जाए, इस शरीर को, मतलब क्या ? यही कि चिन्ताओं से, विचारों से, विकल्पों से छुट्टी दे दो–

मा मुज्झह मा रज्जह मा दुस्सह इट्ठणिट्ठअत्थेसु।
थिरमिच्छह जइ चित्तं विचित्तझाणप्पसिद्धीए॥

(द्रव्यसंग्रह-४८)

आत्मा के ध्यान की प्रसिद्धि के लिए मन की एकाग्रता अनिवार्य है, मन को एकाग्र करना चाहते हो तो इष्ट तथा अनिष्ट पदार्थों में राग-द्वेष मत करो। इतना ही पर्याप्त है।

मोक्षमार्ग यह है और संसार मार्ग यह है, कौन-सा आपको इष्ट है? आप चुन सकते हैं। जबरदस्ती किसी को नहीं किया जा सकता, जबरदस्ती से मार्ग ही संभव नहीं, खुद स्वयं जो अंगीकार करे, उसी का ये मार्ग और जो अंगीकार करता है उसको हजारों व्यवधान आ जाते हैं, व्यवधान आने पर आचार्य कहते हैं कि वह सारे के सारे व्यवधान शरीर रूपी पहाड़ के ऊपर टूट

सकते हैं, लेकिन आत्माराम के ऊपर उसका कोई भी स्पर्श तक नहीं हो सकता है, यही एक मोक्षमार्ग है, इस मोक्षमार्ग की कहाँ तक प्रशंसा करूँ, अपरम्पार है।

❑ ❑ ❑

दीक्षाकल्याणक

(उत्तरार्द्ध)

दो दिन आपके थे अब तीन दिन हमारे हैं, हमारा यह प्रथम दिन है, आज ज्यों ही वृषभकुमार ने दीक्षा अंगीकार की, त्यों ही परिग्रह और उपसर्गों का कार्यक्रम प्रारम्भ हो गया, इधर-ऊपर से बूँदाबाँदी भी प्रारम्भ हो गई, आप लोग भीतर ही भीतर प्रार्थना कर रहे होंगे कि पानी रुक जाए भगवान लेकिन एक प्राणी (दीक्षितसंयमी) कहता है–जो भी परीक्षा लेनी हो, ले लो, उसके लिए ही खड़ा हुआ हूँ, यह जीवन संघर्षमय है, इसे बहुत हर्ष के साथ अपनाया है।

तपकल्याणक-अभिनिष्क्रमण में, घर से निकाला नहीं गया किन्तु निकालने से पूर्व ही निकल गये, जो निकलते नहीं, उनकी फजीती इस प्रकार की होगी कि एक दिन चार व्यक्ति मिलकर कन्धे पर रख चौखट से बाहर निकाल देंगे, इसमें किसी भी प्रकार के संदेह की गुंजाइश नहीं, जो हमारा घर नहीं, उसमें हम छिपे बैंठे और उसमें किसी भी प्रकार से रहने का प्रयास करें, तो भी उसमें रह पाना संभव नहीं। इसीलिए –

विहाय यः सागरवारिवाससं वधूमिवेमां वसुधावधूं सतीम्।
मुमुक्षुरिक्ष्वाकु-कुलादिरात्मवान् प्रभुः प्रवव्राज सहिष्णुरच्युतः॥

(स्वयम्भूस्तोत्र -१/३)

आचार्य समन्तभद्र ने स्वयंभूस्तोत्र की रचना करते हुए आदिनाथ की स्तुति में कहा–भगवन्! आपने सागर तक फैली धरती को ही नहीं छोड़ा किन्तु जो प्यारी-प्यारी सुनन्दा-नन्दा थी, उनको भी छोड़ दिया, जिसके साथ गांठ पड़ी थी, उस गांठ को उन्होंने खोलने का प्रयास किया, जब नहीं खुली तो कैंची से काट दिया, अब कोई मतलब नहीं, जिसके साथ बड़े प्यार से सम्बन्ध हो गया, उसको तोड़ दिया, आज अब किसी और के साथ सम्बन्ध हो गया, यह क्यों हुआ ? अभी तक शान्त सरोवर था, उसमें किसी ने एक कंकर पटक दिया, कंकर नीचे चला गया, उधर तल तक पहुँचा, इधर तट तक लहर आ गई, नीचे से कंकर ने संकेत भेजना शुरु कर दिये, बुलबुले के माध्यम से, यानि भीतर क्रान्ति हो गई, भीतर जल क्रान्ति होती है तब इस प्रकार के बुलबुले निकलते हैं, जब बुलबुला निकलता है तो वह आपको बुला-बुला कर कहता है–जीवन बहुत थोड़ा है, प्रतिसमय नष्ट हो रहा है ऐसी स्थिति में आपके भीतर उसके प्रति जो अमरत्व की भावना है, वह अयथार्थ है।

राजा राणा छत्रपति, हाथिन के असवार।
मरना सबको एक दिन अपनी-अपनी बार॥ बारहभावना - १

जब मरने का, जीवन के अवसान का समय आयेगा, तब हम कुछ भी नहीं कर पायेंगे। मरण–मृत्यु आने से पहले हमें जागृत होना है, छत्र, चँवर और सम्पदा कुछ भी कार्यकारी नहीं होगी, ये तो इन्द्रधनुष, आकाश की लाली और तृण-बिन्दु की भाँति क्षणभंगुर है, बहुत जल्दी मिटने वाले हैं और बहुत जल्दी पैदा भी होते हैं, जो अनन्तकाल तक रहे, ऐसा उत्पाद हो, जो उत्पात को ही, समाप्त को ही समाप्त कर दे, ऐसा कौन-सा उत्पाद है? वह एक ही उत्पाद है, जिसे भीतर जाकर देख सकते हैं, जान सकते हैं। ऊपर बहुत खलबली मच रही हो और यदि भीतर में शान्ति हो तो ऊपर की खलबली भीतर की शान्ति में कोई बाधक के रूप में कार्यकारी नहीं, अन्दर की शान्ति बारह भावनाओं का फल है, यह समझ वह (मुनि ऋषभनाथ) ध्यान में बैठ गए।

सोलहकारण भावनाओं के द्वारा जगत् का कल्याण करने का एक संकल्प हुआ, एक बहुत बड़ी इच्छा-शक्ति, जो संसार की ओर नहीं, किन्तु कल्याण की ओर खींच रही थी, उत्पन्न हुई, उस दौरान भावना भायी और फल यह निकला कि तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध हुआ, कब हो गया, उन्हें ज्ञात नहीं, किस रूप में है ? ज्ञात नहीं, फिर भी समय पर काम करने वाला है। अभी भी सत्ता में है, लेकिन सत्ता में होकर भी, जिस प्रकार वह कंकर बुलबुले के द्वारा संकेत भेज देता है उसी प्रकार उसने संकेत दिया कि अब घर-बार छोड़ दीजिए, वन की ओर रवाना हो जाइये, इन्द्र, जो कि अभी तक चरणों में रहा, कहता है कि आपने नन्दा-सुनन्दा को छोड़ा, राज्य-पाट छोड़ा और सब कुछ छोड़ दो, लेकिन, कम से कम मुझे तो मत छोड़ो, मैंने आपको पाला है, दूध पिलाया है, ऐशोआराम की चीजें दी हैं, अतः जब तक रहो तब तक मुझे सेवा का अवसर प्रदान करते रहना चाहिए, तब जवाब मिलता है-मैं अकेला हूँ! मैं अब कुमार के रूप में, राजा के रूप में अथवा किसी अन्य रूप में भी नहीं हूँ, मुझे अब वन जाना है, अकेले ही जाना है, साथ में लेकर जाने वाला अब नहीं, यदि आप स्वयं आ जाए तो कोई आवश्यकता अथवा विरोध भी नहीं, मतलब यह हुआ कि अभी तक अनेक व्यक्तियों के बीच में बैठा और अब अकेला होने का भाव क्यों हुआ ? हाँ! इसी को कहते हैं मुमुक्षुपना–

लक्ष्मीविभवसर्वस्वं, मुमुक्षोश्चक्रलांछनम्।
साम्राज्यं सार्वभौमं ते, जरत्तृणमिवाभवत्॥
(स्वम्भूस्तोत्र-१८/३)

मुमुक्षुपन की किरण जब फूट जाती है हृदय में, तब बुभुक्षुपन की सारी की सारी ज्वाला शान्त हो जाती है, अन्धकार छिन्न-भिन्न हो जाता है, सूर्य के आने से पूर्व ही प्रभात बेला आ जाती

है, इसी को कहते हैं मुमुक्षुपन, तब लक्ष्मी, विभव, साम्राज्य, सार्वभौमपना ये जितने भी हैं सब ''जरत्तृणवत्''– जीर्ण-शीर्ण एक तृण के समान देखने में आते हैं।

आपको यदि रास्ते पर पीली मिट्टी देखने में आ जाती है तो आपको यही नजर आता है कि पीली है तो सोना होना चाहिए ? अब भीतर ही भीतर लहर आ जाती है कि झुककर देखने में क्या बात है? झुक लो, भले ही कमर में दर्द हो, झुककर जब हाथ में लेता है तो लगता है कि कुछ ऐसा-वैसा ही है, सोना नहीं है, तो पटक देता है और यदि सोना हुआ तो उस मिट्टी के मिलने से ऐसा समझता है कि आज मेरा अहोभाग्य है, भगवान का दर्शन किया था इसलिए ऐसा हुआ, लेकिन यहाँ भगवान ने तो आत्मसर्वस्व प्राप्ति के लिए सब कुछ छोड़ दिया, जीर्ण-शीर्ण तृण समझकर, उसे छोड़ दिया, उसकी तरफ से मुख को मोड़ लिया, प्रत्युत्पन्नमति इसी को कहते हैं। आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने प्रवचनसार में कहा है–

एवं पणमिय सिद्धे जिणवरवसहे पुणो-पुणो समणे।
पडिवज्जदु सामण्णं, जदि इच्छदि दुक्खपरिमोक्खं॥

(प्रवचनसार-२०१)

यदि तुम दुःख से मुक्ति चाहते हो तो श्रामण्य को अंगीकार करो, श्रामण्य के बिना कोई मतलब सिद्ध नहीं होने वाला, दुःख से मुक्ति तीन काल में भी संभव नहीं, ''**you should adopt equinimity where by NIRVANA is attend.** इसके द्वारा तो मुक्ति का लाभ मिलता है भुक्ति का नहीं, भुक्ति तो अनन्तकाल से मिलती आ रही है, सुबह खा लिया तो शाम को फिर भूख आ गई, अन्थौ (सन्ध्या भोजन) कर ली तो नाश्ते की चिन्ता, कब नींद खुले और कब नाश्ता करें ? अरे! नाश्ता में आस्था रखने वालो, थोड़ा विचारो-सोचो तो कि मुक्ति का कौन-सा रास्ता है, मुक्ति की बात तो तब चलती है जबकि भुक्ति की कोई भी वस्तु नहीं रहती है।

जब श्रमण बनने चले जाते हैं श्रमण परिषद् के पास, तब कहते हैं कि मुझे दुःख से मुक्ति दिलाकर अनुग्रहीत करो स्वामिन्! मैं महाभटका हुआ, अनाथ-सा व्यक्ति हूँ, अब आपके बिना कोई रास्ता नहीं, कोई जगह नहीं है, उन्होंने कहा-तुम दुःख से मुक्ति चाहते हो तो तुम्हें श्रमण बनना होगा, श्रमणता क्या है स्वामिन्! अब बताते हैं कि श्रमणता क्या है और श्रमण बनने के पूर्व किस-किसको पूछता है, प्रवचनसार में इसका बहुत अच्छा वर्णन दिया गया है, वह श्रमणार्थी सर्वप्रथम माँ के पास जाकर कहता है-माँ! तू मेरी सही माँ नहीं है, मेरी माँ तो शुद्धचैतन्य आत्मा है। अब उसी के द्वारा पालन-पोषण होगा, आप तो इस जड़मय शरीर की माँ है, फिर भी मैं व्यवहार से आपको कहने आया हूँ कि यदि आपके अन्दर बैठी हुई चेतन आत्मा जाग जाये तो बहुत अच्छा होगा, फिर तो आप भी माँ बन जायेंगी, नहीं तो मैं जा रहा हूँ, अब नकली माँ के पास रहना अच्छा नहीं लगता,

अब आप रोयें या धोयें, कुछ भी करें, पर मैं जा रहा हूँ, अब पिता के पास चला जाता है और कहता है—पिताजी! आपने बहुत बड़ा उपकार किया, लेकिन एक बात है, वह सभी जड़मय शरीर का किया, किन्तु आज मुझे ज्ञान उत्पन्न हुआ कि मेरे पिता तो शुद्ध चैतन्य-आत्मतत्त्व हैं अन्य कोई नहीं, उसी के द्वारा ही मेरी रक्षा होती आ रही है, इसलिए मेरा चेतन आत्मा ही पिता है और चेतना माँ, इतना कह उन्हें भी छोड़कर चल देता है, इसके बाद सबको कहता-कहता, बीच में ही जिसके साथ सम्बन्ध हो गया था, उसके पास जाकर कहता है—प्रिये! आज तक मुझे यही ज्ञात था कि तुम ही मेरी प्रिया हो, लेकिन नहीं, अब मुझे ज्ञात हो गया कि चेतना ही मेरी एकमात्र सही प्रिया है, पत्नी है, वह ऐसी पत्नी नहीं है जो बीच में ही छोड़कर चली जायें, वह तो मेरे साथ सदा रहने वाली है, वही तो शुद्ध चेतना मेरी पत्नी है, बस, एक के द्वारा ही सारे सम्बन्ध हैं, वही पिता है, वही माँ, वही पति है, वही पत्नी, वही बहिन भी है और भाई भी। जो कुछ है उसी एकमात्र से मेरा नाता है, इसके अलावा किसी से नहीं इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि सबसे पूछना आवश्यक है, घबराओ नहीं, आप लोगों के जितने भी सम्बन्धी हैं वे कभी भी आपको आज्ञा नहीं दे सकते। हाँ! आपको ही इस प्रकार का कार्यक्रम बनाना होगा, ऐसी उपेक्षा दृष्टि रखनी होगी, भीतर ही भीतर देखना आरम्भ करना होगा कि सभी अपने-अपने काम में जुट जाएँ और आप उपेक्षा कर चल दें।

भगवान को आपने कभी देखा है, क्या कर रहे हैं ? कौन आता है, कौन जाता है यह देख रहे हैं ? नहीं, लाखों, करोड़ों ही नहीं, जितनी भी जनता आ जाये और सारी की सारी जनता उनको देखने का प्रयास करती है किन्तु वह जनता को कभी नहीं देखते, उनकी दृष्टि नासा पर है, उसमें किसी प्रकार का अन्तर आने वाला नहीं। **नासादृष्टि का मतलब क्या ? न आशा, नासा। किसी भी प्रकार की आशा नहीं रही, इसी का नाम नासा है।** यदि उनकी दृष्टि अन्यत्र चली गई तो समझिये नियम से आशा है, वह आशा, हमेशा निराशा में ही घुलती गई यह अतीतकाल का इतिहास है।

न भूत की स्मृति अनागत की अपेक्षा,
भोगोपभोग मिलने पर भी उपेक्षा ।
ज्ञानी जिन्हें विषय तो विष दीखते हैं ?
वैराग्य-पाठ उनसे हम सीखते हैं॥

समयसार-२२९ (पद्यानुवाद—कुन्दकुन्द का कुन्दन)

वे ज्ञानी हैं, वे ध्यानी हैं, वे महान् तपस्वी हैं, वे स्वरूपनिष्ठ आत्माएँ हैं, जिन्हें भूत-भविष्य के भोगों की इच्छा-स्मृति नहीं है, मैंने खाया था इसकी कोई स्मृति नहीं है, बहुत अच्छी बात सुनी थी, एक बार और सुना दो तो अच्छा है, अनागत की कोई इच्छा नहीं, जब अनागत की कोई इच्छा नहीं और अतीत की स्मृति नहीं तो वर्तमान में भोगों की फजीती हो जाती है, वह उन्हें लात मार देती

है, इसी को कहते हैं समयसार में हेय-बुद्धि। किसके प्रति हेय-बुद्धि ? भोगोपभोग के प्रति, भोगोपभोग को लात मारना, खेल नहीं है, यहाँ भोगोपभोग सामग्री हमें लात मार देती है, फिर भी हम उसके पीछे चले जाते हैं, लेकिन ज्ञानी की यह दशा, यह परिभाषा अद्वितीय है।

आचार्य कुन्दकुन्ददेव, जिनके दर्शनमात्र से वैराग्यभाव सामने आ जाता है, जिनके स्वरूप को देखते ही अपना रूप देखने में आ जाता है।

सो धर्म मुनिन करि धरिये, तिनकी करतूति उचरिये।
ताको सुनिये भवि प्राणि अपनी अनुभूति पिछानी॥

(छहढाला-५/१५)

वह मुद्रा, जिसके दर्शन करने से हमारा स्वरूप सामने आ जाए, आत्मा का क्या भाव है, वह ज्ञात हो जावे, अनन्तकाल व्यतीत हो गया, आज तक स्वरूप का ज्ञान क्यों नहीं हुआ ? वैराग्य को वैराग्य से ही देखा जाता है, विरागी की दृष्टि रागी को देखकर भी, राग में विरागता का अनुभव करती है और रागी की दृष्टि विरागता को देख, विरागता में भी राग का अनुभव करती है, यह किसका दोष है ? यह किसका फल है, इसको कोई क्या कर सकता है, जिसके पेट में जो है वही तो डकार में आयेगा ।

दो टैंक थे तैरने के, एक में दूध था और एक में मट्ठा-मही था, उन टैंकों में दो व्यक्ति तैर रहे थे, दोनों को डकारें आई, ज्यों ही डकार आई, एक ने कहा-वाह-वाह, बहुत अच्छा-बहुत अच्छा, क्या सुवास और सुरस है ? भगवन्! अम्लपित्त जैसी डकार आ रही है, दूसरे ने कहा, अरे क्या बात हो गई, तुम तो दूध के टैंक में हो और अम्लपित्त की बात कर रहे हो ? बात ही समझ में नहीं आती, दूसरा कहता है-तुम तो मट्ठे के टैंक में हो और फिर भी वाह-वाह कर रहे हो ? ऐसी कौन-सी बात है ? बात ऐसी है कि आपके टैंक में दूध परन्तु पेट रूपी टैंक में महेरी खा रखी है, इसलिए उसी की डकारें आ रहीं हैं और हम यद्यपि मट्ठे के टैंक में है लेकिन मैंने क्या खा रखा है मालूम है? जिसमें बादाम-पिस्ता मिलाई गई ऐसी खीर उड़ाकर आया हूँ तब डकार कौन-सी, किस प्रकार की आयेगी ?

बात ऐसी ही है कि समयसार की चर्चा करते-करते भी अभी डकार खट्टी आ रही है। इसका मतलब यही है, भीतर कुछ और ही खाया है, मैं तो यही सोचता हूँ कि इसको (समयसार) तो पी लेना चाहिए, जिससे भीतर जाने के उपरान्त जब कभी डकार आयेगी तो उसकी गन्ध से, जहाँ तक पहुँचेगी जिस तक पहुँचेगी, वह संतुष्ट हो जाएगा, उसका स्पर्श मिलते ही सन्तुष्ट हो जाएगा, उसकी मुख-मुद्रा देखने से भी सन्तुष्टि होगी, लोग पूछते फिरेंगे कि क्या-क्या खा रखा है, कुछ तो बता दो ?

सफेद मात्र देखकर सन्तुष्ट मत होइये, परीक्षा भी करो कम से कम, कारण दोनों सफेद द्रव्य हैं, मट्ठा भी और दूध भी। लेकिन दोनों के गुण धर्म अलग-अलग हैं, स्वाद लीजिए, उसे चखने की आवश्यकता है **आज लखने की आवश्यकता है, लिखने की नहीं लिखनहारा बहुत पाओगे, ''लखनहारा'' तो विरला ही मिलेगा।''** लखनहारा जो भीतर उतरता है, लिखनहारा तो बाहर ही बाहर घूमता है, शब्दों को चुनने में लगा रहता है। बाहर आने पर भीतर का नाता टूट जाता है जो भीतर की ओर दृष्टि रखता है वह धन्य है।

आज वृषभकुमार को वैराग्य हुआ, उनकी दृष्टि, जो कि पर की ओर थी, अपनी ओर आ गई, अपनी ओर क्या, अपने में ही स्थिर होने को है, अपने में स्थिर होने के लिए बाहरी पदार्थों का सम्बन्ध तोड़ना आवश्यक होता है, जब तक बाहरी द्रव्यों के साथ सम्बन्ध रहेगा, वह भी मोह सम्बन्धी तो दुःख और परेशानी ही पैदा करेगा, किन्तु स्वस्थ होने पर दुःख और परेशानी का बिल्कुल अभाव हो जाएगा, स्वस्थ होने के लिए बाहरी चकाचौंध से दूर होना अनिवार्य है, इसलिए समयसार में यह गाथा अद्वितीय ही लिखी गई है-

उप्पण्णोदयभोगे वियोगबुद्धीय तस्स सो णिच्चं।
कंखामणागदस्स य उदयस्स ण कुव्वदे णाणी॥
(समयसार-२२८)

वह ज्ञानी उदय में आई हुई भोगोपभोग सामग्री को त्याग कर देता है, हेय बुद्धि से देखता है, उन भोगों की स्मृति तो बहुत दूर की बात, आकांक्षा की बात भी बहुत दूर की होगी, अब तो अनाप-सनाप-सम्पदा जो मिली है उसे कहता है—यह सम्पदा कहाँ, आपदा का मूल है, यह अर्थ अनर्थ का मूल है, परमार्थ अलग वस्तु है और अर्थ अलग वस्तु, मेरा अर्थ, मेरा पदार्थ मेरे पास है, उसके अलावा मेरा कुछ भी नहीं, तिल-तुषमात्र भी मेरा नहीं है, मैं तो एकाकी यात्री हूँ, कहाँ जाऊँगा ? कोई इच्छा भी नहीं, किससे मिलना? किसी से कोई मतलब नहीं, अब मुक्ति की इच्छा भी नहीं, इच्छा मात्र से भी कोई मतलब नहीं, बस, अपने आप में रम जाने के लिए तत्पर हूँ।

मुमुक्षु को अकेला होना अनिवार्य है, आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने दो स्थानों पर 'मुमुक्षु' संज्ञा दी। एक-वृषभनाथ के दीक्षा के समय और दूसरी अरनाथ भगवान जब चक्रवर्तित्व पद छोड़कर चले गये तब, उस समय अरनाथ भगवान को सब कुछ क्षणभंगुर प्रतीत हुआ, दुःख का मूल कारण प्रतीत हुआ, इसीलिए उन्होंने उसको छोड़ दिया, ऐसा मुमुक्षु ही ज्ञानी-वैरागी होता है। उसी का दर्शन करना चाहिए, रागी का दर्शन करने से कभी भी सुख शान्ति का, वैभव-आनन्द का अनुभव होने वाला नहीं।

वृषभनाथ भगवान के जमाने की बात। चक्रवर्ती भरत के कुछ पुत्र थे, जो कि निगोद से निकलकर आये थे, (बीच में एक-आध त्रस पर्याय सम्भव है) सभी के सभी बोलते नहीं थे, चक्रवर्ती को बहुत चिन्ता हुई, उन्होंने एक दिन आदिनाथ भगवान से समवसरण में जाकर पूछा- प्रभो! तीर्थंकरों की वंशपरम्परा में ऐसे कोई पंगु, लूला, बहरे और अपंग नहीं होते, लेकिन कुछ पुत्र तो ऐसे हैं जो बोलते ही नहीं, हमें तो दिमाग में खराबी नजर आती है, मुझे जब अड़ोसी-पड़ोसी उलाहना देते हैं कि-तुम्हारे बच्चे गूंगे हैं, बहरे हैं, तब बहुत पीड़ा होती है, मैं क्या करूँ? भगवान वृषभनाथ ने कहा-वे गूंगे और बहरे नहीं हैं, बल्कि तुम ही बहरे हो, भगवन् कैसे बहरे हैं हम ? बहरे इसलिए कि उनकी भाषा तुम्हें ज्ञात नहीं, देखो तुम्हारे सामने ही वे हमसे बोलेंगे, उन्होंने कहा-सब लोग राजपाट में घुसते चले जा रहे हैं, झगड़ा तुम्हारे सामने है, कलह हो रहा है, भाई-भाई में लड़ाई हो रही है, इससे इनको वैराग्य हुआ, अतः सब कुछ छोड़कर सभी पुत्र भगवान के पास चल दिये और कहा-**हे प्रभो! जो आपका रूप सो हमारा रूप, जो आपकी जाति सो हमारी जाति, बस हम, आपकी जाति में मिल जाना चाहते हैं और ''नमः सिद्धेभ्यः'' कह पंचमुष्ठी केशलौंच कर बैठ गये।** तब चक्रवर्ती भरत ने कहा-वे गूंगे नहीं थे क्या ? नहीं! इन्हें जातिस्मरण हो गया था, इसलिए नहीं बोलते थे।

बन्धुओ! मैं जातिस्मरण की बात इसलिए कह रहा हूँ कि कुछ आपको भी स्मरण आ जाए जातिस्मरण की बात जिससे नारकियों के लिए सम्यग्दर्शन होता है, उन्हें वहाँ पर वेदना के अतिरेक से भी सम्यग्दर्शन होता है, परन्तु मनुष्यों को ना जातिस्मरण से और ना ही दुःख का अतिरेक होने से होता है। मनुष्य भव में तो जिनबिम्ब के दर्शन से, जिनवाणी सुनने/पढ़ने आदि से ही होता है। मनुष्य को जातिस्मरण और वेदनानुभव से सम्यग्दर्शन क्यों नहीं होता? तो आचार्यों ने कहा वह जाति की ओर देखता है, लेकिन जो भव्य है, सम्यग्दृष्टि है वह उससे दूर रहता है, देखो भरत! तुम्हारे पुत्रों को बोलने की शक्ति होते हुए मात्र पर्याय को देखकर तुम्हारे साथ बोलना पसन्द नहीं, बोलने की इच्छा नहीं उनकी, क्योंकि कामदेव के ऊपर चक्र चलाने वाले हैं आप, भाई के ऊपर चक्र चलाने वाले हैं। सर्वार्थसिद्धि से तो उतरे हुए हो और धार्मिक सीमा का भी उल्लंघन करते हो। दोनों तद्भव मोक्षमागी हो अतः कामदेव एवं चक्रवर्ती दोनों ही अन्त में फकीरी (मुनि पद) अपना कर मोक्ष को चले जाओगे, इसीलिए मन्त्रियों ने कहा-तुम दोनों ही लड़ो, हम देख लेते हैं, कौन पास होता है, चक्रवर्ती भरत तीनों में फेल हो गये और चौथे में भी, युद्ध तो तीन ही थे चौथा कौन-सा था ? चौथा यह था कि सीमा का उल्लंघन नहीं करना, धर्म युद्ध करना। उन्होंने उसका भी उल्लंघन कर चक्र का प्रयोग कर दिया, छोड़ा नहीं, कसर बाकी नहीं रही।

सर्वार्थसिद्धि से उतरे थे, तीनों के साथ अनुगामी अवधिज्ञान आया था, तीनों में वृषभनाथ तो दीक्षित हो गये, लेकिन इन दोनों को अवधिज्ञान की कुछ याद भी नहीं, फिर जातिस्मरण तो बहुत दूर की बात रही, अपना धन, अपना ज्ञान, वर्तमान में हम कहाँ से आये हैं ? यह तक पता नहीं है। यह ज्ञान होना चाहिए कि अपने परिवार पर चक्र का कोई प्रभाव नहीं होता, लेकिन बुद्धि भ्रष्ट हो गई, धन के, मान-प्रतिष्ठा के पीछे, किन्तु बाहुबली का पुण्य बहुत जोरदार था, इसलिए उसने परिक्रमा लगाई और रुक गया, इस प्रकार बाहुबली ने तीनों युद्धों में तो हरा ही दिया और चौथे में भी सबके सामने नीचा दिखा दिया।

इस सब रहस्य को देख, अविनश्वर आत्मा का ज्ञान उन सब बच्चों को हो गया, इसलिए बोले नहीं किसी के साथ, जब तक उम्र पूर्ण नहीं हो जाती, योग्यता नहीं आती तब तक के लिए मौन और बाद में दीक्षा ले ली, वृषभनाथ भगवान ने ऐसा जब कहा तब कहीं चक्रवर्ती को ज्ञात हुआ कि यह भी सम्भव है, मैं तो यह सोचता हूँ कि पिताजी सम्यग्दृष्टि और चक्रवर्ती भी थे तो कम से कम पिताजी के चरण छू लेने चाहिए थे, लेकिन नहीं, अभी बहुत छोटे हैं, दूध के दाँत भी नहीं टूटे, पर उन्होंने एक बात समझने योग्य कही-रागी के साथ हम बोलने वाले नहीं, हम तो वैरागी-वीतरागी सन्तों के साथ बोलेंगे, यह बहुत अद्भुत परिणाम जातिस्मरण का है, इस कथा को सुनकर ऐसा लगने लग जाता है कि दूसरे को देखना बंद कर केवल अपनी आत्मा की ओर ही लगना चाहिए। भीतर जो बात रहेगी वही तो फूटती हुई बाहर आयेगी।

एक बच्चा था, वह काफी बदमाश था, स्कूल नहीं जाता था, ऐसे ही घूम-फिरकर आ जाता था, एक दिन माता-पिता को पता चला कि यह दिन खराब करता रहता है, अतः फेल हो जायेगा, तो मास्टर को कहा-इसे प्रतिदिन उपस्थित रखो और अच्छी शिक्षा दो, वह बालक होशियार भी था और बदमाश भी, एक दिन मास्टर ने पूछा-५ और ५ कितने होते हैं ? उसने कहा १० रोटी। ४-४ कितने होते हैं ? ८ रोटी। ३-३ कितने होते हैं ? ६ रोटी। तब मास्टर ने सोचा यह रोटी क्यों बोल रहा है ? क्या खाना खाकर नहीं आया ? या मम्मी ने रोटी नहीं खिलाई? मास्टर ने पूछा-क्या रोटी नहीं खाई ? उसने कहा जी, नहीं खाई, मम्मी ने कहा है, तब तक खाना नहीं मिलेगा जब तक स्कूल से पढ़कर नहीं आते, इससे ज्ञात होता है कि वह ८ बोल रहा है, किन्तु रोटी नहीं भूल रहा है, हम समयसार की कितनी ही गाथाएँ याद कर लें, लेकिन हमारे भीतर जो अभिप्राय है वह याद आता जाता है। हमारे अभिप्राय के अनुसार ही कदम बढ़ते हैं, दृष्टि भले ही कहीं हो बन्धुओ! आप लोग रिवर्स में गाड़ी चलाते हैं, अब भले ही ड्राइवर सामने देख रहा हो, लेकिन सामने के दर्पण में जो पीछे का बिम्ब है उसे देखता है, देखने को तो लगता है कि दृष्टि सामने हैं परन्तु दृष्टि नियम से रिवर्स की ओर ही रहती है, इसी तरह हम दृष्टि भी इन विषयों से रिवर्स कर लें, कैसे हो, रिवर्स

होना ही बड़ी बात है।

जब ऋषभनाथ के जीवन में घटना घटी तो उन्होंने अपनी दृष्टि को मोड़ लिया, अपने-आप में समेट लिया, सबको उन्होंने समाप्त नहीं किया, किन्तु अपने को समेट लिया यह अद्भुत कार्य है, हम दुनिया को समेटकर कार्य करना चाहते हैं जो ''**ण भूदो ण भविस्सदि।**''

विहाय यः सागरवारिवाससं वधूमिवेमां वसुधावधूं सतीम।
मुमुक्षुरिक्ष्वाकु-कुलादिरात्मवान प्रभुः प्रवव्राज सहिष्णुरच्युतः॥

(स्वयम्भूस्तोत्र-१/३)

भगवन्! आप अपने पद से च्युत नहीं हुए, ज्ञानी जीव अपने पद से च्युत नहीं होते यही उनका ज्ञानीपना है,'' मात्र जानने वाले को ज्ञानी नहीं कहते, ज्ञानी का अर्थ अच्छा खोल दिया, जो राग नहीं करे, द्वेष नहीं करे, मोह नहीं करे, मद-मत्सर नहीं करे, समता का अभाव न हो, उन्हीं का नाम श्रमण है, वे श्रमण बन चुके, इसलिए अपने पद को कभी छोड़ेंगे नहीं, ऐसे अच्युत और सहिष्णु हैं कि कितने भी उपसर्ग आ जाएं तो भी चलायमान नहीं होंगे, मोक्षमार्ग परिषह और उपसर्गों के रास्तों से गुजरता है –

मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्याः परिषहाः॥ तत्त्वार्थसूत्र- ९/८

मार्ग अर्थात् संवर मार्ग से च्युति–स्खलन न हो, गिरावट न हो इसलिए उपसर्ग और परिषह सहन करने की आदत/अभ्यास करना चाहिए, अब यह नहीं चलेगा कि उष्णता आ गई तो पंखा खोल लिया या कूलर चला दिया, यहाँ पर न कूलर ही होगा और न ही हीटर, यहाँ पर तो सभी वातानुकूल है और बातानुकूल भी, दोनों अनुकूल हैं, गर्मी पड़े तो निर्जरा, नहीं पड़े तो निर्जरा, उपसर्ग हो तो ज्यादा निर्जरा, नहीं हो तो भी निर्जरा, कोई प्रशंसा करे तो भी निर्जरा। निन्दा करते तो भी निर्जरा, कोई आवे तो भी निर्जरा, नहीं आवे तो भी निर्जरा, बड़ी अद्भुत बात हो गई, लोग आयें तो अच्छा लगता है, नहीं आयें तो अकेले कैसे बैठें ? जो व्यक्ति भीड़ में रहने का आदि हो उसको यदि मीसा में बन्द कर दिया जाये तो उसकी स्थिति एकदम बिगड़ जायेगी, कहीं 'वेट' कम हो जायगा या कुछ और ही हो जाएगा, लेकिन जिसे मीसा में ही रहने की आदत हो गई है वह तो पहलवान होकर निकलेगा।

हमारे ऋषभनाथ का हाल भी इसी तरह का है कि उन्हें अब मीसा में बन्द करो या किसी अन्य में, उन्हें तो भीतर 'पीस' है, आनन्द-सुख, शान्ति-चैन, सब कुछ अन्दर है, मैं अकेला हूँ तब बन्द करो या कुछ और, मुझे चैन ही मिलेगी ऐसा सोचते हैं, बड़ी अद्भुत बात है, कहीं भी चले जायें, कैसी भी अवस्था आ जाए, कैसा भी कर्म का उदय आ जाय, अब अनुकूल हो या प्रतिकूल।

बल्कि विश्वास तो यह है कि अब नियम से कूल-किनारा मिलेगा, इसी को कहते हैं श्रामण्य। श्रमणता पाने के उपरान्त किसी भी प्रकार की कमी अनुभूत नहीं होना चाहिए, मात्र ज्ञान से पूर्ति करता रहता है। समयसार के संवराधिकार में कहा है –

जह कणयमग्गितवियं पि कणयसहावं ण तं परिच्चयदि।
तह कम्मोदयतविदो ण जहदि णाणी दु णाणित्तं ॥

(समयसार- १९१)

ज्ञानी अपने ज्ञानपने को नहीं छोड़ता, भले कितने कर्म के उदय कठोर से कठोरतम क्यों न आयें। जिस प्रकार कनक को आप कैसे भी तपाते जाएं, तपाते जाएं, वह सोना और भी दमकता चला जाता है, वह अपने कनकत्व को, स्वर्णत्व को नहीं छोड़ता। जयसेनस्वामी ने तो इसकी व्याख्या करते हुए कहा है कि –''**पाण्डवादिवत्**'' कौन पाण्डव ? जो पाण्डव वनवास में भेजे गये थे, वे क्या ? नहीं, नहीं। वे जो स्वयं अपनी तरफ से वनवास में आये थे, अर्थात् मुनि बनकर आये और उनके शरीर पर तपे हुए लोहे की जंजीरें डाल दी गई, फिर भी शान्त हैं ऐसे ''**पाण्डवादिवत्**'' रत्नत्रय में भी तप के बिना चमक नहीं आती, रत्नत्रय को तपाना आवश्यक है, उसी से मुक्ति मिलती है, तपाराधना से ही मुक्ति मिलती है, रत्नत्रय से नहीं। जैसे-हम हलुवा बनाते हैं तो मिश्री हो, आटा हो और घी हो, उन्हें अनुपात में मिला दो, उसमें और कुछ भी मिलाना हो तो मिला दो, लेकिन अभी हलुवा नहीं बनेगा, कब तक नहीं बनेगा ? जब तक की नीचे से अग्नि का उसे पाक नहीं मिलेगा, ज्यों ही अग्नि की तपन पैदा होगी त्यों ही तीनों चीजें मिलने लगेंगी और मुलायम हलुवा तैयार हो जायेगा, इसी तरह रत्नत्रय रूप में तीनों जब तक भिन्न-भिन्न रहेंगे और तप का सहारा नहीं लेंगे तो ध्यान रखिये! कोटिपूर्व वर्ष तक भी चले जाए तब भी मुक्ति नहीं होगी, होगी तो तप से ही।

अभी एक बात पण्डितजी ने कही थी कि अन्तर्मुहूर्त में भरत चक्रवर्ती को केवलज्ञान पैदा हो गया, बात बिल्कुल ठीक है, परन्तु मुक्ति क्यों नहीं मिली अन्तर्मुहूर्त में उन्हें ? एक लाख वर्ष तक उन्हें तप करना पड़ा, जितनी तपस्या ऋषभनाथ ने की उतनी ही तपस्या भरतचक्रवर्ती ने की। अभी-अभी वाचना (खुरई में) चल रही थी, उसमें भंग आया था कि ''अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान भले ही हो जाए परन्तु मुक्ति नहीं मिलती,'' इसका अर्थ है कि केवलज्ञान अन्तिम स्टेज नहीं है, अन्तिम मंजिल नहीं है, वह तो एक प्रकार से बीच स्टेशन है जिसके उपरान्त मंजिल है, केवलज्ञान यदि उपाधि नहीं तो वह बीच में अवश्य मिलेगा, केवलज्ञान होने के उपरान्त भी तो मोक्षमार्ग पूर्ण नहीं होता, इसलिए मुक्ति देने की क्षमता केवलज्ञान में नहीं। जिसके द्वारा मुक्ति मिलती है, उसे उपादेय मानिये। मात्र तपाराधना के द्वारा मुक्ति होती है वह अन्तर्मुहूर्त में मंजिल तक पहुँचा देती है, देखिये! भरत रह गये, ऋषभनाथ भी रह गये, परन्तु बाहुबली केवलज्ञान को प्राप्त कर सर्वप्रथम मुक्ति के उद्घाटक बने

इस युग के आदि में पिताजी और भाई से पहले, आगे जाकर दरवाजा खोलकर बैठ गये, बाद में पिताजी आये और भरत भी।

एक मजे की बात तो यह रही कि ऋषभनाथ भगवान को भी बाहुबली के सिद्ध स्वरूप का चिन्तन करना पड़ा, भरत को भी करना पड़ा, जिसका जैसा पुरुषार्थ होता है उसको वैसा ही फल मिलता है, इसलिए हमारा लक्ष्य मंजिल का है, स्टेशन का नहीं, जैसे दिल्ली जाने के लिए तो आगरा भी एक स्टेशन आयेगा जो मंजिल नहीं है, मंजिल के निकट अवश्य है पर उससे भी आगे जाना है, दिल्ली अंतिम स्टेशन एवं मंजिल के रूप में होगा, दिल्ली पहुँचते ही उतर जाइये और मस्त हो जाओ, साथ ही यह देखते रहे कि पीछे क्या-क्या हो रहा है। गजकुमार स्वामी जैसों के उदाहरण हमारे सामने हैं, वह बाल्यावस्था में जब मात्र बारह वर्ष के थे, गोद में बैठने की क्षमता रखते थे, उस समय मात्र अन्तर्मुहूर्त में मुक्ति पा गये, वह भी केवलज्ञान प्राप्त कर लेते हैं, हाँ! अन्तर्मुहूर्त में सब कुछ काम हो जाता है। एक और बड़ी बात कही गयी है कि जिसने आज तक त्रस पर्याय प्राप्त नहीं की, जिसे वेद की वेदनाओं का अनुभव नहीं, अभी निगोद से निकलकर आ रहा है और आठ साल का होते ही मुनिवर के व्रत ले अन्तर्मुहूर्त में मुक्ति प्राप्त कर लेता है-ऐसा आगम का उल्लेख है। ऐसे उल्लेख अनन्त की संख्या में हैं, कोई भी अन्त वाला नहीं अर्थात् ऐसे पुरुषार्थशील प्राणी अनन्त हो गये और होंगे। बस, अब हमारे नम्बर की बात है, इसी की प्रतीक्षा में हम हैं, हमें भीतरी पुरुषार्थ जागृत करना है, भीतर कितनी ऊर्जा-शक्ति है ? इसका कोई भी मूल्यांकन हम इन छद्मस्थ आँखों से नहीं कर सकते, इसे प्रकट करने में भगवान ऋषभनाथ लगे हुए हैं, वे सोच रहे हैं कि-कोई भी प्रतिकूल अथवा अनुकूल अवस्था आ जाये, मेरे लिये सभी कुछ समान है, उनका चिन्तन चल रहा है।

बाहर यह
जो कुछ दिख रहा है
सो मैं नहीं हूँ
और वह मेरा भी नहीं है
ये आँखें
मुझे देख नहीं सकती
मुझमें देखने की शक्ति है
उसी का मैं सृष्टा हूँ
सभी का मैं दृष्टा हूँ !! (चेतना के गहराव में)

बहुत सरल-सी पंक्तियाँ हैं, लेकिन इन पंक्तियों में बहुत सार है– यह जो कुछ भी ठाट-बाट दिख रहा है वह ''मैं नहीं हूँ'' और वह ''मेरा भी नहीं'', ऐसा हो जाए तो अपने को ऋषभनाथ बनने में देर न लगे, लेकिन बन नहीं पा रहा है, क्यों नहीं बन पा रहा है ? भीतर से पूछो, भीतर की बात पूछो, क्यों नहीं हो पा रहा है, ऋषभनाथ कहते हैं–तू तटस्थ होकर देख, देखना स्वभाव है, जानना स्वभाव है लेकिन चलाकर नहीं, चलाकर देखना राग का प्रतीक है, जो हो रहा है उसे होते हुए देखिये-जानिये।

एक व्यक्ति जिसको वैराग्य का अंकुर पैदा हुआ है, पर अतीत में बहुत कुछ घटनाएँ उसके जीवन में घटी थी, उन सबको गौण कर वह दीक्षित हो गया, दीक्षा लेने के उपरान्त एक दिन का उपवास रहा, अगले दिन चर्या को निकलने वाला था तो गुरुदेव ने कहा-चर्या के लिए जाना चाहते हो ? जाओ ठीक है। पर ध्यान रखना! हाँ......हाँ आपकी आज्ञा शिरोधार्य है, आपकी जो आज्ञा, वह जो सेठ हैं, उन्हीं के यहाँ जाना है, उनका नाम भी बता दिया गया, पर!...... वहाँ महाराज! हाँ, मैं कह रहा हूँ वहीं जाना है, अन्यत्र नहीं जाना, पसीना आने लगा नवदीक्षित साधु को, लेकिन महाराज की आज्ञा, अब क्या करें, वह चल दिया, एक-एक कदम उठाते-उठाते चला गया, उसके घर की ओर। वह सोच रहा है-जिसके लिए मैं जा रहा हूँ। वह सम्भव नहीं, अभी भी कुछ बदला भोगना होगा, यह बात उसके दिमाग में गहरे घर करती जा रही है, फिर भी वह उसके सामने तक पहुँच गया, उस सेठ ने दूर से ही मुनि महाराज को देखकर सोचा धन्य है हमारा भाग्य!.....नमोऽस्तु...... नमोऽस्तु महाराज! आवाज तो उसी सेठ की है, बात क्या है, क्या उसके स्थान पर कोई अन्य तो नहीं, दिखता तो वही है, उसी के आकार-प्रकार, रंग-ढंग जैसा है। जैसे-जैसे महाराज पास गये वैसे-वैसे वह सेठ और भी विनीत होकर गद्गद् हो गया, उसके हाथ काँपने लगे, सोच रहा है- विधि में कहीं चूक न हो जाये, गलती न हो जाये, उधर सेठ नमोऽस्तु ...नमोऽस्तु ...नमोऽस्तु बोल, तीन प्रदक्षिणा लगाता है, इधर महाराज सोचते हैं कि-यह सब नाटक तो नहीं हो रहा है, क्योंकि इसके जीवन में यह संभव नहीं। मैं तभी गुरु-आज्ञा से यहाँ आया हूँ, अन्यत्र जाना नहीं है। झूठ बोल सकने की अब बात ही नहीं, विधि तो मिल गई और पड़गाहन (प्रतिग्रहण) भी हो गया अब.....। महाराज! मनशुद्धि, वचनशुद्धि और कायशुद्धि, आहार जलशुद्ध है, महाराज गृह-प्रवेश कीजिए, भोजनशाला में प्रवेश कीजिए, काँपते-काँपते सेठ ने कहा। मुनिराज सोच रहे थे कि यह कैसा परिवर्तन हुआ, जीवन के आदि से लेकर अभी तक के इतिहास में ३६ का आँकड़ा था। लेकिन यहाँ तो ३६ का उल्टा ६३ हो गया, यह कैसे, अभी तक वह ३६ का काम करता था, पर अब, यह ६३ शलाका पुरुषों का ही चमत्कार है, उसने अपने को ६३ शलाका पुरुषों के चरणों में जाकर के अर्थात् तीर्थंकर आदि के मार्ग पर चलने के लिए संकल्प कर लिंग परिवर्तन कर लिया।

और लिंग बदलते ही उसका जो बैर जन्मतः था, भव-भव से वह टूट गया, किन्तु मुनिराज को अभी इस बात का ज्ञान नहीं था। वह सोच रहे थे कि सम्भव हो अभी वह बैर भाव, मेरे साथ बदला ले ले। लेकिन नहीं! सेठ ने नवधाभक्ति के साथ आहार करवाया और आहार के बाद पैर पकड़कर फूट-फूटकर रोने लगा व कहा—मैंने गलती की, माफ करिये, माफ करिये, मैं भीतरी आत्मा की छवि को नहीं देख पाया था, भीतर ही भीतर ऐसा एक परिवर्तन अब हुआ, मैं बिल्कुल पर्याय बुद्धि अपनाता चला गया, आत्मा की ओर मेरी दृष्टि ही नहीं गई, अब मुनि महाराज कहते हैं कि – यह दृष्टि मेरी नहीं है भैय्या! मैं तो भगवान के पास गया, उनकी शरण में जाने की ही कृपा है कि मुझे इस प्रकार की दिव्य-दृष्टि मिली, माफी तो हम दोनों मिलकर वहीं पर मागेंगे! चलो तुम भी चलो साथ उनके चरणों में, वहाँ पहुँचने पर महाराज बोलते हैं क्यों भैया! मुलाकात हो गई ? मुलाकात क्या, अब यह मुलाकात कभी मिटने वाली नहीं है, कारण, बैर भाव जो चलता है वह केवल पर्याय-बुद्धि को लेकर चलता है, यह समझ में आ गया।

आप लोग तो रामायण की बात करते होंगे, लेकिन मैं तो रावणयात्रा की बात करता हूँ। रावण, राम से भी दस कदम आगे काम करने वाला है, ये हलधर थे, तो वे तीर्थंकर बनेंगे, ऐसे तीर्थंकर होंगे जिनके सीतारानी का जीव स्वयं गणधर बनेगा, जितना विप्लव दोनों ने मिलकर किया था, उससे कहीं अधिक शान्ति धरती पर करके मोक्ष चले जायेंगे, लक्ष्मण का जीव भी तीर्थंकर बनेगा, सीता का जीव बीच में कुछ पर्याय धारण कर गणधर परमेष्ठी बनेगा। रावण की ब्राडकास्टिंग करने गणधर बनकर बैठेगा, अब सोचिये, भव-भव का वह बैर कहाँ चला गया। संसारी प्राणी अतीत की ओर और अनागत की ओर नहीं देखता है इसके सामने तो एक वर्तमान पर्याय ही रह जाती है, प्रागभाव को भी देखा करो, प्रध्वंसाभाव को भी देखा करो और तद्भाव को भी देखा करो, तभी भव-भव का नाता टूट जाएगा, ऐसा भव प्रादुर्भूत हो जायेगा कि जिसका दर्शन करते ही अनन्तकालीन कषाय की शृंखला टूटकर छिन्न-भिन्न हो जायेगी, कितना सुन्दर दृश्य होगा, रावण के भविष्य का उस समय, जब रामायण अतीत का दृश्य हो जाएगा। एक बार चित्र देखा हुआ, यदि दुबारा देखते हैं तो रास नहीं आता, जो नहीं देखा उसके बारे में बहुत भावना उठती है।

आश्चर्य की बात यह है कि भव-भव में बैर पकड़ने वाले ये जीव एक स्थान पर ऐसे बैठकर सब लोगों को हित के मार्ग का दर्शन देकर आदर्श प्रस्तुत करके मोक्ष चले जायेंगे।

इस प्रकार की घटनायें (रावण-सीता-राम जैसी घटनाएँ) पुराणों में अनन्तों हो गईं, भविष्यत् काल में अनन्तानन्त होंगी। जब अतीतकाल की विवक्षा को लेते हैं तो अनन्त की कोटि में कहते हैं और अनागत की अपेक्षा से अनन्त नहीं, बल्कि अनन्तानन्त कहा जाता है। राम-रावण-सीता जैसी घटनाओं में कभी आप भी राम हो सकते हैं, कभी रावण और भी कुछ हो सकते हैं, नाम तो पुनः

पुनः वहीं आते जाते हैं, क्योंकि शब्द संख्यात हैं और पदार्थ अनन्त। फलाचंद नाम के कई व्यक्ति हो सकते हैं, इसी सभा में १०-२० मिल सकते हैं, सागर सिटी में ५०-१०० मिल सकते हैं, उस समय यदि किसी की दानराशि, उसी नाम वाले से मांगे तो घोटाला हो जाएगा, अब क्या करें ? बोली किसने ली थी क्या पता? इसलिये सागर में भी मुहल्ला एवं अपने पालक का भी नाम बताओ? अर्थात् शब्द बहुत कमजोर है, शब्द के पास शक्ति नहीं और ना ही अनन्त है, इसलिए इन सब बातों को भूल जाओ, अभावों में प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव क्या था यह ज्ञात हो गया।

महाराज सोचते हैं कि-वह बैर भाव अभी रह सकता है क्या ? नहीं! लेकिन लिंग (भेष) न बदलता तो संभव भी था। क्योंकि सजातीयता थी, लेकिन ज्यों ही मुनिलिंग धारण किया और मुद्रा लेकर चले, त्यों ही उस व्यक्ति के साथ जो बैर चल रहा था, जाता रहा, उसने सोचा-अब यह वह व्यक्ति नहीं, किन्तु इसका सम्बन्ध तो अब महावीर प्रभु से हो चुका, यह लिंग घर का नहीं है। इसलिए जिनलिंग देखने के उपरान्त समता आ जाती है, किसी व्यक्ति विशेष का लिंग नहीं है यह। किसी व्यक्तिविशेष की पूजा नहीं है जैनशासन में, किसी एक व्यक्ति का शासन नहीं चल सकता, किसी की धरोहर नहीं, यह तो अनादिकाल से चली आ रही परम्परा है और अनन्तानन्तकाल तक चलती रहेगी, मात्र नाम की पूजा नहीं, नाम के साथ गुणों का होना आवश्यक है, स्थापना निक्षेप में यही बात होती है। ''यह वही है'' इस प्रकार का ऐक्य हो जाता है, अर्थात् यह वृषभनाथ ही हैं, इसमें और उसमें कोई फर्क नहीं, इस तरह का ''**बुद्धया ऐक्यं स्थाप्य**'' बुद्धि के द्वारा एकता का आरोपण करना, जैसा कि कल ही पण्डितजी कह रहे थे-''यह प्रतिमा नहीं भगवान हैं, ऐसी ताकत होती है,'' तब कहीं वह बिम्ब सम्यग्दर्शन के लिए निमित्त बन सकता है, नहीं तो वह अभिमान का भी कारण है, इसलिए किसी व्यक्ति को स्मरण में न लाकर उसे प्रागभाव की कोटि में यदि चला गया तो उसका क्षय हो चुका, इसीलिए अब उस व्यक्तित्व का भी सम्बन्ध था, पर अब वीतरागता से सम्बन्ध। जो व्यक्ति इस प्रकार के लिंग को देख करके, उनकी पूजा-अर्चा नहीं करता, उनके लिए आहारदान नहीं देता तो उसके लिए आचार्य कुन्दकुन्द अष्टपाहुड में कहते हैं-

सहजुप्पण्णं रूवं दट्ठुं जो मण्णए ण मच्छरिओ।
सो संजमपडिवण्णो, मिच्छाइट्ठी हवदि एसो॥

(दर्शनपाहुड-२४)

कितनी गजब की बात कही है आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने-सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शन को एक दर्पण के सामने लाकर रख दिया है। "Face is the index of the heart" हृदय की अनुक्रमणिका मुख-मुद्रा है, हृदय में क्या बात है यह मुख के द्वारा समझ लेते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि अभी भी तुम्हारी दृष्टि में बैर भाव है, अभी भी वह सेठ है, पर्याय बुद्धि है

तेरी, तेरी दृष्टि में वीतरागता नहीं आ रही है, वीतरागता किसी की अथवा घर की नहीं होती, न इसे चुराया जा सकता है और न किसी की बपौती है। नग्नत्व ही उसका साधन है, भगवान महावीर या वृषभनाथ भगवान और भी जिनको पूजते हैं उनका लिंग है। कुन्दकुन्द भगवान ने कहा–यथाजातरूप भगवान महावीर और इस लिंग में कोई अंतर नहीं है, इसको देखकर जो व्यक्ति मात्सर्यादिक भावों के साथ वंदना आदि नहीं करता है वह मिथ्यादृष्टि है, यह ध्यान रखिये, यथाजातरूप होना चाहिए, क्योंकि वे ही जो छठे- सातवें गुणस्थानवर्ती हैं वे ही आपके घर तक आहार के लिए आ सकते हैं, अन्य नहीं, जिसके हृदय में सम्यग्दर्शन है, वह जिनेन्द्र भगवान के रूप को देखते ही सब पर्यायों को भूल जाता है, यह मेरा बैरी था, मित्र था, पिताजी थे, मेरे भाई थे या और कोई अन्य सम्बन्धी, अब कोई सम्बन्ध नहीं, सब छूट गया, इस नग्नावस्था के साथ तो मात्र पूज्य-पूजक सम्बन्ध रह गया है। इसके उपरान्त भी अतीत की ओर दृष्टि चली जाती है, रागद्वेष हो जाते हैं, परिचर्या में नहीं लगता है तो कुन्दकुन्दस्वामी ने उसे मिथ्यादृष्टि कहा, आगे दूसरी गाथा में कहते हैं –

अमराण वंदियाणं रूवं दट्ठूण सीलसहियाणं।
ये गारवं करंति य सम्मत्तविवज्जिया होंति॥

(दर्शनपाहुड-२५)

अमरों के द्वारा जो वन्दित है, उस पद को तथा शील सहित व्यक्ति को देखकर भी जो गर्व करता है, उसका तिरस्कार करता है तो वह सम्यग्दर्शन से कोसों दूर है। ऐसा नहीं है कि एक बार सम्यग्दर्शन मिल गया फिर पेटी में बन्दकर, अलीगढ़ का ताला लगाकर ट्रेजरी में बन्द कर दे, कहीं हिल न जाए, आचार्य कहते हैं कि–ऐसा नहीं है, अन्तर्मुहूर्त में ही कई बार उलट-पलट हो सकता है, भीतर के भीतर माल 'पास' हो सकता है। ताला ऊपर रह जाये और माल भीतर से 'सप्लाई' हो जाये। भीतर परिणामों में उथल-पुथल होता रहता है, यह सब पुण्य और पाप की बात है, इसी अष्टपाहुड में आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने एक जगह लिखा–''बाहुबली, सर्वप्रथम द्रव्यलिंगी की कोटि में हैं, बड़ी अद्‌भुत बात है, सर्वार्थसिद्धि से तो आये हैं और मुनि भी बने, फिर भी द्रव्यलिंगी की कोटि में उनको रखा, यह मात्र दृष्टि की बात है, बात ऐसी है कि वर्द्धमान चारित्र वाला छठे-सातवें गुणस्थान में तो परिवर्तन कर सकता है, लेकिन जिसका वर्द्धमान चारित्र नहीं है, वह व्यक्ति नीचे गिरकर छठे से पाँचवें में भी आ सकता है, चौथे में आ सकता है और क्षायिक सम्यग्दृष्टि नहीं है तो प्रथम गुणस्थान तक आ सकता है, ऐसे भी भंग आगम में बनाये गये हैं, उन्होंने कहा–एक व्यक्ति क्षायिक सम्यग्दर्शन के साथ मुनिपद को अपनाता है और सातवें गुणस्थान को छू लेता है और अन्तर्मुहूर्त में छठवें में आ जाता है, फिर चतुर्थ गुणस्थान में आकर ८ वर्ष और कुछ कम पूर्वकोटि वर्ष व्यतीत कर सकता है।

श्री धवल पढ़िए। उसका अध्ययन करिए तब ज्ञान होगा, क्षायिक सम्यग्दृष्टि तो है पर असंयमी हो गया, अब कैसे आहारदान दें ? परिचर्या कैसे करें ? हो सकता है देने वाला पंचम-गुणस्थानवर्ती हो और लेने वाले मुनि महाराज चौथे गुणस्थानवर्ती, यहाँ ध्यान रखिये मुनिलिंग की पूजा की जाती है, भीतर रत्नत्रय है या नहीं, यह आपकी आँखों का विषय नहीं, अब हम पूछते हैं कि क्षायिक सम्यग्दर्शन होते हुए भी उसे ऊपर क्यों नहीं उठाया, जबकि अभी भी दिगम्बरावस्था है, जब सम्यग्दर्शन है तो चरित्र भी सम्यक् होना चाहिए, छठवें-सातवें गुणस्थान को छूना चाहिए, पर नहीं होता है। इसका कारण, भिन्न-भिन्न शक्तियों की सीमाएँ, लक्षणों और गुणों की सीमाएँ ही हैं। भिन्न-भिन्न प्रयोजनों के कारण भी आगे नहीं बढ़ पाता, उसकी विशुद्धि इतनी घट गई कि ऊपर से तो मुनिलिंग की चर्या का अनुपालन करता हुआ पूर्वकोटि वर्षों तक सम्यग्दृष्टि बना रह सकता है। ऐसा भी सम्भव है कि जो क्षायिक सम्यग्दृष्टि नहीं है वह दीक्षा लेते समय छठे-सातवें गुणस्थान में था और अन्तर्मुहूर्त में ही मिथ्यात्व गुणस्थान में आ गया, अब क्या करें ? क्या आप आहार देना बंद कर देंगे ? उसे कपड़े पहनना चाहिए क्या ? अरे! यदि कपड़ा नहीं पहनता तो धोकाधड़ी कर रहा है, ऐसा कहना बिल्कुल गलत है, ऐसा नहीं कहना चाहिए, यहाँ धोखाधड़ी करने की बात ही नहीं। सम्यग्दर्शन कोई ऐसी वस्तु नहीं कि बाँध के रख लिया जाये। क्षायिक सम्यग्दर्शन होते हुए भी छठे-सातवें गुणस्थान से नीचे उतरना पड़े। हाँ! यह तो अवश्य है कि चारित्र बाँधा जा सकता है किन्तु भीतरी परिणामरूप चारित्र को नहीं बाँधा जाता, इसका अर्थ यह हुआ कि कर्म की भी अपनी शक्ति है, उसकी शक्ति के सामने किसी का पुरुषार्थ कुछ नहीं कर सकता।

द्रव्यलिंगी कहने से मिथ्यादृष्टि को ही नहीं लेना चाहिए, कारण, बाहुबली मिथ्यादृष्टि होने वाले नहीं, सर्वार्थसिद्धि से क्षायिक सम्यग्दर्शन के साथ आये थे, इसी प्रकार की कई बातें राम के जीवन में आती हैं, भूमिका के अनुसार जब-जब कर्मों का उदय आता है, तब-तब उसकी चपेट से आत्मा के कैसे परिणाम होते हैं। उसे कहा है-

''कोउ-कोउ समै आत्मा ने कर्म दाबे छे, कोउ-कोउ समै कर्म ने आत्मा दाबे छे।''

समणसुत्तं-६१

अर्थात् कभी-कभी आत्मा कर्मों को दबाता है और कभी-कभी कर्म, आत्मा को दबाते हैं। यह कस्समकस्सा चलता रहता है, अन्त में जीत आत्मा की ही होगी। यह चलना भी चाहिए। मानलो, मैदान में दो कुश्ती खेलने वाले आ गये, एक मिनट में ही एक गिर गया (चित्त हो गया) तो लोग कहते हैं कि मजा नहीं आया, कुछ दाँव-पेंच होना चाहिए था। जब सारा का सारा बदन लाल हो जाए, २-३ बार गिर-उठकर एक बार चित्त करें तो-वाह...वाह! कमाल कर दिया, कहेंगे,

क्योंकि हमें आनंद तभी आता है। उसी प्रकार जब जाना ही है इस लोक से तो करामात कर दिखाने से नहीं चूकना चाहिए, कर्मों ने अनन्तकाल से इसको दबाये रखा, अब एक बार ऐसी सन्धि आयी है, एक बार में ही न दबा दें बल्कि दबाते रहे-दबाते रहे, जब बिल्कुल लतफत हो जाये, कहे–मैं भाग जाऊँगा, चला जाऊँगा–ऐसा कर दो अपने आत्मा के बल से, जब सम्पूर्ण बल खुलकर सामने आयेगा तो सभी कर्म भागते फिरेंगे, तभी वीतरागता प्राप्त होगी।

वीतराग और अराग में क्या अंतर है ? यह जो पृष्ठ कागज का है यह अरागी है और भी जितनी भी वस्तुएँ देखने में आ रही हैं, वे सभी अरागी हैं, जड़ हैं, किन्तु चेतना वाले जीव ही कुछ रागी और कुछ वीतराग होते हैं, जिसके पास राग था, उसका अभाव करने से वीतरागता आती है। हमें अरागी नहीं वीतरागी बनना है।

आप लोग भी तो वीतराग हैं लेकिन कैसा ? "**आत्मानं प्रति रागो यस्य न वर्तते इति वीतरागः**" आत्मा के प्रति जिसका राग नहीं है वह भी वीतराग है और जिसकी आत्मा में राग नहीं वह भी वीतराग है। आपको आत्मा के प्रति राग न होते हुए भी आप सरागी माने जाते हैं, क्योंकि भिन्न-भिन्न जो अन्य वस्तुएँ हैं, उन सबके प्रति आपको राग है। आप कहते तो हैं- **यह भिन्न है, यह भिन्न है, लेकिन थोड़ी भी प्रतिकूल दशा आ जाये तो खेद-खिन्न है। यह पर है, यह पर है-फिर भी उसी में तत्पर है यह सब नाटक क्या है ?**

जब नये दीक्षित श्रमण ने महाराज के चरणों में नमन किया तो महाराज ने कहा-क्यों क्या बात, निकल गया पूरा का पूरा काँटा ? महाराज! आपने तो अच्छी संधि पकड़ी, हृदय की बात जान ली। भैय्या! हम हृदय की बात जानते हैं बाद की बात नहीं, किसी और के पास नहीं पहुँचना था, क्योंकि सबके प्रति तुम्हारे क्षमा भाव हैं, जहाँ बैर नहीं वहाँ क्षमा भाव है, अब तुमने दीक्षा ले ली, लेकिन जिसके साथ तुम्हारा बैर-भाव था, वह निकला कि नहीं ? भीतर रहना नहीं चाहिए, उसको तुम्हीं टटोलो और कहाँ पर ? वहीं पर जाकर, उसमें अवश्य ही परिवर्तन होना चाहिए, उस श्रावक के, इस लिंग (जिनलिंग) को देखने मात्र से निष्ठा पैदा हो गयी कि इस प्रकार का बैर रखने वाले भी मेरे आंगन तक आ सकते हैं, मान का पूरा का पूरा हनन, जो राजा था, दूसरों पर सत्ता रखता था, सब कुछ करता था, वही आज यूँ हाथ पसारकर आया है, यह भीतर की अग्नि-परीक्षा है, जो दिया जाय वह लेना बहुत ही कठिन व्रत है, उसमें अपनी माँग नहीं होना, बहुत कठिन है।

एक बार, सागर में वाचना चल रही थी, तब आचार्य गुणभद्र का संदर्भ देते हुए कहा था कि-श्रावक का पद कभी भी बड़ा नहीं होता, मात्र दान के अलावा। जिस समय उसके सामने तीन लोक के नाथ भी हाथ करते हैं, उस समय श्रावक को अपूर्व आनंद होता है और उसी आनंद के

साथ अपना हाथ यूँ करता है (दान देता है)। तब हमने कहा–बात तो बिल्कुल ठीक है, परन्तु हाथ कांपते किसके हैं ? देने वालों के ही हाथ कांपते हैं, लेने वालों के नहीं, क्यों कांपते हैं ? क्योंकि देने वाला दे तो रहा है परन्तु क्या पता, कैसे हो जाए, इसीलिए कांपते हैं, लेकिन महाराज निर्भीकता के साथ लेते हैं।

बंधुओ ! राजा हो या महाराज, जब तक राजकीय मान सम्मान है तब तक तीन लोक का नाथ नहीं बन सकता, चाहे कितनी भी कठिन तपस्या क्यों न कर लें। इसीलिए वृषभनाथ ने दीक्षा ली, इसका अर्थ यही है कि उसके पास भीतर बैठी हुई, क्रोध, मान, माया, लोभ भले ही अनन्तानुबन्धी न हो पर शेष सभी कषाय तो विद्यमान होगी, इनका जब तक क्षय होगा तब तक उदयावली से उदय में आकर इनका कार्य देखा जा सकता है। वर्धमानचारित्र वालों को भी हो सकता है परन्तु वह संज्वलन होगा, अतः उसको भी जीतने के लिए बार-बार प्रयास करना और जो कर रहे हैं वे धन्य हैं। समयसारकलश में एक स्थान पर लिखा है–

बहती रहती कषाय नाली, शान्ति-सुधा भी झरती है,
भव पीड़ा भी, वहीं प्यार कर, मुक्ति-रमा मन हरती है।
तीन लोक भी आलोकित है, अतिशय चिन्मय लीला है,
अद्‌भुत से अद्‌भुत तम महिमा, आतम की जय शीला है ॥

(समयसार कलश-२७४)

वहीं पर कषाय नाली है, वहीं अमृत का झरना, वहीं तीन लोक, वहीं मुक्तिरमा, वहीं पर तीनों लोकों को आलोकित करने वाला अद्‌भुत-दिव्यज्ञान, लेकिन यह अतिशय लीला चेतना की ही है। धन्य हैं वे मुनिराज और उनकी चेतना, जो दीक्षा लेने के उपरान्त कषाय रहते हुए भी, कषाय नहीं करते हैं, कषाय चले जाने के बाद हमने कषाय जीत ली, ऐसा नहीं, जैसे–रणांगन में शत्रु के सामने कूदना ही कार्यकारी है, जब बैरी भाग जाए, उस समय कूदें तो क्या मतलब, शत्रु के सामने हाथ में तलवार हो और ढाल तथा छाती यूँ करके रणांगन में कूदकर किये गये प्रहार से बच, संधि पा अपनी तलवार चलाने से काम होता है, उसी प्रकार वैराग्यरूपी ढाल को अपने हाथ में लेकर, ज्ञान की तलवार चलाने से अनन्तकालीन कर्म की फौज जो की भीतर बैठी है, छिन्न-भिन्न हो जाती है, बस अन्तर्मुहूर्त का समय लगता है, हमें जितना भी पुरुषार्थ करना है वह मात्र मोह को जीतने के लिए ही करना है, मोह को जीतने पर ही विजय मानी जायेगी अन्यथा कोई मतलब नहीं, कुछ भी सिद्ध होने वाला नहीं।

उस श्रावक को भी ऐसा ज्ञान हो गया कि भगवन्! इनके साथ जो बैर था, जो गांठ पड़ गई थी, वह कभी खुलेगी यह संभव नहीं लगता था, कम से कम इस भव में तो कतई संभव नहीं लगता

था, उस पर्याय का प्रध्वंसाभाव हो गया जिससे कि हमारी गांठ बँधी थी, अब मुनिलिंग आ गया, मुनिलिंग प्राप्त होते ही मेरे भीतर किसी भी प्रकार का राग-द्वेष भाव नहीं आये, कारण कि वे वीतराग होकर आये थे, रागी-द्वेषी होकर नहीं। यदि हमारे सामने कोई वीतराग के साथ आते हैं तो हमें भी वीतराग भाव की उपलब्धि होगी और यदि मान दिखाते हैं तो हमारे भीतर भी मान की उदीरणा हो जाती है। सामने वाला व्यक्ति मान नहीं दिखाता तो हमारा भी मान उपशान्त हो जाए। जैसे–सिंह देखता है कि सामने वाला व्यक्ति मेरी ओर किस दृष्टि से देख रहा है, यदि लाल कटाक्षों से देखता है तो सिंह भी इसी प्रकार से कर लेता है, यदि वह शान्त रूप से चलता है तो सिंह भी शान्त मुद्रा से चला जाता है।

एक बार की बात, दो संत जंगल से चले जा रहे हैं, उधर से एक सिंह भी आ गया, सिंह को देखकर दोनों को थोड़ा-सा क्षोभ हो गया, क्या पता? आजू-बाजू खिसकने के लिए कोई स्थान नहीं था, अब क्या करें ? अब तो वह जैसा आ रहा है, वैसे ही हम चले, रुकने से क्या मतलब ? जो करना हो कर लेगा, इसलिए चलने में कोई बाधा नहीं, बस उस तरफ नहीं देखना है, ईर्यापथ से चलना है, नीचे देखते हुए दोनों चले गये। बीच में से वह भी क्रास कर चला गया, सिंह इधर चला गया और वे उधर, कुछ दूर जाकर इन लोगों ने मुड़कर देखा तो उसने भी देखा कि कहीं कोई प्रहार तो नहीं। दोनों शांत चले गये और सिंह भी चला गया।

बंधुओ! कषाय-भाव की उदीरणा दूसरों को देखकर भी होती है। इसलिए बहुत सम्हल कर चलने की बात है, कषायवान् के सामने जाने से कषाय की उदीरणा बहुत जल्दी हो जाया करती है, जिस प्रकार अग्नि को ईंधन के द्वारा बल मिल जाता है उसी प्रकार कषायवान् व्यक्ति के सामने कोई कषाय करता है तो उसको बहुत जल्दी कषाय आती है।

एक छोटा-सा लड़का माँ की गोद में बैठा है, माँ दूध पिलाती-पिलाती आँखें लाल कर ले तो वह दूध पीना छोड़कर देखने लग जाता है, कि क्या मामला है ? गड़बड़-सा लगता है, तो मुँह का भी दूध वहीं छोड़ देता, ज्यादा विशेष हो गया तो वह वहाँ से खिसकने लगेगा, लेकिन ज्यों ही चुटकी बजाकर प्यार दिखाया तो फिर पीने लगेगा। इसका मतलब यही हुआ कि दूसरों की कषाय समाप्त करना चाहते हो तो हमें भी उपशान्त होते चले जाना चाहिए।

अतृणे पतिता वह्निः स्वयमेवोपशाम्यति। सुभाषित शतक-३९

जहाँ पर तृण नहीं, घास-पूस नहीं है वहाँ पर धधकती एक अग्नि की लकड़ी भी रख दो तो वह भी पाँच मिनिट में समाप्त हो जाती है, ईंधन का अभाव होते ही शान्त हो जाएगी, इसी तरह हमारे पास कषाय है वह शान्त होते ही अपने आप शान्ति आ जाएगी, जब तक ईंधन का सहयोग

मिलेगा ईंधन पटकते रहेंगे वह बढ़ती जायेगी। **उपशम भाव ही हमारे लिए अजेय और अमोघ अस्त्र है, इस अमोघ अस्त्र के द्वारा दुनियाँ को नहीं, अपनी आत्मा को जीतकर चलना है।**

जैसे आदिनाथ ने आज दीक्षा अंगीकार कर ली, ऐसे श्रमणत्व को मैं बार-बार नमस्कार करता हूँ, ऐसा श्रमणत्व हम लोगों को भी मिले ऐसी भावना करनी चाहिए, अतीत में कितनी भी कषाय हो गई हो, उसकी याद नहीं करनी चाहिए, अनागत की 'प्लानिंग' भी नहीं करनी चाहिए। यह सब पर्याय बुद्धि है। आप तो प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव को घटाकर देख लीजिए सारा माहौल शान्त हो जायेगा।

एक वीरत्व की बात याद आ गई, वह और आपके सामने रख देता हूँ ताकि आप भी उसका उपयोग कर सकें –

कौन कहता है कि आसमां में सुराख नहीं हो सकता।
एक पत्थर तो दिल से उछालकर देखो यारो॥

याद रखिये! आत्मा के पास अनन्तशक्ति है, इस शक्ति का उपयोग कषायों के प्रहार करने के लिए कीजिए, हमारी यह शक्ति अब दबी नहीं रहनी चाहिए, सोई नहीं रहनी चाहिए, नहीं तो चोरों का साम्राज्य हो जायेगा। क्या आप अपनी सम्पदा को चोरों के हाथ में देना चाहेंगे ? नहीं ना। इसलिए दहाड़ मारकर उठो, जैसे सिंह के सामने कोई नहीं आता, वैसे ही उठो, सिंहवृत्ति को अपनाओ, चूहों से बनकर हजार वर्ष जीने की अपेक्षा सिंह जैसा बनकर एक दिन जीना श्रेष्ठ है। मुनि महाराजों की वृत्ति ही सिंहवृत्ति कहलाती है, वह सिंह जैसे क्रूर तो नहीं होते किन्तु सिंह जैसे निर्भीक जरूर होते हैं, निरीह होते हैं, पीठ-पीछे से धावा नहीं बोलते, छुपकर जीवन-यापन नहीं करते, उनका जीवन खुल्लमखुल्ला रहता है, वनराजों के पास जाकर महाराज रहते हैं, भवनों में रहने वाले वनराजों के पास नहीं ठहर सकते।

आज भगवान ने दीक्षा ली तो इन्द्र चाकर बनना चाहता था लेकिन उन्होंने स्वीकार नहीं किया, उसे कह दिया–तुम पालकी भी नहीं उठा सकते हो, पहले मनुष्य उठा लें, क्योंकि ये संयम धारण कर सकते हैं, अब मुझे किसी से कुछ लेना देना नहीं, ना ये, ना तुम, मैं मात्र अकेला हूँ, था और रहूँगा, इस एकत्व के माध्यम से आज तक हजारों आत्माएँ अपना कल्याण कर गई, कर रही हैं, आगामीकाल में भी करेंगी। अपूर्णता से अपने जीवन को पूर्णता की ओर ले जायेंगी। मैं उन वृषभनाथ भगवान को, जो आज मुनि बने हैं, यह पंक्ति बोलते हुए स्मरण में लाता हूँ –

बल में बालक हूँ किस लायक, बोध कहाँ मुझमें स्वामी।
तव गुण-गण की स्तुति करने से, पूर्ण बनूँ तुम-सा नामी॥

गिरि से गिरती सरिता पहले पतली-सी ही चलती है।
किन्तु अन्त में रूप बदलती सागर में जा ढलती है॥

❑ ❑ ❑

ज्ञानकल्याणक
(पूर्वार्द्ध)

आज चौथा दिन है। कल ऋषभकुमार ने दीक्षा अंगीकार कर ली है। इसके उपरान्त तप में लीन हैं, आज उन्हें केवलज्ञान की उपलब्धि होने वाली है। इसके पूर्व उन्हें भूख लगी, यह सब कुछ इसलिए कह रहा हूँ कि तीर्थंकर की कोई भी चर्या ''आर्टीफिशयल'' नहीं हुआ करती, दिखावट नहीं हुआ करती, प्रदर्शन के लिए भी नहीं हुआ करती, दुनिया को उपदेश देने के लिए भी नहीं हुआ करती, क्योंकि छद्मस्थ अवस्था में वे उपदेश नहीं दिया करते हैं, दिखावटी कोई नाटक नहीं किया करते हैं। ऋषभनाथ, जो मुनिराज बने हैं वे, छठवें-सातवें गुणस्थान में घूम रहे हैं, क्योंकि उनका उपयोग अभी भी श्रेणी के लायक नहीं है, अर्थ यह हुआ कि उनकी चंचलता अभी नहीं मिटी और जब चंचलता नहीं मिटी तो वह क्रिया, केवल दिखाने के लिए नहीं है।

कल चर्चा रही थी कि, महाराज! तीर्थंकरों को पिच्छी-कमण्डलु का विधान तो नहीं है और कल तो यहाँ दिया गया ? बात तो ठीक है, संसारी प्राणी को मुनिचर्या की सही-सही पहचान हो, ज्ञान हो इसलिए ये दिया गया है। जो तीर्थंकर दीक्षित होते हैं, वे पिच्छी और कमण्डलु नहीं लेते, क्योंकि ज्यों ही वे दीक्षित होते हैं, त्यों ही उन्हें सारी ऋद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं, एक मात्र केवलज्ञान को छोड़कर, उनकी मन, वचन, काय की चेष्टा के द्वारा त्रसों का और स्थावरों का घात नहीं हुआ करता, इस प्रकार की विशुद्धि उनकी चर्या में आ जाती है और वे वर्द्धमान चारित्र वाले होते हैं, इसलिए इसके बारे में कुछ ज्यादा कहने की आवश्यकता नहीं है, किन्तु जब वे आहार के लिए उठते हैं, त्यों ही उपकरण का विधान उपस्थित हो जाता है।

प्रवचनसार में आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने प्रस्तुत किया है कि, अरे! तूने तो सब कुछ छोड़ने का संकल्प लिया था, छोड़ने का संकल्प लेकर, अब ग्रहण करने के लिए जा रहा है, गृहस्थों के सामने हाथ यूँ करेगा (फैलायेगा), बड़ी अद्‌भुत बात है, चाहे तीर्थंकर हो, चाहे चक्रवर्ती हो, चाहे कामदेव हो, कोई भी हो, कर्मों के सामने सबको घुटने टेकने पड़ेंगे, जब छोड़ने का संकल्प लेकर दीक्षा ग्रहण की थी, तो इस समय ग्रहण करने क्यों जा रहे हैं ? आचार्य कहते हैं-उत्सर्गमार्ग और अपवादमार्ग की सूचना आगम में है। जो व्यक्ति अपवादमार्ग को भूल जाता है वह भी Fail (असफल) हो जाता है और जो व्यक्ति उत्सर्गमार्ग को भूल जाता है वह भी असफल हो जाता है,

दोनों में ही साम्य हो, वेतन देना अनिवार्य है। लेकिन यहाँ पर वेतन के साथ 'कण्डीशन' भी है कुछ, वेतन के साथ शर्त हुआ करती हैं, उनको जो स्वीकारता है, उसे कहते हैं साधु। साधु शर्तों के साथ ही अपनी आत्मा की साधना करता है, आगम के अनुकूल करता है, भगवान की चर्या भी आगम के अनुकूल होती है, विपरीत नहीं हुआ करती, २८ मूलगुणों के धारक होते हैं वे, इसलिए एक बार ही आहार के लिए निकलने का नियम होता है, यह बात अलग है कि उनकी क्षमता ६ माह तक की रही, किन्तु ६ माह के उपरान्त वह भी उठ गये।

इस चर्या में जब चार हजार मुनि महाराज असफल हो गये तभी से प्रारम्भ हो गया है ३६३ मतों का प्रचलन, दिगम्बर होने के उपरान्त जो शोधन करके आहार नहीं करता वह सम्यक् समिति वाला नहीं माना जाएगा। अन्य संस्था, समिति वाला हो सकता है, वे मुनिराज श्रावक के घर आकर आहार कब ग्रहण करते हैं जबकि श्रावक की सारी की सारी क्रिया देख लेते हैं, नवधाभक्ति देख लेते हैं, श्रावक यदि नवधाभक्ति करता है तो ही आहार लेते हैं, नहीं तो नहीं लेते। तो क्या हो गया था ? कल किसी ने कहा था कि उन्हें अन्तरायकर्म का उदय था, बिल्कुल ठीक है किन्तु लड्डू लाकर के दिखा रहे थे, क्यों नहीं लिए उन्होंने ? तब जवाब मिलता है, श्रावकों की गलती थी, मुनि महाराज की कोई गलती नहीं थी, श्रावकों की क्या गलती थी? तो उन्होंने कहा कि–नवधाभक्ति नहीं की थी। जब तक नवधाभक्ति नहीं होगी, तब तक लाये गए आहार को वे नहीं लेंगे, बहुत कठिन है, यह चर्या, एक माह, दो माह, तीन माह, चार माह, छह माह तो गये उपवास किये, उसके बाद ६ माह और अन्तराय चला, फिर भी उस क्रिया-चर्या की इति नहीं की, इस चर्या से डिगे नहीं थे, यह मात्र जड़ की क्रिया नहीं है, किन्तु यह भीतर में छठे-सातवें गुणस्थान में झूलता हुआ जो ज्ञानवान चेतन भगवान आत्मा है, उसी की क्रिया है–काम है।

एषणा के कारण ही संसार में विप्लव मचा हुआ है, एक दिन के लिए भी भूख सताने लग जाए तो ''मरता क्या न करता'', ''भूखा क्या-क्या करता'' ये सब कहावतें चरितार्थ होने लगती हैं लेकिन कितने ही कठोर उपसर्ग-परीषह क्यों न हों तो भी मुनि महाराज अपनी चर्या से तीनकाल में भी डिगते नहीं। टस से मस नहीं होते। वे कभी माँगते नहीं हैं, क्योंकि यही एक मुद्रा ऐसी रह गई है संसार में, जिसके पीछे रोटी है और बाकी जितने भी हैं वे सब रोटी के पीछे हैं। मात्र साहित्य से काम नहीं चलने वाला इस जगह। यदि हमारे पास क्रिया है, दिगम्बर मुद्रा है तो साक्षात् महावीर भगवान को दिखा सकते हैं। युग के आदि में जो वृषभनाथ हुए थे उनकी चर्या का पालन करने वाले आज भी हैं। यह हमारा सौभाग्य है।

यह संसारी प्राणी चार संज्ञाओं से ग्रसा हुआ है, आहार की संज्ञा से कोई निर्वृत्त नहीं है छठे

गुणस्थान तक अर्थात् यह संज्ञा छठे गुणस्थान तक होती है, आहार संज्ञा का मतलब है आहार की इच्छा होना। आप लोगों को भी आहार की इच्छा होती है और मुनि महाराज को भी आहार की इच्छा है। किन्तु आप लोगों को आहार की इच्छा के साथ-साथ रस की भी इच्छा होती है। रस की इच्छा जिह्वा की भूख मानी जाती है और मुनिराज को मात्र पेट की भूख होती है। वह भूख वस्तुतः भूख नहीं है। रस की भूख ऐसी भूख है कि भूत लगा देती है, संसारी प्राणी इसी भूत के पीछे ही सारा का सारा श्रृंगार करता है। खाते तो आप भी हैं, उतना ही पेट है और मुनि का पेट भी उतना है। फिर भी लगता है कि आपके पेट में कही गुंजाइश अधिक है, जिससे अनथऊ (सायंकाल का भोजन) की चिन्ता हुआ करती है आपको, मुनिराज को इसकी चिन्ता नहीं हुआ करती, उन्हें दिन में एक बार ही चेतन को वेतन देने का काम है, इसलिए ऋषभनाथ आपके घर आयेंगे।

आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज ने पूछा था समयसार पढ़ाते समय, बताओ–तीर्थंकर की प्रमत्त अवस्था कैसे पकड़ोगे ? समयसार की व्याख्या पढ़ाने के उपरान्त पूछा था, क्योंकि उन्हें ज्ञात करना था कि ये किस प्रकार अपनी बुद्धि से अर्थ निकाल पाता है। मैंने कहा–महाराजजी! आपने इस प्रकार पढ़ाया तो है ही नहीं ? इसलिए तो पूछ रहा हूँ मैं, कि कैसे पकड़ोगे ? आधा-एक मिनिट सोचता रहा फिर बाद में मैंने कहा कि महाराज! जब तीर्थंकर चर्या के लिये उठते हैं, उस समय बिना इच्छा के नहीं उठते, आहार लेते समय मांगेगे, वह भी बिना इच्छा के नहीं, तभी एक-एक ग्रास पर हम उनकी प्रमाद चर्या को पकड़ सकते हैं, जिस समय वे ग्रास लेते हैं, उस समय छठा गुणस्थान माना जायेगा, जो कि प्रमाद की अवस्था है, कारण कि लेने की इच्छा है, ध्यान रखना वे आहार को ऐसे ही नहीं ले लेते, हम लोगों जैसे किन्तु यूँ-यूँ (अंजुली बाँधकर शोधन का इशारा) शोधन करते हैं, शोधन करने का नाम है अप्रमत्त अवस्था। ये यूँ-यूँ क्या अंगुली से ? यह जड़ की क्रिया है क्या? नहीं। ऐसा कभी मत सोचना कि यह जड़ की क्रिया है किन्तु यह सप्तम गुणस्थान की क्रिया है, इसको आगम में एषणा समिति कहते हैं, यह अप्रमत्त दशा का द्योतक है। ग्रास को लेने के लिए हाथ को यूँ नीचे फैलाना, यह तो आहार संज्ञा का प्रतीक है, उस समय छठा गुणस्थान है, प्रमत्त है, किन्तु शोधन के लिए यूँ-यूँ अंगुली का चलाना, यह सप्तम गुणस्थान है। पुनः हाथ फैलाना छठा और शोधन सातवाँ। इस प्रकार होती है उनकी क्रिया। इतना विशेष ध्यान रखना कि आहार लेते समय रस का स्वाद, रस में चटक-मटक नहीं करते। यह बहुत सुन्दर है, बढ़िया है। ऐसा कह देंगे या मन में ऐसा भाव आ जायेगा तो गुणस्थान से नीचे आ जायेंगे। लेकिन उन्हें बढ़िया-घटिया से कोई मतलब नहीं रहता। उनके अन्दर तो "**अरसमरूवमगंधं...**" वाली गाथा चलती रहती है।

आहार देते समय श्रावक लोग कह देते हैं कि महाराज! जल्दी-जल्दी ले-लो। हम शोधन करके ही तो दे रहे हैं, लेकिन नहीं। मैं तो देखकर ही लूँगा, क्योंकि आपकी एषणासमिति तो आपके

लिए है, मेरी एषणासमिति मेरे लिए है। तुम्हारी जो क्रिया होगी वह तुम्हारे गुणस्थान की रक्षा करेगी और मेरी जो क्रिया होगी वह मेरी रक्षा करेगी, मेरे गुणस्थान की रक्षा करेगी। आगम की आज्ञा का उल्लंघन हम नहीं कर सकते। वह जड़ की क्रिया अपितु जड़हीन अर्थात् ज्ञानवान आत्मा की क्रिया है।

क्षुधा होती है—भूख बहुत जोरों से लगी है, तो देख लो, एक पूड़ी भी थोड़ी-सी देर से आ जाती है तो कैसी गड़बड़ी हो जाती है भैय्या! या तो पहले भोजन पर नहीं बुलाते, बुलाना है तो पहले पूड़ी का प्रबन्ध तो कर लेते, दाल के बिना काम चल जाए लेकिन पूड़ी के बिना कैसे चले। कुछ तो मिल जाए थाली में, उसी के साथ खाकर, थाली खाली कर दें, होता यह है कि भूख की इतनी तीव्र वेदना होती है कि असह्य होती है, किन्तु मुनिमहाराज कितनी ही भूख होने पर अपनी एषणासमिति को पालते हुए ही आगे का ग्रास लेते हैं। आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने तो कहा है—मुनि की परीक्षा समिति के माध्यम से ही होती है, वो जिस समय सोयेंगे, उस समय समिति चल रही है। बोलेंगे उस समय भाषासमिति चल रही है, जिस समय उठेंगे-बैठेंगे उस समय आदान-निक्षेपण समिति चल रही है, जब चलेंगे, ईर्यासमिति से चलेंगे, पूरी की पूरी समितियाँ चल रही हैं, किसी भी क्रिया में कमी नहीं है, इसका मतलब है—अर्थ है कि प्रत्येक क्रिया के साथ सावधानी चल रही है, यानि चौबीसों घण्टे (हमेशा) स्वाध्याय चल रहा है।

श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों में भेद का मूल कारण यही है—एषणा समिति। अंजुली में डालते ही खा जाना, यह रागी का काम है, माँगना रागी का काम है, परन्तु महाराज का काम है, अंजुली में आते ही ठीक-ठीक शोधन करके खाना, रागी व्यक्तियों जैसे कभी भी नहीं खाना, शोधन करना बुद्धिमान की क्रिया है। हमें इस बात का गौरव है, गौरव ही नहीं स्वाभिमान भी है कि कम से कम महावीर भगवान के वीतराग-विज्ञान का जो मूर्तरूप है उसका पालन तो कर रहे हैं। इसमें गौरव होना भी सहज है। मात्र बातों के जमा खर्च से काम नहीं चल सकता किन्तु आगम की जो आज्ञा है उसका पालन करना सर्वप्रथम आवश्यक है, जिसका पेट खाली है, वह व्यक्ति कभी भी पेट पर हाथ रखकर आनन्द का अनुभव नहीं कर सकेगा, क्योंकि वह आत्माराम को भूखा रखता है। इसलिए मेरा कहना ये है! मेरा क्या कहना ? आचार्यों का कहना है, अब आचार्यों का भी क्या कहना, दिव्यध्वनि खिरने वाली है मध्याह्न में, उसी दिव्यध्वनि का कहना है कि यदि तुम सुख का अनुभव करना चाहते हो तो, अपनी चर्या को ऐसी (सदाचारपूर्ण)बनाओ। यद्वा-तद्वा चर्या बनाओगे तो नियम से मात खा जाओगे-भटक जाओगे, आज तक मार्ग से भटके रहे, कहीं रास्ता नहीं मिला, यही कारण है, कारण को सही-सही जानना आवश्यक है, क्योंकि कारण में ही विपर्यास हुआ करता है कार्य में नहीं। पहले भी कहा था—मंजिल में और सुख में कोई विसंवाद नहीं हुआ करता, मात्र सुख को प्राप्त कराने वाले कारणों में विसंवाद होता है। हमारी बुद्धि, जहाँ पर भी

चर्या में कठिनाई होने लगती है तो उसे भूलती-भूलती चली जाती है, चलते समय ही कठिनाईयाँ होती हैं, बन्धुओ! बैठे-बैठे नहीं। इन सभी कठिनाईयों को पार करने का मार्ग प्रशस्त कर रहे हैं, उनकी चर्या के उपरान्त सभी समझ सके थे कि मुनिराज को इस प्रकार चर्या करना चाहिए तथा श्रावकों को भी इसका ज्ञान हुआ।

ऋषभनाथ को १००० वर्ष तक केवलज्ञान नहीं हुआ, तब ६-६ महिने के उपरान्त वे उठे, हजारों बार उठे। अर्थात् हजारों बार उन्हें भूख लगी, आहार की इच्छा हुई। यह छठवें गुणस्थान की बात है, आहार की क्रिया, जबकि सातवें गुणस्थान तक चलती है यह श्रीधवल, श्रीजयधवल और महाबन्ध के द्वारा ज्ञात होता है। अतः ज्ञानी को कोई रस सम्बन्धी, अन्न सम्बन्धी और कोई सामग्री सम्बन्धी परिग्रह नहीं रहता। फिर रहता भी है और नहीं भी रहता, यह क्या कह रहे आप ? जैसा कहा है वैसा ही तो कहूँगा, मैं अपनी तरफ से थोड़े ही कह रहा हूँ, विषय सम्बन्धी राग को तो अनन्तकाल तक के लिए छोड़ दिया है उन्होंने, सामान्य जीवों जैसा ग्रहण करना उनका काम नहीं है, श्वेताम्बर कहते हैं–भगवान बनने के उपरान्त भी वे कवलाहार लिया करते हैं तो आचार्यों को परिश्रम और करना पड़ा। उन्होंने कहा हमें बताओ, आहारसंज्ञा छठवें गुणस्थान तक ही रहती है तब तेरहवें गुणस्थान में कैसे आहार लेंगे? इसलिए आज भी इस क्रिया का अवलोकन आप लोगों को करते रहना चाहिए, मात्र चाहिए ही क्या, किन्तु बहुत आवश्यक है, जिससे समझ में आयेगा कि दिगम्बर परम्परा में किस प्रकार इस क्रिया को निर्दोष रखा कुन्दकुन्द भगवान ने, तूफान चला था तूफान उस समय, जिसमें बड़े बड़े पहाड़ भी उड़ रहे थे। लेकिन–

''बुद्धिसिरेणुद्धरियो समप्पियो भव्वलोयस्स''

समयसार (सर्वविशुद्धि अधिकार)

इन महान् आध्यात्मिक ग्रन्थ एवं मुनिचर्या को जीवित रखने का श्रेय, इस तूफान से बचाने का श्रेय, यदि किसी को है तो वह है आचार्य कुन्दकुन्दस्वामी को, यह ध्यान रखना वे कुन्दकुन्द स्वामी केवल साहित्य लिखकर के इस मुनिमार्ग को जीवित नहीं रख पाये, किन्तु उन्होंने स्वयं इस चर्या को निभाया और इसे उसी शुद्ध रूप में आज तक सुरक्षित पालन करने वाले अनेकानेक मुनिराज हुए, यह गौरव की बात है।

ऐसे मुनि महाराज ही चौबीसों घण्टे स्वाध्याय करने वाले माने जाते हैं क्योंकि षट् आवश्यकादि क्रियाओं से उनका हमेशा ही स्वाध्याय चलता रहता है, इसलिए मात्र किताबों से ही स्वाध्याय होता है, ऐसा नहीं है। जैसे कल हमने बताया था–किसी को लगा होगा कि महाराजजी ने तो स्वाध्याय का निषेध कर दिया, किन्तु यहाँ स्वाध्याय का निषेध नहीं किया गया, बल्कि इन क्रियाओं से स्वाध्याय हमारा ठीक-ठीक हो रहा है या नहीं, इसका परीक्षण होता रहता है, जो इन क्रियाओं का

पालन नहीं करता, उस व्यक्ति का स्वाध्याय, स्वाध्याय नहीं माना जाएगा। समयसार में भगवान कुन्दकुन्द ने कहा है– ''**पाठो ण करेदि गुणं।**'' तोता रटन्त पाठ करना गुणकारी नहीं है–कार्यकारी नहीं है।

''**आलस्याभावः स्वाध्यायः**'' कहा गया है, इसलिए नियमसारजी में कुन्दकुन्दस्वामी ने यहाँ तक कह दिया कि स्वाध्याय तो प्रतिक्रमण एवं स्तुति आवश्यकों में गर्भित हो जाता है, यह नियमसार की गाथा है। कुन्दकुन्दस्वामी की आम्नाय के अनुसार एवं मूलाचार आदि ग्रन्थों को लेकर, आचार्य प्रणीत जितने भी आचार-संहितापरक ग्रन्थ हैं उनमें कहीं भी २८ मूलगुणों में मुनियों के लिए स्वाध्याय आवश्यक नहीं बताया गया, यदि स्वाध्याय को आवश्यकों में गिनना शुरु कर देंगे तो २९ मूलगुण हो जायेंगे या फिर एक को अलग करके उसे रखना होगा, यह सब ठीक नहीं, अवर्णवाद कहलायेगा, व्युत्क्रम भी नहीं कर सकते, अतिक्रम भी नहीं कर सकते, अनाक्रम भी नहीं कर सकते हैं हम जिनवाणी में।

अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्यं बिना च विपरीतात्।
निःसन्देहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः॥

(रत्नकरण्डक श्रावकाचार-४२)

इस प्रकार ज्ञान की परिभाषा समन्तभद्रस्वामी ने की है, न्यूनता से रहित होना चाहिए, विपरीतता से रहित होना चाहिए, ज्यादा नहीं होना चाहिए, अन्यथा भी नहीं होना चाहिए, 'याथातथ्यं' जैसा कहा गया है वैसा ही होना चाहिए अन्य नहीं।

आचार्य कुन्दकुन्ददेव भी कहते हैं कि हमारे वे मुनिराज तीन काल में अपनी आत्मा को नहीं भूलते, क्योंकि यदि भूल करेंगे तो क्रियाओं में सावधानी नहीं आ सकेगी, ध्यान रखना दिव्य-उपदेश होगा मध्याह्न में, क्या कहेंगे भगवान, किसको कहेंगे और किस रूप में कहेंगे ? सर्वप्रथम देशनालब्धि का अधिकारी कौन है? इसका उत्तर **पुरुषार्थसिद्ध्युपाय** में, जिसका कि अभी मंगलाचरण किया गया है, दिया है, जिसके पास योग्यता नहीं है उसे देशना मत दो, उसको यदि देशना देंगे तो यह अनादर-अपमान करेगा, जिनवाणी का अनादर हो जाएगा, उन्होंने कहा है–जो आठ अनिष्टकारक हैं, दुर्द्धर है, जिनका छोड़ना बहुत कठिन है। ''**दुरितायतनानि**'', पाप की खान हैं, पाप की मूल खान कौन है ? मद्य, मांस, मधु और सात प्रकार के व्यसन जो इसमें आते हैं। ''**जिनधर्मदेशनायाः भवन्ति पात्राणि शुद्धधियः**'' इन पापों का, इन व्यसनों का त्यागी जो नहीं है, उसको यदि तुम पवित्र जिनवाणी को दोगे तो सम्भव नहीं, उसका वह सही-सही उपयोग करेगा। इसे आप सामान्य चीजें साग-सब्जी जैसा नहीं समझें कि ठीक नहीं लगा तो बदल लिया, दो और रख दो या कम कर दो, ऊपर से और डाल दो, ऐसा नहीं हो सकता, यह जिनवाणी है जिनवाणी इसको जो सिर पर

लेकर के उठायेगा वही इसका महत्त्व समझ सकेगा।

मैं स्वाध्याय का उस रूप में निषेध नहीं करता, किन्तु जिस व्यक्ति की भूमिका नहीं है स्वाध्याय करने की उस व्यक्ति को, यदि समयसार पढ़ने के लिए दे देते हो तो, आप नियम से प्रायश्चित्त के भागी होंगे, ऐसा मूलाचार में कहा है। मुनिराज को कहा गया है कि जो व्यक्ति जिनवाणी का आदर नहीं करता, उसको आप अपने प्रलोभन की वजह से यदि जिनवाणी सुना देते हैं तो आप जिनवाणी का अनादर करा रहे हैं। हाँ, जिस किसी को भगवान के दर्शन नहीं कराना, किन्तु पूछताछ करके कराना। समझने के लिए यहाँ पर कोई जौहरी भी हो सकता है, जो जवाहरात का काम करता हो, उससे मैं पूछना चाहता हूँ, वह अपनी तस्तरी में मोती-मणिकाओं को रखकर दिखाता-फिरता है क्या ? बहुत सारी दुकानें हैं जयपुर के जौहरी बाजार में, अन्य दुकानों पर जैसा सामान लटकाएँ रहते हैं वैसा जौहरी बाजार में जाने के उपरान्त किसी भी दुकान में नहीं देखा, मैं पूछना यह चाहता हूँ, क्या उन्होंने बेचने का प्रारम्भ नहीं किया ? किया तो है, दुकान तो खोली है, फिर ग्राहक आकर पूछता है कि क्यों भैय्या! आपके पास में ये सामान है? हाँ! है तो सही, लेकिन हमारे बड़े बाबाजी अभी बाहर गये हैं, आप यहाँ शान्त बैठिये। गए-बए कहीं नहीं थे। उस ग्राहक की तीव्र इच्छा की परीक्षा की जा रही थी, मात्र वह पूछने तो नहीं आया है, खरीदने के लिए भी आया है या नहीं, आप लोग उस समय तकिए के ऊपर आरामतलबी के साथ बैठे रहते हैं, ३-४ बार के निरीक्षण कर लेने के बाद, जब यह निश्चित हो जाता है कि, ये असली ग्राहक है तब आप डिबिया में से डिबिया, डिबिया में से डिबिया और भी डिबिया में डिबिया...फिर पुड़िया में से पुड़िया, पुड़िया में से पुड़िया...ऐसे निकालते चले जाने पर...फिर लाल रंग का कवर, फिर नीले रंग का कवर, और...आते-आते अन्त में एक पुड़िया खुल ही जाती है, तो क्या कहते हैं उससे, हाथ नहीं लगाना उसको, यूँ दूर से ही दिखा देते हैं, किसी को नहीं कहना।

यहाँ पर भी इसी प्रकार की मूल्यवान वस्तु है जिनवाणी, जो व्यक्ति आत्मा आदि को कुछ नहीं समझता, जानने की इच्छा भी नहीं कर रहा, उसको कभी भी नहीं देना। किन्हीं-किन्हीं आचार्यों ने कहा है-आत्मा की बात तो सामने रखना, लेकिन इतना ख्याल रखना कि उसका मूल्य किसी प्रकार से कम न हो जाए, इस ढंग से रखना, जबरदस्ती नहीं करना किसी को, क्योंकि वह व्यक्ति उसका पालन नहीं कर सकता। किसी ने कहा है कि- ''भूखे भजन न होई गोपाला, ले लो अपनी कण्ठीमाला।'' ऐसा कहेंगे वे आत्मा के बारे में जो उससे अपरिचित व्यक्ति हैं, उसे अपनी माला की आवश्यकता है, अन्य की नहीं।

स्वाध्याय का निषेध नहीं कर रहा हूँ, बल्कि भूमिका का विधान है यह, स्वाध्याय की क्रिया को करना जिसने प्रारम्भ कर दिया है, वह तो नियम से स्वाध्याय कर ही रहा है, मैं बार-बार कहा

करता हूँ–जिस समय आप खिचड़ी बनाना चाहते हैं, उस समय भी आप स्वाध्याय कर रहे होते हैं। कैसे स्वाध्याय कर रहे हैं महाराज? मैं कहता हूँ कि आप बिल्कुल सही-सही ढंग से स्वाध्याय कर रहे हैं, क्योंकि उस समय आप अभक्ष्य से बचने के लिए एक-एक कणों का निरीक्षण कर रहे हैं। किसी ने कहा महाराज जी! समता रखना चाहिए ? किन्तु कब रखना चाहिए ? प्रतिकूल वातावरण में या अनुकूल वातावरण में? बन्धुओ! भक्ष्य-अभक्ष्य के बारे में कभी समता नहीं रखना चाहिए, ध्यान रखो। भक्ष्य-अभक्ष्य के बारे में यदि समता रखोगे तो नियम से पिट जाओगे और गुणस्थान से भी धड़ाम से नीचे गिरोगे, उस समय बुद्धि का पूरा-पूरा प्रयोग करना चाहिए। हाँ, तो एक-एक का ज्ञान होना आवश्यक है वहाँ पर, हेय चीजें, अभक्ष्य चीजें, अनुपसेव्य चीजें जो कुछ भी मिली हुई हैं, उनको अलग-अलग निकालना ही तो क्रिया-कलाप का स्वाध्याय है, ऐसा करना भगवान की आज्ञा अनुपालन भी है, यही सही स्वाध्याय है, जो प्रकाश रहते हुए तो इधर-उधर घूमता है जबकि अनथऊ का समय है और जब प्रकाश नहीं रहता, उस समय जल्दी-जल्दी भोजन कर लेना चाहता है और सोचता है एक बार स्वाध्याय कर लेंगे तो सारा का सारा दोष ठीक हो जाएगा, लेकिन ध्यान रखो बन्धुओ! ऐसा नहीं होगा, वह क्रियाहीन स्वाध्याय फालतू माना जायेगा। उससे किसी प्रकार का लाभ नहीं हो सकता, क्योंकि उसकी आस्था उसके प्रति नहीं है।

आप शंका कर सकते हैं महाराजजी, छहढाला में आवश्यकों में स्वाध्याय को शामिल किया है ? उसका उत्तर भी सुन लीजिए–छहढाला में जहाँ छठवीं ढाल में "**नित करें श्रुतिरति**", ये पाठ है वहाँ उसके स्थान पर संशोधन कर "प्रत्याख्यान," का प्रयोग कर लेना चाहिए। उन्हें, जिन्हें की हमेशा श्रुत की सुरक्षा की भावना रहती है, क्योंकि स्वयं छहढालाकार ने कहा है कि –"सुधी सुधार पढ़ो सदा" इसलिए सुधारना लेखक के अनुकूल है, इसमें दूसरा हेतु यह भी है कि २८ मूलगुणों में प्रत्याख्यान नाम का एक मूलगुण ही समाप्त हो जायेगा, आप लोग तो मुनि नहीं है, अतः इस ओर दृष्टि नहीं गई शायद, पर मैं तो मुनि हूँ, २८ मूलगुणों का पालना है–जानना है, अतः मेरी दृष्टि इस ओर रही, मैंने इसे देखने के लिए कुन्दकुन्ददेव का साहित्य टटोला और जितने भी आचार्य हुए हैं, उनके द्वारा प्रणीत ग्रन्थों को देखा। सब जगह प्रत्याख्यान ही मिला। किसी ने भी स्वाध्याय को ६ आवश्यकों में नहीं गिना, इसलिए स्वाध्याय स्वयं प्रतिक्रमण, स्तुति और वंदना में हो जाता है, जिसका समर्थन कुन्दकुन्ददेव ने अपने नियमसार में किया है, अतः दौलतरामजी के विनीत भावों का आदर करते हुए जैसा कि उन्होंने कहा '**सुधी सुधार पढ़ो सदा**' प्रत्याख्यान पाठ कर लेना चाहिए।

एक बात का और ध्यान रखना होगा कि हम स्वाध्याय किस समय करें, हम स्वाध्याय करते हैं, किन्तु सामायिक के काल में नहीं करना चाहिए तथा इसी प्रकार कुछ और समय आगम

में कहे गये हैं, उनमें नहीं करना चाहिए, जो कि स्वाध्याय के विधान करते हैं, उस समय में यदि करना ही चाहें तो "**आलस्याभावःस्वाध्यायः।**" स्वाध्याय का अर्थ लिखना पढ़ना नहीं है। स्वाध्याय का अर्थ वस्तुतः आलस्य के भावों का त्याग है अर्थात् जिस व्यक्ति का उपयोग, चर्या हमेशा जागरूक रहती है उसका सही स्वाध्याय माना जाता है।

प्रवचनसार के अन्दर उत्सर्ग एवं अपवाद मार्ग के प्रकरण में आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने लिखा है कि मुनिराज के पास किसी प्रकार का ग्रन्थ भी नहीं रहता, क्योंकि शुद्धोपयोगी ही मुनिराज की चर्या मानी जाती है, इससे उनके पास पिच्छिका-कमण्डलु भी मात्र समिति के समय उपकरणभूत माने जाते हैं, यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि स्वाध्याय करते-करते आज तक किसी को शुद्धोपयोग नहीं हुआ और न ही केवलज्ञान हुआ है, न हो रहा है और न होगा। अतः शुद्धोपयोगी मुनियों का कोई भी उपकरण नहीं होता।

दूसरी बात मैं यह कहना चाहूँगा कि कुन्दकुन्ददेव के ग्रन्थों में रचयिता का नामोल्लेख करने का श्रेय किसको है ? स्वाध्याय करने वालों से पूछते हैं हम ? कुन्दकुन्दस्वामी के साहित्य का आलोड़न करने वालों से पूछते हैं हम? कुन्दकुन्दस्वामी का यह समयसार है, प्रवचनसार है, पञ्चास्तिकाय है, इस प्रकार कहने वालों में किसका नम्बर है। आचार्य कुन्दकुन्द ने तो द्वादशानुप्रेक्षा के अलावा कहीं लिखा ही नहीं कि यह मेरी कृति है, इसलिए समयसार किसका है ? यह कहने का प्रथम श्रेय किसको ? भरी सभा में इसलिए पूछ रहा हूँ कि स्वाध्याय करो-स्वाध्याय करो, ऐसा कहने से कुछ नहीं होने वाला, बन्धुओ! बहुत ही चिन्तन और मनन करने की बात है यह, जिसने कुन्दकुन्द स्वामी से पहचान करायी, उसका नाम लेओ, कौन हैं वह ? बार-बार कहा जाता है कि अमृतचन्दजी ने टीका लिखकर बहुत महान् कार्य किया, बिल्कुल ठीक है, परन्तु उनकी टीका में कुन्दकुन्ददेव का नाम तक नहीं है, क्यों नहीं है? भगवान जाने या कुन्दकुन्द जाने या जानें स्वयं अमृतचन्दजी। कुन्दकुन्दस्वामी के नामोल्लेख का पूरा-पूरा श्रेय मिलता है जयसेनाचार्यजी को। कुन्दकुन्दस्वामी का नाम अपने मुख से लेने वालों को, बार-बार कहना चाहिए कि धन्य हैं वे जयसेनाचार्य, यदि आज वे नहीं होते तो समयसार के कर्ता आचार्य कुन्दकुन्द हैं, इसे भी नहीं पहचान पाते, धन्य हैं वे टीकायें। ऐसी टीकायें लिखी हैं कि सामान्य व्यक्ति भी पढ़कर अर्थ निकाल सकता है। बन्धुओ! स्वाध्याय करना अलग वस्तु है और भीतरी रहस्य-गहराई को समझना अलग वस्तु है, ये सभी बातें सभा में रखना आवश्यक नहीं समझ रहा हूँ, अतः यदि विद्वान् आयें तो हम उनसे विचार-विमर्श कर लें इसके बारे में, खुलकर विचार होना चाहिए, जो गुत्थियाँ हैं उन्हें सुलझाना होगा, तभी समझूँगा कि वस्तुतः स्वाध्याय क्या वस्तु है।

प्रवचनसार में, समयसार में, पञ्चास्तिकाय में पाँच-पाँच, छह-छह बार कहा है-

"**कुन्दकुन्दाचार्यदेवैर्भणितं।**" उन्होंने लिखा है, हम आचार्य कुन्दकुन्द के कृपापात्र हुए हैं, ऐसे आचार्य महाराज के हम ऋणी हैं, जिन्होंने हमें दिशाबोध दिया है, जिन्होंने भी दिशाबोध दिया, उनका नाम लेना अनिवार्य है, जैसा कल पण्डितजी ने कहा था—सर्वप्रथम और कोई आचार्य का नाम नहीं आता, मात्र कुन्दकुन्ददेव के अलावा, कुन्दकुन्दाम्नाय-कुन्दकुन्दाम्नाय ऐसा कहना चाहिए, लेकिन यहाँ ध्यान रखो कि कुन्दकुन्ददेव का नाम सर्वप्रथम कौन लेता है उसे भी १० बार याद करना चाहिए, अन्यथा हम अन्धकार में रह जायेंगे, हमें जयसेनाचार्य को योग्य श्रेय देना होगा, अमृतचन्दजी का उपकार भी हम मानेंगे, लेकिन लोगों को जहाँ संदेह होता है, हो रहा है, उसका निवारण करना भी आवश्यक है, अमृतचन्द्रजी ने अपने नाम का उल्लेख प्रत्येक ग्रन्थ में टीकाओं के साथ-साथ किया है, अनेक विधियों से किया है, पर आचार्य कुन्दकुन्ददेव का नाम एक बार भी नहीं लिया, क्यों नहीं लेते हैं ? भगवान जाने और अमृतचन्द्रजी स्वयं जाने कि उनसे क्यों नहीं लिया गया कुन्दकुन्ददेव का नाम, आप लोग तो मात्र कुन्दकुन्द का नाम लेते हैं किन्तु मैं कुन्दकुन्द का नाम लेता हूँ और उनके बिना चलता तक नहीं, साथ ही, बीच-बीच में जयसेनाचार्य को भी, याद किये बिना चल नहीं सकता, कारण कि, मुझे बिना टार्च (जयसेनाचार्य) के चला ही नहीं जाता। वह टार्च दिखाने वाले हैं, वस्तु को स्पष्ट करने वाले हैं तो आचार्य जयसेन स्वामी हैं।

मैं उनको, उनकी कृपा को, उनके उपकार को कैसे भूल सकता हूँ, आज न जयसेन हैं न अमृतचन्द्रजी, न कुन्दकुन्द भगवान, हम तो जिससे दिशा मिली उनका नाम लेंगे, कई लोग नाम नहीं लेना चाहते, क्यों नहीं लेना चाहते ? इसके बारे में हमारे मन में शंका उठी है, अतः इस गूढ़ विषय की ओर स्वाध्याय करने वालों को देखना-सोचना चाहिए, यह बात हिन्दी में नहीं मिलेगी, आप प्रशस्ति पढ़िये, एक-एक पंक्ति पढ़िये, दिन-रात समयसार का स्वाध्याय करते हैं, फिर भी आज तक आप इस विषय से अनभिज्ञ रहे, कि भगवान कुन्दकुन्ददेव को प्रकाश में लाने वाले कौन हैं ?

बहुत से कुन्दकुन्दाचार्य नाम के मुनिराज हुए हैं, लेकिन प्रकृत कुन्दकुन्दाचार्यजी ने जो चर्या निभायी तथा उस चर्या को सुरक्षित रखकर, हम सभी को देने का श्रेय प्राप्त किया, उनके लिए बड़े-बड़े आचार्यों ने कहा था कि वे महान्-तीर्थंकर होंगे। उनका गुणानुवाद करके हम धन्य हो गये।

अमृतचन्दजी समयसार, प्रवचनसार और पञ्चास्तिकाय की वृत्तियों द्वारा रहस्यों को तो खोलना चाहते हैं पर कुन्दकुन्दचार्य का नाम लिखना क्यों नहीं चाहते, यह बात समझ में नहीं आती, बड़े-बड़े व्याख्याकार यदि उनका नाम नहीं लेंगे तो हमारे लेने का क्या महत्त्व होगा ? अमृतचन्द्रजी उन ग्रन्थों पर टीका करने वालों में आदि टीकाकार हैं, फिर नाम क्यों नहीं लेना चाहते, कुन्दकुन्ददेव के साहित्य का स्वाध्याय करने-प्रचारित करने वालों को तो कम से कम सोचना अवश्य चाहिए कि टीकाकार मूलकर्ता का नाम क्यों नहीं ले रहे हैं, विषय बहुत गंभीर एवं चिन्तनीय है।

आगे मैं यह कहना चाहता हूँ कि वही पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कह रहे हैं कि जब तक सप्तव्यसनों का त्याग नहीं होता, तब तक स्वाध्याय करने की योग्यता किसी भी व्यक्ति के पास नहीं आती, वैसे सप्त व्यसन राष्ट्र की उन्नति के लिए भी हानिकारक हैं और आत्मोन्नति के लिए भी, इस तरह जब देशनालब्धि की पात्रता के लिए सप्तव्यसनों के त्याग का विधान किया गया है, तब स्वाध्याय करने के पहले इतना तो नियम दिला देना/ले लेना चाहिए, बाद में स्वाध्याय आरम्भ करें। इसे मैं क्रमबद्ध स्वाध्याय कहता हूँ, अन्यथा **आप क्रमबद्ध पर्याय की चर्चा तो करते रहेंगे, जिससे कि कुछ भी लाभ होगा नहीं तब तक, जब तक कि स्वाध्याय को कम से कम क्रमबद्ध नहीं करते।**

एक आन्दोलन चला था, ब्रिटिश गवर्नमेंट को भारत से निकालने के लिए, कैसे निकाला जाए ? तो उनकी जितनी भी चीजें हैं, परम्परायें हैं, उन सबको समाप्त कर देना आवश्यक होगा। इसी क्रम में शिक्षाप्रणाली को लेकर विरोध चला, गाँधीजी ने शिक्षाप्रणाली को लेकर आन्दोलन चलाया, उस समय कई विद्यार्थी उनके पास आकर कहने लगे–भविष्य के साथ अहित कर रहे हैं आप। बेटा! क्या बात हो गई, बताओ तो ? छात्र ने कहा–आप सब कुछ का विरोध करें-कर सकते हैं पर शिक्षण का तो विरोध मत करो, बापू जी ने कहा–बिल्कुल ठीक है। लेकिन हम शिक्षण का विरोध तो नहीं करते।

वह लड़का कहता है–मेरी समझ में नहीं आ रहा, आप हमें घुमाना चाह रहे हैं ? घुमाना नहीं चाह रहा हूँ बेटा! मैं यह कहना चाहता हूँ कि शिक्षण होना चाहिए और सभी को उससे लाभान्वित होना चाहिए, शिक्षित होना चाहिए, परन्तु शिक्षण की पद्धति भी तो सही-सही होनी चाहिए, जैसे **हम दूध पी रहे हैं, लेकिन दूध पीते हुए शीशी में पी रहे हैं, भारतीय सभ्यता शीशी से दूध पीने की नहीं है, शीशी भी ऊपर से बिल्कुल काली है, जिसमें पता भी नहीं चले कि दूध है या और कुछ भी, एक तो शीशी में तथा दूसरे काले रंग वाली शीशी में और ऊपर से शराब की दुकान पर बैठकर पी रहे हैं**, मुझे ऐसा लगा, गाँधीजी ने बहुत चतुराई से काम लिया। उन्होंने शिक्षण का विरोध नहीं किया किन्तु शिक्षा प्रणाली का विरोध किया है, इसमें रहस्य यही है कि हम जिस शिक्षण प्रणाली से शिक्षा लेंगे तो आपके विचार भी तदनुसार ही होंगे, उसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता है, इसी प्रकार यदि आपके हाथ में शीशी है वह भी काली और उसमें रखा दूध आप शराब की दुकान पर से पी रहे हैं तो एक भी व्यक्ति ऐसा न होगा जो कि देखकर आपको शराबी न समझे, इसलिए दूध को दूध के रूप में पिओ, भले ही दिखाकर पिओ कि देखो दूध पी रहा हूँ। इसी तरह वस्तु-विज्ञान को दिखाओ पर दूसरों को विचलित न होने दो, जो वस्तु दिखा रहे हैं वह सत्ता के माध्यम से नहीं किन्तु आगम की पद्धति के अनुसार दिखाना चाहिए, इस

प्रकार दिखाने से सामने वाले व्यक्ति का जो उपयोग है वह केन्द्रित होगा और उसका विश्वास हमारे ऊपर शीघ्र तथा ज्यादा होगा, वात्सल्य-प्रेम बढ़ेगा। यदि हठात् कहने लग जाएंगे तो एक भी बात मानने वाला नहीं होगा, अतः हमें जो शंका है उसे आगम के अनुरूप ही समाधान करके धारणा बनानी चाहिए।

श्रीधवल, श्री जयधवल, महाबन्ध में आचार्यों ने कहा है कि श्रावकों का क्या कर्त्तव्य होना चाहिए-"**दाणं पूया सीलमुववासो**" श्रीजयधवल को सिद्धान्त ग्रन्थ माना जाता है, जिसे भगवद् गुणधरस्वामी ने लिखा है जिसकी टीका वीरसेनस्वामी ने की है, उसमें उन्होंने श्रावक के चार आवश्यक धर्म बतलाये हैं, आवश्यकों को उन्होंने धर्म संज्ञा दी है, जो व्यक्ति दान को, पूजा को, शील को, उपवास को जड़ की क्रिया कहेगा तो उसके उस उपदेश से सारी की सारी जनता विमुख हो जायेगी, क्योंकि यह उपदेश प्रणाली ही आगम से उल्टी है, यह जड़ की क्रिया नहीं, धर्म की क्रिया है, वस्तुभूत जो धर्म है, '**वत्थुसहावो धम्मो**' उस धर्म को प्राप्त करने के लिए श्रावकों के लिए चार आवश्यकों का मार्ग ही सही प्रणाली-पद्धति है। यही भगवान का संदेश और आज्ञा भी है। जो व्यक्ति आज्ञा का उल्टा प्रयोग करके केवल बन्ध के कारणों में इन धर्मों को गिनाता है, इसके द्वारा संवर, निर्जरा नहीं मानता, वह अपने व्याख्यान से जिनवाणी का-धर्म का अवर्णवाद कर रहा है।

यह वाक्य मेरे नहीं हैं, मैं तो केवल एक प्रकार का एजेन्ट हूँ, एजेन्ट का काम होता है कि सही-सही वस्तु का प्रसार करना, एक दुकान से दूसरी दुकान में पूरी-पूरी ईमानदारी के साथ दिखाओ, फिर भले ही कोई उस वस्तु को अच्छा कहे या बुरा, अच्छा कहे तो भी वस्तु वही है तथा बुरा कहने पर भी वही है, उसको तो दिखाने का वेतन कम्पनी से मिल ही रहा है, उसमें कोई बाधा नहीं, इसी प्रकार मुझे भी अरहन्त भगवान की तरफ से वेतन मिल रहा है, इसलिए इस प्रकार के व्याख्यान जब तक हम समाज के सामने नहीं रखेंगे तब तक सही-सही स्वाध्याय की प्रणाली आने वाली नहीं है, यह करना हमारा कर्त्तव्य है इसलिए इसे करना भी आवश्यक समझता हूँ समय-समय पर।

आज हम देख रहे हैं कि स्वाध्याय करते हुए भी जिस व्यक्ति के कदम आगे नहीं बढ़ रहे हैं, उसका अर्थ यही है कि उसे स्वाध्याय करना तो सिखा दिया है, किन्तु भीतरी अर्थ, जो वस्तुतत्त्व था, उससे उसे अपरिचित रखा है। उसको अंधेरे में रखा है, जो व्यक्ति वस्तुतत्त्व को अंधेरे में रखता है, वह व्यक्ति स्वयं भी खाली हाथ रह जाता है और दूसरे को भी खाली हाथ भेजता है-घुमाता रहता है, लेकिन हमारी (जिनवाणी की) दुकान ऐसी नहीं है, हम भी नीची दुकान-मकान रखते हैं परन्तु ऊँचे पकवान रखते हैं, ऊँची दुकान फीके पकवान यहाँ नहीं मिलेंगे।

"**वक्तृप्रामाण्याद्वचन प्रामाण्यम्**" (धवला पुस्तक-१/१९७/४)

वक्ता की प्रमाणता से वचन प्रामाणिक होते हैं, कारण कि वक्ता यद्वा-तद्वा नहीं कह सकेगा, उसके पास किसी प्रकार का पक्षपात नहीं हुआ करता, एजेन्ट जो होता है वह किसी प्रकार से कमवेशी दाम नहीं बताता, जिसको लेना हो लो, नहीं लेना हो न लो, इससे उसे कोई फर्क नहीं पड़ता। लोग पूछते हैं हम नहीं लेंगे तो तुम्हारा काम कैसे चलेगा ? वह कहता है कि हमारी दुकान/कम्पनी बहुत बड़ी है, जिसमें बिना काम के भी काम चलता है, कभी कम्पनी असफल होने की संभावना भी नहीं, ध्यान रखना, लौकिक कम्पनियाँ असफल हो सकती हैं पर वीतराग भगवान की कम्पनी तीन काल में असफल नहीं हो सकती, इसलिए मैंने तो भैय्या! ऐसी कम्पनी में नौकरी कर ली है कि, जितना हम काम करेंगे उतना दाम मुझे आयु के अन्त तक मिलता रहेगा।

अब हमें अपने जीवन की आजीविका की कोई चिन्ता नहीं। आचार्यों ने कहा है, जिस चतुर वक्ता की आजीविका श्रोताओं के ऊपर निर्धारित है वह वक्ता वस्तुतत्त्व का प्रतिपादन ठीक-ठीक नहीं कर सकता। उन्होंने कहा है–

''क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषणं च पञ्च।''

तत्त्वार्थसूत्र - ७/५

वक्ता से पहले श्रोता को जान लेना चाहिए कि वक्ता कैसा-कौन है। जैसा पण्डितजी ने अभी कहा था–किसका लेख है, यह किसका प्रवचन है ? यह ठीक-ठीक जान लेना आवश्यक है, यदि पाठक कुछ भी नहीं जानता और लेखक ठीक है तो वह सब कुछ मानने तो तैयार है, नहीं तो वह मानने के लिए तैयार नहीं होगा। **सिद्धान्त कभी भी वक्ता के घर का नहीं चलता, जैसे घर की दुकान हो सकती है, लेकिन नाप-तौल के मापक घर के नहीं हो सकते।** क्यों भैय्या दुकानदारो! दुकानदार का मतलब है, दो कान वाले, दो कान वाले दुकानदारो! हम पूछना चाहते हैं कि माल आपका, दुकान आपकी, सब कुछ आपका, किन्तु नाप-तौल भी आपका हो तो ? पकड़े जायेंगे। सब कुछ आपका हो सकता है पर नाप तौल तो शासकीय ही होगा।

इसी प्रकार प्रवचन आप कर सकते हैं, ग्रन्थ भी प्रकाशित कर सकते हैं परन्तु घर का लिखा ग्रन्थ प्रकाशित नहीं कर सकते। आचार्यों के ग्रन्थों का सम्पादन/प्रकाशन करने वालों से हम यह कहना चाहते हैं कि वे ऐसा प्रकाशन करें, ऐसे सम्पादकों को रखें, अनुवादकों को रखें, जो जनसेवी हों और निर्भीक भी हों। विद्वानों के बिना यह काम सही-सही नहीं हो सकता, पर वे भी वेतन पर तुलने वाले नहीं होना चाहिए, कितने ही कष्ट आ जायें फिर भी वह इधर का डंडा (मात्रा) उधर लगाने को मंजूर न करता हो, इतना संयत हो।

एक वकील होता है और एक न्यायाधीश हुआ करता है, दोनों एल.एल.बी. हुआ करते हैं, किन्तु न्यायाधीश वकील नहीं दे सकता, जजमेन्ट जज का ही माना जाता है, एक बार ही दिया जाता

है उसमें फिर हेर-फेर नहीं होता, चाहे अपील करें दूसरी अदालत में, यह दूसरी बात है। अदालत में एक बार लिख दिया न्यायाधीश ने सो लिख दिया, लेकिन वकीलों की स्थिति वह नहीं हुआ करती, उसके तो एक रात में हजारों प्वाइन्ट, बदल जाते हैं, आज न्यायाधीश की बड़ी आवश्यकता है, वकीलों की नहीं, वकील को पेशी पर जाना पड़ता है, अतः पेशी कहलाती है, परन्तु न्यायाधीश की पेशी नहीं हुआ करती, कोर्ट में न्यायाधीश के सामने राष्ट्रपति को भी यूँ (झुकना) करना पड़ता है। इसी तरह सिद्धान्त के सामने सबको झुकना पड़ता है, तीर्थंकर भी नमोऽस्तु करते हैं, जो वस्तुतत्त्व जैसा है, जिस रूप में है, वही सिद्धान्त है उसी को नमस्कार करना पड़ता है। अरहन्त परमेष्ठी को भी नमस्कार नहीं करना होता है, आचार्य को भी नहीं, साधु को भी नहीं, लेकिन वस्तुस्वरूप में अवस्थित सिद्धपरमेष्ठी को उन्हें भी (तीर्थंकरों को भी) नमस्कार करना पड़ता है अर्थात् तीर्थंकर उस न्यायालय को नमोऽस्तु करते हैं, जिससे ऊपर कोई नहीं, जिसके उच्चत्तम न्यायालय में कालिमा नहीं है, न्यायाधीश कैसे कपड़े पहनते हैं ? फक-सफेद। और वकील ? काला कोट पहनते हैं भैय्या! इसलिए उनकी आज्ञा नहीं मानी जाती, न्यायाधीश की बात मानना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है। इसी तरह सिद्धरूप शुद्धतत्त्व की बात मानने में हमारा कल्याण होगा, वीतरागी की बात मानने में कल्याण होगा, अन्य की में नहीं, बिना माने हमारा कल्याण संभव नहीं, यह सब हमारे आचार्यों ने कहा है, उसी तत्त्व तक ले जाने की बात उन्होंने की है।

बन्धुओ! हमें शब्दों की ओर से भीतरी अर्थ की ओर झुकना है, कहाँ तक कहूँ कहा नहीं जाता। इन महान् आचार्यों के हमारे ऊपर बहुत उपकार हैं, हम उनका ऋण तभी चुका सकते हैं, जब हम उनके कहे अनुसार (जैसा कहा वैसा) बनने का प्रयास करेंगे। कुन्दकुन्ददेव के समान तो नहीं चल सकते और उस प्रकार चलने का विचार भी शायद नहीं कर सकते, यह माना जा सकता है परन्तु उनका कहना है कि बेटा! जितनी तुम्हारी शक्ति है उतनी शक्ति भर तो २८ मूलगुणों को धारण कर, उसमें यदि कमी नहीं करेगा तो मैं तुमसे बहुत प्रसन्न होऊँगा, तेरा उद्धार हो जाएगा, ऐसा समझो। तत्त्वार्थसूत्र में एक सूत्र आता है-''**परस्परोपग्रहो जीवानाम्**'' इसकी व्याख्या करते हुए कहा गया है कि गुरु-शिष्य के ऊपर उपकार करता है और शिष्य गुरु के ऊपर, मालिक मुनीम के ऊपर उपकार करता है और मुनीम मालिक के ऊपर, शिष्य-गुरु से पूछता है कि हमारा उपकार आपके ऊपर कैसे हो सकता है? यह तो आपका ही उपकार मेरे ऊपर है जो कृपा की, तब आचार्य जवाब देते हैं कि गुरु का उपकार शिष्य को दीक्षा-शिक्षा देने में है और शिष्य का उपकार गुरु द्वारा जो बताया है उस पर चलने में होता है, जब तक उनके अनुसार नहीं चलेंगे तब तक हम अपने बाप-दादाओं के, अपने गुरुओं के द्वारा किये गये उपकार को नहीं समझ सकते तथा उनके उपकार को प्रत्युपकार के रूप में सामने लाना है नहीं तो हम सपूत नहीं कहलायेंगे।

''**पूत के लक्षण पालने में**'' सब लोग इस कहावत को जानते हैं, शब्दों की गहराई में आप चले जाइये और वस्तुतः शब्दों की गहराई में चले जाएँ तब कहीं जाकर अर्थ को पा सकेंगे, पूत का लक्षण है, माता-पिता गुरु की आज्ञा को पालने का। जो लड़का/पूत माता-पिता-गुरुकी आज्ञा का पालन नहीं करता, वह तीनकाल में भी सपूत नहीं कहलायेगा। कहावत है- ''**पूत कपूत तो का धन संचय और पूत सपूत तो का धन संचय।**'' अर्थ यही हुआ सपूत को कुल का दीपक माना गया है, देश की, वंश की, कुल की, परम्परा में जो चार चाँद लगा देता है वही सपूत है, हम अपने आपसे पूछ लें कि हम अरहन्त भगवान के पूत हैं, सपूत हैं या...? कहने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि हम उनकी आज्ञा का यथासंभव पालन कर रहे हैं, जो हमारा कर्त्तव्य है, हम जिस तरह भी कदम बढ़ाये, यदि माता-पिता-गुरुओं का वरदहस्त हमारे ऊपर रहेगा तो हम उस ओर अबाधित बढ़ते जायेंगे।

आज १२-१३ साल हो गये, मालूम नहीं चला, कोई बाधा नहीं, पूज्य गुरुवर आचार्य श्रीज्ञानसागरजी महाराज का वरदहस्त सदा साथ रहा और उनके ऊपर रहने वाले अनेक महान् आचार्यों के वरदहस्त भी साथ हैं, ऊपर हैं।

घबड़ाना नहीं, जिस समय चक्रवात चलता है तो नाव आगे नहीं बढ़ती और पीछे भी नहीं जाती। तब ताकत के साथ स्थिर रखना होती है, **हमें नाम नहीं करना जोरदार, काम जोरदार करना है।** हमें अपनी नाव मजबूत रखना है, उसे चक्रवात से हटा के अलग नहीं करना है क्योंकि नाव की शोभा पानी में ही है तथा उसको निश्छिद्र रखना है, जिस समय किसी छिद्र द्वारा नाव में पानी आ जायेगा तो नाव डूब जायेगी, **हमें कागज की नावों में नहीं चलना है। कागजी नावों से आज सारा का सारा समाज, सारे प्राणी परेशान है, आज नावें भी सही नहीं है बल्कि आज नाव के स्थान पर चुनाव हावी होता जा रहा है, हमें अपनी जीवन की नाव को भव-समुद्र में आये चक्रवात से रक्षा करके उस पार तक ले जाना है जहाँ तक अन्तिम मंजिल है।**

आज ऋषभनाथ महाराज आहार के लिए उठेंगे, आप सभी नवधा भक्ति से खड़े होइये, १० भक्ति या ८ भक्ति नहीं करना है, नवधाभक्ति ही जब पूरी-पूरी होंगी तभी वे आहार ग्रहण करेंगे, आज हमें उनके माध्यम से दान की क्रिया, ज्ञान की क्रिया समझनी है, जो वस्तुतः भीतरी आत्मा के प्राप्त करने की एक प्रणाली है, दिगम्बर चर्या खेल नहीं है बन्धुओ! आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने इस चर्या के लिए महान् से महानतम उपमाएँ दी हैं-यही प्रव्रज्या है, यही श्रमणत्व है, यही जिनत्व है, यही चैत्य है, यही चैत्यालय है, यही जिनागम है, यही सर्वस्व है, यही चलते-फिरते सिद्धों का रूप है। केवल ऊपर शरीर रह गया है, भीतर आत्मा वही है, जैसी कुन्दकुन्ददेव की है, जैसी सिद्ध भगवान की है। कहाँ तक कहा जाए, यह पथ, यह चर्या ऐसी है, जिसका स्थान कभी भी आंका

नहीं जा सकता, अनमोल है यह चर्या, यह व्रत तो आज भी दिगम्बर संत पाल रहे हैं। अन्त में आचार्य ज्ञानसागरजी को स्मरणपथ पर लाकर यह व्याख्यान समाप्त करता हूँ।

तरणि ज्ञानसागर गुरो! तारो मुझे ऋषीश।
करुणाकर करुणा करो, कर से दो आशीष॥

❑ ❑ ❑

ज्ञानकल्याणक
(उत्तरार्द्ध)

जिस समय युग के आदि में वृषभनाथ को केवलज्ञान हुआ, उसी घड़ी वहाँ पर और दो घटनाएँ घटी थीं। 'भरत' प्रथम चक्रवर्ती माना जाता है, उसके पास एक साथ तीन दूत आकर समाचार सुना रहे हैं, सर्वप्रथम व्यक्ति की वार्ता थी-प्रभो! आपका पुण्य कितना विशाल है, पता नहीं चलता, काम पुरुषार्थ के फलस्वरूप पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई है, दूसरा कहता है कि-हे स्वामिन्! इसकी बात तो घर तक की सीमित है तथा यह अवसर कई बार आया होगा। अभी तक हम लोग सुना करते थे कि आप छहखण्ड के अधिपति हैं, लेकिन आज आयुधशाला में एक ऐसी घटना घट गई, जैसे आप लोगों में चुनाव के लिए उम्मीदवार के रूप में खड़े होने की संभावना पर ''फलाने को टिकट मिल गया'' ऐसा सुनकर जीप वगैरह की भागा-दौड़ी प्रारम्भ हो जाती है। ऐसी ही स्थिति वहाँ पर हो गई थी, आयुधशाला में चक्ररत्न की प्राप्ति हुई है, जो कि आपके चक्रवर्ती होने का प्रमाण प्रस्तुत कर रही है। तीसरा दूत कहता है-यह सब स्वार्थ की बातें हैं, हमारी बात तो सुनो! मैं इन सबसे भिन्न अद्‌भुत बात बताऊँगा, अर्थपुरुषार्थ करके कई बार इस प्रकार के दुर्लभ कार्य प्राप्त हुए हैं तथा कामपुरुषार्थ करके कई बार पुत्ररत्न की प्राप्ति हो गई, लेकिन धर्मपुरुषार्थ करके इस जीव ने अभी तक केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं की, पर आज आपके पिताजी मुनि वृषभनाथजी को केवलज्ञान की उपलब्धि हो गई है।

इन तीनों में बड़ी बात कौन-सी है भैय्या! आप कहेंगे कम से कम लाला का मुख तो देखना चाहिए पहले, फिर दूसरी, अरे! चक्ररत्न की प्राप्ति हो गई, हुकूमत और सत्ता हाथ में आयी है। लेकिन यदि सही सत्ता की बात पूछना चाहते हो तो तीन लोक में वही सही सत्ता मानी जाती है। जिस सत्ता के सामने सारी सत्ताएँ समाप्त हो जायें। केवलज्ञान-सत्ता ही वास्तविक सत्ता है, जिसके समक्ष अन्य सत्ताएँ कुछ भी नहीं है। तीनों की वार्ता सुनी और चक्री उठकर चलने को तैयार हो गये, लेकिन रनवास की ओर नहीं गये और न ही आयुधशाला की ओर, उन्होंने कहा यह सब तो बाद की बात है, सर्वप्रथम तो समस्त परिवारजन को तैयार करो, अष्टमंगलद्रव्य के साथ और हाथी को उस ओर ले चलो जहाँ वृषभनाथ भगवान के समवसरण की रचना हो चुकी है, हमें सुनना है कि

भगवान् अब क्या कहेंगे? पिताजी की अवस्था में कुछ और बात कहा करते थे, अब तो कुछ भिन्न ही कहेंगे, अब मुझे बेटा भी नहीं कहेंगे वे, और मैं भी तो उन्हें पिताजी नहीं कहूँगा, अब वो ऐसे बन गये कि जैसे अनन्तकाल से आज तक नहीं बने थे। आज तक उस दिव्य-दीपक का उदय नहीं हुआ था, अनन्तकाल से वह शक्ति छिपी हुई थी, केवलज्ञानावरण कर्म के द्वारा, जो आज व्यक्त हुई है, इस तरह के विचारों में निमग्न होते हुए समवसरण में पहुँचे।

समवसरण में पहुँचते ही भरत चक्रवर्ती ने नमोऽस्तु कर भगवान् की दिव्यध्वनि सुनी, सुनकर वे तृप्त हो गये। ''मैं और कुछ नहीं चाहता, मेरे जीवन में यह घड़ी, यह समय कब आयेगा, जब मैं अपने जीवन को स्वस्थ (स्व में स्थित) बनाऊँगा। भगवान् ने स्वस्थ बनने का प्रयास लगातार एक हजार वर्ष तक किया और आज वे स्वस्थ बन गये, आज उसका फल मिल गया।

मोक्ष-पुरुषार्थ किये बिना, मोह को हटाये बिना, तीनकाल में केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती, इसके उपरान्त ही मुक्ति मिलेगी, यह बात अलग है कि किसी को केवलज्ञान होने के उपरान्त अन्तर्मुहूर्त में ही मुक्ति मिल सकती है और किसी को कुछ कम पूर्वकोटि तक भी विश्राम करना पड़ सकता है।

अब दिव्यध्वनि क्यों? या यह कहिए कि केवलज्ञान होने के उपरान्त उनकी क्या स्थिति रहती है, जानने-देखने के विषय में ? यह प्रश्न सहज ही उठता है क्योंकि जब श्रेणी में ही निश्चयनय का आश्रय करके वह आत्मस्थ होने का प्रयास करते हैं तो केवलज्ञान होने के उपरान्त दुनियाँ की बातों को देखने में लगेंगे क्या ? ऐसा सवाल तो तीन काल में भी नहीं होना चाहिए ना, लेकिन नहीं। नियमसार में आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने कहा है कि—केवलज्ञान होने के उपरान्त केवली भगवान इस तरह जानते हैं, देखते हैं।

जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणयेण केवली भयवं।
केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं॥

(नियमसार-१५९/२)

शुद्धोपयोग अधिकार में कहा है कि केवली भगवान नियम से अर्थात् निश्चय से या यो कहें नियति से, अपनी आत्मा को छोड़ करके दूसरों को जानने का प्रयास नहीं करते, परन्तु व्यवहार से वे स्व और पर दोनों को अर्थात् सबको-सब लोकालोक को जानते हैं, देखते हैं।

सर्वज्ञत्व आत्मा का स्वभाव नहीं है, यह उनके उज्ज्वल ज्ञान की एक परिणति मात्र है, अतः व्यवहारनय की अपेक्षा से कहा जाता है कि वे सबको जानते हैं, ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध तो वस्तुतः अपना, अपने को, अपने साथ, अपने लिए, अपने से, अपने में जानने-देखने से सिद्ध हुआ करता

है, ऐसा समयसार का व्याख्यान है। इस तरह का श्रद्धान रखना-बनाना ही निश्चय-सम्यग्दर्शन कहा है तथा अन्यथा श्रद्धान को व्यवहार सम्यग्दर्शन कहते हैं इत्यादि। इसलिए –

सकल ज्ञेय - ज्ञायक तदपि, निजानन्द रसलीन।
सो जिनेन्द्र जयवन्त नित, अरि रज रहस विहीन॥

(दौलतराम जी कृत स्तुति)

केवली भगवान् सबको जानते हैं व्यवहार की अपेक्षा से, किन्तु आनन्द का जो अनुभव कर रहे हैं वह किसमें ? अपने भीतर कर रहे हैं, यही वस्तुतत्त्व है, णियमेण अर्थात् निश्चय से देखेंगे तो सबको नहीं देखेंगे, सबको नहीं जानेंगे, सबको जानने-देखने का पुरुषार्थ उन्होंने किया नहीं था, यदि सबको जानने-देखने का पुरुषार्थ कर लें तो गड़बड़ हो जायेगा, उनका ज्ञान स्वतन्त्र है, वे स्वतन्त्र हैं और उनके गुण भी स्वतन्त्र हैं, किसी के लिए उनका अस्तित्त्व, उनका वैभव नहीं, उनकी शक्ति नहीं, स्वयं के लिए है, पर के लिए नहीं, हमारे लिए वो केवली नहीं किन्तु स्वयं अपने लिए केवली हैं, हमारे लिए तो हमारा मतिज्ञान, श्रुतज्ञान है, वही साथ-साथ रह रहा है किन्तु केवली का ज्ञान तो हमारे लिए आदर्श होगा, आदर्श से हम भी अपने मतिज्ञान, श्रुतज्ञान को मिटाकर केवलज्ञान में परिणत कर सकते हैं, ऐसा आदर्श ज्ञान देखकर हमारे भीतर भी आदर्श बनना चाहिए।

छद्मस्थावस्था में उपयोग हमेशा अर्थ-पदार्थ को ही लेकर चलता है, छद्मस्थावस्था का सामान्य लक्षण भी यही बनाना चाहिए कि जो ज्ञान, पदार्थ की ओर मुड़कर के जानता है वह ज्ञान छद्मस्थ का है और जो पदार्थ की ओर मुड़े बिना अपने-आपसे अपने-आपको जानता है या अपने आप में लीन रहता है वह केवलज्ञान प्रत्यक्ष पूर्णज्ञान है, चाहे मतिज्ञान हो या श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान हो या मनःपर्यय, चारों ही ज्ञान पदार्थ की ओर मुड़ करके जानते हैं, यही आकुलता है, फिर ज्ञान की निराकुलता क्या है ? ज्ञान की निराकुलता यही है कि वह पदार्थ की ओर न मुड़कर के अपनी ओर, अपने में ही रहे। केवलज्ञान ही एक ऐसा ज्ञान है जो पदार्थ की ओर नहीं मुड़ता है, मुड़ना ही आकुलता है, स्व को छोड़कर के पर की ओर मुड़ा जाता है और पर को छोड़कर स्व की ओर मुड़ जाता है, दो प्रकार के मोड़ है, हमारा मोड़ तो दूसरे की होड़ के लिए पर की ओर मुड़ता है, अपनी वस्तु को छोड़कर जिसका ज्ञान, पर के मूल्यांकन के लिए चला जाता है वह छद्मस्थ का आकुलित ज्ञान, रागी-द्वेषी का ज्ञान है, केवली का ज्ञान सब कुछ झलकते हुए भी अपने-आप में लीन है, स्वस्थ है।

ज्ञान का
पदार्थ की ओर
ढुलक जाना ही

परम-आर्त
पीड़ा है, दुःख है
और पदार्थ का
ज्ञान में झलक आना ही
परमार्थ
क्रीड़ा है, सुख है .... (मूकमाटी)

हम दूसरों को समझाने का प्रयास कर रहे हैं, दूसरों के लिए हमारा जीवन होता जा रहा है, लेकिन दर्पण जिस प्रकार बैठा रहता है उसी प्रकार केवलज्ञान बैठा रहता है, उसके सामने जो कोई भी पदार्थमालिका आती है तो वह झलक जाती है, यह केवलज्ञान की विशेषता है। सुबह मंगलाचरण किया था, जिसमें अमृतचन्द्राचार्यजी ने कहा था देखो –

''पदार्थमालिका प्रतिफलति यत्र तस्मिन् ज्योतिषि तत् ज्योतिः जयतु''

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय-१

वह केवलज्ञान-ज्योति जयवन्त रहे जिस केवलज्ञान में सारे के सारे पदार्थ झलक जाते हैं लेकिन पदार्थों की ओर ज्योति नहीं जाती, दर्पण पदार्थ की ओर नहीं जाता और पदार्थ दर्पण की ओर नहीं आते फिर भी झलक जाते हैं तो दर्पण अपना मुख बन्द भी नहीं करता, ज्ञेयों के द्वारा यदि ज्ञान में हलचल हो जाती है, आकुलता हो जाती है तो वह छद्मस्थ का ज्ञान है ऐसा समझना और तीनलोक के सम्पूर्ण ज्ञेय जिसमें झलक जायें और आकुलता न हो, फिर भी सुख का अनुभव करें, वही केवलज्ञान है। यह स्थिति छद्मस्थावस्था में तीनकाल में बनती नहीं है, छद्मस्थ अवस्था में केवलज्ञान की किरण, केवलज्ञान का अंश मानना भी हमारी गलत धारणा है। इसलिए छद्मस्थावस्था में केवलज्ञान की क्वालिटी का ज्ञान छद्मस्थावस्था में मानने पर सर्वघाती प्रकृति को भी, देशघाती के रूप में अथवा अभावात्मक मानना होगा, जो कि सिद्धान्त-ग्रन्थों को मान्य नहीं है। इस जीव की वह केवलज्ञान शक्ति अनन्तकाल से अभाव रूप (अव्यक्त) है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा में एक गाथा आती है–

का वि अपुव्वा दीसदि पुग्गलदव्वस्स एरिसि सत्ती।
केवलणाणसहावो विणासिदो जाई जीवस्स॥

(कार्तिकेयानुप्रेक्षा-२११)

पुद्‌गल के पास ऐसी अद्‌भुत शक्ति नियम से है, जिस शक्ति के द्वारा उससे जीव का स्वभावभूत केवलज्ञान एक प्रकार से नाश को प्राप्त हुआ है। कर्म सिद्धान्त के ग्रन्थों में कर्म के दो भेद बताए गये हैं। ''जैन सिद्धान्त प्रवेशिका'' में पं. गोपालदास बरैया ने इसकी परिभाषा स्पष्ट की है, जिसे आचार्यों ने भी स्पष्ट किया है, वे दो भेद हैं–देशघाती और सर्वघाती। केवलज्ञानावरणी

कर्म का स्वभाव सर्वघाती बताया है, सर्वघाती प्रकृति को बताया है कि वह इस प्रकार होती है जिस प्रकार कि सूर्योदय के समक्ष अन्धकार का कोई सम्बन्ध नहीं तथा अन्धकार के सद्‌भाव के साथ सूर्य का, अर्थ यह हुआ कि केवलज्ञान की जो परिणति है उस परिणति की एक किरण भी बारहवें गुणस्थान के अन्तिम समय तक उद्‌घाटित नहीं होगी, क्योंकि केवलज्ञानावरण कर्म की ऐसी 'विरोधी' शक्ति है जिसको बोलते है सर्वघाती। इससे स्पष्ट हो जाता है कि पुद्‌गल के पास भी ऐसी शक्ति है कि जो बारहवें गुणस्थान में जाने के उपरान्त जीव को अज्ञानी घोषित कर देती है, बारहवें गुणस्थानवर्ती छद्‌मस्थ माने जाते हैं, लेकिन वीतरागी इसलिए हैं कि मोह का पूर्ण रूप से क्षय हो चुका है, बड़ी अद्‌भुत बात है, मोह का क्षय होने के उपरान्त भी वहाँ पर अज्ञान पल रहा है, यह भंग प्रथम गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक चलता है, चाहे वो एकेन्द्रिय हो या पञ्चेन्द्रिय, चाहे पशु हो या देव, चाहे मुनि हो या आर्यिका, कोई भी हो बारहवें गुणस्थान तक, जब तक उसका पूर्ण विकास नहीं हो जाता तब तक अज्ञान रूप भंग उसके सामने से हट नहीं सकेगा। घातिया कर्मों को नष्ट किये बिना केवलज्ञान का प्रादुर्भाव तीन काल में भी नहीं हो सकेगा, उस केवलज्ञान की महिमा कहाँ तक कही जाये, कितना पुरुषार्थ किया होगा उन्होंने, उस पुद्‌गल की शक्ति का संहार करने के लिए! बात बहुत कठिन है और सरल भी है कि एक अन्तर्मुहूर्त में आठ साल का कोई लड़का जो कि निगोद से निकलकर आया है, यहाँ पर उसने मनुष्य पर्याय प्राप्त की, आठ साल हुए नहीं कि, वह भी इतना बड़ा अद्‌भुत कार्य अपने जीवन में कर सकता है, इतना सरल है और कठिनाई को तो आप जानते ही हैं कि १००० वर्ष तक कठिन तप किया भगवान वृषभनाथ ने तब कहीं जाकर के केवलज्ञान प्राप्त हुआ।

जीव के पास भी ऐसी-ऐसी अद्‌भुत शक्तियाँ हैं, जिनसे कर्मों की चित्र-विचित्र शक्तियों को नष्ट कर देता है, भिन्न-भिन्न प्रकार के आठ कर्म होते हैं। आठ कर्मों में भी १४८ भेद और हो जाते हैं, यह संख्या की अपेक्षा है, परन्तु १४८ कर्म के भी असंख्यात लोक प्रमाण भेद हो जाते हैं। किसके कर्म किस क्वालिटी के हैं—जाति की अपेक्षा, नाम की अपेक्षा से तो मूल में आठ होते हुए भी उनकी भीतरी क्वालिटी के बारे में हम कोई अन्दाजा नहीं कर सकते, क्योंकि हमारा ज्ञान छद्‌मस्थ/अल्प है, इसीलिए किसी को अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान होना संभव है और किसी को हजारों वर्ष भी लग सकते हैं।

केवलज्ञान प्राप्त करने के लिए कई प्रकार की निर्जरा करनी पड़ती है, निर्जरा अधिकार में आचार्यों ने कहा है कि—कर्म दो प्रकार के हैं पाप और पुण्य। इनकी निर्जरा किये बिना मुक्ति संभव नहीं, केवलज्ञान नहीं और कुछ भी नहीं। पहले-पहले पाप कर्मों की निर्जरा की जाती है, पुण्य कर्म की नहीं। पाप कर्मों में भी सर्वप्रथम घातिया कर्मों की निर्जरा की जाती है अघातिया कर्मों की नहीं,

कुछ सापेक्ष रूप से हो जाती है यह बात अलग है। जैसे कुछ पौधों को बो दिया, लगा दिया, रोप दिया, खाद पानी दे दिया तो उसके साथ घास-पूस भी उग आया, तब घास-पूस को उखाड़ा जाता है लेकिन उसके साथ-साथ कुछ पौधे, जो कि रोपे गये थे उखड़ जाते हैं, उनको उखाड़ने का अभिप्राय नहीं होता, वस्तुतः इसी तरह सापेक्षित रूप से कुछ अघातिया कर्मों की भी निर्जरा हो जाती है, की नहीं जाती। सर्वप्रथम सम्यग्दृष्टि जीव निर्जरा करता है तो पाप कर्म की ही करता है, यह जैन कर्म के सिद्धान्त हैं, मैंने श्री धवल में कहीं नहीं देखा कि सम्यग्दृष्टि जीव पुण्य कर्म की निर्जरा करता है, बल्कि यह कथन तो श्रीधवल (पु. १३) में बार-बार आया है कि **''सम्माइट्ठी पसत्थकम्माणं अणुभागं कदावि ण हणदि''** प्रशस्त कर्मों के अनुभाग की निर्जरा सम्यग्दृष्टि तीनकाल में कभी भी नहीं करता, क्योंकि जो बाधक होता है मार्ग में, उसी की सर्वप्रथम निर्जरा की जाती है। इसी प्रकार हम पूछते हैं कि आस्रव और बन्ध की क्रिया में भी वह कौन-सी पुण्य प्रकृति को बन्ध होने से रोक देता है? १० वें गुणस्थान तक की व्यवस्था में जो प्रशस्त कर्म बँधते हैं तो कर्म सिद्धान्त के वेत्ता बताएँ कि उनमें से कितने, कौन से प्रशस्त कर्मों को रोकता है ? अर्थ यह हुआ कि कर्मों की निर्जरा किए बिना केवलज्ञान नहीं हो सकता, लेकिन कर्मों की निर्जरा का क्रम भी निश्चित है, वह कैसा है? यह देखने की बड़ी आवश्यकता है विद्वानों को, स्वाध्याय प्रेमियों को और साधकों को, इस क्रम को देख करके, जान करके जब हमारा श्रद्धान बनेगा तब ही हमारा श्रद्धान सही होगा, तीन प्रकार के विपर्यासों से रहित होगा, तीन प्रकार का विपर्यास हुआ करता है—एक कारण विपर्यास, दूसरा स्वरूप विपर्यास और तीसरा भेदाभेद विपर्यास। कौन-सा कारण, किसके लिए बाधक है, इसका सही-सही ज्ञान नहीं है तो वह कह देता है –

जिन पुण्य-पाप नहीं कीना, आतम अनुभव चित दीना।
तिनहीं विधि आवत रोके, संवर लहि सुख अवलोके॥

(छहढाला-५/१०)

सम्यग्दृष्टि पुण्य और पाप दोनों से परे होता है, न वह पुण्य करता है और न ही पाप, तब कहीं आत्मिक सुख का अनुभव करता है, लेकिन यहाँ पर ध्यान रखो! पं. दौलतरामजी संवर भावना का व्याख्यान कर रहे हैं, इसलिए पुण्य और पाप दोनों के कर्त्तव्य से भिन्नता की बात कही है, न कि कर्म-सिद्धान्त कि अपेक्षा से। उन कर्मों की बन्धव्युच्छित्ति आदि की अपेक्षा से भी नहीं। आगम का कथन तो है कि १०वें गुणस्थान तक पुण्य के आस्रव को रोकने का कहीं भी सवाल नहीं और १०वें गुणस्थान के ऊपर तो ना पुण्य कर्मों का और ना ही पाप कर्मों का साम्परायिक आस्रव होता है। यह सब वह भावनाकार पं. दौलतरामजी के कथन में अविवक्षित है, कारण कि वहाँ मात्र भावना की ही विवक्षा है। कल पण्डितजी जो कह रहे थे कि सम्यग्दृष्टि पूर्वबद्ध पुण्य-पाप कर्मों

की निर्जरा करता है और नवीन पुण्य-पाप कर्मों को रोक देता है, जो पुण्यास्रव को रोकने का प्रयास नहीं करता, वह व्यक्ति सम्यग्दृष्टि नहीं है, वह तो अभी विपर्यास में पड़ा है। अब आप ही देख लीजिए कि विपर्यास में कौन है ? बात ऐसी है कि जब हम इन (श्री धवलादि) ४० ग्रन्थों का अध्ययन करते हैं तो बहुत डर लगने लग जाता है कि थोड़ी-सी भूल से हम जिनवाणी को दोषयुक्त करने में भागीदार हो जायेंगे। बहुत ही सावधानी की बात है। संभाल-संभाल कर बोल रहा हूँ भगवान यहाँ पर बैठे हैं, दिव्यज्ञानी हैं।

पं. दौलतरामजी ने बहुत मार्के की बात कही है ''जिन पुण्य-पाप नहीं कीना'' इसका अर्थ हुआ कि साम्परायिक आस्रव १०वें गुणस्थान तक होता है। साम्परायिक का अर्थ होता है कषाय, जिसके माध्यम से आगत कर्मों में स्थिति और अनुभाग पड़ जाता है। इसके उपरान्त ईर्यापथ आस्रव होता है वह भी एक मात्र सातावेदनीय का। जो दुनियाँ को साता देता है, उस साता के अभाव में आप तिलमिला जायेंगे। केवल असाता-असाता का बन्ध कभी नहीं होता है, न ही संभव है। क्योंकि साता-असाता दोनों आवश्यक हैं संसार की यात्रा के लिए, पुण्य और पाप दोनों चाहिए। अकेला पुण्य का आस्रव दसवें गुणस्थान तक कभी भी नहीं होता और अकेले पाप का भी नहीं, केवल साता का आस्रव ११-१२-१३वें गुणस्थान इन तीनों में होता है, इस कर्मास्रव (पुण्यास्रव) से हमारा कोई भी बिगाड़ नहीं होता, मुक्ति के लिए बिगाड़ फिर भी है, लेकिन केवलज्ञान के लिए यह कर्मास्रव (पुण्यास्रव) बेड़ी नहीं है, क्या कहा ? सुना कि नहीं। केवलज्ञान प्राप्त करने के लिए केवल घातिया कर्मों का नाश करना होता है, घातिया कर्मों में, चाहे मूल प्रकृति हो या उत्तर प्रकृति, कोई भी प्रकृति प्रशस्त प्रकृति नहीं होती। इसलिए जैनाचार्यों का कहना है कि सर्वप्रथम पाप कर्मों की निर्जरा करके नवीन कर्मों को तू रोक ले, पुण्य तेरे लिए कोई विपरीत काम नहीं करेगा, बाधक नहीं होगा, पुण्य को रखने की बात नहीं कही जा रही है, लेकिन निर्जरा का क्रम तो यही होगा कि सर्वप्रथम पाप का संवर करें, नवीन पापास्रव को रोकें, पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा करें और वर्तमान बन्ध को मिटा दें तो नियम से वह केवलज्ञान प्राप्त करा देगा। यह भी ध्यान रखना कि जब तक साता का आस्रव होता रहेगा तब तक उसे मुक्ति का कोई ठिकाना नहीं है, केवलज्ञान होने के उपरान्त भी आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्त कम पूर्वकोटि वर्ष तक भी वह रह सकता है। वैभाविक पर्याय में और केवल साता का आस्रव होता रहता है, उस आस्रव को रोकने के लिए आचार्य कहते हैं कि तृतीय व चतुर्थ शुक्लध्यान आवश्यक है, वे ही भीतर बैठे हुए अघातिया कर्मों का नाश करने में समर्थ हैं। अघातिया कर्मों की निर्जरा करने का नम्बर बाद में आता है, लेकिन घातिया कर्मों की निर्जरा करने का प्रावधान पहले है।

संवर के क्षेत्र में, बन्ध के क्षेत्र में भी इसी क्रम की बात आती है। इसलिए ''**जिन पुण्य**

पाप नहीं कीना'', इस दोहे का अर्थ-मर्म सही-सही वही व्यक्ति समझ सकता है जो कर्म सिद्धान्त के बारे में सही-सही जानकारी रखता है। यदि इस प्रकार की सही-सही जानकारी नहीं रखता हुआ भी वह कहता है कि सम्यग्दृष्टि पाप-पुण्य दोनों प्रकार के कर्मास्रव को रोक देता है, वह भी चतुर्थ गुणस्थान में रोक देता है तो उसे तो अपने-आप ही बन्ध होगा और कोई छोटा बन्ध नहीं, बहुत बड़ा बन्ध माना जायेगा क्योंकि सामने वाला सोचेगा कि विकल्प तो मिटे नहीं फिर भी यह कह रहे हैं कि पुण्य नहीं होना चाहिए और हो रहा है तो इसका अर्थ है कि मेरे पास सम्यग्दर्शन नहीं है और धर्मात्मा भी नहीं हो सकता जब तक, तब तक कि पुण्य बन्ध को न रोकूँ। ऐसा करने वाले व्यक्ति के पास जब खुद के सम्यग्दर्शन का पतियारा (ठिकाना) नहीं है, तो चारित्र की बात करना ही गलत हो जाएगी। इस प्रकार यदि श्रद्धान बना लेता है तो दोनों ही संसार की ओर बढ़े चले जा रहे हैं – उपदेश सुनने वाला भी और उपदेश देने वाला भी। जैसा कि कहा है –

''केचित्प्रमादान्नष्टाः केचिच्चाज्ञानान्नष्टाः, केचिन्नष्टैरपि नष्टाः''

–बृहद द्रव्यसंग्रह टीका से...

कुछ लोग प्रमाद के द्वारा नष्ट हो जाते हैं, कुछ लोक अज्ञान के द्वारा नष्ट हो जाते हैं और कुछ लोग नष्ट हो रहे लोगों के पीछे-पीछे नष्ट हो जाते हैं। हम सिद्धान्त का ध्यान नहीं रख पाते हैं, इससे बातों-बातों में कितना गलत कह जाते हैं, यह पता भी नहीं चलता। इसलिए बन्धुओ! यदि आप स्वाध्याय का नियम लेते हैं तो दूसरों को सुनाने का विकल्प छोड़कर लीजिए, तभी नियम ठीक होगा, दूसरों को समझाने की अपेक्षा से भी नहीं, दूसरों को समझाने चले जाओ तो लाभ कम होगा, हानि ज्यादा होगी। इसके द्वारा जिनवाणी को सदोषी बनाना और हाथ आ जायेगा। भीति लगती है कि ४० ग्रन्थों में कहाँ-कहाँ पर कैसे-कैसे भंग बनते हैं, यह भी पता नहीं चल पाता और अपनी तरफ से उसमें निष्कर्ष देने लगते हैं। जबकि हम उसके अधिकारी नहीं होते। इसलिए सोच लेना चाहिए कि चतुर्थ गुणस्थान में सम्यग्दृष्टि को कौन-कौन से पुण्य कर्म का संवर होता है ? १४८ ही तो कर्मों की संख्या है और कोई ज्यादा नहीं है जो कि याद न रह सके। यहाँ दुनियादारी के क्षेत्र में तो हम बहुत कुछ याद कर लेते हैं, लेकिन १४८ में से चतुर्थगुणस्थान में कौन-कौन से कर्म का आस्रव रुका, संवर हुआ, उनमें प्रशस्त कितने, अप्रशस्त कितने हैं ? पाप कर्म कितने हैं, पुण्य कितने हैं, यह याद नहीं रह पाता ? यदि इसको ठीक-ठीक समझ लें तो अपने आप ही ज्ञात हो जायेगा कि हमारी धारणा आज तक पुण्य कर्म को रोकने में लगी रही, लेकिन आगम में ऐसा कहीं लिखा नहीं है।

बात खुरई (सागर, मध्यप्रदेश) की है जब आगम में निकला कि **''सम्माइट्ठी पसत्थकम्माणं अणुभागं कदावि ण हणदि''** तो देखते रह गये। वाह......वाह! स्वाध्याय का यह परिणाम

निकला। आप इस प्रकार के स्वाध्याय में लगे रहिए। ऐसा स्वाध्याय करिए, इसे मैं बहुत पसन्द करूँगा। इस प्रकार के सही-सही स्वाध्याय से एक-दो दिन में ही आप अपनी प्रतिभा के द्वारा बहुत-सी गलत धारणाओं का समाधान पा जायेंगे। लेकिन यह ध्यान रखना कि ग्रन्थ आर्षप्रणीत मूल संस्कृत और प्राकृत के हों, उनका स्वाध्याय करना। उसमें भाषा सम्बन्धी कोई खास व्यवधान नहीं आयेगा। यदि कुछ व्यवधान आ भी रहे हों तो उसमें स्वाध्याय की कमी नहीं, हमारे क्षयोपशम की, बुद्धि में समझ सकने की कमी हो सकती है। आप बार-बार पढ़िये, अपने आप समझ पैदा होगी, ज्ञान बढ़ेगा। महाराजजी ने एक बार कहा था कि ''एक ग्रन्थ का एक ही बार अवलोकन करके नहीं छोड़ना चाहिए। तो फिर कितनी बार करना चाहिए ? १०८ बार करना चाहिए कम से कम, लेकिन वह भी ऐसा नहीं कि तोता रटन्त पाठ करो किन्तु पहले की अपेक्षा दूसरी बार में, दूसरी की अपेक्षा तीसरी बार में आपकी प्रतिभा बढ़ती रहनी चाहिए, तर्कणा पैनी होनी चाहिए, तो अपने आप शंकाओं का समाधान होता चला जाता है।

आज हमारी स्मरण शक्ति, बुद्धि १४८ कर्मों के नाम भी नहीं जानती और आद्योपान्त ग्रन्थ का अध्ययन करना तो मानो सीखा ही नहीं और हम चतुर्थ गुणस्थान में पुण्य-पाप, दोनों कर्मों के आस्रव से उस सम्यग्दृष्टि को दूर कराने के प्रयास चालू कर देते हैं, लेकिन सफल नहीं हो पाते और न आगे कभी सफल हो सकेंगे।

बन्धुओ! यह बात अच्छी नहीं लग रही होगी। परन्तु माँ जिनवाणी की ही है, मैं नहीं कह रहा हूँ। मैं तो बीच में मात्र भाषान्तरकार के रूप में हूँ, जिनवाणी कह रही है आप सोचिए और पं. दौलतरामजी को सही-सही समझने का प्रयास कीजिए, वे संवर के प्रकरण को ले करके, सर्वप्रथम मुनियों की बात कह रहे हैं कि बारह भावनाओं का चिन्तन कौन करता है ? आप कहेंगे महाराज! क्या श्रावक नहीं कर सकते? नहीं, करना तो सभी को चाहिए, बात करने की नहीं लेकिन भावना फलीभूत किसकी होगी ? ठीक-ठीक किसकी होगी ? तो आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र में स्वयं कहा है कि–

''**स गुप्तिसमिति-धर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः**'' तत्त्वार्थसूत्र – ९/२

भावना सही-सही होनी चाहिए, भावना केवल पाठ न रह जाए, अतः चारित्र को अंगीकार करके परीषहों के साथ बारह भावनाओं का चिन्तन, धर्म को समीचीन बनाते हुए, समितियों में सम्यक्पना लाते हुए, गुप्ति की ओर बढ़ना, यही एकमात्र संवर का यहाँ पर तात्पर्य परिफलित होता है। तो बारह भावनाओं का चिन्तन ज्यों ही तीर्थंकरों ने किया तो फिर वे वन की ओर चले गए। उस समय ऊपर की ओर से कौन आते हैं ? देवर्षि आते हैं। कौन होते हैं वे देवर्षि ? लौकान्तिक देवों

को कहते हैं देवर्षि, बालब्रह्मचारी होते हैं, पंचम स्वर्ग के ऊपर उनकी कॉलोनी बनी है उनमें रहते हैं। द्वादशांग के पाठी होते हैं, सफेद वस्त्र धारण करते हैं, वहाँ कोई भी देवियाँ नहीं होती तथा हमेशा बारहभावनाओं का चिन्तन करते रहते हैं। वे कहाँ से गए हैं ? तो, जाते तो हैं वे मात्र भरत, ऐरावत एवं विदेहक्षेत्र की कर्मभूमियों से, भोगभूमि से कोई नहीं जा सकता वहाँ पर! महाराज क्या सम्यग्दृष्टि वहाँ जा सकते हैं ? हाँ सम्यग्दृष्टि ही जाते हैं लेकिन ''अविरत सम्यग्दृष्टि लौकान्तिक देव नहीं हो सकते हैं।'' किसी एक व्यक्ति से कल हमने सुना–वह कह रहे थे कि महाराज! वहाँ पर रात्रि में चर्चा चल रही थी कि अविरत सम्यग्दृष्टि लौकान्तिक देव हो सकते हैं। लेकिन आप तो कह रहे थे कि मुनि बने बिना नहीं जा सकते हैं। कौन कहता है कि अविरतसम्यग्दृष्टि लौकान्तिक देव हो सकता है ? मैं तो अभी भी कह रहा हूँ कि प्रत्येक मुनि के पास भी लौकान्तिक बनने की योग्यता नहीं। जो रत्नत्रय को पूर्णरूपेण निभाता है, वह भावनाओं के चिन्तन में अपने जीवन को खपाता है, महाव्रतों का निर्दोष पालन करता है, इस प्रकार की चर्या निभाते हुए अन्त में वह लौकान्तिक बनता है। तिलोयपण्णत्ति को उठा करके देख लेना चाहिए। जो व्यक्ति मुनि हुए बिना चतुर्थ गुणस्थान से लौकान्तिक देव बनने का प्रयास कर रहा है वह व्यक्ति इस ओर नहीं देख रहा है जो तिलोयपण्णत्ति में कहा गया है। इस प्रकार की कई गल्तियाँ हमारे अन्दर घर कर चुकी हैं। यदि अज्ञान के कारण कोई बात अन्यथा हो जाए तो बात एक बार अलग है, क्षम्य है। लेकिन तत्सम्बन्धी जिसे ज्ञान भी नहीं और ऊपर से आग्रह है तो उन्हें इस प्रकार के उपदेश या प्रवचन नहीं देना चाहिए। प्रवचन देने का निषेध नहीं है किन्तु जिस विषय के बारे में पूर्वापर ज्ञान हमें सही-सही नहीं है और उसका हम प्रवचन दें तो इसमें बहुत सारे व्यवधान हो सकते हैं। यदि इसमें कषाय और आ जाए तो फिर बहुत गड़बड़ हो जाएगा। **मोक्षमार्ग बहुत सुकुमार है और बहुत कठिन भी। अपने लिए कठोर होना चाहिए और दूसरों के लिए सुकुमार होना चाहिए किन्तु कषायों की वजह से दूसरों को कठोर बना देते हैं और अपने लिए नरम बना लेना चाहते हैं।** लेकिन मोक्षमार्ग है आपकी इच्छा के अनुसार नहीं बनने वाला, भैय्या!

भगवान के दर्शन अच्छे ढंग से करो, उनकी भक्ति करो, भगवान की भक्ति करने से हमें कुछ नहीं होता, ऐसा नहीं सोचना चाहिए। आचार्य कुन्दकुन्द जैसे आचार्य भी कहते हैं कि –

अरिहंत णमोक्कारो, भावेण य जो करेदि पयडमदी।
सो सव्वदुक्खमोक्खं, पावदि अचिरेण कालेण॥

(मूलाचार-१/५०६)

जो प्रयत्नवान हो करके अरहन्तों की भक्ति करता है, भावों की एकाग्रता के साथ करता है तो नियम से वह कुछ ही दिनों में, घड़ियों में सभी दुःखों से मुक्ति पा जायेगा। '**भावेण**' यह शब्द

बहुत मार्के का है। अर्थ यह है कि अरहन्त भक्ति करो पर '**हेयबुद्धि**' से करना, इस पर मन कुछ सोचने का कहता है, कई लोग ऐसा व्याख्यान देते हैं कि भक्ति आदि क्रियाएँ हेयबुद्धि से करना चाहिए, लेकिन वह मेरे गले नहीं उतरता है। कई लोग कहते हैं कि महाराज! कम से कम अरहन्तभक्ति करते समय हमारी हेयबुद्धि कैसे हो ? हम तो हैरान हो जाते हैं कि भैय्या! इस प्रकार का प्रश्न तो आपने कर दिया हमारे सामने किन्तु इसके लिए उत्तर मैं कहाँ से ढूँढू ? और यदि इसका उत्तर समीचीन नहीं देता हूँ तो मुझे दोष लगेगा। आपको कुछ नहीं कहने पर आप और भी इस तरह की गलत धारणा बना लेंगे। दूसरी तरफ आगम में ऐसा कुछ कहा भी नहीं जिससे आपका समाधान हो सके। अब तो फंदे में पड़ गये हम, किन्तु फिर भी ढूँढता रहता हूँ कि कौन-सा शब्द कहाँ पर किस रूप में प्रयुक्त होता रहता है ? मैं मंजूर करता हूँ कि अरहन्त-भक्ति करते-करते किसी को भी केवलज्ञान नहीं हुआ, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि अरहन्त-भक्ति के द्वारा संवर और निर्जरा भी नहीं होती, ऐसा कदापि नहीं मानना। संवर, निर्जरा नियम से होती है, इस संवर-निर्जरा के द्वारा साक्षात् केवलज्ञान नहीं होता, यह बात बिल्कुल अलग है कि जो केवलज्ञान प्राप्ति की भूमिका में है और ''अरहन्त-भक्ति (अरहन्त-सिद्ध)'' करता रहेगा तो उसे अरहन्त पद नहीं मिलेगा क्योंकि उसकी स्थिति अभी पराश्रित है।

समयसारादि ग्रन्थों में कहा गया है कि अरे! तू मुनि हो गया, अब शुद्धोपयोग धारण कर, शुद्धोपयोग में लीन हो जा, यदि शुद्धोपयोग में लीन हो जाएगा तो तू भी उसी के समान बन जाएगा जिसकी भक्ति कर रहा है।

सुबह भजन में कोई सज्जन कह रहे थे कि ''**भक्त नहीं भगवान् बनेंगे।**'' मैंने सुना क्या बोल रहे हैं भजनकार ? भैय्या! यह तो बहुत गड़बड़ बात होगी कि जो भक्त तो नहीं बनेगा और भगवान बनेगा, भगवान तो बनना है लेकिन भक्त बनकर भगवान् बनेंगे, ऐसा क्रम होना चाहिए। नहीं तो सारे के सारे लोग भक्ति छोड़कर भगवान बनने बैठ जायेंगे तो मामला गड़बड़ हो जाएगा। प्रसंग को लेकर अर्थ को सही निकाला जाए तो कोई विसंवाद नहीं, किन्तु उसी पर अड़ जायें तो मामला ठीक नहीं, भक्ति के द्वारा जो केवलज्ञान माने, तो वह समयसार नहीं पढ़ रहा है और समयसार पढ़ते हुए यदि हम यह कहें कि ''भक्ति से कुछ नहीं होता'' तो भी समयसार नहीं पढ़ रहे हैं। आचार्य कुन्दकुन्ददेव कहते हैं कि –

मग्गप्पहावणट्ठं, पवयणभत्तिप्पचोदिदेण मया।
भणियं पवयणसारं पंचत्थियसंगहं सुत्तं॥

(पञ्चास्तिकाय-१७३)

प्रवचनभक्ति के द्वारा प्रेरित हुई मेरी आत्मा ने इस प्रवचन (आगम) के साररूप पञ्चास्तिकाय-संग्रह सूत्र को कहा। मार्ग की प्रभावना को दृष्टि में रखकर ऐसी भावना उद्‌भूत हुई। भक्ति से ओतप्रोत होकर जिनवाणी की सेवा करने का ऐसा भाव यदि इस भूमिका में नहीं होगा तो कौन-सी भूमिका में होगा ? क्या सप्तमभूमि में होगा ? नहीं होगा। करुणा से युक्त हृदय वाले ही भक्ति कर सकते हैं। यदि कुन्दकुन्दाचार्य की अरहन्तभक्ति-श्रुतभक्ति नहीं होती तो यह जिनवाणी भी हमारे सामने नहीं होती। आप भी तो बोलते हैं कि ''**तो किस भांति पदारथ पांति, कहाँ लहते रहते अविचारी**'' हाँ...हाँ! जिनवाणी -भक्ति में क्या मार्मिक बात कही है कि हमारा अस्तित्व कहाँ, यदि यह जिनवाणी न होती तो ? किसी उर्दू शायर ने भी कहा है उसे भी याद ला रहा हूँ, बहुत अच्छी बात कहीं-उनकी ये दृष्टि हो या न हो, लेकिन मैंने तो इसका इस प्रकार अर्थ निकाला है –

नाम लेता हूँ तुम्हारा लोग मुझे जान जाते हैं।
मैं एक खोई हुई चीज हूँ जिसका पता तुम हो॥

मेरा कोई 'एड्रेस' नहीं, पता नहीं, अगर कुछ है तो तुम ही हो! तुम्हारी शरण छूट गयी तो हमारे लिये कोई शरण नहीं भगवान।

''अन्यथा शरणं नास्ति त्वमेव शरणं मम''...अरहंते सरणं पव्वज्जामि।

समाधिभक्ति - १५

हे भगवान! (पञ्चपरमेष्ठी) आपके चरण-कमलों की शरण को छोड़ करके कौन-सी मुझे शरण है ? भगवान की भक्ति करते हुए यदि हेयबुद्धि लाने का प्रयास करोगे तो बन्धुओ! ध्यान रखो 'शुद्धोपयोग' की भूमिका आपको नहीं मिलेगी और अशुभोपयोग की भूमिका छूटेगी नहीं। भक्ति शुभोपयोग हुआ करती है। लेकिन शुभोपयोग के द्वारा केवल बन्ध होता है, ऐसा नहीं है, शुभोपयोग के द्वारा संवर-निर्जरा भी होती है। सर्वप्रथम प्रवचनसार में आत्मख्याति लिखते हुए अमृतचन्द्राचार्य ने गाथा की टीका में लिखा है कि –

एसा पसत्थभूदा समणाणं वा पुणो घरत्थाणं।
चरिया परेत्ति भणिदा ताएव परं लहदि सोक्खं॥

यह जो श्रावकों की अरहन्त-भक्ति, दान और पूजादि रूप प्रशस्तचर्या है, इसके द्वारा ''**क्रमतः परमनिर्वाणसौख्यकारणत्वाच्च मुख्यः**'' ये शब्द अमृतचन्द्राचार्य के हैं (प्रवचनसार २५४ टीका)। जयसेनाचार्यजी ने इसका और खुलासा किया है। सर्वप्रथम इन अध्यात्म ग्रन्थों में 'क्रमतः' शब्द का प्रयोग किया है तो अमृतचन्द्राचार्यजी ने ही। जो (अमृतचन्द्राचार्य) क्रमतः अर्थात् परम्परा से परम निर्वाण के सुख को प्राप्त करने के लिए सराग चर्या और अरहन्त-भक्ति को कारण

मानते हैं तो उसके लिए ''एकान्त से संसार का ही कारण मानना, ऐसा कह देना, आचार्य अमृतचन्द्राचार्य को दुनिया से अपरिचित कराना है।''

शुद्धोपयोग के साथ कुछ भी आस्रव नहीं होता, बिल्कुल ठीक है। परन्तु शुभोपयोग के द्वारा केवल आस्रव ही होता है, ऐसा नहीं है। इसलिए तो अमृतचन्द्राचार्यजी ने ये शब्द दिये ''क्रमतः परमनिर्वाणसौख्यकारणत्वाच्च मुख्यः'' और कुन्दकुन्द भगवान क्या कहते हैं ? ''**ताएव परं लहदि सोक्खं**'' अर्थात् उसी सरागचर्या के द्वारा क्रमशः निर्वाण की प्राप्ति होती है। यहाँ पर यदि मुनि कहे कि हम भी ऐसा ही करें तो आचार्य कहते हैं कि-बाबला कहीं का! तुम्हारी शोभा इसमें नहीं, तुम्हारी तो भूमिका शुद्धोपयोग की है, शान्ति से बैठ जा और आत्मा का ध्यान कर ले! तुम्हें क्रमशः नहीं 'साक्षात्' की भूमिका है। लेकिन वर्तमान में बन्धुओ! इस विवक्षा को नहीं समझोगे तो उस भक्ति को भी खो दोगे और उधर भी कुछ नहीं मिलेगा, तब कहाँ रहोगे? इस सब अवस्था को देखकर भगवान कुन्दकुन्द को कितना दुःख होगा, अमृतचन्द्राचार्य को कितना दुःख होगा? उन्होंने प्रयास किया लिखने में, टीका करने में और हम अर्थ निकालने वाले ऐसा अर्थ निकाल रहे हैं ? बेचारी इस भोली-भाली जनता का क्या होगा ? इसलिए आचार्यों ने टीका के ऊपर टीकाएँ, कुंजी, नोट्स ये...वो...सब कुछ लिखे हैं। लेकिन टीका की कीमत, कुंजी की कीमत, तब तक ही है जब तक मूल है। ताला ही मूल नहीं तो टीका, कुंजी का बड़ा-सा गुच्छा अपने पास रख ले तो भी कुछ (कोई भी) कीमत नहीं।

आज किताब का तो अध्ययन कोई करता नहीं और कुंजियों के द्वारा पास होने वाले विद्यार्थी बहुत हैं। उन विद्यार्थियों को देखकर ऐसा लगता है कि जब ताला नहीं मिलेगा तो कुंजी का प्रयोग कहाँ करेंगे ये लोग ? उस कुंजी 'की' कीमत तब है जब मूल किताब में कहाँ पर क्या लिखा है, उसको देखने में 'की' (key) लगा दो तो ठीक है, लेकिन जब नवम्बर और अप्रैल आ जाता है उस समय कालेज के भी विद्यार्थी पढ़ाई प्रारम्भ करते हैं तो पास कैसे होंगे? की पढ़कर ही जैसे भी हो वैसे पास हो जायें, बस यही सोचते हैं। कदाचित् वे पास हो भी जाएँ लेकिन यहाँ पर ऐसा नहीं चलेगा भैय्या! यहाँ पर पूरा का पूरा प्रयास करने की आवश्यकता है।

आचार्य समन्तभद्रस्वामी ने अरहन्त-भक्ति में तो विशेष रूप से कमाल किया है, वे कहते हैं -

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ! विवान्तवैरे।
तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः पुनातु चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः॥

(स्वयम्भूस्तोत्र-१२/२)

हे भगवन्! हम आपकी भक्ति कर रहे हैं, स्तुति कर रहे हैं और आपको स्मरण कर रहे हैं,

इससे आपका कोई भी प्रयोजन नहीं है, क्योंकि आप तो वीतरागी हैं। हे भगवन्! कोई भी आकर, आपकी निन्दा करे तो आपको कोई प्रयोजन नहीं, क्योंकि आप वीतद्वेषी हैं। आपके चरणों में भक्ति कर रहा हूँ मैं, इससे आपको तो कोई लाभ-प्रयोजन नहीं किन्तु मेरा ही मतलब सिद्ध हो जाता है, कारण कि अभी तक बिगड़ा रहा, अब आज आपकी भक्ति के माध्यम से सुधर जाऊँगा, इसके लिए आप मना भी नहीं करते हैं। उन्होंने पाँच कारिकाओं के द्वारा वासुपूज्य भगवान की स्तुति करते हुए मात्र पूजा का ही वर्णन किया है। वे कहते हैं कि –

पूज्यं जिनं त्वार्चयतो जनस्य, सावद्यलेशो बहुपुण्यराशौ।
दोषाय नालं कणिका विषस्य, न दूषिका शीतशिवाम्बुराशौ ॥

(स्वयम्भूस्तोत्र-१२/३)

हे भगवन्! आपकी स्तुति, पूजापाठ आदि करते-करते कोई श्रावक दोष का भागीदार नहीं होगा, सावद्य पूजन होने पर भी, क्योंकि पूजन के द्वारा इतना फल मिलता है–कर्मों की निर्जरा होती है कि क्या बताऊँ ? और उसके साथ-साथ यदि कुछ कर्मों का बन्ध भी हो रहा हो तो वह उसके लिए बाधक नहीं होगा, दोषकारक सिद्ध नहीं होगा। क्या उदाहरण दिया है ? समुद्र है, वह भी अमृत का, उसमें यदि विष की एक कणिका डाली जाय तो वह समुद्र को किसी भी प्रकार से विकृत नहीं बना सकती। मैं पूछना चाहता हूँ बड़ी-बड़ी सिटियों से लोग आये होंगे यहाँ पर। वहाँ पर आप सबकी दुकानें तो होंगी, भले ही घर की न हो, किराये से ले रखी हो, माल तो आपका ही होता है, मकान आपका नहीं लेकिन आप चाहते होंगे कि सागर में दुकान चकराघाट पर या तीनबत्ती पर खुल जाए, ताकि हमारी दुकान चौबीसों घण्टे चलती रहे, ग्राहकों का तांता लगा ही रहे। लेकिन मैं पूछना चाहता हूँ कि वहाँ पर दुकान मिलेगी कैसे ? जो माँगे वह देने को तैयार है, हम दस लाख की पगड़ी देने को तैयार हैं, लेकिन मिल तो जाय कम से कम। मान लो मिल गई और धड़ाधड़ चलने भी लगी, मालामाल हो गये तो मालूम है किराया लेने वाला (मालिक) क्या कहता है कि आपको किराया और बढ़ाना होगा? तब आप कहते हैं–बढ़ाओ कोई बात नहीं, ले लो और ले लो, एक माह हुआ नहीं कि २९ तारीख के दिन ही निकाल करके रख देते हैं। आया नहीं कि दे दिया। क्योंकि गड़बड़ किया तो दुकान खाली करनी पड़ेगी, तब तो मुश्किल हो जाएगा। इसलिए सब कुछ देने को तैयार हो जाते हैं। दुकान अच्छी चल रही है। अपनी गांठ का देना होता तो थोड़े ही निकालते। जो आ रहा है, उसी में से थोड़ा-सा दे दिया। ये स्थिति होती है जिसकी निजी दुकान नहीं है, उसकी यह बात है, तब तो जिसकी दुकान भी घर की है, जिसको कुछ भी, एक पाई भी न देना पड़े, खुद का घर, खुद की दुकान, नौकर भी नहीं, सब कुछ स्वयं करते हैं तो मालामाल हो जायेंगे। देने की आवश्यकता ही नहीं, मात्र लेना ही लेना है।

इसी प्रकार अरहन्त-भक्ति में, पूजा में लाभ ही लाभ है। अतः भक्ति आदिक धार्मिक कार्य 'हेयबुद्धि' से नहीं किये जाते किन्तु आचार्यों ने कहा है "**परमभक्तया एव अरहन्तभक्ति कुरु**" परमभक्ति के द्वारा अरहन्तभक्ति करो किन्तु उस भक्ति के द्वारा जो भी पुण्यबन्ध होता है, उस पुण्यबन्ध के उदय का जब फल मिलेगा तब उसमें आकांक्षा-रागद्वेष-हर्ष विषाद नहीं करना। पं. दौलतरामजी कहते हैं कि –

पाप पुण्य फल मांहि हरख विलखो मत भाई।
यह पुद्गल परजाय उपज विनसे थिर नाई॥

क्या कहते हैं वे ? पुण्य और पाप के फल-काल में न तो हर्ष होना चाहिए, न ही विषाद, किन्तु संसारी प्राणी का बिना इसके (हर्ष-विषाद के) चल नहीं सकता। फल के लिए जो व्यक्ति अरहंत भक्ति आदि पुण्य करता है, उसका वह पुण्य पापानुबन्धी पुण्य है और जो व्यक्ति अरहंत भक्ति आदि पुण्य संवर और निर्जरा के निमित्त करता है, कर्मक्षय के लिए करता है, वही सार्थक है।

शुद्धोपयोग की भूमिका नहीं है तब क्या करूँ? तो आचार्य कहते हैं कि चिन्ता मत कर बेटा! मैं कह रहा हूँ, रास्ता यही है तेरे लिए "क्रमतः परमनिर्वाण सौख्यकारणत्वाच्च मुख्यः" इस भव में नहीं तो ना सही, किन्तु मिलेगा तो, परम आह्लाद की प्राप्ति होगी नियम से, सभी को आह्लाद पहुँचाने का प्रयास करो, जिससे व्यक्ति अरहन्त भक्ति करने लग जायेगा ऐसा प्रवचन दीजिए, ऐसा नहीं कि "भुक्ति की भक्ति" शुरू कर दें। 'अर्हन्त भक्त' बनेगा तो नियम से वह मुनि बनेगा और अपनी आत्मा में स्वस्थ होगा। यह सब यदि करना चाहते हो तो नियम से, अच्छे ढंग से अरहन्त भक्ति करना चाहिए।

अरहन्त भक्ति करते-करते प्राण निकल जाये, ऐसा आचार्य समन्तभद्र और कुन्दकुन्द भगवान का कहना है। सल्लेखना के समय पर जिस व्यक्ति के मुख से अरहन्त भगवान् का नाम निकलता है, वह बहुत ही भाग्यशाली है। जिसके मुख से 'अरहन्त' नाम भी नहीं निकलता है, उसका तो कर्म ही फूट गया, खोटा है। महान् बड़भागी होते हैं वे जो जीवन पर्यन्त उपाध्याय परमेष्ठी का काम करते हैं और अन्त में भी 'णमोकार मन्त्र' दूसरों को सुनाते जाते हैं, बहुत भाग्य की बात है। 'अरहन्त-सिद्ध' मुख से नहीं निकलता, किन्तु कहते हैं – "हाय रे ! जल लाओ, भीतर तो सभी कुछ जला जा रहा है।" जीवनभर समयसार भी पढ़ लो, गोम्मटसार भी रट लो, प्रवचनसार के प्रवचन भी कर लो, लेकिन जब अन्त समय प्राणपखेरु उड़ने लग जाते हैं तो अरहन्त कहते नहीं पाये जाते, ऐसे भी कई उदाहरण आगम में दिये गये हैं। ४८ मुनियों को वैय्यावृत्ति में लगाया जाता है और बार-बार कहा जाता है कि "आपके माध्यम से हमें मार्ग मिला है" और आप कह रहे हैं

कि जल लाओ, भोजन लाओ। रात तो देखो, अपनी अवस्था को भी देखो, आप किस अवस्था में हैं और यह क्या कह रहे हैं, पूर्व की याद करो, नरकों की याद करो, जहाँ ''**सिन्धु नीरतैं प्यास न जाए तो पण एक न बूँद लहाय॥**''

यह प्यास, भूख तो अनन्तकाल से साथ दे रही है। अब तो केवली भगवान् की बात सुनिए—घबराओ नहीं, अरहन्त भक्ति को याद रखो, **आज भी नियमपूर्वक, विधिपूर्वक सल्लेखना करने वाला उत्कृष्ट से २-३ भव और जघन्य से ७-८ भव में मोक्ष जाता है।**

पं. दौलतरामजी कहते हैं कि यदि तू मुनि नहीं बन सकता तो कम से कम श्रावक के व्रत तो पालन कर/धारण कर। **दो ही धर्मों का व्याख्यान शास्त्रों में आता है-एक अनगार, दूसरा सागार। तीसरा कोई धर्म नहीं है। आप कहीं भी चले जायें दो ही धर्म मिलेंगे, दोनों में चलने को कहा है।** एक बात और कहना चाहूँगा कि अमृतचन्द्राचार्यजी ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहा है—आप लोग बहुत पढ़ते हैं उसको, जब भी उपदेश देओ तो सर्वप्रथम मुनि बनने का उपदेश देना बाद में श्रावक धर्म का क्योंकि सामने वाला यदि मुनि बनने की इच्छा से आया है और आप उसे गृहस्थाश्रम के योग्य धर्म का उपदेश देंगे तो दण्ड के पात्र होंगे। केवल एक धर्म का कभी भी वर्णन नहीं होना चाहिए। मात्र सम्यग्दर्शन कोई धर्म नहीं है किन्तु सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र, तीनों मिलाने पर ही धर्म बनते हैं, ऐसा आचार्यों का कहना है।

बन्धुओ! या तो श्रावक बनो या मुनि बनो, तीसरा कोई मार्ग नहीं है। यदि धर्म का पालन नहीं कर सकते तो, भाव तो रखो मन में कम से कम, इस प्रकार की भावना होना भी महादुर्लभ है।

कृष्णजी के सामने समस्या आ गई, वे कह देते हैं प्रद्युम्न आदि सब चले जाओ, सबको हमारी तरफ से छुट्टी है मुनि बनने की, दीक्षा लेने की। बेटे ने कहा—आप भी चलेंगे पिताजी, मेरी भावना नहीं हो रही है, क्यों नहीं हो रही है पिताजी? कितने मार्के की बात है देखो, **सिद्धान्त कहता है कि जिस जीव को मनुष्यायु, तिर्यञ्चायु या नरकायु का बन्ध हो चुका है उसको कभी भी संयम लेने की भावना तक नहीं होती।**'' लेकिन वह सम्यग्दृष्टि है तो दूसरे को दीक्षा लेने में कभी व्यवधान नहीं डालेगा। **जो व्यक्ति शिक्षा-दीक्षा का निषेध करता है वह व्यक्ति नियम से संयम के प्रतिपक्षी होने के कारण मिथ्यादृष्टि है।** बन्धुओ! यह ध्यान रखो, खुद मोक्षमार्ग पर नहीं चल सकते तो कोई बात नहीं किन्तु तुम चलो बेटा, तुम चलो बेटा, तुम चले जाओ। हम बाद में आ जायेंगे, जब कभी हमारी शक्ति आ जायेगी तब, ऐसा प्रोत्साहन तो देता है। ''मैं नहीं चल रहा हूँ इसलिए तुम कैसे आगे पहुँच सकते हो'' इस घमण्ड से दूसरों के मार्ग में बाधक का कार्य नहीं करो, ''आज मोक्षमार्ग पर कोई नहीं बढ़ सकता'', ऐसा भी कभी मत कहना, क्योंकि नियमसार की एक

गाथा है आचार्य कुन्दकुन्ददेव की–अनेक प्रकार के भाव होते हैं, अनेक प्रकार कर्म होते हैं, अनेक प्रकार की उपलब्धियाँ होती हैं। इसलिए आपस में इस प्रकार का संघर्ष कषाय करके 'स्व' और 'पर' के लिए कभी भी ऐसे बीज मत बोओ, जिसके द्वारा विष फल खाना पड़े और नरक-निगोद आदि गतियों में जाना पड़े।

दिव्यध्वनि में भगवान् ने दो ही धर्मों का वर्णन किया है और सम्यग्दर्शन के साथ दोनों धर्म हुआ करते हैं। इनमें से एक परम्परा से मुक्ति का कारण है और एक साक्षात्। मुनिधर्म साक्षात् मुक्ति का कारण है और श्रावकधर्म परम्परा से, परन्तु आज तो दोनों ही धर्म परम्परा से हैं क्योंकि आज साक्षात् केवलज्ञान नहीं होगा। इसलिए इस सत्य को, इस तथ्य को सही-सही समझ करके अपने मार्ग को आगे तक प्रशस्त करने का ध्यान रखिए क्योंकि –

ज्ञान ही दुःख का मूल है, ज्ञान ही भव का कूल।
राग सहित प्रतिकूल है, राग रहित अनुकूल॥
चुन-चुन इनमें उचित को, मत चुन अनुचित भूल।
सब शास्त्रों का सार है, समता बिन सब धूल॥

❑ ❑ ❑

निर्वाणकल्याणक

(पूर्वार्द्ध)

अभी-अभी बोलियाँ हो रही थीं। मैं सोच रहा था कि बोली लेने वाले यह जानते हैं और करने वाले भी जानते हैं कि पैसा अपने से बिल्कुल भिन्न है। तब भी मुझे समझ में यह नहीं आ रहा था कि २-२, ३-३ बार बोलने के उपरान्त जैसे क्रेन के द्वारा कोई बड़ी वस्तु उठती है धीरे-धीरे, ऐसी ही बोलियाँ उठ रही थीं, ऐसा क्यों ? जबकि धन विभिन्न पदार्थ है, उसके साथ हमारा कोई सम्बन्ध नहीं फिर भी ऐसा लग रहा था कि जैसे गोंद से आपका और उन नोटों का गठबन्धन हो गया है, नोट ट्रेझरी में हैं और आप यहाँ आकर बैठे हैं, फिर भी नहीं निकल रहे हैं, बोली लेने वाले के तो नहीं निकल रहे हैं क्योंकि उन्हें मोह है, लेकिन यहाँ जो बोली करा रहे थे वह भी दो के साथ-साथ ढाई बोल रहे थे यानि उनका भी मोह और बढ़ रहा था।

आज मोह को छोड़कर ही शरीरातीत अवस्था प्राप्त हुई, कितना घनिष्ठ सम्बन्ध है आत्मा के साथ, देख लीजिए! आज द्रव्य कर्म से, भाव कर्म से और नोकर्म से, इन तीन कर्मों से अतीत हो करके उस आत्मा का जन्म हुआ है, सिद्धपरमेष्ठी की ही सही जन्मजयंती है आज के दिन। अनन्तकाल के लिए यह जन्म, ज्यों का त्यों रहेगा, अनन्तकाल के लिए मरण का-मरण हो चुका

अब, ऐसा उत्पाद हुआ और ऐसा उत्पात (हलचल) हुआ कि कहना संभव नहीं। यह तो ऋषभनाथ ही जान सकते हैं, हम नहीं जान सकते।

आज इस बात को देखने (निर्वाणकल्याणक) में इतना आनन्द आता है कि जितना कि अन्य में नहीं आता, निर्वाणकल्याणक में मुझे विशेष ही आनन्द आता है, हालांकि दीक्षाकल्याणक, केवलज्ञानकल्याणक भी कल्याणक हैं, लेकिन निर्वाण कल्याणक को देख अपूर्व ही आनन्द उमड़ता है। कल तक तो समवसरण की रचना थी, अब समवसरण बिखर गया। वृषभनाथ भगवान का समवसरण १४ दिन पहले ही बिखर गया, मुक्ति पाने से पहले, याने १४ दिन तक समवसरण के बिना रहे थे, समवसरण में विराजमान होते हैं तो अर्हन्त परमेष्ठी माने जाते हैं, छत्र, चँवर, सिंहासन और कमल के चार अंगुल ऊपर अधर में बैठे रहते हैं। अर्हन्त परमेष्ठी एक प्रतिमा जैसे हो जाते हैं। समवसरण में जब तक विराजमान रहेंगे तो उन्हें केवलज्ञान तो भले ही रहा आवे, लेकिन मुक्ति तीनकाल में मिलने वाली नहीं, किसी को भी आज तक कुर्सी पर बैठे-बैठे, किसी संस्था के संचालक को मुक्ति नहीं मिली, **केवलज्ञान होने में तथा मुक्ति में उतना ही अन्तर है, जितना कि १५ अगस्त और २६ जनवरी में। केवलज्ञान हुआ यह स्वतन्त्रता दिवस है और मुक्ति गणतन्त्र दिवस।** यह बिल्कुल नियम है कि स्वतन्त्रता के लिए पहले बात होती है और कह दिया जाता है कि तुम्हें स्वतन्त्रता मिलेगी-दी जायेगी, लेकिन सत्ता जो है, वह गणतन्त्र दिवस के दिन आती है। आज भगवान को अपनी निजी सत्ता हाथ लगी, जो कि पर के हाथ चली गई थी, उसके लिए उन्होंने बहुत कोशिश की, अनशन भी प्रारम्भ किये, तब कहीं जाकर के सत्ता मिली है। आप सोचते हैं सत्ता को ले लेना आसान है, लेकिन नहीं दूसरों की सत्ता पर अधिकार नहीं करना है। अपनी सत्ता को प्राप्त करने के लिए आचार्यों ने कहा है कि अन्तर्मुहूर्त पर्याप्त है, पर यह सब व्यायाम करना आवश्यक है तभी जो ग्रन्थियाँ हैं, छूट सकेंगी, जो कि आपकी नहीं हैं, उसी साधना में कठिनाई है, इसलिए साधु की यह विशेषता होती है कि वह केवल आत्मसाधना करता है। वही साधु हुआ करता है। कुछ इससे आगे के होते हैं, जो अपनी साधना को करते हुए भी दूसरों को उपदेश दे देते हैं, वे उपाध्याय परमेष्ठी कहलाते हैं। यदि कोई उपदेश ग्रहण कर मार्ग को, पंथ को अपनाना चाहता है तो उसे शिक्षा-दीक्षा देकर के पथ के ऊपर आरूढ़ करा देते हैं। "**चरति आचारयति वा इति आचार्यः**" वह आचार्य परमेष्ठी कहलाते हैं और

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तदगुणलब्धये॥

अरहन्त परमेष्ठी वे माने जाते हैं, जो कि हितोपदेशी होते हैं, सर्वज्ञ होते हैं और मोक्षमार्ग के नेता होते हैं।

अरहन्तों में तीर्थंकर भी होते हैं, जो कि सिद्ध परमेष्ठी को नमोऽस्तु करते हैं। ऐसा क्यों ? सभी के आराध्य देवता तो सिद्ध ही हुआ करते हैं। शेष सारे के सारे आराधक हैं, अरहन्त परमेष्ठी को मुनि माना जाता है, सिद्ध परमेष्ठी मुनियों की कोटि में नहीं आते, वे तो मुनियों से पूज्य हैं, शाश्वत सत्य हैं। अर्हन्त परमेष्ठी को भी साधु जीवन की उपासना करनी पड़ती है। तब यह पद लिया ही क्यों उन्होंने? पूर्व जीवन में उन्होंने भावना भायी थी कि "**क्षेमं सर्वप्रजानां।**" दर्शनविशुद्धि आदि षोडशभावनाएँ, जिनमें सबका कल्याण हो, संसार में तिलतुष मात्र भी सुख नहीं, सभी को सही-सही दिशाबोध मिले, इन्हीं का तो फल है। प्रत्येक सम्यग्दृष्टि को भी ऐसी भावना नहीं हुआ करती, यदि होने लग जाए तो सभी को तीर्थंकर पद के साथ मुक्ति मिले। पर ऐसा असम्भव है। असंख्यातों में एक-आध ही सम्यग्दृष्टि ऐसी भावना वाले होते हैं।

अरहन्त परमेष्ठी की अवस्था कोई भगवद् अवस्था नहीं है, उन्हें उपचार से भगवान कह देते हैं। उनके चार घातियाँ कर्मों के नाश हो जाने पर, अब जन्म से छुट्टी मिल गई, इसी अपेक्षा से या उपचार से कह देते हैं। दूसरी बात और कहूँ–उनको (अरहन्त) मुक्ति कब मिलती है ? अरहन्त परमेष्ठी को मुक्ति तीनकाल में नहीं मिल सकती। आचार्य परमेष्ठी को भी नहीं मिल सकती, उपाध्याय परमेष्ठी को भी नहीं मिल सकती। मुक्ति के पात्र साधु परमेष्ठी हैं। मोक्षमार्ग के नेतृत्व को अपनाये रहेंगे जब तक, तब तक मुक्ति नहीं। उनके समवसरण में बैठे-बैठे कोई उपदेश सुनकर के भावलिंगी मुनि को मुक्ति हो सकती है, पर समवसरण के संचालक (तीर्थंकर) को मुक्ति नहीं होती। कितनी बड़ी बात है। हम लोग कम से कम कुर्सी का तो मोह छोड़ दें, कुर्सी मिल भी नहीं रही है सबको, लेकिन सभी झगड़ा करते हैं कुर्सी के लिए मात्र उस मोह के कारण, चुनाव भी लड़ते हैं। आज तो तीर्थंकर प्रभु की भी कुर्सी (सिंहासन) छूट गयी। तीन लोक में कहीं भी ऐसी सम्पदा नहीं मिलती है। इन्द्र की आज्ञा से कुबेर के द्वारा समवसरण की रचना होती है, सारे भण्डार को खाली करके, समवसरण की रचना केवलज्ञान उत्पन्न होने के उपरान्त क्यों हुई ? सारी की सारी सम्पदा पहले भी कुबेर के भण्डार में थी, वह अपने लिए अथवा इन्द्र के लिए समवसरण की रचना क्यों नहीं कर सकता ? नहीं! यह तो मात्र तीर्थंकर प्रकृति के उत्कृष्ट पुण्य का विपाक है उन्हीं के लिए यह सब कुछ सम्पदा मिलती है।

आचार्य परमेष्ठी भी जब तक आचार्य परमेष्ठी बने रहेंगे तब तक श्रेणी में आरोहण नहीं हो सकता। उपाध्याय परमेष्ठी को भी श्रेणी नहीं मिलेगी। और यहाँ तक की तीर्थंकर को भी, जब तक अर्हन्त परमेष्ठी के रूप में रहेंगे तब तक मुक्ति नहीं, सब कुछ यहाँ पर छोड़ना पड़ता है, सारा का सारा ठाठ-बाट यहीं पर धरा रह जायेगा, आठ कर्मों को भी यहीं छोड़ जायेंगे और जाकर ऊर्ध्वलोक में विराजमान हो जाएंगे, अनन्तकाल के लिये।

इससे सिद्ध हो गया कि साधु की साधना छठवें गुणस्थान से प्रारम्भ होकर चौदहवें गुणस्थान तक चलती है। आप लोगों के यहाँ भी चौदह कक्षाएँ होती हैं, उनमें एक स्नातक और एक स्नातकोत्तर। ये चौदह गुणस्थान संसारी जीव की चौदह कक्षाएँ हैं। एक-एक गुणस्थान चढ़ते-चढ़ते अर्हन्त परमेष्ठी स्नातक हुए हैं और तेरहवें गुणस्थान में प्रवेश हुआ और वहाँ पर अन्तर्मुहूर्त रह करके स्नातकोत्तर हुए, ज्यों ही स्नातकोत्तर हुए तो निरुपाधि अवस्था उपलब्धि हो गई उन्हें, जब तक कक्षाएँ शेष रहती हैं तब तक छात्र ही माना जाता है, इसी प्रकार चौदहवें गुणस्थान तक तो सभी मुनि महाराज माने जाते हैं, किन्तु चौदहवें गुणस्थान के ऊपर चले जाते हैं तो वे नियम से सिद्ध परमेष्ठी होते हैं, शाश्वत सिद्धि प्राप्त हो जाती है उन्हें। धन्य है यह दिन, इस प्रकार से आत्मा का विकास करते-करते अन्त में उन्हें इस पद की उपलब्धि हुई जो कि आत्मोपलब्धि कही जाती है, उन्होंने अपना कुछ भी नहीं छोड़ा। जो पराया था वह सारा का सारा यहीं पर रह गया। जो निजी था वह शाश्वत सत्य बन गया। एक उदाहरण देता हूँ कि अरहन्त और सिद्ध परमेष्ठी में कितना अन्तर है।

दूध है और घृत है। दोनों एक दूध में विद्यमान रहते हैं, पर जब आप दूध पीते हैं तब घृत का स्वाद नहीं आता आपको, घी, दूध में ही है परन्तु घी का स्वाद नहीं आता, घी का स्वाद अलग है और दूध का अलग, इसी तरह दूध की गन्ध और घी की गन्ध की बात है, दूध की गन्ध दूर से नहीं आती जबकि घी की महक तो कहीं रखो अर्थात् दूर से भी आती है, दूसरी, दूध के द्वारा अर्थात् दूध से भरे बर्तन में आप अपनी मुखाकृति को नहीं देख सकते जबकि घी में आपकी मुखाकृति स्पष्ट दिखाई दे जाएगी, दूध में कभी भी मुख नहीं झलकेगा, यह बात अलग है कि मुख का मात्र बाहरी आकार ही दिखे, किन्तु दूध में आपका अवतरण नहीं हो सकता। तीसरी बात, दूध हमेशा कच्चा होता है अर्थात् कभी पर्यायान्तर (दही, तक्र) को प्राप्त हो जाता है, लेकिन घी में अवस्थानन्तर अब संभव नहीं, क्योंकि वह पूर्ण शुद्ध हो गया है। चौथी बात, दूध से कभी भी प्रकाश नहीं किया जा सकता अर्थात् दीपक में भरने पर प्रकाश नहीं देता जबकि घी सदा ही प्रकाश देता है जब आप चाहें। इसीलिए घी से आरती भी उतारी जाती है, दूध से नहीं। पाँचवीं बात, दूध में देखें तो उसकी पूर्णता (गहराई) नजर नहीं आती, जबकि घी में देखने पर उसकी सतह तक स्पष्ट दिखाई देता है। उससे पता चल जाता है कि कितना घी है। ऐसा ही अन्तर सिद्ध और अर्हन्त में होता है क्योंकि सिद्ध परमेष्ठी शुद्ध तत्त्व रूप से परिणमन करने लगे, एक काँच होता है और एक दर्पण, दोनों में जितना अन्तर है उतना ही सिद्ध और अर्हन्त में है। सिद्ध परमेष्ठी काँच होते हैं, अर्हन्त परमेष्ठी दर्पण। काँच तो शुद्ध साफ होने से जो कुछ आर-पार है स्पष्ट दिखा देता है परन्तु दर्पण हमारी दृष्टि को पकड़ लेता है, हम उस पार नहीं देख सकते दर्पण से।

इस प्रकार होने पर, णमो 'अरहंताणं' ऐसा क्यों हो जाता है पहले ? कारण यही है कि सिद्ध

परमेष्ठी हमें दिखते नहीं और अर्हन्त परमेष्ठी हमें दिखते हैं, उपदेश देते हैं। सिद्ध प्रभु हितोपदेशी नहीं, सर्वज्ञ तो हैं, कर्मों से मुक्ति भी है पर हितोपदेशी नहीं। हम तो स्वार्थी हैं, जिसके द्वारा हमारा काम निकले उन्हीं को हम पहले याद कर लेते हैं, अर्हन्त परमेष्ठी के द्वारा हमें स्वरूप का उद्‌बोधन मिलता है, एक प्रकार से नेतृत्व भी करते हैं और चल भी रहे हैं, इसलिए अर्हन्त परमेष्ठी को इन मूर्त आँखों से देख सकते हैं, सर्वज्ञत्व को हम देख नहीं सकते, यह भीतरी भाव है। हम भगवान के दर्शन करते हैं, लेकिन उनके अनन्तगुणों में से एक के अलावा शेष गुणों को देख नहीं सकते हैं। मात्र वीतरागता वह गुण है जो दिखे बिना रह भी नहीं सकता। वीतरागता हमारी आँखों में आ जाती है। भगवान को देखने से उनके कोई भी ज्ञान का पता नहीं चलता कि उनके पास केवलज्ञान है कि नहीं अथवा श्रुतज्ञान या मतिज्ञान। कुछ भी नजर नहीं आता मात्र नासादृष्टि पर बैठे वीतरागमुद्रा में। केवलज्ञान हमारी दृष्टि का विषय भी नहीं बन सकता, वह मात्र श्रद्धान का विषय है, लेकिन मुद्रा के देखने से ज्ञान हो जाता है कि हमारे प्रभु कैसे हैं ? हमारे प्रभु वीतरागी हैं। **वीतरागता आत्मा का स्वभावभूत गुण है। वीतरागता के बिना हमारा कल्याण नहीं हो सकता। इसलिए सम्यग्दृष्टि की दृष्टि में केवलज्ञान नहीं झलकता, सर्वज्ञत्व नहीं झलकता, किन्तु मिथ्या दृष्टि की दृष्टि में भी भगवान की वीतरागता झलकती है। इसलिए वह भी बिना विरोध के वीतराग के चरणों में नतमस्तक हो जाता है।** यदि अरहन्त भगवान हमारे लिए पूज्य हैं तो वीतरागता की अपेक्षा से ही, सारा का सारा संसार आकर उनकी पूजा करता है। कौन से भगवान सही हैं ? तो हर कोई कहेगा—जो रागी हैं, वह सही नहीं, जो द्वेषी हैं वह भी नहीं, जो परिग्रही वह भी नहीं, लेकिन जो वीतराग हो बैठे हैं, इनके पास कितना ज्ञान है, इससे किसी को कोई मतलब नहीं। वीतरागता जहाँ कहीं नहीं मिल सकती है, इसलिए धन्य है वह घड़ी आदिनाथ के लिए, जब उन्होंने अपने आपको इस संसार से पार कर लिया तथा हमारे लिये एक आदर्श प्रस्तुत किया, युग-युग व्यतीत हो गये, इस प्रकार का कार्यक्रम किये। यद्यपि संसार अनादिकाल से चल रहा है तो सिद्ध होने का क्रम भी अनादि ही है, फिर भी हम लोगों का नम्बर सिद्धों में नहीं आ पाया। अतः हमें अब इसके लिये पुरुषार्थ करना होगा, एक ही पुरुषार्थ है, मोक्ष पुरुषार्थ जो आज तक नहीं किया।

जानने के लिये तो तीन लोक है, परन्तु छद्‌मस्थ के ज्ञान से यह कार्य नहीं बनने वाला और छोड़ने को मात्र राग-द्वेष और मोह, ये तीन हैं। इन राग, द्वेष और मोह को छोड़े बिना हमारा ज्ञान सही नहीं कहलायेगा, इसलिए संघर्ष करो और जो कुछ भी करना पड़े करो, मात्र राग-द्वेष-मोह छोड़ने के लिये, जिसने संघर्ष किया, वह अपनी आत्मसत्ता को लेकर के बैठ गया, उसका साम्राज्य चल गया, आज तक जो नौकर था, वह सेठ बन गया, जो सेठ था वह नौकर की चाकरी कर रहा है, गुलामी कर रहा है, इस शरीर के पीछे क्या-क्या अनर्थ करना पड़ता है इस आत्मा को, कैसे-

कैसे परिणाम करता रहता है। आप्तपरीक्षा में विद्यानन्दजी महाराज ने लिखा है कि –

ततो नेशस्य देहोऽस्ति प्रोक्तदोषानुषङ्गतः।
नापि धर्मविशेषोऽस्य देहाभावे विरोधतः॥

(आप्तपरीक्षा-२५)

उन्होंने इसको (शरीर को) जेल बताया है। इसीलिये कल तक भगवान को अनन्तसुख था लेकिन अव्याबाध नहीं था। कुछ लोग पूछते हैं मुझसे; महाराज! अनन्तसुख और अव्याबाधसुख में क्या अन्तर है? बहुत अन्तर है, मैं कहता हूँ-जैसे जेल में किसी को कह दिया ''कल तुझे जेल से छुटकारा मिल जाएगा,'' अभी नहीं मिला है, जब तक जेल से बाहर नहीं जायेगा तब तक वस्तुतः सुख नहीं है, सुखानुभव के लिये तो जेल से बाहर आना होगा। जिस प्रकार जेल से बाहर आते समय, जेल का जो ड्रेस होता है, एड्रेस होता है, सबका सब उतार दिया जाता है। उसी प्रकार यह संसार का ड्रेस है, इसको छोड़ने पर ही सही सुख, अव्याबाध-सुख मिलता है। यही अन्तर है अनन्तसुख और अव्याबाधसुख में। लेकिन हम हैं कि एक ड्रेस के ऊपर और ड्रेस पहनते जा रहे हैं और यूँ सोचते हैं कि तुम्हारे पास तो ऐसा ड्रेस ही नहीं, ऐसा मुझे अभी तक मिला ही नहीं था। उन सबको छोड़कर आज ऋषभनाथ सिद्ध हो गये और क्या-क्या छोड़ दिया उन्होंने? तीनों कर्मों को छोड़ दिया और साथ-साथ.... ''**औपशमिकादि भव्यत्वानां च**'' (त.सू. १०/३) औपशमिक भाव, क्षायोपशमिक भाव आदि भी छोड़ दिया, इतना ही नहीं जो पारिणामिक भाव में भव्यत्व भाव था उसको भी छोड़ दिया। क्या मतलब है महाराज ? मतलब समझाते हैं जैसे–आप स्टेशन पर चले गये, आपको देहली जाना है, रेल का टिकट ले लिया, जितने पैसे माँगे उतने दे दिये, टिकट लेकर रख लेते हैं, कहाँ रखते हैं! वहाँ रखते हैं महाराज! जहाँ गुम न हो सके, सब कुछ सामान गुम जाए संभव है लेकिन टिकट गुम जाए तो क्या होगा ? कम से कम दोनों कान पकड़ो और उठुक-बैठक करो स्टेशन पर, (आजकल यह नहीं होता) तलाशी होगी, कहाँ से आये, क्यों आये, कहाँ जा रहे हो, ये सभी प्रश्न और उसके साथ सजा या जुर्माना। अतः अच्छे ढंग से रख लेते हैं, ज्यों ही स्टेशन आ गया, प्लेटफार्म आ गया, गाड़ी रुकी और उतर जाते हैं, उस समय वह टिकट, टिकट-चेकर के हाथ में थमा देते हैं और गेट के पार हो जाते हैं, टिकट नहीं देते हैं तो बाहर नहीं जाने देगा, क्योंकि टिकट यहीं तक के लिये था, बाहर चले जाने पर टिकट का कोई काम नहीं। चेकर टिकट को लेकर फाड़ देता है, वह जब फाड़ता है तब आप रोते नहीं, दुःखी नहीं होते। कारण, अब फाड़ो या अपने पास रखो, यह सभी कुछ तुम जानो, हम तो अपने स्थान पर आ गये।

इसी प्रकार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की अभिव्यक्ति का कारणभूत जो भव्यत्व परिणाम उत्पन्न हो गया था वह इनके साथ ही समाप्त हो गया, हो जाता है, जिस तरह टिकट स्टेशन पर।

चौदहवें गुणस्थान की बार्डर आते ही यह रत्नत्रय की टिकट को कोई भी ले लें, क्योंकि संसार की अपेक्षा से है, मेरा ज्ञायक तत्त्व तो कोई भी ले नहीं सकता, ऐसे में एक समय में सात राजु पार करके फिर वहाँ लोक के शिखर पर जाकर विराजमान हो जाते हैं।

यहाँ पर शंका हो सकती है कि ऊर्ध्वगमन आत्मा का स्वभाव है, जो स्वभाव होता है वह अमिट होता है, अनन्त होता है फिर वहीं तक जाकर क्यों रुक गये सिद्ध भगवान ? भगवान कुन्दकुन्ददेव ने नियमसार में कहा है–धर्मास्तिकाय के अभाव के कारण, लोक के शिखर पर जाकर के वे सिद्ध प्रभु विराजमान हो जाते हैं। उनकी मात्र वह सात राजु की योग्यता नहीं, किन्तु उनकी योग्यता तो अनन्त है, लेकिन धर्मास्तिकाय के अभाव के कारण आगे गमन नहीं होता।

इस प्रकार तो उन्होंने अपनी गति को प्राप्त कर लिया। अब आप भी फेरी के बाद अपनी-अपनी गति पकड़ेंगे। किसी की मोटर पर, किसी की मोटरसाईकल पर तो किसी की साईकल पर। आप पूछ सकते हैं कि महाराज! आप भी तो गति करेंगे, कौन-सी और किस ओर करेंगे? भैय्या! हमारी सदागति रहती है, कहीं टिकती ही नहीं, ना हमारे पास ड्रेस है और ना ही एड्रेस, भगवान का कहना है कि ड्रेस रखोगे तो पकड़ में आ जाओगे, एड्रेस रखोगे तो पुलिस आ जायेगी, अतः बिना ड्रेस, एड्रेस के रहो, इसलिए तो अनियत विहार करता हूँ, पता नहीं पड़ता.....सदागति तभी तो होती है, ऐसा होना भी आवश्यक है।

आप सभी ने पाँच-छह दिनों में जो कुछ भी देखा, सुना, अध्ययन किया, मनन किया, भावना की वह वस्तुतः दुनियाँ में कहीं भी चले जायें, मिलने वाली नहीं। कई दुकानें मिलेंगी, लेकिन इस प्रकार की चर्या, दृश्य कहीं भी नहीं मिलेगा। यहाँ पर कोई कंडीशन (शर्त) नहीं है। विदाउट कंडीशन ही आत्मा का स्वभाव है। कंडीशन से ही दुःख का अनुभव हो रहा है। उस भव्यत्व की टिकट को छोड़कर के भी उन्होंगे मार्ग को पूरा कर लिया और मंजिल पा ली। धन्य है यह मोक्षमार्ग, धन्य है यह मोक्ष और धन्य हैं वे, जिन्होंने मोक्ष और मोक्षमार्ग का कथन किया। यह स्वरूप अनन्तकाल से चला आ रहा है, आज हमें भी उसका पाठ पढ़कर के अपने जीवन में उपलब्ध करने का प्रयास करना है।

❑ ❑ ❑

निर्वाणकल्याणक

(उत्तरार्द्ध)

बन्धुओ! जैसी भावना की थी, आज उससे भी बढ़कर के फल मिल गया है, ऐसी स्थिति में किसे अपार आनन्द की अनुभूति नहीं होगी ? नियम से होगी। जब कोई एक छात्र ३६५ दिन

अध्ययन करता है और अन्तिम चार-पाँच दिनों में उत्तीर्ण हो जाता है, उस समय उसे खाने-पीने की चिन्ता नहीं रहती, किन्तु अपनी मित्र मण्डली को खूब मिठाई बाँटने में लग जाता है, इसी में उसे आनन्द आता है। इसी प्रकार मुमुक्षु सम्यग्दृष्टि की बात है, जब कोई धार्मिक अनुष्ठान करता है तो उसे दिल में (हृदय में) आनन्द की ऐसी बाढ़ आती है जिसका कथन संभव नहीं, ऐसे महान् विषम पंचमकाल में भी इस प्रकार का महान् सतयुग जैसा कार्य हो जाता है तो सहज ही आनन्द का अनुभव होता है।

मैं आज आपके सामने यह बात कहना चाह रहा हूँ, जिसकी प्राय: करके जैनियों के यहाँ कमी रह गई, क्योंकि हम यदि पूरी की पूरी ''शाबासी'' दे दें तो आप लोगों की गति के रुकने की पूर्ण सम्भावना हो सकती है, लेकिन यह बात हो ही नहीं सकती। इसीलिए जैनियों को यह नहीं समझना चाहिए कि केवल हम जैनियों की सीमा तक ही धर्म का प्रचार-प्रसार करें। आज मैं लगभग बीस साल से दक्षिण से उत्तर की ओर आया हूँ, दक्षिण में प्राय: करके जो धार्मिक आयोजन होते हैं, उनमें निमंत्रित जनता सभी आती है, उसमें इसका भी पता नहीं चलता कि कौन जैन है और कौन अजैन।

आज यहाँ इस गजरथ महोत्सव में भी मात्र जैन ही नहीं आये हैं- सभी आये हैं। इस सन्दर्भ में जैनाचार्यों ने यह बात कही है कि जब कोई भी धार्मिक आयोजन सम्पन्न होता है तो यह ध्यान रखना कि सर्वप्रथम द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव, सबकी नियुक्ति होना अनिवार्य है। हम जड़रूप काल की तो प्रशंसा कर लेते हैं, जैसे अभी पण्डितजी ने कहा कि-''क्रमबद्धपर्याय काल के अनुसार हो जाए'' इत्यादि। हम अचेतन की प्रशंसा नहीं सुनना चाहते हैं। जो चेतन जीव हैं, जिसके द्वारा हमें संयोग प्राप्त हुआ है, उसके संयोग को भी विस्मृत नहीं किया जा सकता। आचार्यों ने अपनी मांगलिक लेखनी के माध्यम से शास्त्रों की रचना करके लिखा है कि एक आचार्य परमेष्ठी अपने जीवनकाल में तपस्या के माध्यम से, शिक्षा-दीक्षा के माध्यम से धर्म की जो प्रभावना करते हैं, उसका छठवाँ भाग उस क्षेत्र के नेता (राजा) को प्राप्त हो जाता है, सुना आप लोगों ने। मैं यह कह रहा हूँ कि कोई भी धार्मिक अनुष्ठान करता है, धर्म कार्य करता है तो उस क्षेत्र के नेता को छठा भाग चला जाता है। उन लोगों का सहयोग यदि नहीं मिलेगा तो आज इस धर्म-निरपेक्ष देश में जो धार्मिक बातें मंच लगा करके कर रहे हैं, वह सब नहीं कर सकेंगे। क्योंकि देश के सामने विदेश का आक्रमण, विदेशी आक्रमण के लिए उन्हें क्या-क्या करना पड़ रहा है मालूम है आपको ? नहीं! जो व्यक्ति राजकीय सत्ता का अतिक्रमण करके कोई कार्य करता है तो वह अपनी तरफ से धार्मिक कार्य में बाधा उपस्थित करता है। शास्त्रों में आचार्यों के ऐसे कई उल्लेख हैं। इसलिए हमें यह सोचना चाहिए कि अहिंसा ही विश्व धर्म है।

पुराण ग्रन्थों में, शास्त्रों में उल्लेख किया गया है कि जो धर्म से स्खलित हैं, पथ से दूर हैं, उन्हें धर्ममार्ग पर लाने का प्रयास करना चाहिए। बीस साल से मैं देख रहा हूँ कि सम्यग्दृष्टि को ही उपदेश देना चाहा जा रहा है। लेकिन सम्यग्दर्शन होने के उपरान्त उपदेश देने की कोई आवश्यकता नहीं होती। जहाँ पर अन्धकार हो, वहाँ पर प्रकाश की आवश्यकता होती है, प्रकाश में यदि आप लाइट जलाते हैं तो देश को/धर्म को खतरा है, सभी को खतरा है। मतलब यह हुआ कि जहाँ पर जिसकी उपयोगिता है वहाँ पर उसको करना चाहिए। दूसरी बात धर्म प्रभावना की है, तो जो पतित से पतित हैं आचार-विचारों में जाकर के गले लगाना चाहिए। **आजकल तो ५-६ व्यक्ति बैठ जाते हैं। एक मीटिंग कर लेते हैं और कहते हैं कि हम अखिल भारतीय दिगम्बर समाज की कमेटी वाले हैं। ऐसी कमेटियाँ समाज में बहुत सारी हैं, किन्तु इन पार्टियों से कोई मतलब सिद्ध होने वाला नहीं है।** जो धर्म करता है उसे सोचना चाहिए कि जो अधर्मात्मा है, जो मानव जन्म को प्राप्त करके भी भीतर की चीज को पहचान नहीं पा रहा है, उसके पास जा करके, उसकी कमियों को देख करके, उसकी आवश्यकता को पूर्ण करके उसे आकृष्ट किया जाना चाहिए।

दान के बिना अहिंसाधर्म की रक्षा न आज तक हुई है और न आगे होगी। यदि पैसे वाला, पैसे वाले को दान दे तो कुछ नहीं होगा। जैनाचार्यों का कहना है कि जो सेठ है, साहूकार है, उन्हें गरीबों के पास जाकर के अपनी सम्पदा का उपयोग-प्रयोग करना चाहिए। भूदान, आवास दान, शैक्षणिक दान आदि-आदि जो अनेक प्रकार के दानों के विधान किये गये हैं, वे आज जैनियों के यहाँ से प्रायःकर निकल चुके हैं। चार दानों में, अभयदान भी हमारे यहाँ माना गया है, लेकिन आज तो जो दान के नाम से केवल अन्नदान या शास्त्रदान को ही समझते हैं, उन जैनी भाईयों से मेरा कहना है कि वह अभी दान की नामावली भी नहीं जानते हैं।

दान कितने होते हैं—मालूम है आपको ? सर्वप्रथम कहेंगे शास्त्रदान। शास्त्रदान नाम का कोई दान नहीं है। उपकरण दान कहा गया है, शास्त्र भी एक प्रकार का उपकरण है। आज एक सज्जन ने अपने वित्त का उपयोग करके एक चैत्यालय का निर्माण किया, जिनबिम्ब का निर्माण कराया, हजारों-लाखों व्यक्तियों को जो दर्शन दिलाने में निमित्त हुआ, वह भी उपकरण दान है। कल या परसों हमने एक बात कही थी कि जो व्यक्ति अपने दर्शन-धर्म-विचारों से दूसरों को आकृष्ट करना चाहता है तो उसका कर्त्तव्य है कि उसकी कमियाँ क्या हैं यह जानें। यदि बच्चा रोता है तो उसे खिलाने की आवश्यकता है या पिलाने की या खेल खिलाने की आवश्यकता है, यह जानना जरूरी है। ऐसा नहीं है कि जब वह रोने लग जाए तो उसे केवल खाना खिलायें और दूध पिलायें किन्तु वह आपकी गोद में बैठना चाहता है और आप उसे नीचे रख दें तो उसका पेट भरा होने पर भी रोने लग जाएगा। यही स्थिति धार्मिक व्यक्तियों की हुआ करती है, इसलिए आज दिनों-

दिन जैनियों की बहुत कमी होती जा रही है, आज तक कभी भी सुनने में नहीं आया कि जो व्यक्ति बिल्कुल अभक्ष्य-भक्षी है उसे भक्ष्य-भक्षी, शाकाहारी बनाने का भी कोई उपक्रम किया जा रहा है।

भारतवर्ष शाकाहार प्रधान देश माना जाता है, विश्व में कई देश हैं, उन देशों में गणना करने पर ९०% जनता मांसाहारी सिद्ध हुई और केवल १०% ही शाकाहारी बच रही, उसमें से छुप-छुप कर मांसाहार करने वालों की बात शामिल नहीं है, आज डायरेक्ट खाने वाली वस्तुओं में शाकाहार जैसी कोई वस्तु नहीं रह गई है। इसलिए वर्तमान में अहिंसा को मुख्यता देकर अहिंसा ही हमारा धर्म है, अहिंसा ही हमारा उपास्य देव है, उसकी रक्षा करने के लिए सर्वप्रथम कदम बढ़ाना चाहिए।

आज भारतवर्ष में कई स्थानों पर अनेक प्रकार की हत्याओं के माध्यमों से औषधियाँ और प्रसाधन सामग्री बनाई जा रही हैं और इनडायरेक्ट रूप से आप लोग ही उसका उपयोग करते हैं। अभी सर्वप्रथम पण्डितजी ने कहा था कि यह बुन्देलखण्ड है, लेकिन बुन्देलखण्ड में भी ऐसी हवा आने लगी है, जहाँ पर अनेक प्रकार की आचार-विचार विधान की व्यवस्थाएँ थीं, लेकिन वहाँ पर भी ऐसी सामग्री आने लगी है समझने के लिए साबुन को ले लीजिए। पहले साबुन को जैनी लोग नहीं बेचते थे, बीड़ियाँ बगैरह भी नहीं बेचते थे, तम्बाखू की बिक्री करते हैं, तो अष्टमी-चतुर्दशी को इसे भी बन्द कर दिया जाता था, सोड़ा-साबुन अष्टमी-चतुर्दशी और अन्य पर्वों के दिनों में उपयोग नहीं करते थे, आज के साबुन में तो अनेक प्रकार की चर्बियाँ आ गई हैं, साबुन में ही क्या? खाने-पीने की चीजों में भी चर्बियाँ आ चुकी हैं, भले ही आप लोगों को ज्ञात ना हो। पहले दिन ही मैंने कहा था कि ''मद्य-मांस का त्याग'' इस त्याग का मतलब मात्र ''डायरेक्ट'' सेवन त्याग से नहीं है, किन्तु ऐसी-ऐसी वस्तुएँ आपके खाने-पीने में आ चुकी जिनमें बहु मात्रा में मद्य का, मांस का, मधु का पुट रहता है, इन चीजों को त्यागकर ही अहिंसा धर्म की रक्षा कर सकते हैं, अन्यथा नहीं।

दूसरी बात, शिक्षणप्रणाली भी ऐसी आ चुकी है कि आज का लड़का, जो पढ़ा-लिखा है वह हमारे सामने आकर के कहता है—महाराज! अण्डा तो शाकाहार है और दूध तो अभक्ष्य है। मांस के अन्तर्गत आता है। आप सोचिये! जीवन कितना परिवर्तित होता चला जा रहा है। अब केवल ''सम्यग्दर्शन.... सम्यग्दर्शन'' ऐसा चिल्लाने से कोई चीज प्राप्त होने वाली नहीं है। जो व्यक्ति इन बातों को नहीं समझ रहा है वह प्रभावना नहीं कर रहा है बल्कि अप्रभावना की ओर जनता को आकृष्ट कर रहा है। खाना-पीना, क्रियाकाण्ड की बात है ऐसा कह करके टालना, एक प्रकार से अहिंसा देवता को धक्का लगाना है।

मैं कह रहा था कि आचार्य जो कि जीवन पर्यन्त तपस्या करते हैं तो उसका छठवाँ हिस्सा एक राजा को मिला करता है। भले ही वह राजा धार्मिक कार्य कुछ भी न करता हो लेकिन रात-

दिन उसकी दृष्टि में रहता है कि राजकीय सत्ता की सुरक्षा हो, अन्य देशों की सत्ता का आक्रमण न हो। यदि सत्ता पलट जाए और विदेशी आ जाए तो आपको एक घण्टे क्या, एक समय के लिए भी धर्मध्यान करने का अवसर न मिले।

आज भारतीय सेना बार्डर पर खड़ी है अपने शस्त्रों को लेकर। आप सोचेंगे कि इन शस्त्रों को लेना हिंसा है ? लेकिन शस्त्रों को लेना हिंसा नहीं है किन्तु आप सभी के अहिंसाधर्म की रक्षा के लिए इन लोगों ने हाथों में शस्त्र ले रखे हैं। ध्यान रखो ? इनकी प्रशंसा, उनके गुणगान यदि करते हो तो आप अहिंसक माने जाएंगे। यह बात अलग है कि वे कैसी दृष्टि वाले हैं ? हमें यह कहने की आवश्यकता नहीं, लेकिन वस्तुस्थिति तो यही है कि जिस जीव की जीवों के ऊपर उपकार करने की दृष्टि है, जीवों की पीड़ा में सुख-दुःख में पूरक बनने की दृष्टि है वह सम्यग्दृष्टि है। उस सम्यग्दृष्टि की देवता लोग भी आरती उतारते हैं। आप लोगों को इस बात का विशेष ध्यान रखना होगा कि सम्यग्दर्शन कोई खिलौना नहीं है जो बाजार से खरीद सकें अथवा समयसारादि ग्रन्थों को पढ़कर प्राप्त हो जाए और यह भी नहीं है कि मन्दिर में बैठने से या मात्र संत-समागम से ही वह प्राप्त होता है, किन्तु सम्यग्दर्शन की स्थिति बड़ी विचित्र है, वह कब किसे, कैसे प्राप्त हो जाए कुछ कह नहीं सकते, क्योंकि धर्म किसी की बपौती नहीं है। कुछ लोगों की धारणा होती है कि जैनधर्म, जैन जाति से सम्बन्धित है, लेकिन जाति जो होती है, वह शरीर से सम्बन्ध रखती है, जबकि धर्म का सम्बन्ध भीतरी आत्मा, भीतरी उपयोग से होता है, ऐसे ही धर्म का आदिनाथ स्वामी से लेकर महावीर भगवान के द्वारा तीर्थ का संचालन हुआ है, आज हम लोगों के पाप कर्म का उदय है, जो ऐसे साक्षात् तीर्थंकरों का दर्शन नहीं हो पा रहा है, किन्तु आज भी उनका तीर्थ अवशिष्ट है, सच्चे देव-गुरु-शास्त्र के रूप में हमारे सामने उपस्थित है, यही सौभाग्य है।

जड़ के प्रति तो राग सभी रखते हैं और जड़ की रक्षा के लिए अपने जीवन को बलिदान भी कर देते हैं, किन्तु जो व्यक्ति चेतन-आत्मा की बात देखकर, दुःखी जीवों को देखकर यदि आँखों में पानी नहीं लाता, उस पत्थर जैसे हृदय से हम कभी भी धर्म की अपेक्षा नहीं रख सकते। हमारा हृदय अंदर से तो कोमल होना चाहिए किन्तु बाह्य की विपरीत परिस्थितियों में इतना कठोर होना चाहिए कि जिसके ऊपर एटमबम भी फोड़ दिया जाये तो भी भीतर के रत्नत्रय धर्म को सुरक्षित रख सके। राम का जीवन देख लीजिए, पाण्डवों के जीवन को देख लीजिए, उसके साथ-साथ कौरवों और रावण के जीवन को देखिए। रागी-विषयी, कषायी, पुरुषों के जीवन का कैसा अवसान हुआ? किस रूप में जीवन का उपसंहार हुआ तथा वीतराग पुरुषों के जीवन का, धर्म की रक्षा करने वालों का क्या उपसंहार हुआ। **वन में रहकर भी राम ने प्रजा की सुरक्षा की और भवन में रहकर के भी रावण प्रजा के लिए अभिशाप सिद्ध हुआ।**

आज हम केवल चर्चा वाला धर्मध्यान करना चाहते हैं, लेकिन ऐसा संभव नहीं है। ग्रन्थों में ऐसा उल्लेख है कि जब निर्ग्रन्थ साधु यत्र-तत्र विचरण करते हैं तो वहाँ के जीव आपस में बैरभाव को छोड़कर, उनके चरणों में बैठ जाते हैं, यह किसकी महिमा है ? आचार्य कहते हैं –यह वीतरागता की महिमा है, प्रेम का, वात्सल्य का प्रभाव है, जीवों को देखकर के हमें आह्लाद पैदा होना चाहिए, लेकिन हम कैसे हैं ? हमारी दृष्टि कैसी है? जैसे कि नेवला और सर्प के बीच में हुआ करती है, बस वैसी ही है, ऐसे वातावरण में हम धर्मात्मा बनना चाहते हैं जो कि असम्भव है।

जैनधर्म की विशालता यही है कि वह व्यक्ति को जन्म से जैन न होते हुए भी उसे कर्म से जैन बनाता है। आठ साल तक वह एक प्रकार से पशुओं जैसा आचरण कर सकता है, इसके बाद यदि वह धार्मिक संस्कार पा लेता है तो उसके जीवन में धर्म आ सकता है। चेतन की परीक्षा करने की चेष्टा करिये। कहाँ पर कौन दुःखी है, पीड़ित है, इसको देखने की आवश्यकता है। ऐसे फोन लगा लीजिए, कैसे फोन ? बिना तार (वायरलेस) के ही दुःखी प्राणियों तक आपका उपयोग पहुँच जाये और मालूम हो जाये कि कौन-सा जीव कहाँ पर पीड़ित है। कौन-से जीव को क्या आवश्यकता है। ऐसा भी कभी हो सकता है ? हाँ.... हो सकता है, एक उदाहरण दूँ आपको।

एक बार की बात, एकदम हिचकियाँ आने लग गई। एक व्यक्ति ने कहा कि पानी पीलो, पानी पियेंगे तो हिचकियाँ आना बन्द हो जाएगा। मैंने पूछा– वह हिचकियाँ आती क्यों हैं ? उसने कहा–तुम्हें इस समय किसी ने याद किया होगा, दूर स्थित व्यक्ति ने याद किया वहाँ और हिचकियों की प्रक्रिया यहाँ चालू हो गई, ऐसा सुनकर मैं सोचता रहा, विचार करता रहा। इसी प्रकार धार्मिक भाव को लेकर के अपने उपयोग को भेज दो, जहाँ कभी भी दुःखी जीव हों, नियम से उन पर प्रभाव पड़ेगा, उन विचारों के अनुरूप कल्याण का मार्ग मिलेगा। बस ऐसा करने की चेष्टा प्रारम्भ करिए फल अवश्य मिलेगा।

आज करोड़ों रुपया बरसाया जा रहा है, लेकिन गरीब व्यक्तियों को, पतित विचार वालों को, धार्मिक बनाने का भाव किसी के मन में नहीं आ रहा है। इसलिए इस प्रकार (पंचकल्याणक महोत्सव) के आयोजनों के माध्यम से, उस प्रकार के कार्यक्रम आज से ही प्रारम्भ किये जायें। जो गरीब हैं, अशिक्षित हैं, अनाथ हैं, उसके लिए सनाथ बनाने का प्रयास किया जाए, बाद में उन्हें धार्मिक शिक्षण देने का प्रयास करो तो आज का यह आयोजन ठीक है, अन्यथा नाम मात्र के लिए ही आयोजन रह जायेगा। दस व्यक्ति बैठ कर इसकी प्रशंसा करने लगें, करें लेकिन मैं इस 'सिंघई पदवी' का समर्थन-प्रशंसा नहीं कर सकूँगा। एक जमाना था जब इस प्रकार का आयोजन कर उपाधियाँ दीं जाती थीं पर आज यह जरूरी नहीं है।

इन उपाधियों का मैं निषेध कर रहा हूँ, किन्तु इनके माध्यम से अड़ोस-पड़ोस में तब तक सौहार्दमय व्यवहार नहीं बढ़ता तब तक इन उपाधियों का क्या प्रयोजन ? हमारे भगवानों ने कहा है कि–आधि, व्याधि और उपाधियाँ संसार में भटकाने वालीं हैं, अतः उपाधियों से दूर हो समाधि की साधना करें तो वृषभनाथ भगवान की जयजयकार करने में सार्थकता आ जायेगी, अन्यथा मात्र प्रशंसा से कुछ भी सार्थकता नहीं होने वाली।

विश्व में क्या हो रहा है ? इसको देखने की चेष्टा करो, धर्म कहाँ नहीं है ? हमारे पास धर्म है, दूसरे के पास नहीं, हम सम्यग्दृष्टि हैं दूसरे मिथ्यादृष्टि, हम जैनधर्म की ज्यादा प्रभावना कर रहे हैं, दूसरे नहीं, इस प्रकार के भाव जिसके मन में है वह अभी जैनधर्म की बात समझ ही नहीं रहा है, वह जैनधर्म से कोसों दूर है।

''न धर्मो धार्मिकैर्बिना''

दो हजार वर्ष लगभग हो चुके हैं आचार्य समन्तभद्रस्वामी ने डंका बजाया था। बन्धुओ! जो मद के आवेश में आकर धर्मात्माओं के प्रति यदि अनादर का भाव व्यक्त कर रहा है तो वह अपने शुद्ध अहिंसाधर्म की ही हत्या कर रहा है, क्योंकि **''न धर्मो धार्मिकैर्बिना''** कहा है, हमारे अन्दर संकीर्णता आ चुकी, आती जा रही है, सन्तों का कहना है कि **''वसुधैव कुटुम्बकम्''** आज जैनी-जैनी, हिन्दू-हिन्दू भी एक प्रकार के दायरे/ सीमाओं में बँधते चले जा रहे हैं, यह संकीर्णता धर्म का परिणाम नहीं है, इसे ध्यान रखिये, बातों से धर्म नहीं होता, कारण कि जो बहिरा है, वह भी धर्म कर रहा/सकता है, जो अन्धा है, लूला है वह भी धर्म को कर सकता है, परन्तु जो पञ्चेन्द्रिय होकर के हाथ-पैर अच्छे होकर भी, मात्र ऊपर-ऊपर बातें करता है तो वह कर्मसिद्धान्त से अभी भी कोसों दूर है, पास आने की चेष्टा करनी चाहिए उसे, एक बार तो कम से कम, गरीबों की ओर देखकर दया का अनुभव करो, धर्मात्मा यही सोचता रहता है, ऐसा सोचना ही अपायविचय धर्मध्यान है।

अपायविचय धर्मध्यान का अर्थ क्या है व उसका क्या महत्त्व है ? आचार्य कहते हैं कि जितना आज्ञाविचय धर्मध्यान का महत्त्व है उतना ही अपायविचय धर्मध्यान का है। जिनेन्द्रदेव की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करना, सर्वज्ञ की आज्ञानुसार चलना यह आज्ञाविचय धर्मध्यान है। इसकी सच्चाई से अपायविचय धर्मध्यान की महत्ता कहीं अधिक है। **''संसारी प्राणी का कल्याण हो, इनका दुःख दूर हो, सभी मार्ग का अनुसरण करें''** ऐसा विचार करना अपायविचय धर्मध्यान है। इस प्रकार की ही भावना में जब वृषभनाथ भगवान की पूर्वावस्था की आत्मा तल्लीन हुई थी, उस समय तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध हुआ था, उसी का परिणाम दूसरे जीवन में असंख्यात जीवों का कल्याण, एक जीव के माध्यम से हुआ, सुभिक्ष हुआ, दिशाबोध दिया और सर्वेसर्वा बने। आज भी उनके नाम से असंख्यात जीवों का कल्याण हो रहा है, ऐसा कौन-सा कमाल का काम किया

उन्होंने? यही किया जो उनके दिव्य-उपदेश से स्पष्ट है –

दया धर्म का मूल है, पाप मूल अभिमान।
तुलसी दया ना छाँड़िये, जब लौं घट में प्राण॥

क्या कहता है यह दोहा ? जब तक इस संसार में रहे, घट में प्राण रहे तब तक दया धर्म का पालन करो, तभी सबका, स्व-पर का कल्याण हो सकता है। यदि दया की जगह अभिमान घट में आया हुआ है तो तीनकाल में भी कल्याण होने वाला नहीं, पाप का मूल अभिमान है, **लोभ के वशीभूत होकर व्यक्ति अन्याय-अत्याचार के साथ वित्त का संग्रह करता है और फिर मान के वशीभूत होकर यदि दान करता है तो वह कभी भी प्रभावना नहीं कर सकता, ना ही अपनी आत्मा का कल्याण कर सकता है।** सबसे पहले नीति-न्याय से वित्त का अर्जन करें, फिर दानादि कार्य के माध्यम से अड़ोस-पड़ोस की सहायता करें, जैन आयतनों की रक्षा करने के लिए कदम बढ़ायें। इस प्रकार करना प्रत्येक सद्‌गृहस्थ का कर्त्तव्य है–ऐसी सन्तों की वाणी है। इस वाणी का जब तक अनुसरण होगा, धर्म का अभाव नहीं होगा, लेकिन जिस दिन जिनवाणी का अनुसरण बन्द हो जायेगा और अभिमान के वशीभूत हो जायेंगे उस दिन रावण-राज्य आने में देरी नहीं।

एक उदाहरण दे रहा हूँ जिसमें धर्म क्या है ? कैसा है ? क्या तिर्यंच धर्मशास्त्र का स्वाध्याय करते हैं ? क्या कभी तिर्यंच आपके सामने आपके ऊपर उपकार करते हैं ? क्या वे कोई धार्मिक अनुष्ठान करते हैं ? कभी मन्दिर भी आते-जाते हैं ? यदि आ जाते हैं तो उन्हें धर्मलाभ होता है क्या? आचार्यों ने कहा–धर्मलाभ हो यह कोई नियम नहीं। अभी पण्डितजी ने भी कहा था– **आयोजन जितने भी हैं, सभी साधन के रूप में हैं, साध्य के रूप में तो धर्म रहेगा। ये साधन हैं इनमें उलझे रहे, उपाधियों में उलझे रहे तो तिर्यंच हमसे कहीं आगे बढ़े हुए होंगे, जो इनसे सर्वथा दूर हैं।**

रामायण आपने पढ़ी होगी, सुनी होगी। पद्‌मपुराण में भी यह कथा आती है, जटायु पक्षी की वह कथा जिसने रामायण की पृष्ठभूमि बना दी है, राम जब वनवास में थे। सीता और लक्ष्मण भी साथ-साथ है, जंगल में अपना काल व्यतीत कर रहे हैं, एक दिन की बात, आहार चर्या के समय सन्त आये। सभी ने आहार दान दिया। आहार दान के समय सन्त के पैर धोए गये थे। उस जल में एक जटायु पक्षी आकर बैठ गया और उसमें लोट-पोट करते ही, उसका सारा का सारा बदन व बाल स्वर्ण के हो गये। उसकी सभी ने प्रशंसा की, सन्त ने उसकी भावना को समझ लिया, सन्त ने उसके कल्याण का आशीर्वाद तो दिया ही, साथ ही साथ उसके पालन-पोषण एवं रक्षण की जिम्मेदारी भी श्रीराम को सौंप दी, सन्त चले गये और बात भी जाती रही।.....एक दिन की बात, सीता को रावण हरणकर ले जाने वाला है तो जटायु पक्षी सोचता है...एक अबला, उसको हरण कर रहा है, उसके ऊपर प्रहार कर रहा है और मैं यहाँ बैठा देख रहा हूँ, जबकि मैं संकल्पित हूँ।

''रघुकुल रीति सदा चली आई। प्राण जायें पर वचन न जाई।''

राम ने मुझे प्रतिज्ञा दिलाई कि अनाथ के ऊपर यदि किसी का हाथ उठता है तो देखते न बैठना। हम लोग नश्वर जीवन को नहीं समझ रहे हैं, इसे अविनश्वर बनाने का प्रयास कर रहे हैं। जिस समय किसी धर्मात्मा के ऊपर संकट आ जाता है, उस समय दूसरा धर्मात्मा यदि छुपने का प्रयास करता है तो वह कायर है, उसे नश्वर जीवन के सदुपयोग के लिए सिंह के समान गर्जना करते हुए सामने आना चाहिए, मुझे कोई भय नहीं, जीवित रहने की कोई आवश्यकता नहीं, यही मेरा धर्म है, यही जीवन। धर्म सदा ही मेरे साथ रहेगा, मैं जीवित रहूँ या नहीं, यह सोच वह आक्रमण करने के लिए तैयार हो जाता है, वही सच्चा धर्मात्मा माना जाता है।

धर्मात्मा के ऊपर आज पहाड़ टूट रहे हैं और हम देख रहे हैं, फिर भी अपनी आत्मा को धर्मात्मा मानते हैं, उसे मैं तो जीवित भी नहीं मानता, जड़ का धर्म मानना भले ही स्वीकार कर लूँगा। आप लोग जिस प्रकार धन की रक्षा करते हैं, उससे भी बढ़कर धर्म की रक्षा करनी चाहिए। धर्म के द्वारा ही जीवन बन सकता है, यदि धर्मात्मा का अनादर मन से, वचन से, काय से, कृत-कारित-अनुमोदन से स्वप्न में भी करते हैं तो उस धर्मात्मा को नहीं, वरन् स्वयं के अहिंसा धर्म को अनादृत करते हैं, ऐसी गर्जना इसयुग में आचार्य समन्तभद्रस्वामी जैसे महान् आचार्यों ने की है। मान बहुत बढ़ता जा रहा है, यह सब पंचमकाल की देन है, हमारा जीवन ऐसा बनना चाहिए, जैसी सिगड़ी के ऊपर भगौनी का। उसमें दूध तप रहा है दो, तीन किलो, लेकिन दूध तपने के उपरान्त ऊपर आने लग जाता है, तपन के कारण वह ऊपर आता रहता है, ज्यों ही ऊपर आता है, त्यों ही तपाने वाला, दूध समाप्त न हो जाए, इस भय से पास आ जाता है और क्या करता है उस समय ? उस समय वह जल्दी-जल्दी शान्तिधारा (कुछ जल) छोड़ देता है, दूध नहीं ढांकता, बल्कि थोड़ा जल डाल देता है, जल डालते ही दूध नीचे चला जाता है, इसका क्या मतलब हुआ ? मतलब तो ये हुआ कि जब अग्नि ने दूध में जो जल था उसे जलाया तो दूध ने भी सोचा कि जब मेरे मित्र, दोस्त, मेरे सहयोगी के ऊपर यदि अग्नि ने धावा बोला है तो मैं भी इसे समाप्त करूँगा। यही सोचकर वह उबलता हुआ, अग्नि की ओर आने लगा, लेकिन दूध तपाने वाले ने डर करके अग्नि के प्राण न निकल जाए इसलिए शान्तिधारा छोड़ दी, अरे भैय्या! तुम्हारे मित्र को हम दे देते हैं, तुम बैठ जाओ, तो दूध बैठ जाता है।

ऐसी होनी चाहिए मित्रता, उसको ही मित्र, दोस्ती, साथी और सहयोगी कहते हैं, जो विपत्ति के समय पर, प्रसंग पर साथ दे, अन्यथा ना तो वह साथी माना जाएगा, ना धर्मात्मा ही। बन्धुओ! मान प्रतिष्ठा के लिए संसारी प्राणी सब कुछ त्याग कर देता है, लेकिन अपने आत्मोदय के लिए कुछ भी नहीं करता। मैं इन सभी कार्यक्रमों की प्रशंसा तभी करता हूँ, जब आप लोगों के

कदम इस दिशा की ओर भी बढ़ते हैं। यह जीवित कार्य है, इस युग में यह कार्य हुआ ही नहीं है। हुआ भी है तो बहुत कम हुआ है। विनोबा जी, जिस समय दक्षिण की ओर भूदान को लेकर के आए थे, तभी मुझे महापुराण के भूदान की बात याद आ गई, वहाँ पर गृहस्थों के चार धर्मों में पूजा भी रखी है, पूजा का अर्थ भूदान लिखा गया है, जी हाँ! महापुराण का उल्लेख है। जो व्यक्ति खाने के लिए मोहताज हो रहा है, उसके लिए आश्रय दे दीजिए तो वह नियम से धर्म को अपनायेगा.... अपनायेगा। आज हम तात्कालिक उपदेश तो दे देते हैं, जिसके द्वारा उसके कार्य की पूर्ति नहीं होने वाली है, इस कारण वह धर्म के प्रति जल्दी आकर्षित नहीं होता, युग बदल चुका है, विनोबाजी की बात को सुनकर मैंने सोचा-हाँ, आज भी भूदान यज्ञ की बात जीवित है जो कि जैनाचार्य के द्वारा घोषित की गई थी।

आज कौन-कौन ऐसे व्यक्ति हैं जो आवासदान देने को तैयार हैं। कभी आपने सोचा जीवन में कि जो गर्मी-सर्दी से पीड़ित हैं, उसे आवास दान दें, एक मकान बनवा दें, आवास देने के उपरान्त उनको ऐसा ही नहीं छोड़ा जाये, किन्तु उन्हें कह दिया जाए कि देखो भैय्या! तुम्हारी आवास सम्बन्धी आवश्यकता की पूर्ति तो हो गई, अब कम से कम धर्म-कर्म करना चाहिए।

राजस्थान की बात है, जहाँ पर सेठजी ने एक फैक्टरी (मिल) खोली थी, उसमें जो गरीब-गरीब व्यक्ति थे, उनको काम पर लगाया और उनकी सारी की सारी, वेतनादि की भी व्यवस्था कर दी गई। फिर कहा गया-हमने इतना सारा प्रबन्ध आपका कर दिया है, अब प्रत्येक व्यक्ति को रात्रिभोजन, मद्य, मांस, मधु का त्याग और देवदर्शन के उपरान्त ही मिल में काम करना चाहिए। जब तक वे रहे, तब तक तो कार्यक्रम वैसा ही चलता रहा, बाद में वह समाप्त हो गया और मिल भी उनके हाथ से निकल गयी।

बन्धुओ! जो कोई भी कार्य किया जाता है, धर्म के लिए किया जाता है, वह भी क्रम से, विधिपूर्वक करना चाहिए, मात्र जय-जयकार करने से कुछ नहीं होगा, अभी मैं देख रहा था कि, जुलूस प्रारम्भ हो गया, रथ भी प्रारम्भ हुआ, हम आगे-आगे चल रहे थे। इस आयोजन को देखने के लिए हजारों-लाखों की जनता आई पर चलने वाले लोग प्रशस्त चाल से नहीं चल रहे थे, साथ में लाठी वाले तो धूल भी उड़ा रहे थे, जिसमें दृश्य देखना ही बन्द हो गया था। यहाँ इन अवसरों पर ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि जो दूर-दूर से व्यक्ति आये हैं, उन्हें भी पूरा-पूरा लाभ मिले। यही प्रेम है, वात्सल्य है। उन्हें पहले व आगे बैठाना चाहिए। लेकिन हम आगे बैठ जाते हैं। वे हमारे सर्वप्रथम अतिथि हैं, उनका सत्कार-सम्मान करना चाहिए। हम तो यहीं के हैं। इस प्रकार का वातावरण हो जाये तो इसी का नाम राम राज्य है।

आज हम कहते तो हैं कि राम-राज्य आ जाये। भगवान महावीर स्वामी का राज्य आ जाये।

महावीर भगवान का सन्देश मिल जाये, लेकिन कहने मात्र से तीन काल में भी मिलने वाला नहीं। बातों के जमा-खर्च से कभी कुछ नहीं होता। जिस प्रकार दूध में ज्यों ही पानी डाला, वह शान्त हो गया। उसी प्रकार हम भी यदि अपने साधर्मियों के प्रति वात्सल्य रखेंगे सद् व्यवहार करेंगे तो मैं कहता हूँ कि स्वप्न में भी किसी के ऊपर कोई संकट आने वाला नहीं। **अभी पण्डितजी ने कहा था—धर्मसंकट में है, धर्म गुरु संकट में है, जिनवाणी भी संकट में है, किन्तु मैं कहता हूँ कि ये तीनों संकट मुक्त हैं तभी मुक्ति के साधन है। संकट तो हमारे ऊपर है। संकट तभी आते हैं जब हमारे भीतर ये तीनों जीवित नहीं रहते। धर्म-कर्म से हमारा कोई भी सम्बन्ध नहीं रहेगा तो जीवन बिना संकट के रह नहीं पायेगा। इनकी रक्षा की जाए तो कोई आपत्ति नहीं। इनकी रक्षा का अर्थ यही है कि हम धर्म को ही जीवन समझ लें।** मात्र लिखना-पढ़ना धर्म नहीं है, धर्म तो जीवित वस्तु का नाम है।

हम अहिंसा परमो धर्म की जय बोलते हैं, अहिंसा अमर हो ऐसा कहते हैं। लेकिन गाँधीजी ने, जिनके पास मात्र दो सूत्र थे, अहिंसा और सत्य, इन दोनों सूत्रों के माध्यम से ढाई सौ वर्षों से आई हुई, ब्रिटिश सत्ता से, बिना शस्त्र, पिस्तोल, बिना रायफल, तलवार, ढाल, तोप और बिना एटमबम के ही स्वतन्त्रता दिलाई। उन्होंने सत्य, अहिंसा का ऐसा 'एटमबम' छोड़ दिया कि सभी देखते रह गये और सोचते रहे, ऐसी कैसी खोपड़ी है। हम लाखों रुपये भी दे दें तो भी नहीं मिलने वाली। लाख क्या ? कई लाखों में भी मिलने वाली नहीं। यह अहिंसा की उपासना है, उसी का यह प्रभाव है कि ब्रिटिश सरकार को यहाँ से भागना पड़ा। आज ३५-४० वर्ष हो गये स्वतन्त्रता मिले इस देश को लेकिन इसका सदुपयोग, सही-सही नहीं हो रहा है। आज हम आपस में लड़ रहे हैं कुर्सी के लिए। ऐसी-ऐसी भी लड़ाई हमने देखी-सुनी है कि एक कुर्सी के लिए दस व्यक्ति लड़ रहे हैं तो कुर्सी नियम से टूटेगी ही। पहले तो ऐसा नहीं था कि —कहते थे की कुर्सी पर आप बैठिये, आप ही इस पर बैठने के पात्र हैं, हम तो आपके निर्देशन के अनुसार चलेंगे, पर आज ? प्रत्येक व्यक्ति नेता बनना चाहता है, कोई पीछे चलना नहीं चाहता, पागल भी हमेशा आगे चलता है और उसके पीछे हँसने वाला, पागल कभी भी हँसता नहीं, क्या नेता बन जायेगा वह ? नहीं, ऐसा तीन काल में भी नहीं हो सकता। कुर्सी केवल एक निमित्त है, उस कुर्सी का प्रयोजन इतना ही है कि उस पर बैठकर अपनी आँखों से देख सकें कि—कहाँ पर, कैसे-कैसे रह रहे हैं, हम उनके दु:ख दर्द को समझ सकें और मिटाने का प्रयास रात-दिन करें। एक जगह लिखा है—

''परिहर्तुमनागसि''

जो निरपराध जीव हैं, उनके ऊपर प्रहार करने के लिए क्षत्रिय के हाथ में तलवार नहीं दिये गये, किन्तु अपराधियों को भयभीत करने के लिए शस्त्र दिये गये हैं, उपदेश भी इसलिए होता है कि

दुःख दूर हो और शान्ति की स्थापना हो।

आप लोगों का कार्य आगे होने वाला है, मैं भगवान से यही प्रार्थना करता हूँ कि आपकी भावना, धर्म के प्रति दिन दूनी रात चौगुनी निष्ठा के साथ बढ़ती रहे, तीन घण्टे हो गये किसी को भी ना खाने की चिन्ता है, ना पीने की, पीछे क्या हो रहा है इसका ख्याल भी नहीं रहा, गर्मी में भी सभी लोग पैदल चल रहे हैं, उस पर भी नग्न पैरों, फिर भी सभी के मुख पर आनन्द की लहरें दिखाई दे रही हैं। मुझे देखकर यही लगता है कि आज भी अटूट श्रद्धा है, ऐसी ही बनी रहे यही भगवान से प्रार्थना करते हैं। कैसा भी युग आ जाये, उसको भी शान्ति के साथ, वात्सल्य प्रेम के साथ निभायें। **रूखी-सूखी रोटी हो, इसकी भी कोई परवाह नहीं, बस! प्रेम के साथ दो व्यक्ति मिलकर एक रोटी भी खाते हैं तो पहलवान बन जाते हैं, एक अकेला ही व्यक्ति दस रोटी भी ईर्ष्या के साथ खाता है तो उसे अस्पताल जाने की आवश्यकता पड़ती है।** बाजरे की रूखी-सूखी खाओ, लेकिन धर्म की रक्षा के लिए धर्मात्मा बनकर खाओ। तीनकाल में भी आपको कष्ट नहीं होगा, देव आकर आपकी रक्षा करेंगे, दानव जब उपसर्ग करेंगे तो देव आकर हटायेंगे, खदेड़ेंगे और रक्षा होगी।

अहिंसा धर्म एवं धर्मात्मा की रक्षा करना देवताओं का काम है, इसीलिए उन्हें शासनदेवता भी कहते हैं। जब हम धर्म करते हैं-उसमें दृढ़ रहते हैं तो वे ऊपर से आ जाते हैं, वे भी देखते रहते हैं कि कौन क्या कर रहा है। जैसे पुलिस लड़ते हुए व्यक्तियों के बीच नहीं आती और न ही आने की आज्ञा शासन की है, लड़-भिड़कर गिर जाते हैं, जब उठना भी मुश्किल हो जाता है, उस समय पुलिस पहुँचकर पकड़ती है, कॉलर पकड़कर कहती है क्या कर रहे हो! अपराधी कहते हैं-आप जो कहो मैं वह करने को अब तैयार हूँ। इसी प्रकार देवता लोग भी आकर सहायता करते हैं, यदि आपका कार्य ठीक-ठीक चल रहा है तो उनके सहयोग की आने-जाने की कोई आवश्यकता नहीं, उस समय तो वह अपनी प्रशंसा करके वंदना करेंगे और अपने आपको कृतकृत्य मानेंगे।

नारायण, नारायण धन्य है नर साधना।
इन्द्र पद ने भी की, जिसकी आराधना॥

ऐसे इन्द्र भी, आप लोगों की प्रशंसा के लिए आयें। अतः धन्य हैं। अन्तिम मंगल भावना के रूप में यह दोहा आपके सामने है।

यही प्रार्थना वीर से, अनुनय से कर जोड़।
हरी-भरी दिखती रहे, धरती चारों ओर॥

❑ ❑ ❑

जीवन का लक्ष्य

''प्रभु के हृदय की बात जब तक नहीं समझोगे, तब तक उन जैसी दृष्टि, उन जैसा आचरण, उन जैसे चैतन्य की परिणति को प्राप्त नहीं कर सकते।''

एक बालक का नाम सोना रखा और बाजार से आठ आने की सफेद टोपी खरीदकर पहना दी, भगवान् के मन्दिर में गये और कहने लगे भगवन्! तुम मेरी कामना पूरी करो, मैं सोने की टोपी चढ़ाता हूँ और सोने की टोपी चढ़ा दी। आप लोग बहुत समझदार लोग हैं, भगवान् को भी प्रलोभन देते हैं और वो भी मिथ्या, भगवान् कामना पूरी करें या न करें, पर आपका विकल्प चलता रहता है।''

भगवान् वीतरागी हैं, वे न किसी से कुछ चाहते और न किसी को कुछ देते। अभी तक वीतरागता का रहस्य आपकी समझ में नहीं आ रहा। जिसने वीतरागता के रहस्य को समझ लिया वही वास्तविक जैन है, आप अपनी डॉयरी में भले ही अपने को जैन अंकित कर लें, किन्तु जो श्रमण-संस्कृति के सिद्धान्तों के अनुरूप चलेगा, जीवन को निष्पक्ष और भेद-भाव रहित बनायेगा, वही जैन है। धार्मिक क्षेत्र अन्तरंग भावों के ऊपर निर्धारित है। हम महावीर के प्रति कुछ नहीं कर पाये, महावीर हमसे सन्तुष्ट नहीं हैं, हमारी सारी यात्राएँ महावीर की यात्रा के अनुरूप नहीं हैं, जब तक हम अहिंसक नहीं बनेंगे तब तक महावीर के भक्त महावीर के अनुयायी नहीं कहे जा सकते। भगवान् की राह और भक्त की राह एक होनी चाहिए, यह बात ठीक है कि भगवान् आगे और भक्त पीछे होता है, किन्तु धारा, जाति-भिन्न नहीं होनी चाहिए। दोनों में ऐक्य होना चाहिए, दिशा समान होना चाहिए।

''**सागर दूर सिमरिया नीरी**'' ये पंक्तियाँ वर्णीजी की जीवन-गाथा में लिखी हैं। दूर हो कोई बात नहीं किन्तु लक्ष्य होना चाहिए, लक्ष्य निर्धारित होते ही मुक्ति दूर नहीं, यदि लक्ष्य की ओर एक पग रख लें और दिशा परिवर्तित नहीं करें तो गन्तव्य पाना सम्भव है, किन्तु विपरीत दिशा की यात्रा मंजिल से दूरी बढ़ाती है।

आप किधर देख रहे हैं? किस ओर बढ़ रहे हैं? आप जिस दिशा में बढ़ रहे हैं उस दिशा में महावीर गये नहीं और उस दिशा में बढ़ने के लिए शिष्यों को भी वर्जित कर गये हैं।

जब कार को रिवर्स (पीछे) ले जाते हैं तब सामने दर्पण देखते हैं, पर दृश्य पीछे का होता है। शास्त्रों में हमने पढ़ रखा है कि दिव्य-दृष्टि बनना चाहिए, हम रात-दिन दिव्य दिव्य दिव्य के साथ द्रवीभूत हुए चले जा रहे हैं, पिघल गये हैं किन्तु गाड़ी अर्थात् हमारा आचरण पीछे-पीछे की ओर जा रहा है। हम विपरीत दिशा की यात्रा करने में लगे हैं।

भगवान् के दरबार में आप आये, बड़े बाबा की शरण में आप आये और आप खाली हाथ जाते हैं, आपको मैं खाली हाथ जाते देखूँ यह अच्छी बात नहीं है, आप वंचित हैं, स्वयं के द्वारा ठगे गये है, आशा के द्वारा ठगे गये हैं। बड़े बाबा की कृपा अनूठी होती है, बाबा के प्रसाद का आस्वादन ले लें और उठकर चले जायें, मैं नहीं मानता जो जायेंगे मैं समझूँगा वे जाने के लिए आये थे। जड़ की सेवा में प्रभु की आराधना कहाँ? उनके हृदय की बात जब तक नहीं समझोगे तब तक उन जैसी दृष्टि, उन जैसा आचरण, उन जैसी चैतन्य की परिणति को प्राप्त नहीं कर सकते। भगवान् की वीतराग-मुद्रा देखने से कैसा आनन्द आता है? चैतन्य की धारा फूटती नजर आती है, कोई लिप्सा नहीं, कोई प्रलोभन नहीं, मात्र चैतन्य की अजस्र-धारा बहती रहती है। जो उस धारा से स्नपित हो जाता है, वह धन्य हो जाता है।

बड़े बाबा की बड़ी कृपा, हुई मुझ पर आदीश।
पूर्ण हुई मम कामना, पाकर जिन आशीष॥

आपने अपने आदर्श द्वारा बड़े बाबा का आशीष प्राप्त नहीं किया, क्योंकि आप अनास्था की डोर से बँधे हैं। विषय-कषायों में रच-पच-कर आप मात्र निगोद की यात्रा करने में लगे हैं। राग-द्वेष के द्वारा आत्मा को पुष्ट बनाना अधोगति का कारण है।

अभी तक आप सोने की टोपी चढ़ा रहे हैं, चढ़ाते रहेंगे, पर यथार्थ में महावीर के अनुयायी बनने के लिए 'महावीर के पक्ष का अनुसरण करना होगा, उनके सिद्धान्तों के अनुसार अपने जीवन को आगे बढ़ाना होगा, स्वयं महावीर बनना होगा।

❑ ❑ ❑

मानवता की शुरूआत

''दुखी व्यक्ति को सुखी बनाना ही उपकार है, चाहे वह 'स्व' हो या 'पर'।''

आचार्य गुरुवर ज्ञानसागरजी द्वारा रचित 'दयोदय' नामक काव्य में एक कारिका आयी है वह आपके सामने रखी जा रही है। इसी के माध्यम से मानव के कर्त्तव्य को स्पष्ट किया जायेगा।

परोपकाराय दुहन्ति गावः,
परोपकाराय वहन्ति नद्यः।
परोपकाराय तरोः प्रसूतिः,
परोपकाराय सताम विभूतिः॥

तीन चरणों में प्रकृति की गोद में रहने वाले कुछ जीवों का मूल्यांकन किया गया और

अन्तिम चरण में उपदेश का जो पात्र है उसके बारे में कुछ बताया गया है। संज्ञी पञ्चेन्द्रिय वे गायें तिर्यञ्च अवस्था में हैं। ''वध-बन्धनादिक दुख घने'' इस दोहे को चरितार्थ करती हैं, वे परतन्त्र हैं और अपने भावों की अभिव्यक्ति शब्दों के माध्यम से नहीं कर सकतीं, मानव के समान अनेक उपलब्धियाँ भी प्राप्त नहीं कर पातीं, बहुत सारे दुखों को सहने के उपरान्त भी उस शरीर के पिंजरे में रहती हुईं उनकी आत्मा पर-कल्याण के लिए आकुल-व्याकुल समर्पित रहती है, रूखी-सूखी घास-फूस खा करके भी वह मिठास भरा दूध प्रदान करती है, जिस गाय के मल-मूत्र के द्वारा यह धरा अपने माथे पर फसल को लेकर खड़ी हो जाती है, मरने के उपरान्त भी उसके एक-एक अंग मानव के काम में आते हैं, पर, 'मानव उनका मूल्यांकन कहाँ तक करता है? यह वही जाने, वह उसके मूल्यांकन के अभाव में भी अपनी रीति-नीति छोड़ती नहीं, बदलती नहीं है, वह सब कुछ देती है, लेकिन लेती कुछ भी नहीं है, गायें दूध पीती नहीं; दूध पिलाती हैं, उसकी आत्मा कहती है जीवन जीने के लिए जो आवश्यक है, घास-फूस इतना ही पर्याप्त है। शेष जीवन अपने लिए नहीं; पर के लिए समर्पित है।'

परोपकार शब्द आया है, इसीलिये मैं विषय से विषयान्तर तो नहीं लेकिन अरुचिकर विषय की ओर जाना चाहता हूँ। 'कृ' धातु है करने के अर्थ में, इसमें उपसर्ग लगाने पर अनेक प्रकार के शब्दों का उद्‌भव हो जाता है, 'अप' उपसर्ग लगाने पर अपकार, 'उप' उपसर्ग लगाने पर उपकार हो जाता है। हम लोगों ने करना तो सीखा और सीखा क्या, हम तो सीनियर हैं करने में, लेकिन वही करते आये हैं जो हमारी अवनति के लिए कारण हैं। आचार्य कहते हैं यदि हम अपनी बुद्धि का प्रयोग करते हुए 'कृ' धातु में 'उप' उपसर्ग लगाते हैं तो बहुत अच्छा हो जाता है, उसका अर्थ उपकार करना है।

तो उपकार शब्द का वस्तुतः क्या अर्थ होता है? क्या करना होता है? उपकार का अर्थ दुखी व्यक्ति को सुखी बनाना है, इसका अर्थ यह नहीं लगाना चाहिये कि पर के ऊपर ही दुख हो रहा है, उसके ऊपर आपत्ति आयी है, उसे दूर करना है, जो भी व्यक्ति दुखी है उसको सुखी बनाना है। ये निश्चत है कि अपनी आत्मा भी दुखी है, सही उपकार तो वही है 'उप' मानें निकट के अर्थ में कुछ कार्य करना है, तो निकट क्या है? आत्म-तत्त्व, जो आत्म-तत्त्व के निकट पहुँचना चाह रहा है वह जीव-तत्त्व है, उसके ऊपर उपकार करना है, चाहे 'स्व' का हो या 'पर' का हो, बाकी किसी के ऊपर आप उपकार करेंगे तो वह उसे अपकार में परिवर्तित कर देगा, क्योंकि जीवन के ऊपर उपकार जो करने का प्रसंग है वह पतित से पावन बनाने की ओर इंगित करता है, उपकार का अर्थ दूर भगाना नहीं है बल्कि उसे अपने पास; निकट में लाना। आचार्यों ने छह द्रव्यों का वर्णन यत्र-तत्र ग्रन्थों में किया है, उसमें पाँच द्रव्य (जीव-द्रव्य को छोड़कर) सारे के सारे उपकार करते हैं, जीव के ऊपर,

उपकार हम जीव के ऊपर ही कर सकते हैं, पुद्‍गलों का उपकार जो हमारे ऊपर होता है वह बुद्धिपूर्वक नहीं, परस्परोपग्रहो जीवानाम् कहा है। उपग्रह और उपकार में कोई विशेष अन्तर नहीं है, निकट रूप से कुछ ग्रहण करना है। उपकार शब्द परोपकार के लिए कहा है, संसारी प्राणी अपने ऊपर उपकार कर भी नहीं सकता है। अपने ऊपर उपकार करने वाला व्यक्ति बहुत आगे पहुँच जाता है, आचार्य समन्तभद्र महाराज ने सुपार्श्वनाथ भगवान् की स्तुति करते हुए कहा है अपने आपके ऊपर उपकार करने वाला व्यक्ति दूसरे की तरफ से उपकार नहीं चाहता है, दूसरे के माध्यम से अपने जीवन को जो चलायेगा, वह अपने ऊपर उपकार नहीं कर सकता है। परोपकार का अर्थ केवल पर का ही उपकार होता है, ऐसा नहीं, परोपकार का अर्थ होता है ''परम उत्कृष्ट-रूपेण उपकारः परोपकारः''। उपकार 'स्व' के ऊपर करो या 'पर' के ऊपर, वह उपकार परोपकार ही माना जायेगा। हम जब तक सही मायने में इस अर्थ को नहीं समझ सकते; तब तक हम अपने आपको स्वस्थ तीन काल में नहीं बना सकते हैं। गाय यदि दूध का त्याग नहीं करेगी तो वह बीमार पड़ जायेगी, जीना चाहते हो तो उपकार करो, त्याग करो। एकेन्द्रिय जीव-पानी प्रवाह के रूप में बहता जा रहा है, उसी ओर जा रहा है, जहाँ पर जीव त्रस्त हैं, पीड़ित हैं आप नदी में जाकर अवगाहन कर लेते हैं, अपनी तपन को शान्त कर लेते हैं, अपने शरीर एवं कपड़ों की गन्दगी को उसमें विसर्जित कर देते हैं, इसके उपरान्त भी वह नदी आपसे प्रतिरोध नहीं करती है, उसे आप गाली भी देंगे तो भी वह मंजूर करके चली जायेगी, आप उसकी प्रशंसा भी करेंगे तो वह रुकेगी नहीं, कोई इसका उपकार स्वीकार कर लेता है तो ठीक है, नहीं कर लेता है तो भी ठीक है, जीवन-यात्रा रुकती नहीं। आप पेड़-पौधे-वनस्पतियों को खा लेते हैं, छिन्न-भिन्न कर देते हैं, इसके उपरान्त भी वह कुछ नहीं करती, किसी भी आम के पेड़ ने आज तक स्वयं आम नहीं खाये। यदि कोई व्यक्ति उसके सारे आम तोड़ लेता है तो भी ठीक, त्याग करना सीखो। हम किस ओर जा रहे हैं? संग्रह-वृत्ति मानव को छोड़कर के कोई भी अपनाता नहीं है, परिग्रही यदि कोई है तो वह मानव है। पेट तो सबके पास है लेकिन मनुष्य पेट के अलावा पेटी भी भरता है, यह मनुष्य अनेक प्रकार के पाप और अनर्थ करता चला आ रहा है, यदि मनुष्य अपनी शक्ति का सदुपयोग करता है-उपकार के रूप में, तो वह महात्मा बन जाता है और सब जीव, के लिए मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करता है। आचार्यों की वाणी है कि जो व्यक्ति विषयों में ही अपने जीवन को समर्पित कर देता है वह कोई भी हो; नरक-निगोद का वासी बनेगा, ऊपर उठने के लिए कुछ न कुछ त्याग आवश्यक है। पहले बड़े-बड़े राजा महाराजा होते थे, वे अन्त में वैराग्य धारण कर घर का त्याग कर देते थे, जो संग्रह किया था उसे बाँट देते थे। ''खाली हाथ आये हैं खाली हाथ जाना है।'' इस सिद्धान्त को वे भूलते नहीं थे। किन्तु आज का ये पंचमकालीन मानव सुख को चाहता हुआ भी त्याग-धर्म को भूलता जा रहा है, उसमें संग्रहणी

बीमारी आ चुकी है। यदि कोई व्यक्ति परित्याग करता है संग्रह का तो उसकी यह खिल्ली उड़ाता है, उसे वह उपहास का पात्र बनाता जा रहा है। यह इस युग का परिणाम है और होना भी अनिवार्य है क्योंकि आगे जो कुछ भी होना है उसकी भूमिका तो बनाना आवश्यक है, बिना भूमिका, बिना नींव के वह महान् प्रासाद खड़ा नहीं हो सकता। पाप का कार्य करेगा तभी उसका फल भोगने नरक-निगोद में जायेगा।

आचार्य कहते हैं-इस प्रकार; वह अनन्त बार जा चुका है किन्तु उपकार न अपने ऊपर किया न पर के ऊपर, यदि किया है तो जो अज्ञानी है, जड़ है कुछ जानता नहीं, कुछ उपकार करता नहीं, उसके ऊपर उपकार किया-जिसका नाम शरीर है। ऐसा कौन-सा व्यक्ति यहाँ पर होगा जो शरीर का नौकर नहीं बना होगा, भूख लगती है खाने के लिए तैयार हो जाता है। यदि कोई व्यक्ति कहता है यहाँ पर क्यों बैठे हो? उठ जाओ, तो गुस्सा आ जायेगा। पर, अन्दर से आवाज आती है खिसक जाओ यहाँ से, तो वह खिसक जाता है। उस महाशय से हम पूछना चाहते हैं कि जिस बात से उसे गुस्सा आया था वह खिसक क्यों रहे हैं? अन्दर से ऐसी कौन-सी दिव्य-ध्वनि या आकाशवाणी हुई जो उसकी पूर्ति के लिए वे उठ खड़े हुए। वो कौन है काम बताने वाला जिसके कार्य को वह बिना सोचे-विचारे करता जा रहा है, ये कौन-सा दासत्व है और जड़ के ऊपर उपकार करने वाला तीन काल में सुफल नहीं भोग सकता। सुख-शान्ति नहीं भोग सकता, जड़ के द्वारा सुख मिलने वाला नहीं है। संसारी प्राणी न 'पर' के ऊपर उपकार कर रहा है और न 'स्व' के ऊपर। स्व के ऊपर उपकार करने वाला व्यक्ति पर के ऊपर भी नियम से उपकार करता ही जाता है। गंगा नदी बहती हुई बंगाल की खाड़ी में गिर जाती है तो ध्यान रखना वह निकलने के स्थान गंगोत्री से बंगाल की खाड़ी तक अपनी शरण में आये लोगों को परितृप्त किये बिना नहीं गयी। इसी प्रकार; इस मानव की भी लम्बी-चौड़ी यात्रा जब यहाँ से ले करके सिद्धालय (महात्मा बनने) तक होती है, तो उसके बीच में अनेक जीव आ जाते हैं और उसकी शरण के माध्यम से दिशा-बोध पा लेते हैं, वह पाते ही चले जाते हैं और मुड़कर देखते तक नहीं हैं।

''सताम् विभूतिः परोपकाराय''। सज्जनों की विभूति मन-धन-वचन जो कुछ भी है, वह सारा का सारा 'पर' के उपकार के लिए है, उस धन का सदुपयोग इसके अलावा कुछ नहीं हो सकता। जड़ तत्त्व की सुरक्षा एवं विकास के लिए जो व्यक्ति मौलिक धन का प्रयोग करता है, तो समझ लीजिये उसको किसी चीज का क्या मूल्य है? ये ज्ञान नहीं है, वह पैर धोने के लिए अमृत-कलश को ढोल रहा है, ''वह भस्म के लिए रत्न-राशि को जला रहा है'' ये ध्यान रखिये, आत्मा की उन्नति के लिए, चाहे 'स्व' आत्मा हो या 'पर' आत्मा हो, इस तन, मन, धन का प्रयोग जो नहीं करता और इनका प्रयोग यदि शरीर की सुरक्षा के लिए करता है तो पागल और इसमें कोई अन्तर

नहीं है, वह यदि मूढ़ है तो संसारी प्राणी विषयों में फँसा हुआ मूढ़शिरोमणि है। न 'स्व' का काम किया जा रहा है न 'पर' का। जो कभी उपकार मानने वाला नहीं है, उस पर हमारा सर्वस्व समर्पित है, आत्म-तत्त्व के लिए कोई कार्य नहीं। आचार्य कहते हैं परोपकार के अलावा कोई महान् कार्य नहीं। मोक्ष-मार्ग में यदि किसी का हाथ है तो मन का सबसे ज्यादा, वचन का उससे कम, हाथ और तन का तो केवल मन और वचन के साथ लग जाना इतना ही काम है। धन मोक्ष-मार्ग में रोड़ा अटकाने वाला है, उससे मोक्ष-मार्ग की प्राप्ति सम्भव नहीं।

❑ ❑ ❑

विरक्ति की ओर

''बाधाओं को सहन करने वाला, निरन्तर साधना करने वाला व्यक्ति ही अन्त में सफल होता है।''

एक बार एक व्यक्ति मेरे पास आकर कहने लगे - ''महाराज जी! कुछ कृपा कर दो, जिससे काम चलने लगे। क्या काम आप करना चाहते हैं? मैंने पूछा-यही चलना, फिरना, भोजन-पान आदि। उन्होंने कहा- इन कामों में बाधा क्यों आती है? महाराज क्या कहूँ? मुझे दिखता नहीं है। कुछ तन्त्र-मन्त्र कर दो, जिससे दिखने लगे, उन्होंने कहा। मैंने पूछा-'क्या अवस्था है आपकी?' उत्तर मिला महाराज! ज्यादा नहीं पचासी की होगी।

उन महानुभाव की बात सुनकर मुझे लगा कि मानव जब जर्जर शरीर हो जाता है, इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं तब भी भोगोपभोग की आकांक्षा नहीं छोड़ना चाहता। इसीलिये नीतिकारों ने कहा है -

यावत्स्वास्थ्यं शरीरस्य, यावच्चेन्द्रिय-सम्पदः।
तावद्युक्तं तपः कर्म वार्धक्ये केवलं श्रमः॥

अर्थात् जब तक शरीर स्वस्थ है और इन्द्रियाँ अपना कार्य करने में समर्थ हैं, तब तक आत्म-कल्याण के लिए कुछ कर लेना चाहिए, अन्यथा वृद्धावस्था आयेगी, शरीर निश्चत ही शिथिल होगा और इन्द्रियाँ भी शक्तिहीन होयेंगी, उस अवस्था में मात्र पश्चात्ताप ही शेष रह जायेगा।

वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से शक्ति यदि प्राप्त हुई है, तो उसका सदुपयोग करना चाहिए। भोगोपभोग सामग्री के इकट्ठे करने में शक्ति को लगाना उसका दुरुपयोग करना है, संसार के अन्दर कोई अमर बनकर नहीं आया है। एक दिन सबको यथास्थान जाना है।

विषय चाह दावानल दह्यो, मरत विलाप करत दुख सह्यो।

भाग्यवश कभी देव भी हो गया, तो वहाँ विषयों की चाहरूपी दावानल में जलता रहा और

अन्त में माला मुरझाने पर इस प्रकार का संक्लेश करता है कि उस काल में एकेन्द्रिय की भी आयु बाँधकर पृथ्वीकायिक, जलकायिक और वनस्पतिकायिक में उत्पन्न हो जाता है। ''तहतें चय थावर तन धर्‌यो, यों परिवर्तन पूरे कर्‌यो।''

यह जीव कब-से परिवर्तन कर रहा है और कब तक करता जायेगा, इसका ठिकाना नहीं है। यह निश्चत समझिये देवों का आयु-बंध, भुज्यमान आयु के अन्तिम छह माह शेष रह जाने पर आठ अपकर्षों के माध्यम से होता है। इसलिए देव तो अन्तिम जीवन में सावधानी बरतने से संकट से बच सकते हैं, परन्तु कर्मभूमिज मनुष्य, तिर्यञ्च का आयु-बन्ध, भुज्यमान आयु के दो भाग निकलने पर प्रारम्भ होता है, जबकि इन मनुष्य-तिर्यञ्चों को इस बात का ज्ञान नहीं है कि मेरी आयु कितनी है और उसका तृतीय अंश कब प्रारम्भ होने वाला है? इस दशा में तो उसे सदा सावधान ही रहना पड़ेगा अन्यथा असावधानी से खोटी आयु का बन्ध हो सकता है। सम्यग्दृष्टि विचार करता है कि जीवन क्षणभंगुर है, बिजली की कौंध के समान नश्वर है। पर, मिथ्यादृष्टि सोचता है कि अभी क्या हुआ-अभी-अभी तो आया हूँ, कुछ भोगोपभोग का भी मजा ले लेने दो। पर, वह यह सब सोचता ही रहता है, इधर जीवन की लीला समाप्त हो जाती है।

हर एक व्यक्ति को धर्म-साधना के लिए अपना जीवन-क्रम निश्चत कर लेना चाहिए। इसके बिना वह लक्ष्यहीन हो भटकता ही रहता है। जो जीवन-क्रम निश्चत कर घर में कुछ साधना कर लेते हैं उन्हें आगे का मार्ग सरल हो जाता है। अभ्यास के बिना कार्य की सिद्धि होना सम्भव नहीं है। विद्यार्थी वर्षभर अभ्यास करता है, तब परीक्षा में उत्तीर्ण होता है। जिस छात्र ने कुछ अभ्यास किया नहीं, वह परीक्षा में उत्तीर्ण नहीं हो सकता।

दक्षिण में दशहरा का त्यौहार होता है, खूब उत्सव मनाते हैं, उस समय लोग आपस में सोना बाँटते हैं, यह सोना नहीं, एक वृक्ष के गोल-गोल पत्तों को वे सोना कहते हैं, उन्हीं का आदान-प्रदान करते हैं, गेहूँ भी घर में बोकर उगाते हैं। सात-आठ दिनों में गेहूँ के पौधे बड़े हो जाते हैं। पर, सूर्य की किरणों का प्रकाश न मिलने से पीले-पीले रहते हैं, जैसे कि टी. बी के मरीज। आपके प्रदेश में भी तो श्रावण-मास में कजलियाँ निकालते हैं, लौ जैसी होती हैं वे पीली-पीली, अन्धकार में रहने से उनमें वृद्धि तो अधिक हो जाती है, परन्तु सर्दी-गर्मी सहन करने की क्षमता नहीं रहती, जो पौधे सूर्य-किरणों के प्रकाश में बोये जाते हैं वे हरे-भरे होते हैं और उनमें 'सर्दी-गर्मी सहन करने की क्षमता रहती है, फल-फूल भी उन्हीं में लगते हैं, पीली-पीली कजलियों में नहीं। अत: बाधाओं को सहन करने वाला, निरन्तर साधना करने वाला व्यक्ति ही अन्त में सफल होता है।

विवेकी मनुष्य घर का परित्याग कर बाहर जाता है और अपनी क्षमता से सर्दी-गर्मी को सहता हुआ आत्म-कल्याण की ओर अग्रसर होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार घर

में आग लगने पर कुंआ खुदवाने से कोई लाभ नहीं होता, उसी प्रकार वृद्धावस्था में धर्म का मार्ग अंगीकृत करने पर लाभ नहीं होता, धर्म तो शरीर की शक्ति रहते हुए कर लेना चाहिए, जिस प्रकार युवावस्था की कमाई को मनुष्य वृद्धावस्था में आराम से भोगता है, उसी प्रकार युवावस्था की धर्म-साधना का उपयोग वृद्धावस्था में करता है।

कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है-

रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विराग-संपत्तो।
एसो जिणो वदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज॥''

(समयसार-गाथा)

अर्थात् रागी जीव कर्मों को बाँधता है, और विरागी जीव कर्मों को छोड़ता है, यह जिनेन्द्र भगवान् का उपदेश है, इसीलिए कर्मों में रागी मत बनो।

भव्य-जीव विरागी होकर सत्तर कोड़ा-कोड़ी सागर की स्थिति वाले मिथ्यात्व कर्म को अन्तः कोड़ा-कोड़ी सागर की स्थिति में ला देता है, इतना ही नहीं, उसे समाप्त कर सकता है, परन्तु अभव्य नहीं, अभव्य जीव को विशुद्धि-लब्धि नहीं होती, अर्थात् उस जाति की विशुद्धता में वह देशना से लाभ नहीं ले सकता, गुरुओं की देशना को सुन लेना ही देशना-लब्धि नहीं है। पर, उसके ग्रहण, धारण और अनुभव की शक्ति आ जाना देशना-लब्धि है।

बहुत पहले गृहस्थावस्था की बात है, एक बार एक सज्जन आकर बोले-जरा, हमारे घर चलिए, एक भाई को बड़ी वेदना हो रही है उसे संबोध दीजिए, मैं चला गया, जाकर देखा कि उसकी हालत मरणासन्न है, अतः मैं 'णमोकार-मन्त्र' सुनाने लगा, वहीं खड़ा हुआ दूसरा व्यक्ति कहने लगा यह मर थोड़े ही रहा है-जो आप 'णमोकार-मन्त्र' सुना रहे हैं! मुझे लगा कि देखो ये रागी प्राणी धर्म-कर्म की बात तब सुनना चाहते हैं, जब उसमें सुनने-समझने की शक्ति भी शेष नहीं रह जाती, थोड़ी देर बाद उस व्यक्ति का प्राणहत हो गया, राम-नाम सत्य है, ही शेष रह गया।

दीपक जब से जलना शुरू करता है, तभी से बुझने लगता है, जितना तेल समाप्त होता जाता है, उतना ही वह बुझता जाता है, जब बिल्कुल समाप्त हो जाता है, तब अन्धेरा ही शेष रह जाता है। इसी प्रकार; इस जीव का अनुवीचि मरण प्रत्येक समय हो रहा है, यह जीव नवीन शरीर के परमाणुओं को ग्रहण करने के पहले ही अपनी एक, दो अथवा तीन समय की आयु समाप्त कर चुकता है, तात्पर्य यह है कि जब मरण प्रति समय हो रहा है तो प्रति समय सावधानी बरतनी चाहिए।

बिजली ऊपर चमकती है, उसे देखने से लाभ नहीं, किन्तु उसके प्रकाश में अपने पैरों के नीचे की भूमि को देख लेने में लाभ है, हम लोग किसी का उपदेश सुनते हैं, पर उस उपदेश को

सुनकर अपने आप की ओर नहीं देखते, काम तो अपने आप को देखने से सिद्ध होगा, जो वस्तु जहाँ है वहीं उसकी खोज करनी चाहिए।

एक बुढ़िया की सुई गुम गयी, उसे अन्धेरे में ढूँढ़ती देख किसी ने कहा-माँ! अंधेरे में क्या ढूँढ़ती हो, उजेले में ढूँढ़ो, वह जहाँ उजेला था वहाँ ढूँढ़ने लगी, दूसरा आदमी आया, आकर पूछता है माँ जी! क्या ढूँढ़ रही हो? बेटा! सुई ढूँढ़ रही हूँ, बुढ़िया ने कहा, कहाँ गुमी थी यह तो पता है? गुमी तो वहाँ थी पर ढूँढ़ यहाँ रही हूँ, एक भाई ने कहा-उजेले में ढूँढ़ो, तो यहाँ ढूँढ़ने लगी, दूसरे आदमी ने कहा-तो यहाँ ढूँढ़ने से थोड़े ही मिल जायेगी। बुढ़िया झुँझलाकर बोली-एक कहता है उजेले में ढूँढ़ो और एक कहता है अँधेरे में ढूँढ़ो, किस-किस की बात मानूँ, उस आदमी ने समझाया कि जहाँ सुई गुमी है वहाँ उजेला लेकर ढूँढ़ो तो मिलेगी नहीं तो नहीं।

यह तो एक दृष्टान्त रहा, परमार्थ यह है कि हम लोग भी तो धर्म को कहाँ ढूँढ़ते हैं? तीर्थ स्थानों में, ऋषियों के प्रवचनों में परन्तु धर्म तो हमारी आत्मा में है, उसकी उपलब्धि वहीं होगी। पर मन्दिर आदि को केवल उसका साधन बनाया जा सकता है। उदासीनाश्रम की बात एक दिन आयी, परन्तु आज कोई व्यक्ति-साधक उदासीन तो दिख नहीं रहा है, हाँ आश्रम ही जरूर उदासीन दिख रहा है, मात्र मकान बनाकर खड़ा कर देना उदासीनाश्रम नहीं है, आप लोगों में यदि उदासीनता आये तो उदासीनाश्रम अपने आप बन जायेगा, बोलो, है कोई आप लोगों में उदासीन बनने को तैयार? कोई नहीं!

भोगोपभोग की लालसा को घर में भी घटाया जा सकता है। पर, घटाया तब जा सकता है जब उसका लक्ष्य बनाया जाये, क्योंकि लक्ष्य के बिना किसी भी कार्य में सफल होना सम्भव नहीं।

अरे 'अणुव्रत' का धारण करना कोई कठिन नहीं है, लक्ष्य करो उस ओर तो अणुव्रत का पालन सरलता से हो सकता है, अणुव्रत का अर्थ होता है छोटा व्रत और महाव्रत का अर्थ होता है व्रत के पीछे लगना, महाव्रत और अणुव्रत में से जो शक्य हो उसे अवश्य प्राप्त करो और विरक्ति की ओर बढ़ने का प्रयास करो।

❑ ❑ ❑

दृष्टि बदलिये

दूसरों को मत देखो, अपने आपको देखो

आत्मा अमूर्त है, दिखती नहीं है, इसलिए उस अमूर्त्त तत्त्व पर विश्वास करना भी कठिन

कार्य अवश्य है, किन्तु असम्भव नहीं, अनादिकाल से भटकता हुआ यह संसारी प्राणी अमूर्त्त-तत्त्व पर विश्वास कम रखता है, क्योंकि वह देखने में नहीं आते, अज्ञानी प्राणी मात्र जो दृश्य देखने में आते हैं उन्हीं को सब कुछ समझता है, इसलिए प्रथमानुयोग के माध्यम से आचार्यों ने महापुरुषों के जीवन-चरित का आदि, मध्य और अन्त साकार किया है।

परिणामों का चित्रण करणानुयोग है। करण के दो अर्थ हैं, परिणाम और गणित। अतः करणानुयोग लोक-अलोक के विभाजन, युग-परिवर्तन एवं चतुर्गति जीवों के सुख-दुखों का वर्णन करने वाला होता है। दुख कोई व्यक्ति नहीं चाहता इसलिए करणानुयोग में दर्शित दुखों का वर्णन बुरे कार्यों के मध्य अवरोध उत्पन्न करता है और व्यक्तियों को सत्यपथ पर चलने की प्रेरणा प्रदान करता है। 'चरणम् अनुसरतव्यम्' चरणम् का अर्थ है चरित्र और उसका अनुसरण करना अर्थात् पालन करना। जिस चरित के माध्यम से वह अमूर्त द्रव्य भी प्राप्त हो जाता है; वह अनन्तात्मक द्रव्य कहाँ तक छिपा रहेगा? कहाँ तक अमूर्त रहेगा? साधना तो वह है जो साध्य का मुख दिखा दे। 'मूलाचार' ग्रन्थ मूल प्राकृतभाषा में है। इस पर सकलकीर्ति आचार्य महाराज ने संस्कृत भाषा में टीका लिखी। इसमें कृतिकर्म का प्रसंग है। अर्थात् साधु के करने योग्य कार्य का वर्णन 'है। इस ग्रन्थ में आचार्यों ने पद-पद पर प्रत्येक गाथा में साधुओं को उनके कर्त्तव्यों के प्रति इंगित किया है। जिन कर्त्तव्यों का पालन करके साधु-जन्म, जरा और मरण के दुखों से बचकर शीघ्र ही अनन्त सुख रूप मुक्ति का लाभ लेते हैं और जो स्वभाव विभाव में परिणत हो चुका था, उस स्वभाव को प्राप्त करके उस अमूर्त आत्म-द्रव्य का साक्षात्कार करते हैं।

''णमो लोए सव्वसाहूणं''

साधु का पद महान् माना जाता है, अतः बड़े-बड़े आचार्य भी उस साधु के लिए तीन सन्ध्याओं में नमस्कार करते हैं, क्योंकि मुक्ति का साक्षात् लाभ तो न आचार्य को है और न उपाध्याय को है, मुक्ति को साक्षात् प्राप्त करने का अधिकारी तो मात्र साधु ही है, बड़े-बड़े महान् आचार्य भी जो उस साधु को नमस्कार कर रहे हैं, इसका मतलब यह है कि उनकी दृष्टि उस द्रव्य की ओर है, पर्याय की ओर नहीं। आचार्य, उपाध्याय और साधु में वैसे साधु-पद की अपेक्षा कोई अन्तर नहीं है क्योंकि सभी समान रूप से अट्ठाईस मूलगुणों का पालन करते हैं। दूसरी बात यह है कि साधु ही साधना के अन्तिम बिन्दु पर पहुँचता है, इसलिए भी साधु-पद की महिमा बतायी गयी है।

आचार्य शब्द का अर्थ है कि- **आचरति आचारयति इति आचार्यः!** (सर्वार्थसिद्धिः)

जो स्वयं आचरण करे एवं अपने शिष्यों को आचरण कराये, वह आचार्य कहलाता है। अध्यात्म और आचारपरक महान् ग्रन्थों को लिखकर आचार्यों ने हमारे ऊपर महान् उपकार किया

है। कल्याण करने के लिए दिशा-बोध दिये गये हैं, फिर भी उनकी उपेक्षा करके स्वार्थ-सिद्धि के लिए हम किस ओर खिंचते चले जा रहे हैं। बड़े-बड़े शास्त्रों का अध्ययन करने के बाद भी ''अनुभूति के नाम पर हम कुछ नहीं कर पाये। स्मृति के माध्यम से बुद्धि का आयाम करके मात्र कोश बना लिया है दिमाग में। ज्ञान जब हृदयंगम होकर चरित्र में उतरता है तभी उपयोगी होता है, अन्यथा नहीं। अध्यात्म तो है ही किन्तु हमें सुख-शान्ति प्राप्ति हेतु चरणानुयोग का ज्ञान भी आवश्यक है, क्योंकि उस अध्यात्म की प्राप्ति चरित्र के बिना तीन काल में भी सम्भव नहीं।

चरणानुयोग से भी कोई मुमुक्षु-प्राणी दृष्टि ले सकता है। सामने जो चल रहा है, आचरण ही जिसका जीवन बना हुआ है, उसे देख कर भी आपका जीवन भव्य बन सकता है। यह बात उसके लिए है जिसकी होनहार ठीक हो। होनहार का अर्थ है अच्छा होने की योग्यता। 'निकट-भव्य' की दृष्टि उस ओर जाती है और वह आचरण देखकर अपने आचरण को सुधार लेता है।

गौतम स्वामी ग्यारह अंग और नौ पूर्व के ज्ञाता थे, किन्तु यह सब बीज सम्यग्दर्शन के थे। सम्यग्दर्शन होने के पूर्व तक वे एक तापस, एक ब्राह्मण परिचालक थे, किन्तु उनमें अंकुर लक्षण बहुत होनहार को लेकर थे। एक इतिहासकार का कहना है कि वर्तमान में एक अंग का अंश मात्र ज्ञान शेष है, वह भी क्रमशः क्षीण होता जा रहा है, वह इन्द्रभूति ब्राह्मण ग्यारह अंग और नव पूर्व के क्षयोपशम-ज्ञान की शक्ति लेकर चलने वाला था, मात्र पानी के सिंचन की आवश्यकता थी। ज्योंही उसने महावीर के समवसरण को देखा त्योंही मान गल गया और जो सम्यग्दर्शन शक्ति रूप में था वह प्रकट हो गया और वह संयमी बन गया। उसी प्रकार प्रत्येक भव्य आत्मा में भी ऐसी ही शक्ति विद्यमान है, उसके क्षय, क्षयोपशम की आवश्यकता है और वह शक्ति उसे प्राप्त हो सकती है। उस शक्ति को प्रकट कर जीव अपने योग और उपयोग को शुद्ध कर सकता है। वह योग पवित्र है। संयोग एक दो में नहीं अनेक में है। अनन्त का मिटना मुश्किल कार्य है, वियोग भी दो के ही मध्य होता है, संसारी प्राणी संयोग और वियोग के पीछे पड़ा है, उसने योग कभी नहीं साधा, योग क्या चीज है? संयोग और वियोग को भूल जाओ, योग पर दृष्टि रखो, योग में न कोई संघटन है न विघटन, न कोई इष्ट-वियोग, न कोई अनिष्ट-संयोग होता है। जो कुछ होता है वह होता ही है, उसका दर्शक मात्र योगी होता है। जिसकी दृष्टि में पदार्थ का परिणमन मात्र है, उसे इष्ट-अनिष्ट का अनुभव कैसे होगा? अकेले में क्या संयोग और क्या वियोग । जब योग शब्द पर लगे हुए 'वि' और 'सम' उपसर्ग हट जाते हैं, और 'उप' यानी निकट का सम्बन्ध लग जाता है तब वह योग उपयोग में परिणत हो जाता है, अर्थात् सिर्फ साधक की परिणति उपयोगमय हो जाती है। अतः हमारा तो सबसे यही कहना है-बंधुओं आज आप सभी लोग उपसर्ग, संयोग-वियोग इन सभी चीजों से हटकर अपने उपयोग का सही-सही उपयोग करो।

एक व्यक्ति ने कहा-मैं बहुत दुखी हूँ, मैंने पूछा-तुम्हारा दुख क्या है? वह बोला-मैं बड़ा बनना चाहता हूँ, मैंने कहा-यह शुभ बात है, किन्तु बड़ा बनना नहीं बड़ा हूँ यह देखना है, बड़े बनने की इच्छा छोड़ दो, बड़ा-छोटा ये कल्पना मात्र है, छोटी-बड़ी कोई चीज नहीं है। जब हम एक वस्तु के आगे दूसरी वस्तु रखते हैं तब चीजें छोटी-बड़ी दिखती हैं तथा तुलना करने से अच्छे-बुरे की कल्पनाएँ जन्म लेती हैं, अतः दूसरों को मत देखो, अपने आपको देखो, सब कुछ तैयार है, कुछ करना नहीं है, मात्र कल्पनाएँ करना छोड़ दो, कल्पनाएँ छोड़ना है और कुछ नहीं करना है। यह कार्य साधारण नहीं, विषय-कषायों से युक्त प्राणियों के लिए यह कार्य असाध्य तो नहीं, पर, दुःसाध्य अवश्य है।

धार्मिक क्षेत्र में प्रवेश पाने के लिए जो दोनों हाथों में धन-सम्पत्ति का कचरा है उसे फेंक दो और दोनों हाथों में दया दान, संयम के साधन आदरपूर्वक ले लो। दोनों कानों से जिनवाणी को सुनो, आँखों से भगवान का दर्शन करना चाहिए, एक कान से ध्यानपूर्वक सुनकर दूसरे कान को बन्द कर लेना चाहिए ताकि बात निकले नहीं, हृदयंगम हो जाये,

अनादिकालीन आपके अपने जो संस्कार हैं उनको तोड़ना है, आप नये संस्कार जमायें, नये संस्कार जमाने में बहुत प्रयत्न करना पड़ता है, दीवार पर रंग करना है, प्रत्येक वर्ष करते हैं तो मात्र झाड़ू लगाकर कर लो, पर यदि अनेक वर्षों से दीवार पर रंग नहीं किया है तो पहले खरोंचें; मार-मारकर उसकी पर्तें उतारनी पड़ती हैं, तब कहीं जाकर दीवाल पर रंग आता है। अनादिकाल से आत्मा की इस दीवार पर धर्म का कोई रंग-रोगन तो किया नहीं अभी तक और अब नया रोगन लगाना चाहते हैं, अध्यात्म एक प्रकार का रंग है, इसका अलग ही ढंग है, जब तक दीवार पर पुराने रंग का रंग है, उसका निवारण नहीं होता, तब तक समझना-अभीष्ट वस्तु बहुत दूर है।

धर्म अधर्म की आपने संक्षिप्त परिभाषा जानना चाही, नोट कर लो भैया! ''जो आपको आज तक अच्छा नहीं लगा वह है धर्म और जो आज तक अच्छा लगा वह है अधर्म।'' वैसे आप धर्म का स्वरूप बहुत अच्छी तरह समझते हैं, इसीलिये तो धर्म से दूर हो जाते हैं, संसारी प्राणी धर्म को खूब समझता है।

इसीलिए वीतरागता से दूर है। आप लोगों को भी वैराग्य होता है, किन्तु धर्म से, त्याग से, आत्मा से वैराग्य होता है। ... लेकिन आत्मा में वैराग्य नहीं होता। विषय, कषाय, राग-द्वेष आपको हेय नहीं लगते, आप सोचते होंगे यदि वीतरागता प्राप्त हो जाये तो मैं लुट जाऊँगा, सब हमारे आने-जाने के मार्ग बन्द हो जायेंगे, किन्तु यथार्थ दृष्टि से देखा जाये तो आप लोगों की यह धारणा गलत है।

मैं तो राग छोड़ने को भी नहीं कहता, राग अपनाना होगा, द्वेष अपनाना होगा। राग अपनी

आत्मा से और जब द्वेष 'द्वेष' से करने लगेंगे तभी आत्म-कल्याण की शुरूआत होगी, अपनी आत्मा को छोड़कर यदि तुम किसी से भी राग नहीं करोगे तो-आत्मा में 'स्व' स्वभाव में स्थित हो जाओगे। जितना राग पर से किया, उतना राग आत्मा से किया जाये और जितना द्वेष वीतरागता से किया उतना द्वेष अब द्वेष से किया जाये तो समझ लो बेड़ा पार हो जायेगा। कैवल्य की उत्पत्ति हो जायेगी, संसार-समुद्र से तर जाओगे।

जैन-दर्शन जितना सरल है, उतना अन्य कोई दर्शन नहीं। सबसे प्यार करना कठिन है। बुरी अच्छी सबको कथंचित् ठीक कहकर मान्यता देना बड़ा मुश्किल है। यह सब जैन-दर्शन के विशाल उदार हृदय की महानता है, इस प्रकार के मार्ग पर आप कभी चलते हैं क्या? तो आप चले नहीं घूमे हैं, घूमना कोई चलना थोड़े है, चलना महान् है, चलने में सुगंधी है, चलने से दिशा मिल जाये, मंजिल मिल जाती है। अनादिकाल से भटकता हुआ यह यात्री छोर पा जाता है, इसको फिर बार-बार चारों गतियों में घूमना-भटकना नहीं पड़ता। पर, आपको घुमावदार रास्ता ही पसन्द है, आपको उसी में मजा आ रहा है, कभी मनुष्य, कभी तिर्यञ्च, कभी नारकी, कभी देव .. इस प्रकार आप कोल्हू के बैल की भाँति घूम रहे हैं.....वहीं वहीं पर.....इसी संसार में......!

उसी तूलि से बन्दर का चित्र बनता है, उसी तूलि से परमेश्वर का, सभी का उपादान एक ही है, काल भी वहीं पर मौजूद है, लेकिन परिणमन सब भिन्न-भिन्न हो रहे हैं।

अन्त में, हमारा आप सभी से यही कहना है कि आप अपनी दृष्टि बदलिए, काल के समान दृष्टि को भी उदासीन बनायें, क्योंकि दृष्टि के बदलने से सृष्टि में भी बदलाहट आ जायेगी, क्योंकि कहा ही गया है कि- ''जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि'' इतना ही पर्याप्त है।

❑ ❑ ❑

मरे अकेला होय

यह संसार परिणमनशील है। इस सांसारिक रंग-मंच पर अनेक पात्र आते हैं और अपना खेल दिखाकर चले जाते हैं, लेकिन, यह रंग-मंच आज तक खाली नहीं हुआ।

एक लड़का अपनी माँ की गोद में बैठकर माँ से अच्छी-अच्छी बातें सुनाने का अनुरोध करता है, जिससे उसका जीवन समृद्धिशाली बन सके, माँ सोचकर कहती है कि पड़ोसी व्यापारी का लड़का पढ़ने में काफी होशियार है, कक्षा में हमेशा प्रथम आता है, बड़ा होने पर व्यापार सँभालने लगा है और काफी कमा रहा है इत्यादि-इत्यादि। माँ के द्वारा उस लड़के की प्रशंसा में आधा घण्टा व्यतीत कर देने पर वह लड़का अपनी माँ से कहता है कि तू तो पर ही की प्रशंसा किये जा रही है, कुछ अपनी भी तो बात कर, अपने लड़के की कोई बात ही नहीं कर रही है, जब माँ उसकी बात

नहीं मानती तो वह पर की वस्तु-स्थिति जो थी उसे सुनने से इंकार-कर गोद छोड़कर भागने लगता है, माँ उसका हाथ पकड़कर पुनः गोद में बैठा लेती और कहती है कि तू ठीक कह रहा है, तेरी मान्यता भी ठीक है पर क्या तू अपनी ही बात सुनना चाहता है? आज कौन अपनी बात सुनना चाहता है? मैं तेरी माँ बन बैठी हूँ, फिर भी मुझे ही अपनी बात अच्छी नहीं लगती है, यदि मैं तुझे अपनी सही-सही बात कहूँगी तो तुझे भी अच्छी नहीं लगेगी, इस पर लड़का कहता है-''नहीं माँ! मुझे बिल्कुल अच्छी लगेगी।'' तो फिर सुन-तू, मेरा बेटा नहीं है।

मेरा लाड़ला नहीं है, मैं तेरा हित करने वाली नहीं हूँ, इत्यादि-इत्यादि। तब वह लड़का धीरे-धीरे सोचने लगता है कि माँ जो कुछ कह रही है ये सही बात कह रही है। अभी तक इस सांसारिक प्राणी की स्वार्थ-बुद्धि हुई नहीं है, कहने के लिए वह स्वार्थ कहता है, यह संसार महान् स्वार्थ-परायण है, लेकिन वह न अपनी प्रशंसा सुनना चाहता है न दूसरों की ही, अपनी प्रशंसा की जाये कि आत्मा अनन्तज्ञान का सुख भण्डार है, आत्मा का पर से-किसी भी सांसारिक पदार्थ से कोई सम्बन्ध नहीं है-आत्मा यदि है तो ज्ञान-दर्शन वाला है, आत्मा यदि है तो वह अपने आप में है और यदि नहीं है तो पर की अपेक्षा नहीं है, तो इसे भी कोई सुनता नहीं है, तो सुनाने वाला क्या सुनाये 'पर' की प्रशंसा या 'स्व' की प्रशंसा? यह काफी विचित्र है। लोग प्रायः कहते हैं कि महाराज! आज रविवार है, हम 'छुट्टी' लेकर आये हैं तथा संसार से छुट्टी पाना चाहते हैं, तो मैं कहता हूँ कि यदि ये 'की' संसार से छुट्टी पाने के लिए है तो वरदान सिद्ध होगी, लेकिन ऐसा होता नहीं है। जब तक 'स्व' क्या है? 'पर' क्या है? ये ज्ञान नहीं होता तब तक कुछ भी कहना, सुन पाना बड़ा कठिन है, पर की कथा यदि पर को सुनाई जाये तो भी ठीक नहीं, स्व की कथा यदि स्व को सुनाई जाये तो स्व ही उसे पहचान नहीं पाता, यदि पहचान कराने का प्रयास भी कराया जाये तो भी उसे पसन्द नहीं आता, क्योंकि भूतकाल से अभी तक उसे 'स्व' का परिचय नहीं हुआ, दूसरे के माध्यम से 'स्व' का वर्णन सुनने पर उसे रुचता नहीं, संसारी प्राणी की दशा काफी खराब है, इसके बाद भी गुरु लोग कहें-

''कहैं सीख गुरु करुणा धार।''

एक बार की बात है, समवसरण की रचना हुई और भगवान समवसरण में सिंहासन पर विराजमान थे, दिव्यध्वनि खिर रही है, असंख्य देवी-देवता एकल होकर बड़े मनोयोग से उसे सुन रहे हैं, दो श्रावक भी उसे सुनने जाते हैं, रास्ते में उन्हें अंडौआ (एरण्ड) के पेड़ के नीचे बैठे एक मुनि-महाराज दिखाई पड़ते हैं, वे उन्हें वन्दना करके कहते हैं-'हे महाराज! हम भगवान् के समवसरण जा रहे हैं, वहाँ जाकर पूछेंगे कि हमारा पुरुषार्थ कब तक जागृत होगा? हम उसके माध्यम से मुक्ति पा सकेंगे या नहीं? अगर आपको भी कुछ पूछना हो, कुछ शंका समाधान करना हो, तो कहिये, हम पूछकर बता देंगे।' महाराज! कहते हैं कि यदि तुम्हें मेरे बारे में कुछ पूछना ही

है तो पूछ लेना कि इस प्रकार साधना करते-करते हमें कब मुक्ति मिलेगी? (यह कथा श्वेताम्बरों में आती है, हमें इसका भाव ग्रहण करना है।) दोनों श्रावक समवसरण जाते हैं तो पहले अपने हित की बात पूछते हैं, उन्हें भगवान् की ओर से जवाब मिलता है कि तुम सात-आठ भवों से मुक्ति पा जाओगे, ये सुनकर वो काफी प्रसन्न होते हैं, इसके बाद वे मुनि महाराज की बात भगवान् को बताते हैं तो भगवान् कहते हैं-जाओ, उनसे जाकर कह दो कि वे जिस पेड़ के नीचे बैठे हैं उसमें जितने पत्ते हैं उतने भवों के बाद उन्हें मुक्ति मिलेगी, ये सुनकर वे सोचने लग जाते हैं कि भगवान् ने तो कह दिया लेकिन भगवान ने जो कह दिया सो कह दिया।

लौटते समय रास्ते में वे देखते हैं कि मुनि महाराज एरण्ड के वृक्ष के पास से उठकर कहीं और बैठ गये हैं, वे उन्हें देखकर नमोऽस्तु कहते हैं और उदास हो जाते हैं, उन्हें उदास देखकर मुनि महाराज मुस्कराकर पूछते हैं-कि क्या भगवान ने आप लोगों के बारे में कुछ अन्यथा कह दिया! तुम्हें मुक्ति होगी कि नहीं? वे कहते हैं-महाराज! हमें तो मुक्ति होगी, तो फिर क्या मुझे नहीं होगी? हमें तो होगी सात-आठ भव में, लेकिन आपके लिए हम भवों की संख्या नहीं बता सकते, आप जिस पेड़ के नीचे-आकर बैठ गये हैं उस पेड़ में जितने पत्ते हैं उतने जन्मों में आपको दाखिल होना पड़ेगा, आप बबूल के पेड़ के नीचे आकर बैठ गये हैं और इसमें तो असंख्य पत्ते हैं, यह सुनकर महाराज उदास होने के बजाय प्रसन्न हो उठते हैं, वे उन्हें धन्यवाद देते हुए कहते हैं-धन्य हूँ, धन्य हूँ, मैं भव्य तो हूँ और एक दिन इस संसार से, महान् कीचड़ (कर्दम) से ऊपर उठूँगा। वे श्रावक सोचने लग जाते हैं, कि ये कैसा साधु है! अपने असंख्य भवों से डर नहीं रहा है, डर किसका है? यदि संसार से नहीं छूटे तब डर है, संसार से तो मुझे छूटना है, संसार से छूटने के लिए ये संयम है, प्रवचन है, तीर्थ-यात्रायें आदि अनेक कार्य हैं। धार्मिक कार्य में श्रीगणेश से लेकर इति तक, प्रारम्भिक दशा से अन्तिम दशा तक, जितनी भी क्रियाएँ होती हैं वे सब संसार से छूटने के लिए ही हैं, ये निर्णय या प्रतिज्ञा कर लेना आवश्यक है, ये बात अलग है कि किसी की क्रिया में विलम्ब हो सकता है, लेकिन ये ध्यान रखो जिसने भी ये दृढ़-संकल्प कर लिया है कि मुझे इन क्रियाओं के द्वारा कर्म काटना है एक भव, दो भव, ज्यादा से ज्यादा सात-आठ भव लग सकते हैं, फिर वह नियम से इस पार से उस पार तक पहुँच जायेगा, जिसके हृदय में ऐसा विश्वास हुआ है या प्रतीति हुई है या आस्था बन चुकी है, तो उसी को आचार्य सम्यग्दृष्टि बोलते हैं। ये सुनाकर वे चले जाते हैं, जब कभी भी मुमुक्षु भव्य-प्राणी अकेला बैठकर (वैसे वो अकेला ही रहता है) विचार करता है तो उसकी एकमात्र ध्येय-आस्था और विश्वास की डोर ही काम करती है, अन्य कोई साथी रहता नहीं है, वो अकेला ही जन्मता है। अकेला ही मरण करता है, अकेला ही धर्म-साधन करेगा और अकेला ही मुक्ति पायेगा, इसमें भी एकत्व ही रहेगा, अनेकत्व कहीं नहीं आयेगा। भले ही हम

अनेकान्तवाद के उपासक हैं लेकिन ये एकान्त है कि एकान्त में ही अकेले की मुक्ति होगी, वहाँ अनेकान्त नहीं रहेगा, वहाँ भी अपने को अपने आप का ही अनुभव करना पड़ेगा, तनिक भी किसी दूसरे का अनुभव नहीं होगा।

सभी चीजों का कोई न कोई प्रतिपक्ष होता है, अपने से भिन्न द्रव्य जितने हैं वे सारे के सारे प्रतिपक्ष हैं, चाहे वे भगवान हों, चाहे वे देव हों, चाहे दानव हों, चाहे मानव हों, चाहे पुद्‌गल हों, चाहे चेतन हों, चाहे अचेतन हों, चाहे मुक्त हों या संसारी हों । सब हमारे लिए प्रतिपक्ष हैं और उनके लिए हम प्रतिपक्षी हैं, इस प्रकार का दृढ़-श्रद्धान जब तक किसी को नहीं होता है तब तक मुक्ति के मार्ग में उसे रस नहीं आ सकता है, मुक्ति के मार्ग पर चाहे कितने ही व्यक्ति हों वे एक दूसरे के प्रतिपक्षी हैं, जब तक एकत्व का चिन्तन नहीं होगा तब तक इस संसारी प्राणी की दीनता तीन काल में छूट नहीं सकती है, इस बात को कुन्दकुन्द आचार्य डंके की चोट पर कहते हैं, संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसका आश्रय लेने का भाव इस संसारी प्राणी ने नहीं किया हो। अचेतन का लेता है, चेतन का लेता है, माँ बेटे का सहारा लेती है, बेटा माँ का, पिता पुत्र का सहारा लेता है, पुत्र पिता का, सारी की सारी वस्तुएँ सहारे से ही चल रही हैं, बिना सहारे कोई चलता ही नहीं है, आज का यह मानवीय जीवन अन्योन्याश्रित हो चुका है और इसी अन्योन्याश्रय को छुड़ाने के लिए अध्यात्मवाद खड़ा हुआ है, वह अध्यात्म है जिसमें एकमात्र आत्मा ही रह जाती है, परमात्मा गायब हो जाता है। इतना साहस जिस व्यक्ति के व्यक्तित्व में आ जाता है वही अकेला इसे झेल सकता है अन्यथा तीन काल में भी सम्भव नहीं है। ये जीवन आनन्दमय तभी हो सकता है जब वहाँ एकत्व हो। जहाँ अनेकत्व है वहाँ रोने के सिवा कुछ नहीं है, मोक्षमार्ग पर आकर भी जो अनेकत्व का चिंतन करता है उसके सारे के सारे दिन रोने में चले जाते हैं। जिसने अपने जीवन में एकत्व की स्थापना नहीं की चाहे वह मोक्षमार्गी हो या संसारमार्गी उसे सुख नहीं मिल सकता "**न भूतो न भविष्यति**" घर छोड़ते समय आप ये ध्यान रखना कि ऐसा घर नहीं छोड़ना कि वो एकत्व भी छूट जाये और ये भी तो ध्यान रखना कि बीच में न कोई गुरु सहयोग देंगे न कोई साथी क्योंकि वे भी अकेले हैं।

"आप अकेला अवतरे मरे अकेला होय।"

जब हम इतिहास पलटते हैं तो देखते हैं कि इस संसारी प्राणी ने अनंतों भव काटे हैं, मनुष्य बना है या नहीं बना है कोई महत्त्व नहीं रखता, लेकिन पर्यायें तो अनंतों मिली हैं, क्योंकि यह संसार परिणमनशील है, इस सांसारिक रंगमंच पर अनेक पात्र आते हैं और अपना भेष दिखाकर चले जाते हैं, लेकिन यह रंगमंच आज तक खाली नहीं हुआ है, इस सांसारिक रंगमंच में ४ मंच हैं-एक तिर्यञ्चगति, एक देवगति, एक मनुष्यगति और एक नरकगति।

वे दो श्रावक पुनः समवसरण जाते हैं, वे भगवान् से पूछते हैं कि भगवान् उन महाराज का

क्या हुआ? भगवान् कहते हैं तुम तो इसी भव में हो और तुम्हारे जीवन में जो बूढ़े महाराज थे न, उनका अवसान हो गया और उन्हें मुक्ति मिलने वाली है, वे कहते हैं कि हे भगवान्! तो फिर ये 'रत्नकरण्डकश्रावकाचार' की कारिका तो फालतू हो गयी? आपने तो कहा था कि उस पेड़ के जितने पत्ते हैं उतने भव उनके हैं? हमारा तो एक भी भव पूर्ण नहीं हुआ है और वे यहाँ तक कैसे आ गये? हे भव्य जीवों तुम्हें मालूम नहीं है, तुम्हें अपने ऊपर जो अभिमान था कि हम महाराज से पहले मुक्ति पावेंगे वो गलत था, मुक्ति का साधन भवों के ऊपर निर्धारित होकर भी पुरुषार्थ के ऊपर निर्धारित है। उन मुनि महाराज ने इस प्रकार निदान किया था और निदान करने के फलस्वरूप उन्हें निगोद का बन्ध हुआ था और वहाँ-

''एक श्वांस में अठदस बार, जन्मो मरयो भरयो दुखभार।
निकस भूमि जल पावक भयो, पवन प्रत्येक वनस्पति थयो॥''

एक श्वांस में अठारह बार वहाँ जन्म-मरण कर कुछ ही दिनों में उन्होंने अपने भवों की अनंत संख्या समाप्त कर ली, इसके बाद मनुष्य जन्म ग्रहण किया और पुनः मुनि-दीक्षा ग्रहण कर ली और उसी स्थान पर जिस स्थान पर बैठे थे तपस्या कर रहे हैं और उन्हें केवलज्ञान प्राप्त होने वाला है। यहाँ आने वाले हैं, दर्शन कर लेना।

इसी प्रकार हम लोगों का जीवन चल रहा है, अपने आप को पर्याय बुद्धि मत मानिये। संसार में यदि शरण लेने योग्य हैं तो देव, गुरु, शास्त्र और उसमें भी एकमात्र अनन्य शरण है तो आत्म-धर्म और कोई शरण नहीं है, पहले शुरू में व्यवहार शरण, फिर देव गुरु शास्त्र की शरण का माध्यम लेकर आत्म शरण।

आज यदि किसी के साथ आपका बैर है और वह यदि बैर नहीं रखता तो आप तो यहीं रह जाओगे और वह बैर समाप्त कर मुक्ति का भाजन बन जायेगा, कोई किसी को रोक नहीं सकता है। शरीर के ऊपर बन्धन है वचनों के ऊपर बन्धन है लेकिन विचार-शक्ति के ऊपर किसी का बन्धन नहीं, वहाँ पर इमरजेंसी का कोई काम नहीं, यह स्वतंत्र सत्ता का प्रतीक है, वह सत्ता दूसरी सत्ता के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रखती, सिद्ध परमेष्ठी के साथ सजातीयता होकर भी वे हमारे प्रतिपक्ष, हैं उनके हम प्रतिपक्ष हैं, सर्वप्रथम भगवान् का देव गुरु शास्त्र का पक्ष लेना होगा, राग का नहीं, यह व्यवहार सम्यग्दर्शन है। फिर इसके उपरांत निश्चय पक्ष यदि है तो भगवान् को भी प्रतिपक्षी समझ करके अपना ही पक्ष लेना होगा, भगवान् स्वयं कहते हैं कि यदि आत्मा में लीन होना चाहते हो तो मेरा भी पक्ष छोड़ दो। इसी प्रकार सभी पक्षों से अतीत होना होगा तभी हम आत्मा में तैर सकते हैं, भगवान से और सभी पक्षों से अतीत होकर एकमात्र आत्मानुभूति प्राप्त करना होगा, लेकिन ध्यान

रखना, दो ही शरण हैं देव-गुरु-शास्त्र या आत्म-धर्म, इसके अलावा कुछ नहीं, यही आज के इस रविवार के उपदेश का आशय है, वे मुनि महाराज अन्यत्र कहीं नहीं गये, अनंत-शक्ति के धारक होकर लोक के अग्र भाग पर उच्च सिंहासन पर विराजमान हैं, जो आपने नहीं दिया उन्होंने अपने सम्यक् पुरुषार्थ के माध्यम से प्राप्त किया, उस पावन पद को आप भी अपने पुरुषार्थ के माध्यम से अनंतकाल तक के लिए प्राप्त कर सकते हैं, बस, काल की ओर मत देखो। वह तो सदा मौजूद है, एकमात्र अपने परिणामों को सुधारते हुए मुक्ति के पथ पर अविरल बढ़ते जाइये, आप मुनि-महाराज की कथा और उन दो सज्जनों की जो भ्रांति थी उसे भी याद रखेंगे और सिर्फ याद ही नहीं उसके माध्यम से अपने भव्यत्व का उद्घाटन कीजिये और इसके लिए कोई काल सापेक्षिक नहीं है। दृढ़ संकल्प कर लो कि हमें उसे प्राप्त करना है, नियम से प्राप्त हो जायेगा।

❑ ❑ ❑

देव-दर्शन

''जो व्यक्ति अरहंत भगवान् को जानता है, उनके द्रव्य, गुण और पर्याय-समूह को जानता है, वही व्यक्ति अपने आत्म-तत्त्व को जान सकता है।''

देव की आराधना मानव को भी देव बना देती है, लोक में कहावत प्रसिद्ध है कि दीप से दीप जलता है। एक माँ ने अपने बालक से कहा ''बेटा! यह दियासलाई है, इससे दीपक जला लो।'' बालक ने एक के बाद एक काड़ी को जलाते हुए दियासलाई खाली कर दी। पर, दीपक नहीं जला। अन्त में माँ से कहता है-माँ दीपक जला नहीं, पूरी दियासलाई समाप्त हो गयी! माँ ने दीपक हिलाकर कहा-बेटा! इसमें तेल तो है नहीं, कैसे जलता, तेल ही तो दीपक का उपादान कारण है। वही दीप-रूप परिणत होता है, उसके बिना दीपक कैसे जलेगा? तेल और बत्ती होने के साथ-साथ बत्ती की मुख-शुद्धि भी होना आवश्यक है, यदि उसके ऊपर काली-काली कीट लगी हुई है तो भी दीपक का जलना कठिन है।

कहने का तात्पर्य यह है कि यदि आप लोग देव बनना चाहते हैं तो उसके लिए आत्मा-रूपी उपादान की सम्भाल करो, हृदय की शुद्धि करो। इसके बाद अन्य निमित्त बनेंगे ।

कुन्दकुन्दस्वामी ने प्रवचनसार में लिखा है-

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं॥

जो द्रव्य, गुण और पर्याय के माध्यम से अरहन्त को जानता है वह आत्मा को जानता है। जो आत्मा को जानता है, उसका मोह नियम से विनाश को प्राप्त होता है। संसार का प्रत्येक पदार्थ

त्रिरूप है अर्थात् द्रव्य, गुण, पर्याय रूप है, अन्य पदार्थों के समान अरहन्त परमेष्ठी भी त्रिकालात्मक हैं। उनके ज्ञाता, दृष्टा स्वभाव वाले जीव-द्रव्य चराचर को जानने वाले केवलज्ञानादि गुण और अन्तिम विभाव-व्यंजन-पर्याय को जो जानता है और साथ में अपने द्रव्य-गुण-पर्याय की तुलना करता है वह अवश्य ही आत्मा को जानता है तथा जिसने शुद्ध-बुद्ध अर्थात् वीतराग, सर्वज्ञ स्वभाव वाले आत्मा को जान लिया वह रागादि विकारों को भी स्वीकृत नहीं कर सकता।

साक्षात् अहरन्त तो आज उपलब्ध नहीं हैं, पर, स्थापना-निक्षेप के द्वारा जिनकी स्थापना की जाती है, वे अरहन्त विद्यमान हैं, अरहन्त की प्रतिमा एक दर्पण है, उस दर्पण में अपने आपको देखकर लगी हुई कालिमा को दूर करने का प्रयत्न करो, कोई भी व्यक्ति दर्पण देखने के लिए, दर्पण नहीं देखता, किन्तु दर्पण में अपना मुख देखता है, उसमें लगी हुई कालिमा को छुड़ाता है। बिना दर्पण देखे घर से बाहर नहीं निकलता, उसे भय लगता है कि मुख की कालिमा देखकर बाजार में कोई हँसी करके अनादर न कर दे।

एक आदमी कुएँ पर पानी पीने गया, आते समय वहाँ अपनी तौलिया भूल आया। रास्ते में वह एक व्यक्ति को कन्धे पर तौलिया डाले देखता है, कहाँ गयी मेरी तौलिया? उसे याद आ गयी कि मैं कुएँ पर भूल आया हूँ, अब वह बड़ी तेजी से कुएँ की ओर दौड़ता है कि कोई उसे पार न कर दे, तो जिस प्रकार तौलिया के देखने से तौलिया का स्मरण हो जाता है, उसी प्रकार अरहन्त भगवान् की वीतराग-मुद्रा देखने से अपनी वीतराग-दशा का स्मरण हो आता है, मैं तो राग-द्वेष से रहित ज्ञाता-द्रष्टा-स्वभाव वाला हूँ, इससे मुझे मुक्ति पाना है, देखो ये अरहन्त परमेष्ठी राग-द्वेष से मुक्ति पा चुके। क्या मैं नहीं पा सकूँगा? अवश्य पा सकूँगा।

णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं यहाँ अरहन्त परमेष्ठी को पहले नमस्कार किया है और सिद्ध परमेष्ठी को बाद में, जबकि अरहन्त चार अघातिया कर्मों से सहित होने के कारण संसारी (जीवन-मुक्त) हैं और सिद्ध परमेष्ठी अष्टकर्म से रहित होने के कारण मुक्त हैं। इतना स्पष्ट अन्तर होते हुए भी अरहन्त को पहले नमस्कार करने का प्रयोजन है कि उनसे हमें मंगल की प्राप्ति होती है, सिद्ध परमेष्ठी के अस्तित्त्व का पता भी हमें अरहन्त से मिलता है, इसीलिए 'अरहन्त मंगल' के पश्चात् 'सिद्ध मंगल' कहा जाता है, अरहन्त उस काँच के समान हैं जिसके पीछे लाल-लाल मसाला लगा हुआ है, उस मसाले के कारण ही दर्पण में हमें हमारा मुख दिखता है, सिद्ध परमेष्ठी उस काँच के समान हैं जिस पर कोई मसाला नहीं लगा, सब कुछ आर-पार हो जाता है।

दूसरा उदाहरण लीजिये-सुवर्ण यदि शुद्ध है तो कोमलता के कारण उससे आभूषण नहीं बनते। पर, जिस सुवर्ण में थोड़ी अशुद्धता है किंचित् मात्र ताँबा आदि जिसमें मिला हुआ है, उससे आभूषण बनते हैं और ये टिकाऊ रहते हैं, सिद्ध परमेष्ठी शुद्ध सुवर्ण के समान हैं, अतः उनसे किसी

को उपदेशादि नहीं मिलता। पर, अरहन्त अशुद्ध सुवर्ण के समान हैं उनसे सबको उपदेशादि मिलता है, यहाँ अशुद्धता का सम्बन्ध अपूज्यता के साथ नहीं लगाना, इतनी अशुद्धता के रहने पर भी अरहन्त प्रभु शत-इन्द्रों के द्वारा पूज्य होते हैं।

अरहन्त भगवान् की विशेषता वीतरागता और सर्वज्ञता से है। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति वीतरागी और सर्वज्ञ की उपासना से ही हो सकती है, रागी और अल्पज्ञानी जीवों की उपासना से नहीं। अरहन्त की प्रतिमा को प्रतिष्ठा-शास्त्र के अनुसार अरहन्त माना जाता है तथा उसके दर्शन करने से सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है, शास्त्र के द्वारा उसी जीव का आत्मा जागृत हो सकता है जो बहरा नहीं है तथा पढ़-लिख सकता है परन्तु अरहन्त की प्रतिमा का दर्शन तो प्रत्येक मनुष्य के लिए सम्यक्त्व की प्राप्ति में सहायक हो सकता है। दृश्य-काव्य अर्थात् नाटक-सिनेमा आदि का जो प्रभाव होता है वह श्रव्य-काव्य का नहीं। अरहन्त का दर्शन दृश्य-काव्य के समान तत्काल आनन्द देने वाला होता है, यह तो रही उपशम और क्षयोपशम सम्यक्त्व की बात, किन्तु क्षायिक सम्यग्दर्शन तो साक्षात् जिनेन्द्र के पादमूल का आश्रय लिये बिना हो नहीं सकता। पूज्यपादस्वामी ने सर्वार्थसिद्धि के प्रारम्भ में निर्ग्रन्थाचार्य का वर्णन करते हुए लिखा है-

''**अवाग् विसर्गं वपुषा मोक्षमार्गं निरूपयन्तं**'' अर्थात् वचन बोले बिना ही जो शरीर-मात्र से मोक्ष-मार्ग का निरूपण कर रहे थे। वन्दना अर्थात् देव-दर्शन मुनि के छह आवश्यकों में शामिल है, उसे मुनि अवश्य ही करते हैं, समन्तभद्र स्वामी ने कहा है-

स्तुतिः स्तोतुः साधो कुशलपरिणामाय स तदा।
भवेन्मा वा स्तुत्यः फलमपि ततस्तस्य च सतः॥

अर्थात् जिसकी स्तुति करना है वह सामने हो और नहीं भी हो परन्तु स्तुति करने वाले साधु को उसके फल की प्राप्ति अवश्य ही होती है, इस तरह जब स्तुति करना स्वाधीन है, तब उसके करने में उपेक्षा क्यों? आलस्य क्यों?

वन्दना या दर्शन करते समय इतना ध्यान अवश्य रखना चाहिये, वन्दना का प्रयोजन भोग की प्राप्ति न हो, अपितु कर्मों का क्षय हो, अभव्य-जीव भोग के निमित्त धर्म करता है। पर, भव्य-प्राणी कर्म-क्षय के लिए धर्म करता है, कितना अन्तर है दोनों में, एक का लक्ष्य संसार है और दूसरे का लक्ष्य मुक्ति।

ज्ञानी जीव भगवान् के दर्शन करते समय कहता है-गुणवन्त प्रभो, 'तुम हम सम, परन्तु तुम से हम भिन्नतम'। अर्थात् हे प्रभो! द्रव्य-दृष्टि से हम और आप समान हैं। पर, पर्याय-दृष्टि से हम आप से सर्वथा भिन्न हैं, आपका आलम्बन लेकर हम आपके समान बनना चाहते हैं, निकट-भव्य-जीव के ज्ञान का प्रवाह अपना रास्ता स्वयं बनाता चलता है, किस प्रकार? जिस प्रकार कि नदी का

प्रवाह अपने उद्‌गम-स्थान से निकलकर समुद्र तक अपना रास्ता स्वयं बनाता चलता है। अरहंत तो निमित्त मात्र हैं, कार्य की सिद्धि के लिए उपादान आप स्वयं हैं, अपनी शक्ति की ओर दृष्टिपात करो, उसी से कल्याण होने वाला है।

❑ ❑ ❑

गुरु-गरिमा

''जब तक उपासक स्वयं उपास्य नहीं बन जाता, तब तक उसे उपास्य की उपासना करना अनिवार्य है।''

माता-पिता जिस तरह बच्चे को धीमी चाल से चलकर उसे चलना सिखाते हैं, उसी प्रकार गुरु, शिष्यजनों को मोक्ष-मार्ग में चलना सिखाते हैं। यद्यपि बच्चा चलता अपने पैरों से है, तथापि माता-पिता की अंगुली उसे सहायक होती है, शिष्य मोक्ष-मार्ग में प्रवृत्ति स्वयं करता है परन्तु गुरु की अंगुलि-गुरु का इंगन उसे आगे बढ़ने में सहायक होता है।

गुरु का स्थान महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि सिद्ध तो बोलते नहीं हैं, साक्षात् अरहन्त जो बोलते हैं उनका इस समय अभाव है, यहाँ पर स्थापना-निक्षेप से अरहन्त हैं परन्तु अचेतन होने के कारण उनसे शब्द निकलते नहीं हैं, अतः मोक्ष-मार्ग में गुरु ही सहायक सिद्ध होते हैं, मार्ग पर चलते समय यदि कोई बोलने वाला साथी मिल जाता है तो मार्ग तय करना सरल हो जाता है, गुरु-निर्ग्रन्थ साधु, हमारे मोक्ष-मार्ग के बोलने वाले साथी हैं, इनके साथ चलने से हमारा मोक्ष-मार्ग सरल हो जाता है।

अरहन्त भगवान् के समवसरण में गणधर होते हैं, वे गुरु ही तो कहलाते हैं, नय-विवक्षा से कहा जाये तो गुरु और देव में अन्तर नहीं है, चार और पाँच में क्या अन्तर है? आप कहेंगे, एक का अन्तर है, पर एक का अन्तर तो तीन और पाँच के बीच में होता है। चार और पाँच के बीच में नहीं।

अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

जिन्होंने अज्ञानरूपी तिमिर से अन्धे मनुष्यों के चक्षु ज्ञान-रूपी अंजन की सलाई से उन्मीलित कर दिये हैं, उन गुरु के लिए नमस्कार हो। नेत्रदान महादान कहलाता है, जिन गुरु ने अन्तर के नेत्र खोल दिये हैं, उनकी महिमा कौन कह सकता है?

जिस प्रकार दिशासूचक-यन्त्र सही-सही दिशा का बोध कराता है, उसी प्रकार वीतरागी सच्चे गुरु भी सही-सही दिशा का बोध कराते हैं, विषय-भोग की दिशा सही दिशा नहीं है, उसका बोध कराने वाला कुगुरु कहलाता है, जो सिद्धगति का मार्ग दिखलाता है वह सुगुरु है, हमें भावना रखनी चाहिए कि ऐसे सुगुरु सदा हमारे हृदय में निवास करें, वीतरागी गुरु ही शरणभूत है, रागी-

द्वेषी गुरु स्वयं संसार के गर्त में पड़े हुए हैं, वे दूसरे का उद्धार क्या करेंगे? संसार के प्राणी भेड़ के समान होते हैं, वे विचार किये बिना ही दूसरे का अनुकरण करने लगते हैं। पर, गुरु विवेक-मार्ग का, सम्यक् पथ का प्रदर्शन करते हैं, गुरु कुटुम्ब-परिवार की मोह, ममतामयी महागर्त से भव्य प्राणी को हाथ का सहारा देकर बाहर निकालते हैं।

समन्तभद्र आचार्य ने रत्नकरण्डकश्रावकाचार में गुरु का लक्षण बताया है-

विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः।
ज्ञान-ध्यान-तपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते॥

विषयों की आशा से रहित, आरम्भ से रहित, परिग्रह से रहित तथा ज्ञान, ध्यान और तप में अनुरक्त, तपस्वी साधक गुरु कहलाते हैं। अथवा ''ज्ञानं च ध्यानं च इति ज्ञान-ध्याने त एव तपसी ज्ञान-ध्यान-तपसी तत्र अनुरक्त इति ज्ञानध्यानतपो रक्तः'' इस समास के अनुसार जो ज्ञान अर्थात् स्वाध्याय और ध्यानरूपी तप में अनुरक्त रहते हैं, स्वाध्याय और ध्यान ये दोनों उत्कृष्ट तप हैं, अतः इनमें अनुरक्त रखने की बात कही गयी है, देखा आपने, यह जीव तपस्वी कब बन सकता है? जब ज्ञान, और ध्यान में रंग गया हो, ज्ञान-ध्यान में कब रंगता है प्राणी? जब वह परिग्रह को छोड़ देता है, परिग्रह कब छूटता है? जब आरम्भ छूट जाता है, आरम्भ कब छूटता है? जब विषयों की आशा छूट जाती है, तात्पर्य यह है कि तपस्वी या निर्ग्रन्थ गुरु बनने के लिए पंचेन्द्रियों के विषयों की आशा को सबसे पहले छोड़ना पड़ता है।

पेट्रोल जाम हो जाने से जब गाड़ी स्टार्ट नहीं होती है तब ड्रायवर उसे धक्का लगवाकर स्टार्ट कर लेता है, गुरु भी तो शिष्य को धक्का देकर आगे बढ़ाते हैं, स्वयंबुद्ध मुनि थोड़े होते है, बोधित-बुद्ध ज्यादा होते हैं, बोधित-बुद्ध वही कहलाते हैं, जिन्हें गुरु समझाकर चारित्र के मार्ग में आगे बढ़ाते हैं।''**मातेव बालस्य हितानुशास्ता**'', गुरु माता के समान बालक का हितकारी है, बालक पिता से भयभीत रहता है, वह डरते-डरते उनके पास जाता है। पर; माता के पास वह निर्भय होकर जाता है, उससे अपनी आवश्यकता पूरी कराता है, इसी प्रकार, भव्य-प्राणी देव के पास पहुँचने में संकोच करता है, साक्षात् अरहन्त-देव के दर्शन तो कर सकता है-पर उन्हें छू नहीं सकता, परन्तु गुरु के पास जाने में एवं उनसे बात करने में कोई संकोच नहीं लगता, जिस प्रकार कोई कारीगर मकान ईंटें-चूना लगाकर बनाते हैं और कोई उसे सुसज्जित करते हैं, इसी प्रकार; माता-पिता मनुष्य को जन्म देते हैं, पर; गुरु उसे सुसज्जित कर सब प्रकार की सुविधाओं से पूर्ण करते हैं, गुरु शिष्य की योग्यता देखकर उसे उतनी देशना देते हैं जितनी कि वह ग्रहण कर सकता है, माँ ने लड्डू बनाये, बच्चा कहता है मैं तो पाँच लड्डू लूँगा, माँ कहती है कि लड्डू तो तेरे लिए ही बनाये हैं पर तुझे एक लड्डू मिलेगा, क्योंकि तू पाँच लड्डू खा नहीं सकता, बच्चा कहता है तुम तो पाँच-पाँच खाती हो-मुझे क्यों नहीं

देती? क्या मेरे पेट नहीं है? माँ कहती है-पेट तो है पर मेरे जैसा बड़ा नहीं है, तात्पर्य यह है कि माँ बच्चे को उसके ग्रहण योग्य लड्डू देती है, अधिक नहीं, आप लोग जितना ग्रहण करते है उतना हजम कहाँ करते हैं, हजम कर सको, उसे जीवन में उतार सको तो एक दिन की देशना से ही काम हो सकता है।

❑ ❑ ❑

शास्त्र-आराधना

स्वाध्याय परम तप है, अंतरंग तपों में इसे सम्मिलित किया गया है, वह कर्म निर्जरा का कारण भी है, लेकिन यह बात ध्यान रखने योग्य है कि तप उसी को होता है जिसने व्रत ले रखे हैं, जिसने व्रत नहीं लिये, जो अव्रती है, आचार-संहिता का पालन नहीं करता है; उसका स्वाध्याय, स्वाध्याय नहीं और निर्जरा का कारण भी नहीं है।

शास्त्र सम्यग्ज्ञान का साधन है, जिस प्रकार मार्ग में चलने वाले आदमी को पाथेय (कलेऊ) आवश्यक होता है, उसी प्रकार मोक्ष-मार्ग में चलने वाले के लिए शास्त्र-ज्ञान एक प्रकार का पाथेय है, इस पाथेय के रहते हुए मोक्ष-मार्ग के पथिक को कोई कष्ट नहीं होता।

शास्त्र की उद्‌भूति अपने आप नहीं होती किन्तु केवलज्ञानी से होती है, जो केवलज्ञानी होता है वह वीतरागी अवश्य होता है, क्योंकि वीतरागी हुए बिना केवलज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता, केवलज्ञानी ने अपने ज्ञान-रूप-दर्पण में सब कुछ देखकर हमें सम्बोधित किया है, भगवत्-पद की प्राप्ति केवलज्ञान से ही होती है; श्रुतज्ञान से नहीं, श्रुतज्ञान बारहवें गुण स्थान से आगे नहीं जाता, फिर भी उसमें इतनी क्षमता है कि वह आपको पृथक्त्व वितर्क सवीचार[१] और एकत्ववितर्क अवीचार नामक शुक्ल-ध्यान[२] की! प्राप्ति में सहायक होता है। उत्कृष्टता की अपेक्षा उपर्युक्त दोनों शुक्ल-ध्यान पूर्वविद्-पूर्वों के ज्ञाता-मुनि के होते हैं। कहा है-

"**शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः।**" तत्त्वार्थसूत्र।

भगवान् महावीर को केवलज्ञान हो गया परन्तु ६६ दिन तक दिव्यध्वनि नहीं खिरी, समवसरण रचा गया, उसमें विराजमान महावीर को देखकर लोगों के नेत्र तो तृप्त हो गये, परन्तु श्रोता अतृप्त बने रहे, इन्द्र के माध्यम से इन्द्रभूति समवसरण में पहुँचे, वहाँ पहुँचकर दीक्षित होने पर दिव्य-ध्वनि खिरी और उसे गणधर बनकर, ग्रन्थ रूप में-अर्हन्त-कथित अर्थरूप श्रुत को शास्त्र स्वरूप में-परिवर्तित कर हम लोगों को सुनाया, इस तरह शास्त्र की समुद्‌भूति भगवान् महावीर की दिव्यध्वनि से हुई है।

जिन-वचन अर्थात् जिन-शास्त्र एक प्रकार की औषधि है और ऐसी औषधि है जो विषय-सुख का विवेचन करने वाली है तथा जन्म-मरण के रोगों को दूर करने वाली है। आचार्य में एक

अवपीड़क नाम का गुण होता है, उस गुण के कारण वे शिष्य के हृदय में छिपे हुए विकार को बाहर निकालकर दूर कर देते हैं, शास्त्र भी आचार्यों के वचन हैं, उनमें भी अवपीड़क गुण विद्यमान है। अतः वे शिष्य के अन्तस्तल में छिपे हुए रागादि विकारी भावों को दूर करते हैं।

जब मनुष्य को अजीर्ण हो जाता है और संचित मल भीतर सड़ने लगता है तब उसे विरेचन की आवश्यकता होती है।

विरेचक औषधि के द्वारा सारा संचित मल निःसृत हो जाता है और मनुष्य स्वस्थता का अनुभव करने लगता है, संसारी प्राणी के अन्तस्तल, में भी चिरसंचित रागादि विकारी-भाव रूप मल सड़कर अस्वस्थता उत्पन्न कर रहा है, इसे विरेचन करने वाला कौन है? जिनवाणी है। वही बार-बार कथन करती है-कि हे प्राणी! तू राग-द्वेष के कारण ही आज तक संसार में भटक रहा है तथा उन्हीं राग-द्वेष के कारण तूने आज तक सरागी देव की शरण पकड़ी है, अब अपने वीतराग स्वभाव का आलम्बन ले और इन औपाधिक विकारी भावों को दूर करने का प्रयत्न कर।

स्वाध्याय परम तप है, अंतरंग तपों में इसे सम्मिलित किया गया है, वह कर्म निर्जरा का कारण भी है, लेकिन यह बात ध्यान रखने योग्य है कि तप उसी को होता है जिसने व्रत ले रखे हैं, जिसने व्रत नहीं लिये, जो अव्रती है, आचार-संहिता का पालन नहीं करता है; उसका स्वाध्याय, स्वाध्याय नहीं और निर्जरा का कारण भी नहीं है।

दूसरी बात.......

श्रावक के चार धर्मों में एवं मुनि के षट् आवश्यकों में आचार्यों ने स्वाध्याय को कहीं भी आवश्यकों के अन्तर्गत नहीं गिना है। मूलाचार, धवला, नियमसार आदि ग्रन्थों में मुनियों के षड् आवश्यकों के नाम गिनाये हैं, जिसमें समता, स्तुति, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग इस प्रकार छह प्रकार कहे हैं। नियमसार में स्वयं कुन्दकुन्ददेव ने प्रश्न उठाकर उत्तर दिया है कि मुनि के लिए स्वाध्याय कोई आवश्यक नहीं, क्योंकि स्वाध्याय, स्तुति और प्रतिक्रमण रूप आवश्यक में गर्भित हो जाता है, इस कथन से मेरा यह मतलब नहीं है कि स्वाध्याय करना ही बन्द कर दिया जाये, किन्तु स्वाध्याय के साथ-साथ आवश्यक जो नियम संयम हैं उनका भी पालन किया जाये और स्वाध्याय क्यों किया जा रहा है यह भी ध्यान रखा जाये, अतः स्वाध्याय-प्रेमियों से मेरा यही कहना है कि जरा इस प्रकार के कथनों पर भी ध्यान दिया जाये।

तप निवृत्यात्मक होता है, प्रवृत्यात्मक नहीं। निवृत्यात्मक भाव ही निर्जरा का कारण होता है, प्रवृत्यात्मक अंश आस्रव का साधन होता है। शास्त्र हमें सचेत करते हैं कि बाह्य पदार्थों को ग्रहण न करो, आपरेशन वाला डाक्टर पहले कह देता है कि आज आपरेशन होगा, अतः कुछ खाना, नहीं है। इसी प्रकार शास्त्र कहते हैं कि विकारी भावों का आपरेशन यदि करना है-उन्हें निकालकर दूर

करना है तो बाह्य पदार्थों को ग्रहण मत करो। शास्त्र की इस आज्ञा का हम उल्लंघन करते हैं। यही कारण है कि हम चिरकाल से अस्वस्थ बने हुए हैं।

श्रुत को सूत्र कहते हैं और सूत्र का एक अर्थ सूत भी होता है, जिस तरह सूत सहित सुई गुमती नहीं है, इसी तरह सूत्र-शास्त्र-ज्ञान-सहित जीव गुमता नहीं है, अन्यथा चौरासी लाख योनियों में पता नहीं चलता कि यह जीव कहाँ पड़ा हुआ है, श्रुत को जीवन में आत्मसात् करने की आवश्यकता है, जिसने श्रुत को आत्मसात् नहीं किया वह ग्यारह अंग और नौ पूर्व का पाठी होकर भी अनन्तकाल तक संसार में भटकता रहता है और जो श्रुत को आत्मसात् कर लेता है वह अन्तर्मुहूर्त में भी सर्वज्ञ बनकर संसार-भ्रमण से सदा के लिए छूट जाता है। जिस प्रकार रस्सी के बिना कुएँ का पानी प्राप्त नहीं हो सकता, उसी प्रकार जिनागम के अभ्यास के बिना तत्त्व-ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता।

देव और गुरु से सम्बन्ध छूट सकता है पर, शास्त्र से सम्बन्ध नहीं छूटता। शुक्ल-ध्यान की प्राप्ति में देव और गुरु का आलम्बन (सहारा) नहीं रहता परन्तु श्रुत का आलम्बन अनिवार्य रूप से लेना पड़ता है, स्वाध्याय को तप कहा है और तप क्या है? जीव की अप्रमत्त दशा ही तप है, यह अप्रमत्त दशा संयत के ही सम्भव है, असंयत के नहीं। तप कर्म और तप आराधना भी संयत के ही होती है, असंयत के नहीं।

जिस प्रकार मृदङ्ग बजाने वाला व्यक्ति अपने आपको उसके लय के साथ तन्मय कर लेता है, उसी प्रकार भव्य प्राणियों को श्रुत-प्रतिपादित ज्ञान से अपने आपको तन्मय कर लेना चाहिए। इस तन्मयी भाव के बिना श्रुताध्ययन की सार्थकता नहीं है, मृदङ्ग, बजाने वाले व्यक्ति के हाथ का स्पर्श पाये बिना नहीं बजती, पर मृदङ्ग स्वयं बजने की कोई इच्छा नहीं रखता, इसी प्रकार, निस्पृह केवली भगवान् दिव्य-ध्वनि के द्वारा भव्य जीवों को कल्याण का मार्ग दिखाते हैं। पर, उससे उनका कोई प्रयोजन नहीं रहता। कुन्दकुन्द, समन्तभद्र आदि आचार्यों ने जो ग्रन्थ-रचना की है, वह भी ख्याति-लाभ आदि की आकांक्षा से रहित होकर की है, वीतराग जिनेन्द्रदेव की वाणी को वीतराग ऋषियों ने अब तक सुरक्षित और प्रसारित किया है, इन्हीं साधनों से हम लोगों का कल्याण हो सकता है।

''णमो अरिहंताणं णमो सिद्धाणं''-आदि मन्त्र का लय के साथ उच्चारण करना पाठ कहलाता है, पुनः अरहंतादि पाँच परमेष्ठियों का स्मरण करना जाप कहलाता है, अरहंत परमेष्ठियों का क्या स्वरूप है? अरहंत आदि पद कैसे प्राप्त किया जा सकता है? यह जानना ज्ञान है और चित्त का उन्हीं के साथ एकीभाव हो जाना ध्यान है। ये सब विशेषताएँ हमें शास्त्र से ही ज्ञात होती हैं। शास्त्र पढ़ने का नाम आचार्यों ने स्वाध्याय रखा है। स्वाध्याय का शब्दार्थ होता है-'स्व' यानी अपने आपको प्राप्त करना, जिसने अनेक शास्त्रों को पढ़कर भी 'स्व' को प्राप्त नहीं किया उसका शास्त्र

पढ़ना सार्थक नहीं।

कहने का तात्पर्य यह है कि मोक्ष-मार्ग की साधना में देव और गुरु के समान शास्त्र का परिज्ञान भी महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

❑ ❑ ❑

तृष्णा-नागिन

समाजवाद से आशय है-सबके साथ वात्सल्य रखना, प्रेममय व्यवहार करना, सबका हित देखना, अनुभव करना, हिल-मिलकर चलना।

इस संसार में प्रत्येक प्राणी भोग-लिप्सा के पीछे एक मृग-मरीचिका की भाँति दौड़ रहा है। उसे ध्यान नहीं, ज्ञान नहीं है कि इससे क्या फल मिलेगा, तथापि वह प्रयास कर रहा है, आशा रखता है, आशा एक खतरनाक वस्तु है, आशा-तृष्णा, मिथ्यात्व पर्यायवाची शब्द हैं, एक ही शब्द को लिये हुए हैं, बड़े-बड़े दार्शनिक हुए, उन्होंने अपनी अनुभूति को, प्रत्येक पदार्थ के अध्ययन को लेखनी के माध्यम से उड़ेल दिया। तृष्णा को महान् भूल बताते हुए उन्होंने कहा-तृष्णा अनादिकाल से हमारे जीवन में भरी है, जो रग-रग से फूट-फूटकर बाहर आ रही है। संसार के प्रत्येक प्राणी के आत्म-प्रदेशों से वह तृष्णा फूट रही है, वह इतना भयंकर रूप धारण कर लेती है कि सभी प्रकार के अन्न-ज्ञान को देने वाली कर्ण-इन्द्रिय और ज्ञान-इन्द्रियाँ बन्द हो जाये, इसके उपरान्त भी तत्त्वज्ञों ने तृष्णा को ज्वालामुखी की उपमा दी है, ज्वालामुखी फूटने पर वातावरण विषाक्त बन जाता है। उस वातावरण में श्वास लेने पर मृत्यु भी सम्भावित है, वह ज्वालामुखी जिस समय लावा उगलता है और भी विकराल रूप धारण कर लेता है, जिस प्रकार लोग कुत्ते, बिल्ली, जानवरों को पालते हैं उसी प्रकार हमने तृष्णा पाल रखी है, इस तृष्णा के कारण जीवन मिटता चला जा रहा है, जीवन में आनन्द के फूल विकसित और सुवासित नहीं हो पा रहे हैं, उस तृष्णा को आप सुरक्षित रख रहे हैं, यह एक अनिष्ट अहितकारी बात है, इसी से आपका मणिमय जीवन अन्धकारमय है।

इसमें सन्देह नहीं जहर से आप डरते हैं, किन्तु तृष्णा को आप जहर नहीं समझते; जब कि जहर की उपमा तृष्णा के लिए स्वीकार करते हैं। तृष्णा विष भी है और नागिन भी। यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि आप तृष्णा से भयभीत नहीं हैं। विश्व के समस्त पदार्थ स्वतन्त्र होते हुए भी काल की चपेट में आ जाते हैं किन्तु काल किसी की पकड़ में नहीं आता, उसका नाम ही काल नाग है। वह विकराल है काल-द्रव्य। प्रत्येक द्रव्य, में परिवर्तन लाता है। पर; उसमें परिवर्तन लाने में कोई भी द्रव्य सक्षम नहीं। काल अन्तिम दण्ड देने वाला अधिनायक है, काल कहीं जाता नहीं है, वह तो सदा उपस्थित रहता है उदासीन निमित्त के रूप में किन्तु आपमें जो विकास की क्षमताएँ थी वह स्फुटित नहीं हुईं, क्योंकि आपने पुरुषार्थ नहीं किया, इसलिए आप काल को मूर्त समझकर उसकी चपेट में

आते चले जा रहे हैं। तू उस सत्य को पाना चाहता है पर केवल चिन्तन द्वारा यह तेरी भ्रान्ति है, पुरुषार्थ और साधना की महिमा क्या बताऊँ किसी कवि ने लिखा है-

भावना पाषाण को भगवान् बना देती है।
साधना अभिशाप को वरदान बना देती है॥
विवेक के स्तर से नीचे उतरने पर।
भावना इंसान को शैतान बना देती है॥

ये पंक्तियाँ गूढ रहस्य को उद्‌घाटित करती हैं, किन्तु उल्टी साधना द्वारा हम अभीष्ट को प्राप्त नहीं कर सकते। जिसके पाँव साधना के पथ पर आरूढ़ हैं वह प्रत्येक पदार्थ में महासत्ता का दर्शन अनुभव करता है, प्रत्येक सत्ता के साथ उसका एकमेव व्यवसाय बना रहता है। वह बिना किसी क्रम (लिंक) के टूटे, धारा-प्रवाह रूप से चलती रहती है। उसमें एक प्रकार की भावात्मकता गर्भित हो जाती है। प्रत्येक पदार्थ के साथ उसका जीवन चलता रहता है, वह हर्ष और विषाद का अनुभव नहीं करता, महासत्ता का अवलोकन करने से हर्ष और विषाद गौण हो जाता है, जब जीवन सुख-दुख, हर्ष-विषाद से ऊपर उठ जाता है तब एक अलौकिक आनन्द की अनुभूति होती है, उस समय वह उस सत्ता से एकमेव हो जाता है, व्यक्ति विषय-कषाय को छोड़कर जब आगे बढ़ जाता है, तब उसे ज्ञात होता है कि गौण तत्त्व क्या है, जिस प्रकार मद्यपान मस्तिष्क की क्रियाओं को अचेतन बना देता है, उसी प्रकार विषय-वासनाएँ आत्म-ज्ञान को सुप्त बना देती हैं, उस अवस्था में व्यक्ति शव और पुद्गल के समान हो जाता है, उसकी आत्मिक शक्ति क्रियाशून्य हो जाती है।

गीता में कर्मयोग और सांख्ययोग का उपदेश श्रीकृष्ण ने दिया है, सांख्ययोग का अर्थ है पूर्ण रूप से परित्याग करना, कर्मयोग का अर्थ है फल की कामना-रहित कर्म करना, कर्मयोग में क्रियाएँ लोक-हितार्थ होती हैं। समाजवाद का भी वही अर्थ है, सबके साथ वात्सल्य, प्रेम-मय व्यवहार करना, सबका हित देखना, अनुभव करना, हिल-मिलकर चलना। संन्यासी कर्म-योग के पक्ष पर चलकर लोक-कल्याण का आदर्श उपस्थित करता है।

नदी के तेज प्रवाह में यदि कोई पदार्थ गिर जाता है तो वह नदी के प्रवाह को नहीं रोक सकता है, उसे उस प्रवाह के साथ प्रवाहित होना ही पड़ेगा, पदार्थ प्रभावित होता है, परिणमित होता है, पदार्थ काल के प्रवाह की चपेट में बहता चला जाता है।

भोग समाप्त नहीं हुए इसलिए तृष्णा आज तक जीवित है, हमने तप नहीं किया किन्तु हम ही तपे गये, कुछ साधना करने की हमने चेष्टा की। पर, उस साधना के माध्यम से कुछ पाया नहीं किन्तु तृष्णा के साथ बहते गये, हम तृष्णा को जीर्ण-शीर्ण बनाना चाहते रहे पर हम जीर्ण-शीर्ण होते गये, हमारी दृष्टि दूसरों की ओर चली जाती है, जो व्यक्ति वीतरागी बनता है वह संसार की अनुभूति

छोड़ना प्रारम्भ कर देता है। वह व्यक्ति दूसरे को नहीं देखता किन्तु दूसरों में अपने को देखता है। देखने के कार्य मात्र से हम यह नहीं कह सकते कि वे अपनी ओर देख रहे हैं।

अधिकांश जन कार्य, दर्शन के लिए नहीं, प्रदर्शन के लिए करते हैं। क्या आपने दर्पण में अपने मुख को देखा? उसे देखकर अपने गुण- दोषों का विचार किया? मैं आपको आज सजग करना चाहता हूँ, दर्पण को देखने का उद्देश्य क्या है, जरा इस बात का भी ध्यान रखे। प्रत्येक दिन हम दर्पण में मुख देखते हैं, पर दूसरों को दिखाने के लिए, क्या पाउडर, क्रीम, लिपस्टिक, सौन्दर्य-सामग्री स्वयं की दृष्टि में अच्छा लगने के कारण लगायी जाती है? इस भौतिकता की चपेट में हमारा सम्पूर्ण जीवन ही प्रदर्शन बन गया है, कुछ भी अर्थ पूर्ण नहीं रहा, अपने लिए नहीं रहा।

दर्पण का देखना आपकी अपनी मान्यता में भले ही सच हो सकता है, लेकिन दर्पण देखने के लिए दर्पण जैसा होना पड़ेगा, जो हमें दिख रहा है, वह दर्पण नहीं प्रतिबिम्ब है। जिसने दर्पण देखा समझो उस व्यक्ति के पास कुछ न कुछ है। वास्तविक बात तो यह है कि दर्पण में प्रतिबिम्बित पदार्थ देखने के पूर्व दर्पण दिखना चाहिए। पर, दर्पण नहीं दिखता उसको पार करके उसकी दृष्टि जाती है, प्रतिबिम्बित पदार्थों से दर्शन का विषय और विषयी का सम्बन्ध हो जाता है, दर्पण देखने से पूर्व यह लक्ष्य बनाना पड़ता है कि दर्पण में प्रतिबिम्बित पदार्थ को नहीं देखना। मात्र दर्पण को देखना है। प्रतिबिम्ब तो अनादिकाल से है तथापि हमारा लक्ष्य दर्पण नहीं सदैव प्रतिबिम्ब रहा है। इसलिए हमारा जीवन आज तक दर्पण नहीं बना, दर्पण बनने के लिए उज्ज्वल जीवन का लक्ष्य जिसका बन जाता है, वही व्यक्ति सत्य पदार्थों का अवलोकन कर सकता है अन्यथा नहीं, इसके लिए बहुत परिश्रम करने की आवश्यकता है, किन्तु बिना किसी अन्य पदार्थ की आवश्यकता के उस ज्ञान की आवश्यकता है जिसके माध्यम से हम सब हेय और उपादेय, इष्ट और अनिष्ट का परिज्ञान कर सकते हैं, सम्पूर्ण पदार्थों में मूल्यवान् पदार्थ एकमात्र आत्मा है। जो कुछ भी अच्छा होगा उसी में होगा, जो कुछ उत्सर्ग आयेगा उसी में आयेगा, साधना-काल में यह शंकाएँ उठ सकती हैं कि जो आज तक नहीं मिला वह कैसे मिलेगा? जब तक हम गणित का प्रश्न कर रहे हैं, जब तक वास्तविक उत्तर नहीं मिलता है हमें परेशानी दिखती है, भूल का ज्ञान होने पर, उत्तर मिलने पर गहराई-गहराई नहीं रहती, शंकाएँ निर्मूल हो जाती हैं, हम वेगवती धारा का पानी नहीं देख सकते, गहराई नहीं नाप सकते, तैरना है, गहराई नापना है तो नदी के बीच में कूद पड़ो, गहराई का ज्ञान हो जायेगा।

कितना समय हमने व्यर्थ गँवाया, सोचना और प्रयास करना आवश्यक है। अधिकांश लोग अपना बहु-मूल्य जीवन मात्र सोचने में ही लगा देते हैं, जीवन में सोचना कम, काम करना अधिक; सोचने के बाद ही कार्य आरम्भ हो जाता है, फिर भी सोचना जारी रहता है, हम भूल जाते हैं, करने

से पूर्व तैयारी करनी पड़ती है, जब हम कार्य प्रारम्भ कर देते हैं तो वास्तविक तैयारी और भी महत्त्वपूर्ण हो जाती है।

और नहीं भी। जब हम चलते हैं तब चलने में ज्ञान, विश्वास और चारित्र तीनों समाहित हो जाते हैं, चारित्र की पूर्णता में सम्पूर्ण ज्ञान समाहित हो जाता है तथा उससे वास्तविक आनन्द प्राप्त होने लगता है। तीर्थंकर महावीर ने चारित्र को अपनाया और चारित्र को सत्य के माध्यम से देखा। कर्म-योग और संन्यास-योग हमारा है, कर्म-योग में विषय-कषायों की कामना नहीं होती, कर्म-योग धर्म का सम्पादन करने वाला है, कर्मयोग का रहस्य बतलाते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं-कि अर्जुन! सोचना, विचारना घबराना नहीं है, बल्कि वह धर्म का सम्पादन करने वाला है। वह अनादिकालीन कर्मों को क्षय करने वाला है। सांख्य योग की बात है, वात्सल्य दिखाने तलवार माध्यम है। श्रीकृष्ण तलवार में रक्त नहीं देख रहे थे, भावी युद्ध में बहने वाले रक्त में भी वे लोक-कल्याण के दर्शन कर रहे थे। वह कहते हैं-सुनो अर्जुन! प्रेम का अर्थ क्या है? प्रेम का अर्थ है-अपनी आत्मिक सत्ता के साथ अनुभूति प्रारम्भ कर देना, प्रेम के द्वारा हम उस सत्ता को देख सकते हैं, उस अविनश्वर सत्ता रूप चेतना का संवेदन करना ही सही-सही प्रेम का रूप है। (अभी-अभी किसी ने चित्र लिया, यह प्रेम नहीं हैं, यह प्रेम का फ्रेम मात्र है) सत्य, अहिंसा, प्रेम, वात्सल्य यह आत्मा की बातें हैं, जड़ की नहीं, इन सबका आत्मा से गहरा सम्बन्ध रहता है, मुझे एक कथा याद आ गयी, स्वामी विवेकानन्द विदेशा यात्रा के लिए जा रहे थे, उनकी यात्रा मनोरंजन हेतु नहीं थी, महान् व्यक्तियों की यात्रा ही यात्रा कहलाती है, महान् व्यक्ति जहाँ भी चलते हैं, वह यात्रा के रूप में परिवर्तित हो जाती है, उनकी यात्रा अहिंसा सिखाने, प्रत्येक प्राणी को सद्ज्ञान की अनुभूति कराने, प्रत्येक को सुख की अनुभूति करने के प्रयोजन से होती है।

विवेकानन्द यात्रा के पूर्व माँ-तुल्य गुरु-पत्नी शारदा के पास आशीर्वाद प्राप्त करने गये तथा बोले-''माँ! गुरु-आज्ञा, पूर्ण करने जा रहा हूँ, आपका आशीर्वाद परम आवश्यक है, विवेकानन्द ने एक शब्द भी नहीं सुना, आशीर्वाद में विलम्ब देखकर विवेकानन्द ने कहा-माँ! आशीर्वाद में विलम्ब क्यों? माँ ने कहा-विवेक! अभी आशीर्वाद देने का अवसर नहीं है, विवेकानन्द ने कहा-माँ! ऐसी क्या बात है? आशीर्वाद देने में क्या परिश्रम करना पड़ता है? मात्र इतना ही तो कहना पड़ता है कि-पुत्र तेरी कामना पूर्ण हो, माँ दस मिनट तक सोचती रहीं, फिर बोलीं-''उस आले में चाकू रखा है, उसे उठा ला।'' उस समय विवेकानन्द ने विचार किया-क्या रहस्य है? समझ में नहीं आया, वातावरण बदल गया, विवेकानन्द चाकू उठा लाये और ज्यों ही माँ के हाथ में दिया त्यों ही माँ ने कहा-''तेरी कामना पूर्ण होगी, मेरा आशीर्वाद तेरे साथ है, सफलता में कोई सन्देह नहीं।''

विवेकानन्द चकित रह गये, चाकू देने से आशीर्वाद मिला! इसमें क्या रहस्य है? समझ में

नहीं आया, माँ ने कहा-मैंने परीक्षा ली, तुम उत्तीर्ण हुए, आले में से चाकू लाना कोई महत्त्वपूर्ण बात नहीं है, चाकू का फलक मैंने तुम्हारी ओर देखा और मूठ मेरी ओर, कितनी रहस्यमय बात है, किसी जीव की भावना को ठेस (धक्का) न लगे, कितनी सावधानी बरती थी विवेकानन्द ने!

प्रत्येक समय दया-धर्म को जानने वाला व्यक्ति स्वयं को कठिनाई में डालकर दूसरों को अपने द्वारा कोई कष्ट नहीं होने देना चाहता है, ये है उस परम सत्ता की अनुभूति, यह है कर्मयोग। संन्यास-योग के माध्यम से कुछ बताया नहीं जा सकता, कथन से परे है-मात्र संवेदनशील है, क्योंकि बताने में कुछ खतरा भी हो सकता है।

संन्यास-योग है मात्र देखना और जानना। कर्मयोग में देखते और जानते हुए कषायों का दमन करते हुए कुछ कर्म करना, वह कर्म भी लोकहितार्थ और जनहितार्थ होता है, यहाँ पर वात्सल्य पूर्ण रूप से मूर्तिमान हो उठता है, जब तक प्रेम जीवन में नहीं आता, व्यक्ति किसी कार्य में फलीभूत नहीं हो सकता है, किसी क्षेत्र की अनुभूति प्राप्त नहीं कर सकता है।

❑ ❑ ❑

तेरा सो एक

''लक्ष्य बनाओ भार उतारने का, बढ़ाने का नहीं और यह तभी हो सकता है जब आप याद रखेंगे-तेरा सो एक, जो तेरा है वह एक।''

अभी बोलियाँ चल रहीं थीं, एक बोली थी ''तेरा सो एक'' इस बोली पर सबका चित्त रुकना चाहिए था। पर, किसी का चित्त रुका नहीं, सब आगे बढ़ते गये, 'तेरा सो एक' शब्द सुनकर मैं विचार में पड़ गया, हे आत्मन्! जो तेरा है सो-वह एक ही है।'' कुन्दकुन्दस्वामी ने कहा है-

एगो मे सासदो आदा, णाण-दंसण-लक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोग लक्खणा॥

ज्ञान-दर्शन लक्षण वाला एक आत्मा ही तेरा है, वही शाश्वत अर्थात् अविनाशी है और पर-पदार्थ के संयोग से उत्पन्न होने वाले जितने काम क्रोधादि विकारी भाव हैं वे सब मुझसे भिन्न हैं। कुन्दकुन्द स्वामी समयसार में भी कहते हैं-

अहमिक्को खलु सुद्धो, दंसणणाणमइयो सदारूवी ।
ण वि अत्थि मज्झ किंचि वि, अण्णं परमाणु मित्तं पि॥

अर्थात् ज्ञान-दर्शन से तन्मय रहने वाला मैं एक शुद्ध और रूपादि से रहित हूँ, कितना सुन्दर अभिप्राय है।

हमारे घर में वैभाविक परिणतिमय चोर घुसा हुआ है, उसे निकालने का भाव हमारा नहीं

होता, यह कितने आश्चर्य की बात है, इस विकारी भाव को चोर समझकर निकालने का पुरुषार्थ होना चाहिए।

अभी आपके सामने पण्डितजी ने राजा भोज के काल में कहारों की बात की "तथा न बाधते भारः यथा बाधति बाधते" अर्थात् राजन्! लकड़ी का भार उतनी बाधा नहीं दे रहा है जितना आपके द्वारा प्रयुक्त 'बाधति' पद बाधा दे रहा है। तात्पर्य यह है कि उस समय के कहार भी संस्कृत का इतना ज्ञान रखते थे कि कौन धातु आत्मनेपदी है और कौन धातु परस्मैपदी।

राजा भोज का नाम सुनकर मुझे भी उनके जीवन की घटना याद आ गयी। एक बार राजा भोज बिस्तर पर पड़े आराम कर रहे थे, वे कवियों का आदर तो करते ही थे और स्वयं भी कवि थे, नींद खुलने पर उन्होंने काव्य-रचना प्रारम्भ की-

चेतोहरा युवतयः स्वजनोऽनुकूलाः।
सद् बान्धवाः प्रणतिगर्भगिरश्च भृत्याः॥
गर्जन्ति दन्तिनिवहास्तरलास्तुरंगाः।

ये तीनों चरण राजा भोज बार-बार पढ़ते, परन्तु चौथा चरण नहीं बन पाता। जब बहुत देर हो गयी तब उनके पलंग के नीचे छिपा हुआ एक चोर कहता है-

"**संमीलने नयनयोर्नहि किञ्चिदस्ति।**"

अर्थात् नेत्र बन्द होने पर यह सब कुछ नहीं है, राजा भोज ने सुना तो बोल उठे कौन हो तुम? छिपा चोर बाहर निकलकर खड़ा हो गया, वह कहने लगा-"मैं चोर हूँ, संस्कृतज्ञ हूँ," आपका काव्य पूरा नहीं होता था इसलिए पूरा कर दिया है, चोरी की प्रतीक्षा में बहुत देर से छिपा था, चाहता था कि आपके नेत्र निमीलित हों, आप निद्रा में निमग्न हों और मैं चोरी कर अपना काम करता, राजा भोज ने उसे धन्यवाद देते हुए कहा कि तुमने मेरे नेत्र उन्मीलित कर दिये, खोल दिये हैं, जिन्हें मैं अपना मानकर गर्व कर रहा था, वे सब मेरे नहीं हैं, मेरे मरने पर सब यहीं पड़ा रह जायेगा, तिजोड़ी और उसका ताला कुछ भी तो मृतात्मा के साथ नहीं जाता।

धीरे-धीरे आयु समाप्त हो रही है, फिर भी आत्म-कर्त्तव्य की ओर मानव का लक्ष्य नहीं जाता। "**मोह महामद पियो अनादि भूल आपको भरमत वादी।**"

अर्थात् यह जीव अनादिकाल से, मोहरूपी मदिरा का पान कर अपने आपको भूलकर शरीर आदि पर पदार्थों को अपना मान रहा है और उसी भूल के कारण चतुर्गति में परिभ्रमण कर रहा है। अतः आप अज्ञान पर प्रहार करने की अपेक्षा मोह पर प्रहार करो, यदि आप सचमुच ही मोह को नष्ट कर सके, तो अन्तर्मुहूर्त के अन्दर सब अज्ञान अपने आप नष्ट हो जायेगा और आत्मा सर्वज्ञ हो जायेगी।

सर्वज्ञ होने पर वाणी का अतिशय प्रकट होता है। सर्वज्ञ के वचन त्रिभुवन हितकारी, मधुर और विशद हो जाते हैं। कुन्दकुन्द स्वामी ने 'पंचास्तिकाय' के प्रारम्भ में यह मंगलाचरण किया है-

इंद सद वंदियाणं तिहुवण हिद मधुर विसद वक्काणं।
अंतातीद गुणाणं णमो जिणाणं जिदभवाणं ॥

सौ इन्द्र जिन्हें वन्दना करते हैं, जिनके वचन त्रिभुवन हितकारी मधुर और विशद हैं तथा जो अनन्त गुणों के स्वामी हैं, उन जिनेन्द्र को, उन अरहन्त आदि परमेष्ठियों को मेरा नमस्कार हो।

मनुष्य के सिर का भार ज्यों-ज्यों कम होता जाता है, त्यों-त्यों वह सुखी होता जाता है। पर, हम सिर पर भार लादकर सुखी-होना चाहते हैं, कैसी विचित्रता है हमारे विचारों में।

लक्ष्य बनाओ भार उतारने का बढ़ाने का नहीं, और यह तभी हो सकता है जब आप याद रखेंगे।

तेरा सो एक, जो तेरा है वह 'एक'

महावीर भगवान् की जय! (सागर में प्रदत्त प्रवचन)

❑ ❑ ❑

विद्या वाणी

- रागरूप वचन को सुनने से व्यक्ति रागी हो जाता है और रागद्वेष होने से व्यक्ति दुष्ट संकल्प कर लेता है। इस संकल्प से अति घोर पाप होता है। इसलिए ऐसे राग रूप वचनों से बचना चाहिए।
- कुछ लोग सुनने की इच्छा का निरोध करते हैं और कुछ लोग सुनाने की इच्छा रखते हैं तो उनके लिये सुनाने की इच्छा का भी निरोध कर लेना चाहिए।
- ऐसे सचित्त शब्दों को मत बोलो जिससे दूसरे का चित्त उखड़ जाये।
- जिस प्रकार यथालब्ध आहार की बात करते हैं वैसे ही यथालब्ध शब्द सुनने के भी आदी या अभ्यस्त होना चाहिए।
- दूसरे को संतुष्ट करने के चक्कर में हमें नहीं रहना चाहिए। वादी जब होता है। आज किसी को संतुष्ट नहीं कर सकते हैं। इसलिए हमें वाद-विवाद में नहीं पड़ना चाहिए।
- हमें वीतराग कथा करनी चाहिए। वाद-विवाद की बात नहीं करनी चाहिए। संवेगनी-निर्वेगनी कथा करना चाहिए।
- दया के साथ वचन होते हैं तो उनमें स्खलन नहीं होता।
- मधुर शब्दों के द्वारा विरोधी के कान भी ठण्डे पड़ जाते हैं।
- हर एक व्यक्ति को इस प्रकार बोलना चाहिए कि सामने वाला चुम्बक की तरह खिंचता चला आये।
- वाक्य में कभी भी तकिया कलाम नहीं होना चाहिए इससे वक्तृत्त्व कला समाप्त हो जाती है।
- सर्वप्रथम बोलने से पहले सोचो और खोल सोचो। मराठी में खोल अर्थात् डीप/गहराई के अर्थ में प्रयोग होता है। अच्छे ढंग से सोचो।
- व्रती को सोचना चाहिए बोलना नहीं, बोलें तो फालतू नहीं बोलें।
- अविरत सम्यग्दृष्टि कम सोचता है और ज्यादा भी बोल सकता है लेकिन व्रती को मना किया है।
- व्रती के लिये कहा है- उतना ही बोलिये जिसके द्वारा अपना भी हित हो, दूसरे का भी हित हो। यदि ऐसा नहीं करते हैं तो आगम में कहा है–अहिंसा व्रत का पालन वह सही नहीं कर रहा है।
- मनोबल केसाथ जो बोला जाता है उसका प्रभाव पड़ता है मोक्षमार्ग में, यदि मनोबल के बिना सही सात्विक विचार के बिना आपके शब्द प्रयुक्त हुए हैं, वह किसी काम के नहीं मोक्षमार्ग में और उसके द्वारा अहित के सिवाय कुछ होने वाला नहीं।
- अनुकंपा के भाव के साथ जो व्यक्ति बोलता है उस व्यक्ति के वचनों में ऐसा प्रभाव रहता है कि जन्मजात वैर को छोड़ करके वहीं एक ओर सिंह बैठेगा और दूसरी ओर गाय बैठती है।
- असंयमी बोले तो दूसरे पर प्रभाव नहीं पड़ेगा और कोई त्यागी तपस्वी बोलता है तो उस पर अपने आप ही प्रभाव पड़ता है। इसलिए वक्तु प्रामाण्यात यह सूत्र चरित्रार्थ होता है।